विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला १३६

हिन्दी काव्यालङ्कार

व्याख्याकार

श्री रामदेव शुक्ल

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

VS - १३६



कविवरश्रीरुद्रटप्रणीतः

काव्यालङ्कारः

श्वेताम्बरजैनपण्डितनमिसाधुकृतटिप्पणसमेत-
'प्रकाश' हिन्दीव्याख्याविभूषितः

व्याख्याकारः

श्री रामदेवशुक्लः एम० ए०



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२३ वि०

मूल्य : १०-०० संशोधित मूल्य १५/००

Phone : 3076

प्रधान कार्यालय :—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स नं० ८, वाराणसी-१

THE

VIDYABHAWAN RASTRABHASHA GRANTHAMALA

136



KĀVYĀLAṄKĀRA

(A TREATISE ON RHETORIC)

OF

RUDRATA

WITH

The Sanskrit Commentary of Namisādhu

Edited with

The Prakāśa Hindī Commentary

By

PANDIT RĀMADEVA S'UKLA M. A.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1966

First Edition
1966
Price Rs. 10-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers and Antiquarian Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

भूमिका

साहित्यशास्त्र

नितान्त भारतीय आस्तिक दृष्टिकोण से वेद सभी विद्याओं का मूल है। 'वेद' का अर्थ है 'ज्ञान'। भारतीय मनीषा वेद को अपौरुषेय मानती आयी है। मन्त्रों के प्रयोजन-वैविध्य से वेद की संख्या तीन मानी गयी—ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद। इन्हीं को वेदों की 'त्रयी' कहा गया है। कालान्तर में अथर्व को भी वेद माना जाने लगा और वेदों की संख्या चार हो गयी। इनके साथ-साथ चार उपवेदों का भी नाम मिलता है—१. इतिहासवेद, २. धनुर्वेद, ३. गान्धर्ववेद और ४. आयुर्वेद। वेदों के ६ अङ्गों के भी पठन-पाठन का नियम चल पड़ा। यही ६ अङ्ग 'षडङ्ग' और 'षट्शास्त्र' के नाम से भी जाना जाता है। ये ६ अङ्ग हैं—१. शिक्षा, २. कल्प, ३ निरुक्त, ४. व्याकरण, ५. छन्द और ६. ज्योतिष। चार वेद, चार उपवेद और छः शास्त्रों को 'चतुर्दश-विद्या' कहा जाता था।

प्रसिद्धि है कि प्राचीन काल में शूद्रों को वेद के सभी अधिकारों से वञ्चित रखा गया था। केवल ब्राह्मण को ही वेद के सभी अधिकार प्राप्त थे। क्षत्रिय भी केवल यज्ञ कर सकता था, करा नहीं सकता था। इसलिये एक सार्ववर्णिक वेद की आवश्यकता हुई।[1] अतएव ब्रह्मा को 'नाट्यवेद' की सृष्टि करनी पड़ी। 'नाट्यवेद' की सामग्री के लिये ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का ग्रहण किया।[2] इसी प्रकार एक अतिरिक्त वेदाङ्ग अलङ्कार की रचना हुई[3] जो वेदार्थ का उपपादक होने के कारण सातवाँ अङ्ग (शास्त्र) बना।

यहाँ 'साहित्यशास्त्र' से हमें 'नाट्यशास्त्र' और 'अलङ्कारशास्त्र' दोनों ही अभीष्ट हैं। काव्यसौन्दर्य की परख करने वाले ग्रन्थों को प्रायः प्रारम्भिक युग में

---

१. 'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पञ्चमो नाटचवेदः' इति द्रौहिणिः। काव्य-मीमांसा पृ० १४-१५।

२. 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

३. 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः। काव्यमीमांसा पृ० १६।

अलङ्कार नाम दिया गया है। भामह ने अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार रखा और उन्हीं के अनुकरण पर उद्भट ने काव्यालङ्कारसारसंग्रह की रचना की। वामन ने भी सूत्र-शैली में लिखे हुए अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसूत्र' रखा। इसी प्रकार रुद्रट-विरचित ग्रन्थ का नाम भी 'काव्यालङ्कार' ही पड़ा। एक बात के लिये हम आगाह कर देना चाहते हैं कि परवर्ती काव्यशास्त्र में अलङ्कारशब्द केवल अनुप्रास और उपमा आदि के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भामह आदि ने अलङ्कार शब्द को 'सौन्दर्य' के अर्थ में ही प्रयोग किया है। यही कारण है कि अलङ्कार-सम्प्रदाय में गुण, रीति, रस आदि सभी अलङ्कार अर्थ में ही प्रयुक्त किये गये हैं। इस बात का स्पष्टीकरण करने का श्रेय 'सौन्दर्यमलङ्कारः' की घोषणा करने वाले 'काव्यालङ्कारसूत्र' के प्रणेता आचार्य वामन को है।

यद्यपि 'साहित्यशास्त्र' और 'काव्यशास्त्र'—दोनों ही शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं तथापि 'साहित्यशास्त्र' नाम अधिक समीचीन प्रतीत होता है। उसका कारण है विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण का अत्यधिक प्रचलन। राजशेखर ने यदि 'काव्यमीमांसा' नाम को प्रश्रय दिया तो किसी ने इस नाम में अरुचि दिखाकर अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यमीमांसा' रख दिया। कालान्तर में विश्वनाथ कविराज जैसा अनुयायी भी उन्हें मिल गया। काव्यशास्त्र के इतिहास से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'काव्यालङ्कार' 'काव्यादर्श' और 'काव्यमीमांसा' जैसे नाम कालान्तर में लोक-रुचि के अनुकूल न रहे और उसके स्थान पर 'साहित्यमीमांसा' और 'साहित्य-दर्पण' जैसे नाम से भी अलङ्कार-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे गये। 'अलङ्कार-सर्वस्व' जातीय ग्रन्थ जो बाद में हमें देखने को मिलते हैं उनमें केवल अलङ्कारों का ही विवेचन है। पण्डितराज जगन्नाथ ने यद्यपि अपने ग्रन्थ का नाम 'रसगङ्गाधर' रखा किन्तु 'साहित्यशास्त्र' के अर्थ में 'रस-शास्त्र' नाम देखने में नहीं आया, यद्यपि कि यह नाम यदि प्रयुक्त हो तो इसमें कोई अनौचित्य न होगा।

संस्कृत में अन्य विषयों की भाँति साहित्यशास्त्र में भी समृद्ध वाङ्मय मिलता है। इतिहास की दीर्घकालीन यात्रा में न जाने कितने ग्रन्थों की लीक मिट चुकी है तथापि जितने ग्रन्थ हमारे सामने प्रकाशित हैं केवल वे ही साहित्य पर किये गये इस देश के गम्भीर-चिन्तन का साक्ष्य ढोने में सक्षम हैं। भरत का 'नाट्यशास्त्र' नाटक और काव्य पर लिखे गये अनेकानेक ग्रन्थों का परिणाम है। किसी विशाल प्रासाद में बालू के जो कण सतह पर प्रत्यक्ष होते हैं उनकी अपेक्षा उनके नीचे छिपी हुई चट्टानों का महत्त्व कम नहीं होता।

साहित्यशास्त्र पर हमें जो कृतियाँ उपलब्ध हैं उन्हें हम मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में तो वे कृतियाँ आयेंगी जो केवल दृश्यकाव्य (रूपक) को विषय बना कर लिखी गयी हैं। इस वर्ग में भरत का 'नाट्यशास्त्र', धनिक का 'दशरूपक', सागरनन्दी का 'नाटकलक्षणरत्नकोश', रामचन्द्र गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण' आदि का नाम लिया जा सकता है। दूसरे वर्ग में वे कृतियाँ आयेंगी जो केवल श्रव्य-काव्य को विषय बनाकर लिखी गयी हैं, जैसे भामह का 'काव्यालङ्कार', दण्डी का 'काव्यादर्श', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', मम्मट का 'काव्यप्रकाश' आदि। तीसरे वर्ग में हम उन कृतियों को रख सकते हैं जो दृश्य और श्रव्य-काव्य के दोनों प्रकारों पर विवेचन प्रस्तुत करती हैं—जैसे विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण'। इसके अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ केवल एक विषय पर लिखे गये हैं—जैसे मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमात्रिका' कुछ ग्रन्थ केवल अलङ्कार पर लिखे गये हैं जैसे 'अलङ्कारसर्वस्व'। नीचे हम साहित्यशास्त्र के प्रमुख मनीषियों और उनके साहित्यिक ग्रन्थों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे—

भरत

साहित्यशास्त्र में हमें जितनी कृतियाँ उपलब्ध हैं उनमें भरतकृत नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है। नाम्ना यद्यपि यह नाट्यशास्त्रसम्बन्धी विषयों का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है किन्तु यह विविध कलाओं का आकर ग्रन्थ है। इतिहास में इस ग्रन्थ को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि इसकी महिमा के प्रकाश में इतर तज्जातीय ग्रन्थों की खद्योतमाला ऐसी निष्प्रभ हो गयी कि काल की गति उन्हें सर्वथा विस्मृति के गर्त में धकेल गयी। भरत का कथन समीचीन ही है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न विद्यते॥

नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र के काल-निर्णय को लेकर विद्वानों में परस्पर वैमत्य है। 'भारतरत्न' महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने इसके अधुनातन रूप का समय लगभग ३०० ई० स्वीकार किया है। इसमें ६००० श्लोक हैं। इसीलिए इसे 'षट्साहस्री संहिता' भी कहा जाता है। समूचा नाट्यशास्त्र ३६ अध्यायों में विभक्त है। नाट्यशास्त्र के अनेक टीकाकार हुये, जिनमें भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट, भट्टशङ्कुक और भट्टनायक विशेष प्रसिद्ध हैं। सर्वाधिक प्रसिद्धि तो 'अभिनव-भारती' के प्रणेता अभिनवगुप्तपादाचार्य को मिली है। 'अभिनव-भारती' नाट्यशास्त्र की विशद व्याख्या है।

मेधावी

भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् हमें मेधावी का उल्लेख मिलता है। भामह ने मेधावी के सात उपमा दोषों की चर्चा की है जिससे यह प्रमाणित होता है कि मेधावी एक काव्य-मर्मज्ञ थे। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में उन्हें जन्मान्ध कवि बताया है—

'प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।'

रुद्रटाभिमत शब्द के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय के पञ्चधा-विभाजन पर व्याख्यान करते हुये टिप्पणकार नमि साधु ने मेधावी को चतुर्धा-विभाजन का पक्षधर मानकर उनका खण्डन किया है। उनका कथन है—'एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः।'

(रुद्रट : काव्यालङ्कार, २–२ पृ० ९)

इस प्रकार भामह, राजशेखर और नमि साधु के उल्लेख से प्रतीत होता है कि मेधावी साहित्यशास्त्र के पण्डित और उत्तम कोटि के सुकवि भी थे। उनके ग्रन्थ अवश्य ही काल के गर्त में विलीन हो गये हैं। उनका पूरा नाम मेधाविरुद्र प्रतीत होता है अन्यथा राजशेखर और नमिसाधु पृथक् प्रसङ्गों में मेधावि के साथ रुद्र क्यों जोड़ते!

भामह

भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् अलङ्कारशास्त्र पर उपलब्ध दूसरी कृति भामह-विरचित काव्यालङ्कार है। उनके परिचय के विषय में हमें काव्यालङ्कार में अधोलिखित श्लोक मिलता है—

'अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥

(भामह : काव्यालङ्कार ६।६४)

इस श्लोक में ग्रन्थकार ने अपना नाम 'भामह' और अपने पिता का नाम 'रक्रिलगोमी' बताया है। विद्वान् उन्हें काश्मीरी मानते आये हैं। उनके समय को लेकर पण्डितों के बीच अनेक मत हैं। किन्तु प्रायः उन्हें छठी शताब्दी ई० का माना जाता है। भामह के काव्यालङ्कार के प्रथम श्लोक—

प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥ (काव्यालङ्कार १।१)

में 'सार्वसर्वज्ञ' को प्रणाम निवेदन करने के आधार पर कुछ पण्डितों ने भामह को बौद्धमतानुयायी कहा है। इसके लिये उनका आधार है अमरकोश, जिसमें 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' कहा गया है। परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। अमरकोश में ही 'कृशानुरेताः सर्वज्ञः धूर्जटिर्नीललोहितः' भी कहा गया है। अतएव यह सिद्ध है कि सर्वज्ञ शब्द बुद्ध और शिव दोनों ही अर्थों में कोश में पठित है। पुनः 'प्रणम्य सार्वसर्वज्ञम्' में बुद्ध को ही प्रणाम निवेदन करने की बात सन्दिग्ध हो जाती है।

वररुचि की 'प्राकृतप्रकाश' नामक व्याकरण-कृति पर 'प्राकृतमनोरमा' नामक एक टीका उपलब्ध हुई है जो भामहभट्टविरचित बतायी जाती है। यदि ये भामहभट्ट काव्यालङ्कार के प्रणेता भामह से अभिन्न हैं तो यह निश्चित है कि भामह की एक दूसरी कृति 'प्राकृतमनोरमा' भी उपलब्ध है। वृत्त-रत्नाकर के टीकाकार नारायणभट्ट ने भामह के नाम से अधोलिखित उद्धरण दिये हैं—

'अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति भुविवर्णाद् धनशता—

× × × ×

पदादौ विन्यस्ताद् भरबहलहाहाविरहितात् ॥' (वृ० र० पृ० ६)

'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।

× × × ×

पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥'

(वृ० र० पृ० ७)

इससे यह निष्कर्ष निकालना कि काव्यालङ्कार के प्रणेता भामह किसी छन्दोग्रन्थ के रचयिता थे यद्यपि कठिन है पर मन में उठने वाले सन्देह का निवारण नहीं किया जा सकता। 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' के प्रणेता उद्भट ने 'काव्यालङ्कार' पर 'भामह-विवरण' नामक टीका लिखी थी जो उपलब्ध नहीं है।

काव्यालङ्कार जैसा कि इसके नाम से प्रतीत होता है, इसमें अलङ्कारों की प्रधानता है। भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के आदि आचार्य माने जाते हैं। इनके काव्यालङ्कार में ६ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में 'काव्य-लक्षण', 'काव्य-प्रयोजन', 'काव्य-हेतु', 'काव्य का वर्गीकरण', 'रीतियों' तथा 'काव्य के षड्विध दोषों' का विवेचन है। पूरे द्वितीय परिच्छेद में अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार और उपमा आदि अर्थालङ्कारों का विवेचन है। तीसरे परिच्छेद में पुनः अवशेष २३ अर्थालङ्कारों का विवेचन है। चतुर्थ परिच्छेद के पूरे ५० श्लोकों में दोषों का

विवेचन है। पञ्चम परिच्छेद में न्याय-निर्णय (प्रमाण-विचार) किया गया है और छठे परिच्छेद में 'शब्द-शुद्धि' का विवेचन है।

पण्डितों ने भामह को अलङ्कार सम्प्रदाय का आदि आचार्य माना है। इसकी अपेक्षा उन्हें वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का जन्म-दाता मानना अधिक समीचीन है। काव्य के अतिरिक्त भामह के लिये केवल एक ही वस्तु है—वह है वक्रोक्ति—

> सैषा[1] सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

दण्डी

'काव्यालङ्कार' के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र में उपलब्ध दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है दण्डी का 'काव्यादर्श'। 'काव्यालङ्कार' और 'काव्यादर्श' के अनेक श्लोकांश समान हैं[2] तथा अनेक ऐसे स्थल भी हैं जहाँ एक जिस बात का प्रतिपादन करता है, दूसरा उसी बात का खण्डन करता है। इससे उक्त ग्रन्थ-द्वय में से कौन किससे प्रभावित है और कौन किसका खण्डन करता है यह निश्चय नहीं हो पाता। परिणामतः भामह और दण्डी का पौर्वापर्य एवं उनकी समसामयिकता का प्रश्न विचिकित्सा का विषय बना हुआ है। काव्यशास्त्र के इतिहास पर मान्य ग्रन्थों की परिपाटी के उल्लंघन का साहस न होने के कारण ही मैंने भामह का नाम पहले लिया है!

दण्डी के जीवन-परिचय के विषय में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। स्वर्गीय आचार्य विश्वेश्वर ने उन्हें भारवि का प्रपौत्र माना है और उनका समय बाण और मयूर के पश्चात् अर्थात् ८वीं शताब्दी स्वीकार किया है।[3] दण्डी के विषय में अधोलिखित उक्ति है—

> त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
> त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥[4]

विद्वानों ने 'काव्यादर्श' के अतिरिक्त दण्डी के दो अन्य ग्रन्थों को ढूँढ़ने का प्रयास किया। 'दशकुमार-चरित' दण्डी का दूसरा प्रबन्ध बताया गया। श्री आगाशे महोदय ने 'दशकुमार-चरित' के प्रणेता का 'काव्यादर्श' के प्रणेता

---

१. भामह : काव्यालङ्कार, २-८५।
२. द्रष्टव्य—काव्य-प्रकाश भूमिका (आचार्य विश्वेश्वर) पृ० २९-३०।
३. का० प्र० भू०, पृ० ३६, ज्ञान-मण्डल ग्रन्थमाला।
४. शार्ङ्गधर पद्धति, १७४।

के साथ तादात्म्य मानने से अस्वीकार कर दिया। 'काव्यादर्श' में प्रस्तुत किये काव्य-लक्षण की कसौटी पर 'दशकुमार-चरित' सर्वथा अकाव्य है—यही उनका तर्क था। परन्तु 'इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्य-नय-व्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनि-व्यतिरिक्तः काव्य-प्रकारः यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते' की घोषणा करने वाले ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ही 'देवीशतक' जैसे चित्र-काव्य की भी रचना की थी जिसे वे भूल गये।

दण्डी का तीसरा प्रबन्ध कौन है इसके विषय में मत-मतान्तर प्रस्तुत किए गये हैं। कुछ लोगों ने 'कला-परिच्छेद' को दण्डी की तीसरी रचना बताया। यह मत सर्वथा अमान्य रहा। 'काव्यादर्श' में आये हुये—

"गद्यं[1] पद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा॥
छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निर्दशितः।"

इत्याद्यंश में 'छन्दोविचिति' शब्द के आधार पर डा० पीटर्सन और याकोबी ने 'छन्दोविचिति' को दण्डी की तीसरी रचना स्वीकार किया है। किन्तु बहुमत आज 'अवन्तिसुन्दरी कथा' को ही दशकुमारचरित के साथ दण्डी की रचना मानने के पक्ष में हैं। कलकत्ता से प्रकाशित तर्कवागीश की टीका, मद्रास से प्रकाशित 'हृदयङ्गमा' और तरुणवाचस्पति कृत टीका, महामहोपाध्याय हरिनाथ-कृत मार्जन टीका, कृष्णकिङ्कर तर्कवागीश विरचित 'काव्यतत्त्वविवेचककौमुदी' टीका, वादिघल विरचित 'श्रुतानुलापिनी' टीका, जगन्नाथ-पुत्र मल्लिनाथ-विरचित 'वैमल्य-विधायिनी' और जीवानन्द विद्यासागर विरचित टीका से इस ग्रन्थ की लोक-प्रियता प्रमाणित है।

दण्डी अलङ्कार सम्प्रदाय के सब से हिमायती आचार्य हैं। 'काव्य' शब्द के अतिरिक्त उनके लिये यदि कुछ है तो वह है अलङ्कार—रीति, गुण, रस या अलङ्कार—उनके लिये सभी अलङ्कार हैं। 'काव्यादर्श' में तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य का विभाजन और कवित्वोत्पत्ति आदि विषयों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में अर्थालङ्कार और तृतीय में शब्दालङ्कारों का अतिविस्तृत विवेचन है। डा० एस० के० दे ने दण्डी को गुणों का हिमायती स्वीकार किया है। परन्तु यह समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि वैदर्भ और गौडीय मार्गों के भेदक गुणों को भी दण्डी अलङ्कार ही कहते हैं—

---

१. काव्यादर्श-१।११-१२।

¹काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः ।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत्प्रदर्श्यते ॥

यहाँ पर दण्डी ने पूर्व-परिच्छेद में विवेचित गुणों को ही 'काश्चित्' से सङ्केत करके उन्हें अलङ्क्रिया कहा है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी अलङ्कार सम्प्रदाय के शुद्ध हिमायती हैं।

उद्भट

भामह पर चर्चा करते हुए उद्भट का नाम लिया गया है। इनका पूरा नाम भट्टोद्भट था। ये काश्मीरी थे और राजा जयादित्य के सभा-पण्डित थे। कल्हण की राजतरङ्गिणी में उनके विषय में अधोलिखित श्लोक आया है—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥ (४–४९५)

काश्मीराधिपति जयापीड का शासन-काल ७७९ ई० से ८१३ ई० तक माना जाता है। अतएव भट्टोद्भट का भी समय ८ वीं शताब्दी का अन्तिम और ९ वीं शताब्दी का प्रारम्भिक चरण सिद्ध होता है।

इनका उपलब्ध ग्रन्थ है 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह'। 'काव्यालङ्कार' की टीका 'भामह विवरण' की चर्चा की जा चुकी है। इनकी तीसरी रचना है 'कुमारसम्भव' जहाँ से इन्होंने 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' में उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इसका भी कथानक कालिदास के 'कुमारसम्भव' के कथानक पर आधारित है। इन्होंने नाट्यशास्त्र पर भी एक टीका लिखी थी।[2]

'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' पर दो टीकायें उपलब्ध हैं। एक है मुकुलभट्ट के शिष्य कोंकण देश के निवासी प्रतिहारेन्दुराज द्वारा विरचित 'लघुवृत्ति' और दूसरी राजानक तिलक द्वारा विरचित 'विवृति'।

'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में ६ वर्गों में ४१ अलङ्कारों का विवेचन है—

प्रथम वर्ग—१. पुनरुक्तवदाभास, २. छेकानुप्रास, ३. अनुप्रास (त्रिविध–परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला वृत्ति), ४. लाटानुप्रास, ५. रूपक, ६. उपमा, ७. दीपक (त्रिविध—आदि, मध्य और अन्त), ८. प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग—१. आक्षेप, २. अर्थान्तरन्यास, ३. व्यतिरेक, ४. विभावना, ५. समासोक्ति, ६. अतिशयोक्ति।

---

१. काव्यादर्श, २-३।

२. व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः ।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ॥ (सङ्गीतरत्नाकर)

तृतीय वर्ग—१. यथासंख्य, २. उत्प्रेक्षा, ३. स्वभावोक्ति ।

चतुर्थ वर्ग—१. प्रेय, २. रसवत्, ३. ऊर्जस्वित्, ४. पर्यायोक्त, ५. समाहित ।

पञ्चम वर्ग—१. अपह्नुति, २. विशेषोक्ति, ३. विरोध, ४. तुल्ययोगिता, ५. अप्रस्तुतप्रशंसा ६. व्याजस्तुति, ७. निदर्शना, ८. उपमेयोपमा, ९. सहोक्ति, १०. सङ्कर (चतुर्विध), ११. परिवृत्ति ।

षष्ठ वर्ग—१. अनन्वय, २. ससन्देह, ३. संसृष्टि, ४. भाविक, ५. काव्यलिङ्ग, ६. दृष्टान्त ।

इनमें पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिङ्ग, छेकानुप्रास, दृष्टान्त और सङ्कर—ये पाँच उद्भट के स्वतः उद्भावित अलङ्कार हैं ।

वामन

जिस काश्मीराधिपति जयादित्य के उद्भट सभापति थे उसी के वामन मन्त्री ।[1] इसलिये इनका भी देश काश्मीर और समय ८ वीं शताब्दी का अन्तिम और नवम शताब्दी का प्रारम्भिक चरण सिद्ध है । इनका एकमात्र ग्रन्थ है 'काव्यालङ्कार सूत्र' । इस पर इन्होंने स्वयं वृत्ति लिखी है । वृत्ति का नाम है—'कविप्रिया'—

प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया ।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥'

उदाहरण उन्होंने दूसरों से भी दिया है, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

[2]'एभिर्निदर्शनैः स्वीयैः परकीयैश्च पुष्कलैः ।'

'रीतिरात्मा काव्यस्य'[3] के प्रामाण्य पर पण्डितों ने वामन को रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना है । 'काव्यालङ्कारसूत्र' अलङ्कारशास्त्र पर लिखा गया सूत्रशैली का प्रथम ग्रन्थ है । इसके पश्चात् हमें 'अलङ्कारसर्वस्व' में सूत्रशैली का परिचय मिलता है । 'काव्यालङ्कारसूत्र' में पाँच अधिकरण हैं । प्रत्येक अधिकरण अध्यायों में विभक्त है । कुल इसमें बारह अध्याय हैं । प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय में काव्य-प्रयोजन की स्थापना की गयी है । इसी

---

१. मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥ राजतरङ्गिणी, ४-४९७ ।

२. काव्यालङ्कारसूत्र, ४–३-३२—उदा० ।

३. काव्यालङ्कारसूत्र, १–२-६ ।

में 'अलङ्कार' शब्द का सामान्य (व्यापक) और सीमित अर्थ में लक्षण किया गया है। अलङ्कारशब्द व्यापक अर्थ में सौन्दर्य का पर्याय है—सौन्दर्यमलङ्कारः (का० लं० सू० १। १। २) सीमित अर्थ में यही शब्द उपमा आदि अलङ्कारों के अर्थ में व्यवहार किया जाता है—'–करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते' (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १। १। २) द्वितीय अध्याय में अधिकारी और रीतियों का विवेचन है तथा तृतीय अध्याय में काव्य-हेतु और काव्य-प्रकारों का वर्णन है। द्वितीय अधिकरण में दोषों का विवेचन है। उनमें प्रथम अध्याय में पद और पदार्थ दोष का तथा द्वितीय में वाक्य और वाक्यार्थ दोष का। तृतीय अधिकरण में गुणों का विवेचन है—प्रथम अध्याय में शब्द-गुणों का और द्वितीय में अर्थ-गुणों का। चतुर्थ अधिकरण में अलङ्कारों का विवरण है—प्रथम अध्याय में शब्दालङ्कारों का, द्वितीय में उपमा का और तृतीय में शेष अर्थालङ्कारों का। अवधेय बात यह है कि उपमा को ही अर्थालङ्कारों का मूल माना है; शेष अलङ्कारों को उपमा का प्रपञ्च स्वीकार किया है। इसी प्रकार पञ्चम अधिकरण में प्रयोग पर विचार किया गया है—प्रथम अध्याय में काव्य-समय का विवेचन है और द्वितीय में शब्दशुद्धि का।

रुद्रट

अलङ्कार-सम्प्रदाय के सब से अन्तिम आचार्य रुद्रट माने जाते हैं। इनके ग्रन्थ का नाम है 'काव्यालङ्कार'। नीचे हम इनके समय-निर्धारण के लिये प्रस्तुत किये गये प्रमाणों का विवेचन करते हैं।

रुद्रट भामह, दण्डी और उद्भट से परवर्ती हैं क्योंकि उन्होंने उनकी अपेक्षा अधिक अलङ्कारों का विवेचन किया है। अलङ्कारशास्त्र का इतिहास इस बात के लिये प्रमाण है कि उत्तरोत्तर अलङ्कारों की संख्या बढ़ती गयी। केवल वामन का 'काव्यालङ्कारसूत्र' ही अलङ्कार-सम्प्रदाय में इस बात के लिये अपवाद है। द्वितीय प्रमाण यह है कि लोचन में हमें रुद्रट के वास्तव-मूलक भावालङ्कार का लक्षण और उदाहरण प्राप्त होता है।[1] मम्मट ने रुद्रट के मतों के उपन्यास के साथ-साथ उनका नाम भी लिया।[2] प्रतिहारेन्दुराज ने

---

१. देखें—"यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु......" अत्रापि वाच्यप्रधाने भावालङ्कारता।—ध्व० १-१३ पर लोचन।

२. "तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—

स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः" ॥ इति ॥

—का० प्र० ; नवम उल्लास वृत्तिकारिका ८५

'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह' पर विरचित अपनी 'लघुवृत्ति'[1] में अनेक उद्धरण रुद्रट के काव्यालङ्कार से दिया है। राजशेखर ने रुद्रट का नाम्ना उल्लेख किया है[2] और उनके काव्यालङ्कार[3] के यमक का एक छन्द भी प्रस्तुत किया है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि रुद्रट मम्मट, प्रतिहारेन्दुराज, लोचनकार और राजशेखर से पूर्ववर्ती हैं। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे का यह कथन समीचीन ही है—"वराहमिहिर की योगयात्रा के प्रथम छन्द की व्याख्या में उत्पल ने रुद्रट को नाम्ना उनके अनन्वय के लक्षण और उदाहरण के साथ उद्धृत किया है। (देखें, काव्यालङ्कार ८।११-१२) बृहज्जातक पर अपनी व्याख्या के अन्त में उत्पल का कथन है कि उन्होंने इसकी रचना ८८८ शकाब्द (९६६ ई०) में की। इसलिये रुद्रट ९०० ई० के बहुत बाद नहीं हो सकते।" महामहोपाध्याय काणे ने रुद्रट का समय ८२५ ई० से ८७५ ई० के बीच में स्वीकार किया है।

रुद्रट का निवास-स्थान

काश्मीरी सिद्धान्त

अभी तक विद्वानों को काश्मीर ही रुद्रट की जन्म-भूमि अभिमत है। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने नाम के टकारान्त होने के कारण रुद्रट को काश्मीरी माना है। आपका कथन है—'रुद्रट के विषय में हमें अतिस्वल्प ज्ञान है; किन्तु जैसा उनका नाम सूचित करता है वे काश्मीरी रहे होंगे।'[4] डा० एस० के० डे ने इस विषय का स्पर्श ही नहीं किया। डा० सुनीलचन्द्र राय ने रुद्रट को अवन्तिवर्मा का समकालीन बताया। आप का मत है—'रुद्रट अवन्तिवर्मा के शासनकाल में निवास करते थे।'[5] परन्तु प्रमाणों के अभाव

---

१. देखें–(१) लघुवृत्ति पृ० ११, काव्यालङ्कार ८।४०; (२) लघुवृत्ति पृ० ३१ काव्यालङ्कार ८।८९; (३) लघुवृत्ति पृ० ३४, काव्यालङ्कार ८।९५; (४) लघुवृत्ति पृ० ४२, काव्यालङ्कार ७।३५; (५) लघुवृत्ति पृ० ४३, काव्यालङ्कार ७।३६ और (६) लघुवृत्ति पृ० ४९, काव्यालङ्कार १२।४।

२. "काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालङ्कारोऽयमि"ति रुद्रट'। काव्यमीमांसा, पृ० १०१, मधुसूदन मिश्र १९३४।

३. 'चक्रं दहतारं चक्रन्दहतारं खड्गेन तवाजौ राजन्नरिनारी।"
काव्यालङ्कार ३।४, काव्यमीमांसा पृ० १८३. वही संस्करण।

४. History of Sanskrit Poetics. p. 144, (द्वि० सं०)।

५. Early History and Culture of Kashmir. p. 174,

में यह मत स्वीकृत नहीं हो सकता। नीचे उक्त मत की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

(१) टकारान्त नाम केवल काश्मीर में ही रहे हों ऐसी बात नहीं है। 'आर्यभटीय' और 'दशगीतिका सूत्र' का कर्तृत्व आधुनिक पटनान्तर्गत कुसुमपुर के आर्यभट को दिया जाता है। कल्हण, बिल्हण और जल्हण यदि काश्मीरी हैं तो उसी के सादृश्य पर सायण को कोई काश्मीरी नहीं कहता। 'सोमपालविलास' के लेखक जल्हण काश्मीरी हैं और उन्हीं के समकालीन 'सुभाषितमुक्तावली' के लेखक लक्ष्मीदेव के पुत्र जल्हण दाक्षिणात्य। स्मृतिचन्द्रिकाकार देवण्णभट और बत्सभट्टि दाक्षिणात्य हैं। रणस्तम्भपुर के चाहमानों में बाल्हण और वाग्भट, मालवा के परमारों में सुभटवर्मन्, नाडौल के चाहमानों में अणहिल्ल, आल्हण, केल्हण, जोजल्ल, शाकम्भरी के पृथ्वीभट और मेवाड़ के गुहिलों में वैरट और छोड के नाम मिलते हैं।[१] उक्त सभी नाम आभासतः काश्मीरी प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है।

(२) दूसरी बात यह है कि 'काव्यालङ्कार' का कर्तृत्व रुद्रट नाम से ही नहीं, रुद्र, भट्टरुद्र और रुद्रभट्ट नामों से भी उल्लिखित है। 'शार्ङ्गधर पद्धति' (३७७३) में 'एकाकिनी यदबला' आदि रुद्र के नाम से उल्लिखित है जो 'काव्यालङ्कार' का (७–४१) श्लोक है। इसी प्रकार (३७८८) में 'मलयानिल' आदि भट्टरुद्र के नाम से उल्लिखित हैं जो काव्यालङ्कार (२–३०) श्लोक है। नमिसाधु (५–१२) टीका के अनुसार काव्यालङ्कार का कर्ता भट्टवामुक का पुत्र था। 'शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना। साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम्॥' पितृनाम की अन्विति के अनुकूल भट्टरुद्र नाम अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। इस प्रकार भट्टपदान्त नामों में बाणभट्ट, भूषणभट्ट और त्रिबिक्रमभट्ट काश्मीर से बाहर के हैं। अथापि टकारान्त नाम पर ही दृढ़ रहने की क्या आवश्यकता है। नमिसाधु (५–१२) टीका के अनुसार रुद्रट का दूसरा नाम शतानन्द था।

(३) डा० सुनीलचन्द्र का मत सर्वथा निराधार है। यदि रुद्रट अवन्तिवर्मा के समकालीन होते तो मुक्ताकण और शिवस्वामी का उल्लेख करते समय एक महान् चिन्तक रुद्रट का उल्लेख कल्हण अवश्य करते। किन्तु राजतरङ्गिणी में रुद्रट नाम तक नहीं आया है। इसके विरुद्ध काश्मीर से बाहर कन्नौज के

---

१. Geneology in 'The Struggle for Empire.' Vol V. Bhartiya Vidya Bhavana's 'History and Culture of Indian People'.

गुर्जरप्रतिहारों के राजा भोजदेव के एक दानपत्र (वि० सं० ८९३, ई० सन् ८३६–३७) में रुद्रट नाम का एक अधिकारी उल्लिखित है।[1]

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यालङ्कार के कर्ता का नाम टकारान्त हो या भट्ट उपाधि से युक्त, दोनों ही प्रकार के नाम काश्मीर से बाहर भी पाये जाते हैं। रुद्रट नाम जो प्राकरणिक है, काश्मीर से बाहर भोजदेव के दान-पत्र में मिला है। यह दूसरी बात है कि यह रुद्रट हमारे 'काव्यालङ्कार' के कर्ता से भिन्न हो। अब हमारे पास कोई ऐसा बहिःसाक्ष्य अवशेष नहीं है जिसके आधार पर रुद्रट की जन्मभूमि निश्चित की जाय।

'काव्यालङ्कार' में आचार्य ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। अतएव हम इसके अन्तःसाक्ष्य के आधार पर आचार्य की जन्मभूमि (निवास-स्थान) को निर्धारित करने का प्रयास करेंगे। काव्यालङ्कार में आये हुए देश, नदी, पर्वत, पशु, पक्षी, वनस्पति, अन्न तथा जलवायु हमें एक निष्कर्ष तक ले जाने में प्रमाण होंगे।

१. देश (प्रान्त)—(क) **मालव**—मालव का उल्लेख (७–१०५) में आया है—

सा शिप्रा नाम नदी यत्र मङ्क्षूर्मयो विशीर्यन्ते।
मज्जन्मालवललनाकुचकुम्भास्फालनव्यसनात्॥

'वही शिप्रा नदी है जिसमें स्नान करती हुई मालव देश की रमणियों के स्तन-युग्म से आहत होने के व्यसन से लहरियाँ शीघ्र ही तितर-वितर हो जाती हैं।' इसमें कवि का मालव के प्रति राग स्पष्ट है। मालव आधुनिक मालवा का ही प्राचीन नाम है। गणतन्त्र भारत के मध्यप्रदेश और राजपूताना के सीमावर्ती भूभाग ही मालव देश नाम से प्रसिद्ध रहे होंगे। डॉवसन् के मत में भी मालव आधुनिक मालवा है।[2] दूसरी बात यह है कि आज हम देश के प्रत्येक भाग में मालवीय जाति के लोगों को पाते हैं। ये मालवीय किसी समय मालव देश के निवासी रहे होंगे। डा० डी० सी० सरकार का कथन है कि मालव (ग्रीक मालोवी) चौथी शताब्दी ई० पू० में इरावती से नीचे पञ्जाब में निवास करते थे। कालान्तर में वे राजपूताना में बस गये और अन्त में उन्हीं के नाम पर मध्यभारत के आधुनिक मालवा का नामकरण हुआ।[3] इससे हम

---

१. History of Sanskrit Poetics. p. 144.

२. A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

३. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 33.

इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मालव मध्यभारत के प्राचीन देश का ही नाम है, जिसे आज हम मालवा कहते हैं।

(ख) मध्यदेश—(१०-१०) में मध्यदेश, अङ्ग, काञ्ची और कामरूप—इन चार देशों का उल्लेख है—

आक्रम्य मध्यदेशं विदधत्संवाहनं तथाङ्गानाम्।
पतति करः काञ्च्यामपि तव निर्जितकामरूपस्य ॥

यह वक्रश्लेष का उदाहरण है। यहाँ राजा और नायक कवि को दो अर्थ विवक्षित हैं। राजा के पक्ष में इसका अर्थ इस प्रकार है—'मध्यदेश पर आक्रमण करके अङ्गों को कुचलते हुये कामरूप को जीतने वाले राजन्! आप ने काञ्ची से भी कर लेना प्रारम्भ कर दिया है।' यहाँ आ-उपसर्गपूर्वक 'क्रमु पादविक्षेपे' धातु का प्रयोग विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'आक्रम्य' पद से कवि के उद्देश्य में कोई मध्यदेशीय नृपति घोषित होता है। मध्यदेश के विषय में हमें मनुस्मृति में 'हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि। प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः स कीर्तितः ॥ २–२१। यह श्लोक मिलता है। प्रयाग से पश्चिम हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती भूभाग को प्राचीन भारत में मध्यदेश कहते थे। डा० डी० सी० सरकार ने भी कुछ परिवर्तन के साथ यही बात कही है। आपका कथन है—'मध्यदेश पूर्वी पञ्जाब से पूर्वी उत्तर-प्रदेश और पूर्वी पञ्जाब से उत्तर की आक्सस झील तक पड़ता है।'[१] डॉवसन् ने मनुस्मृति के ही आधार पर मध्यदेश की सीमा-निर्धारित की है।[२]

(ग) अङ्ग—हमें संस्कृत में 'अङ्गा बङ्गा मुद्गरका' आदि प्रयोग मिलते हैं।[३] अङ्ग बङ्गाल के समीपवर्ती पूर्वी विहार के किसी देश का नाम था। आज भागलपुर से इसका तादात्म्य स्थापित किया जाता है। डाँवसन् का मत है—'बङ्गाल में भागलपुर के निकटवर्ती देश का नाम अङ्ग था। इसकी राजधानी चम्पा या चम्पापुरी थी।'[४] परन्तु डाँवसन् अङ्ग की सीमा निर्धारित करने में कुछ भ्रान्त हैं। क्योंकि अङ्ग से बङ्ग (बङ्गाल) सर्वथा पृथक् देश

---

१. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 33.

२. A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

३. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 37.

४. A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

था। बङ्ग के अन्तर्गत अङ्ग को समझना सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है। डा० डी० सी० सरकार ने अङ्ग-देश की स्थिति प्रामाणिक आधार पर बतायी है—'प्राचीन अङ्ग देश गङ्गा के उत्तरतटवर्ती भू-भाग को छोड़कर बिहार के मानगृह और भागलपुर जिलों में पड़ता था।[१]

(घ) **कामरूप**—काव्यालङ्कार (१०–१०) में कामरूप का नाम आया है। कामरूप बङ्गाल और आसाम के सीमावर्ती भू-भाग का प्राचीन नाम है। डाँवसन् के अनुसार 'उत्तरपूर्वी बङ्गाल और पश्चिमी आसाम को कामरूप कहते थे। कामरूप नाम आज भी प्रचलित है।'[२] 'कालेश्वरश्वेतगिरिं त्रिपुरान्नीलपर्वतम्। कामरूपाभिधो देवि गणेशगिरिमूर्धनि॥'[३] के अनुसार कामरूप कालेश्वर से श्वेतगिरि और त्रिपुर से नील पर्वत तक पड़ता था। गणेशगिरि कामरूप के ही पर्वत का नाम है। डा० डी० सी० सरकार के अनुसार नीलकूट का पर्याय नीलाद्रि या नीलकूट है।—तथा त्रिपुर से त्रिपुरा की ओर सङ्केत है जो अंशतः पूर्वी पाकिस्तान में पड़ता है।[४]

(ङ) **काञ्ची**—काव्यालङ्कार (१०–१०) में ही काञ्ची का भी नाम आया है। काञ्ची की गणना भारत के प्रसिद्ध सात तीर्थों में की जाती है। दक्षिण के आधुनिक काञ्जीवरम का ही नाम काञ्ची है। भागवतपुराण (१०–७९ : १३–१४) में काञ्ची का उल्लेख इस प्रकार है—'स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम्। द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः॥ कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीञ्च सरिद्वराम्। श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः॥' यहाँ बलराम की दक्षिण यात्रा के प्रसङ्ग में कामकोष्णी और काञ्ची दो नगरियों के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में दक्षिण की काञ्ची एक पवित्र नगरी थी। महामहोपाध्याय काणे के मत से यह 'कोलास की राजधानी थी और अन्नपूर्णा देवी का स्थान भी।'[५]

जैसा पहले कहा जा चुका है, राजा के पक्ष में विवक्षित अर्थ के साथ

---

१. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 83.

२. A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

३. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. P. 74.

४. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 87.

५. History of Dharmaśāstra. Vol. IV, p. 762.

राजधानी काञ्ची की ही सङ्गति बैठती है। काञ्ची से अर्थ कोलास की राजधानी ही लेना अधिक सङ्गत है।

इस प्रकार देशों के आकलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यालङ्कार में आये मालव, मध्यदेश, अङ्ग, कामरूप और काञ्ची—इन पाँच नामों में से काश्मीर या उत्तर-भारत का एक भी नाम नहीं है।

२. **नदी**—काव्यालङ्कार में केवल एक ही नदी शिप्रा (सिप्रा) का उल्लेख (७–१०५) में मालव देश के साथ आया है। पूर्वमेघ की ३१वीं मन्दाक्रान्ता में उज्जयिनी के वर्णन के समय 'शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः' कहकर कालिदास ने शिप्रा का नाम लिया है। 'सिप्रा' नदी से हम आज भी परिचित हैं। इन्दौर राज्य में आज भी इसकी धारा अक्षुण्ण है।[1] उज्जयिनी आज के उज्जैन का ही प्राचीन नाम है।

३. **पर्वत**—(क) **मेरु** का (६–३७) में उल्लेख है। 'अविलङ्घ्योऽयं महिमा तव मेरुमहीधरस्येव'—आपकी महिमा मेरु पर्वत के समान अलङ्घनीय है। मेरु एक पौराणिक एवं काल्पनिक पर्वत है। उक्त प्रसङ्ग में भी काल्पनिक पर्वत की ही तरह उसका उल्लेख हुआ है। सुमेरु, हेमाद्रि, कर्णिकाचल, रत्नसानु, अमराद्रि, और देव पर्वत इसके पर्याय हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि यह पृथ्वी के मध्य में है। डॉवसन् के अनुसार 'मेरु एक पौराणिक कल्पित पर्वत है अथवा पृथ्वी का केन्द्र है—जिस पर इन्द्र के स्वर्ग, देवों की नगरियाँ, और दैवी आत्मायें निवास करती हैं।'[2] परिणामस्वरूप यह पौराणिक पर्वत रुद्रट के निवास-स्थान की जानकारी के लिये कोई प्रमाण नहीं बन सकता।

(ख) **मलय**—मलय का नाम 'मलयानिल' और 'मलयमरुत्' आदि प्रयोगों में आता है। 'कुसुमभरः सुतरूणामहो नु मलयानिलस्य सेव्यत्वम्। सुमनोहरः प्रदेशो रूपमहो नु सुन्दरं तस्याः॥ ६–३९॥ सुन्दर वृक्षों की पुष्प-समृद्धि, तथा मलयपवन की सेवनीयता–क्या ही सुन्दर हैं। प्रदेश कितना रमणीक है। उसका रूप क्या ही सुन्दर है।' मलय दक्षिण की किसी पहाड़ी का नाम था। रघुवंश (४।४५–५१) से पता चलता है कि मलय दक्षिण की कावेरी नदी के किनारे स्थित था। यह प्रसिद्ध है कि इस पर चन्दन और इलायची प्रचुरमात्रा में उत्पन्न होती है। डॉवसन् के शब्दों में—'मलावार देश का ही

---

१. Imperial Gazetteer of India. Vol. 26 Atlas 1909. Plate 38 and Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 50.

२. A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

नाम मलय है' ।[१] डा० डी० सी० सरकार ने त्रावणकोर की किसी पहाड़ी को ही मलय के साथ अन्वित किया है ।[२] एक अन्य स्थल पर उन्होंने मलय की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुये दक्षिण की किसी पहाड़ी का प्राचीन नाम माना है ।[३] आगे त्रिकूट पर्वत के प्रसङ्ग में इस विषय पर कुछ संक्षिप्त चर्चा की जायगी । यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि मलय की निश्चित स्थिति के विषय में पण्डितों में परस्पर वैमत्य है । किन्तु वैमत्य होने पर भी इतना मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मलय दक्षिण की किसी पहाड़ी का ही प्राचीन नाम है ।

(ग) **त्रिकूट**--काव्यालङ्कार में तीसरा उल्लिखित पर्वत है त्रिकूट—

दुर्गं त्रिकूटं परिखा पयोनिधिः प्रभुर्दशास्यः सुभटाश्च राक्षसाः ।
नरोऽभियोक्ता सचिवैः प्लवङ्गमैः किमत्र वो हास्यपदे महद्भयम् ॥७।२०॥

'किला त्रिकूट है, खाई समुद्र, स्वामी रावण और सैनिक राक्षस । आक्रामक मनुष्य, फिर वानर जिसके मन्त्री । इस हँसी के स्थान में भला आप लोगों को इतना अधिक भय क्यों ?'

महामहोपाध्याय काणे ने त्रिकूट को एक कल्पित पर्वत माना है ।[४] डॉवसन् के मत से 'त्रिकूट का अर्थ है तीन चोटियाँ; यह एक पर्वत का भी नाम है जिस पर लङ्का का निर्माण हुआ था ।'[५] शब्दकल्पद्रुम भी डॉवसन् का ही समर्थन करता है ।[६] किन्तु रघुवंश (४।५८–५९) से पता चलता है कि त्रिकूट दक्षिण भारत के किसी पर्वत का नाम था । डा० डी० सी० सरकार ने विष्णुकुण्डिन् के शिलालेख की चर्चा करते हुए माध्ववर्मन के लिये प्रयुक्त 'त्रिकूटमलयाधिपति' प्रयोग की चर्चा की है ।[७] इससे यह बात प्रबलतर प्रमाण से प्रमाणित होती है

---

१. A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

२. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, p. 89.

३. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 189.

४. History of Dharmaśāstra. Vol IV, p. 813.

५. A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

६. त्रिकूटः पर्वतविशेषः । यस्योपरि लङ्का । तस्य पर्यायः त्रिककुत् इत्यमरः । सुवेलः त्रिमुकुटः इति हेमचन्द्रः । शब्दकल्पद्रुम ।

७. Studies in the Geography of Ancient and Medieval India. p. 186.

कि त्रिकूट और मलय दोनों ही दक्षिण भारत के क्षेत्र थे। आचार्य ने यहाँ पर त्रिकूट का प्रयोग रामायण के कथानक के ही आधार पर किया है। अतएव यह पर्वत भी उसके निवास-स्थान की सिद्धि में प्रमाण नहीं बनता।

(घ) **सुवेल**—काव्यालङ्कार में चतुर्थ उल्लिखित पर्वत है सुवेल—

अत्रेन्द्रनीलभित्तिषु गुहासु शैले सदा सुवेलाख्ये।
अन्योन्यानभिभूते तेजःतमसी प्रवर्तेते॥

'यहाँ सुवेल नामक पर्वत पर गुफाओं में नीलम की दीवालों पर प्रकाश और अन्धकार परस्पर विना एक दूसरे को अभिभूत किये फैल रहे हैं। सुवेल त्रिकूट के ही एक भाग का नाम था।'[१] सुवेल की सत्ता के विषय में तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। पर इतना निश्चित है कि त्रिकूट और सुवेल रामायण कथा के आधार पर लङ्का के कल्पित पर्वत गढ़े गये प्रतीत होते हैं। पर्वतों के आकलन से यह निष्कर्ष निकला कि मेरु, मलय, त्रिकूट और सुवेल इन वर्णित चार पर्वतों में मेरु सर्वथा काल्पनिक पर्वत है। सुवेल त्रिकूट की ही एक शाखा का नाम है तथा मलय और त्रिकूट दोनों ही दक्षिण भारत की पहाड़ियाँ हैं। भले ही वे कल्पित हों। किन्तु काश्मीर क्या उत्तर-भारत के किसी भी पर्वत का अचेतन उल्लेख भी नहीं है।

४. पशु—(क) **महिष**—काव्यालङ्कार (५-१२) में महिष का नाम है। यह गङ्गा की तराई,[२] मध्य-प्रदेश और बङ्गाल में पाया जाता है। भैंसे आज कल भारत के प्रायः सभी भागों में पायी जाती हैं। किन्तु काश्मीर में पर्वतीय प्रदेश होने के कारण महिष की गुञ्जाइश नहीं है।

(ख) **वानर**—(काव्यालङ्कार ५। २२, ७। २०)। यह हिमालय की पहाड़ियों में, वर्धा और चित्रकूट में पाया जाता है। काश्मीर में भी यह उपलभ्य है।

(ग) **हाथी**—(काव्यालङ्कार ६। २४, ३३, ८। ८) हाथी तराई के भागों में, विन्ध्य और आसाम में पाया जाता है।

(घ) **चूहा**— (काव्यालङ्कार ७-१८) यह सर्वत्र पाया जाता है।

---

१ A Classical Dictionary of Hindu Mythology.

२. The Himalayan Districts. Vol. II By Edwin Athinson.

(ङ) **गाय**—यह पञ्जाब और मध्य प्रदेश का पशु है। किन्तु काश्मीर में भी पाला जाता है।[1]

(च) **सिंह**—(काव्यालङ्कार ७।१८) यह विन्ध्य-वन, बिहार और बङ्गाल में पाया जाता है।

(छ) **मृग**—यह वन्य पशुओं के लिये प्रयुक्त एक सामान्य-पद है।

(ज) **अश्व**—(६-७) यह पञ्जाब, अफगानिस्तान में प्रायः पाला जाता है। किन्तु उत्तर-प्रदेश, मध्यप्रदेश, बङ्गाल आदि प्रान्तों में भी पाला जाता है।

पशुओं के आकलन से यह स्पष्ट है कि वानर, चूहा, मृग और गाय—ये चार ही पशु काश्मीर में पाये या पाले जाते हैं। परन्तु ये पशु भारत के अन्य भागों में भी पाये या पाले जाते हैं। सिंह, हाथी, महिष और अश्व—ये चार पशु काश्मीर में दुर्लभ हैं। ये सभी पशु पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्य भारत में पाये जाते हैं। केवल सिंह पश्चिमी भारत में नहीं मिलता।[2]

५. **पक्षी**—(क) **वक**—(काव्यालङ्कार ८–७५, ११–३५) वक हिमालय प्रदेश में उपलभ्य है। किन्तु मध्य-देश में भी पाया जाता है।[3]

(ख) **मयूर**—(काव्यालङ्कार ८।१०) यह हिमालय प्रदेश, मध्य-प्रदेश, बिहार तथा उत्तर-प्रदेश में पाया जाता है।

(ग) **कुरर**—(४–१२) यह भी हिमालय प्रदेश में उपलम्य है।

(घ) **कोकिल**—(काव्यालङ्कार ७–८३) यह हिमालय प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य-प्रदेश और बिहार में पाया जाता है।

(ङ) **हंस**—काव्यालङ्कार में हंस का प्रयोग-बाहुल्य है। यह पक्षी हिमालय प्रदेश में कुछ ही ऋतुओं में उपलब्ध होता है।

(च) **चक्र**—(काव्यालङ्कार ७–१८) प्रमाणों के अभाव में इस पक्षी के विषय में कुछ कहना असंभव है। कवि ने 'सम्प्रति विघटन्ते चक्रवाक-मिथुनानि' में चक्रवाक पक्षी का उल्लेख कवि समय के आधार पर किया है। ऐसी कविप्रसिद्ध है कि सायंकाल होते ही चक्रवाक युगल रात भर के लिये वियुक्त हो जाते हैं।

'काव्यालङ्कार' में आये हुये सभी पक्षी हिमालय प्रदेश में उपलब्ध होते हैं। अतएव वे काश्मीर में भी उपलब्ध हो सकते हैं। कुरर मध्य-प्रदेश में पाया जाता

---

१. The Himalayan Districts Vol. I By Edwin At-hinson.

२ Zoology of India by D. N. Wadia.

३. The Himalayan Districts Vol. II Edwin At—hinson.

है या नहीं इस विषय पर प्रमाणों के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता। शेष सभी पक्षी मध्यभारत में भी उपलभ्य हैं।

६. **वृक्ष**—(क) **वञ्जुल**—(काव्यालङ्कार ७–३९) यह अनेक प्रकार के वृक्षों की एक जाति है।[1] एस० जी० वाट के अनुसार यह वृक्ष मध्य, दक्षिण तथा पश्चिम भारत में पाया जाता है।[2]

(ख) **नीप**—(काव्यालङ्कार ७–६०) यह अशोक वृक्ष की ही एक जाति है। इसकी उँचाई चालीस से पचास फीट तक होती है। यह प्रायः मध्य प्रदेश में उपलब्ध होता है।

(ग) **अर्जुन**[3]—(काव्यालङ्कार ७–६०) यह ३० फीट का ऊँचा पौधा होता है। अगस्त और जुलाई के महीने में फूलता है। सरजू झील में ११०० फीट की उँचाई तक पाया जाता है।[4] काश्मीर में यह वृक्ष नहीं उपलब्ध हो सकता क्योंकि काश्मीर की न्यूनतम ऊँचाई समुद्र से ३५०० फीट है।

(घ) **कुब्जक**—(काव्यालङ्कार ९-२५) यह श्वेत पुष्पों वाला ६ से १० फीट तक का पौधा होता है। जुलाई-अगस्त में फूलता है। हिमालय प्रदेश में ७००० से १२००० फीट की ऊँचाई तक वर्षा वाले भागों में पाया जाता है।[5] यह फूल काश्मीर में भी उपलब्ध हो सकता है।

(ङ) **चम्पक**—(काव्यालङ्कार ८।३३, ८।२५) यह पीत पुष्पों वाला पौधा होता है।[6] यह प्रायः आसाम में पाया जाता है।[7] किन्तु देश के अन्य भागों में भी इसे रोपते हैं।

---

१. वञ्जुल—Name of Various trees and other plants--M. M. William.

२. The Commercial Products of India. p, 259.

३. The Tree Terminalia Arjun. W. A. M. M. William.

४. The Himalayan Districts, Vol. I. p 478, By Edwin At—hinson.

५. The Himalayan Districts. Vol. I, p. 470.

६. चम्पक (Michelia Champaka (bearing a yellow fragrant flower) M. M. William.

७. The Commercial Products of India (Index) S. G. Watt.

(च) **कुटज**—(काव्यालङ्कार ७।६०) प्रमाणों के अभाव में कुटज के विषय में कुछ कहना असंभव है। हिमालय प्रदेश में यह नहीं पाया जाता।[1]

(छ) **करीर**—(काव्यालङ्कार ७–२५) यह काँटेदार पौधा प्रायः रेगिस्तान में (राजपूताना, दिल्ली और आगरा) में उत्पन्न होता है। यह ऊँटों का भोजन है।

(ज) **शमी**—(काव्यालङ्कार ७–२५) यह दो से दस फीट का पौधा होता है। काव्यालङ्कार में शमी जिस पौधे के लिये आया है वह मरुस्थल में उगने वाला बबूल का एक विशेष प्रकार है।

(झ) **कदली**—(काव्यालङ्कार ५–२९) यह काश्मीर में नहीं हो सकता। इसके लिये अनुकूल जलवायु वर्धा, नागपुर तथा बम्बई के समीपस्थ प्रदेश का है। उत्तर प्रदेश में भी यह यत्र-तत्र पायी जाती है।

(ञ) **ताड़**—यह मलाबार में पाया जाता है।[2]

उपरोक्त दस वृक्षों की नामावली में कुब्जक और शमी ही काश्मीर में पाये जाते हैं। वञ्जुल, कदली और नीप मध्य देश में पाये जाते हैं। करीर भी मध्य देश के समीप रेगिस्तान की शुष्क जलवायु में पायी जाती है। वञ्जुल दक्षिण पश्चिम भारत में भी पाया जाता है। चम्पा यद्यपि आसाम की उपज है किन्तु मध्यदेश में भी इसके पौधे आरोपित किये जाते हैं। 'अर्जुन और कुटज' क्या मध्य-प्रदेश में हो सकते हैं, प्रमाणों के अभाव में इस पर कुछ कहना कठिन है।

७. अन्न—(क) **माष**—(काव्यालङ्कार १०–१९) इसके लिये न्यूनतम ८० फैरेनहाइट तापमान की आवश्यकता होती है। काश्मीर का तापमान ६५ फैरेनहाइट से कभी अधिक नहीं होता। दूसरी बात यह है कि माष के लिये बरसने के बाद पानी को खेत में टिकना नहीं चाहिये। निरन्तर वर्षा भी अपेक्षित होती है। माष को आज की भाषा में उड़द कहते हैं। यह प्रायः उत्तर प्रदेश में, कहीं-कहीं मध्य प्रदेश तथा विहार में उत्पन्न होता है। महाराष्ट्र में भी इसकी खेती होती है।

(ख) **कोद्रव**—कोदों या कदन्न का संस्कृत नाम कोद्रव है। इसके लिये न्यूनतम ७५ फैरेनहाइट तापमान की आवश्यकता होती है। निरन्तर साधारण वर्षा तथा बरसने के बाद पानी का खेत से निकल जाना इसकी उपज के लिये

---

१. The Himalayan Districts. Vol. I, p. 464.

२. The Commercial Products of India p. 428. By S. G. Watt.

अनिवार्य शर्तें हैं। जलवायु के अनुकूल न होने के कारण यह अन्न काश्मीर में नहीं हो सकता। इसकी कृषि मध्यप्रदेश में प्रायः रीवाँ में होती है।

अन्नों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उक्त दोनों अन्न मध्य-देश (मध्य प्रदेश में) उत्पन्न होते हैं। उड़द मध्यप्रदेश के बाहर भी उत्पन्न होता है। परन्तु काश्मीर में ये दोनों ही अन्न नहीं उत्पन्न हो सकते।

८. **वस्तु**—कुङ्कुम[१]—(काव्यालङ्कार ८-३७) काश्मीर में पाम्पुर क्षेत्र में कुङ्कुम की कृषि की जाती है। कुङ्कुमाद्रि नामा एक पर्वत भी काश्मीर में मिलता है। किन्तु कुङ्कुम एक प्रकार का पुष्प भी होता है। रघुवंश (४। ६७) में 'लग्नकुङ्कुमकेसरान्' पर टीका करते हुये मल्लिनाथ ने 'लग्नकुङ्कुमकुसुम-किञ्जल्कान्' लिखा है। 'अतिघनकुङ्कुमरागा पुरः पताकेव दृश्यते संध्या' यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार का उदाहरण है। अवधेय बात यह है कि प्रसङ्ग में आचार्य को कुङ्कुमपुष्प विवक्षित प्रतीत होता है, कुङ्कुम (saffron) नहीं। 'कुङ्कुमराग' का प्रयोग कविसमय के आधार पर किया गया है।

९. **वन**—एक स्थल पर कवि दण्डकारण्य की ओर साक्षात् सङ्केत करता है—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥ ७—१०४ ॥

'यह वही वन है जिसमें दशरथ की आज्ञा पालने के व्यसनी राम ने निवास करते हुये अपनी भुजाओं के पराक्रम से राक्षसों का विनाश किया था।' इस छन्द को पढ़ते ही दण्डकारण्य का स्मरण हो आता है। 'यह अवसर अलङ्कार का उदाहरण है।' केवल इसी के आधार पर इस वन के सङ्केत का महत्त्व रुद्रट की परिचिति बताने में न्यून नहीं हो जाता। डॉवसन् के अनुसार 'दण्डक वन गोदावरी और नर्मदा के मध्य में पड़ता है। रामायण के कुछ छन्दों के आधार पर यह यमुना के ठीक दक्षिण से प्रारम्भ होता है। यह अरण्य राम और सीता के अनेक साहसिक कृत्यों की भूमि है जिसमें यत्र तत्र पृथक्-पृथक् आश्रम हैं। इसमें वन्य पशु और राक्षस भरे पड़े हैं।'[२]

१०. **जलवायु**—(क) ग्रीष्म का (७—२५) में वर्णन आया है—

'मरुतोऽतिखरा ग्रीष्मे किमतोऽन्यदभद्रमस्तु मरौ'—ग्रीष्म में मरुस्थल में वायु अत्यन्त प्रचण्ड होती है, भला इससे अधिक क्या अमङ्गल हो सकता है!

---

१. कुङ्कुम. n. Saffron 'Crocus Sativus the plant and the pollen of the flowers'. M. M. Williams.

२. A classical Dictionary of Hindu Mythology.

(ख) काव्यालङ्कार (५-३०) में प्रातःकाल ही शीतल जल पीने का उल्लेख है—'वारि शिशिरं रमण्यो रतिखेदादपुरुषस्येव'—रति खेद के कारण रमणियों ने प्रातःकाल ही शीतल जल का पान किया।

उक्त दोनों ही स्थल 'रुद्रट गर्म देश के थे' इसे प्रमाणित करते हैं। काव्यालङ्कार में हेमन्त के कटु अनुभव का एक बार भी उल्लेख नहीं है।

(ग) (काव्यालङ्कार ८–९०) में 'दहति हिमानी हि भूरुहः'। भूरुह के अर्थ कमल, कृषि और वृक्ष आदि हैं। छः प्रकार की ईतियों में हिमपात का भी नाम आता है। कविप्रसिद्धि के कारण इस स्थल पर सामान्यतः पाला पड़ने की ओर सङ्केत है। मध्यदेश में भी पाले से कृषि नष्ट होने की बात सर्वविदित है।

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यालङ्कार में आये हुए देश, नदी और पर्वत की नामावली में काश्मीर ही नहीं उत्तर भारत का कोई नाम नहीं है। पशु की नामावली में भी कुछ ही पशु काश्मीर में मिल सकते हैं। इसके विपरीत प्रायः सभी पशु मध्यभारत में उपलब्ध हो जाते हैं। पक्षी सभी काश्मीर में उपलभ्य हैं किन्तु वे काश्मीर से बाहर मध्य-भारत, दक्षिण-भारत और पूर्वी भारत में भी पाए जाते हैं। वृक्षों में से केवल दो ही वृक्ष काश्मीर में उपलभ्य हैं। कुङ्कुम का भी काश्मीरी पक्ष में कोई महत्त्व नहीं। कारण यह है कि कुङ्कुम से कवि को (saffron) विवक्षित नहीं है। सब से महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि कवि को ग्रीष्म की प्रचण्डता पीडावह है—हेमन्त की तीक्ष्णता नहीं।

उक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि रुद्रट विन्ध्याचल से मालवा के पठार और इन्दौर से भूपाल के मध्यवर्ती भूभाग में रहे होंगे। संभव है पूर्वपरिचित कन्नौज के भोजदेव के दान-पत्र में उल्लिखित रुद्रट नामा व्यक्ति ही प्रकृत रुद्रट रहा हो क्योंकि न केवल दोनों की तिथियों में साम्य है अपितु दोनों के स्थानों में भी सामीप्य सुप्रतीत है। मालव और मध्यदेश का उल्लेख, सिप्रा की चर्चा और दक्षिण के पर्वतों का नामाङ्कन यही द्योतित करता है। तथाकथित सभी पशु उक्त भूभाग में पाये जाते हैं, पक्षी भी प्रायः सभी मिलते हैं और वृक्ष भी अधिकांश इसी भूभाग में उपलभ्य हैं। ग्रीष्म का कटु अनुभव भी यहाँ सम्भव है। दण्डक-वन की प्रतीति भी यदि किसी को 'तदिदमरण्यम्' से अभिमत हो तो उक्त स्थान ही प्रामाणिक होगा।

रुद्रट के टीकाकार : प्रसिद्ध टीकाकार वल्लभदेव शिशुपालवध के चतुर्थ सर्ग २१ वें श्लोक पर व्याख्या करते हुये कहते हैं "नात्र भिन्नलिङ्गानामौपम्यं दोषाय

इति रुद्रटः ।'' इसी प्रकार द्वितीय सर्ग के ८८ वें श्लोक 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते' पर व्याख्या करते हुये वे कहते हैं 'एतदस्माभी रुद्रजटालङ्कारे विवेचितम्' । इन उद्धरणों के आधार पर डा० एस० के० डे और महामहोपाध्याय काणे ने यह स्वीकार किया है कि वल्लभदेव ने रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' पर कोई वृत्ति अवश्य लिखी थी जो अब उपलब्ध नहीं है । 'काव्यालङ्कार' पर लिखी गयी अन्य वृत्तियों की बात की पुष्टि नमिसाधु के इस कथन से भी होती है—'पूर्वमहामतिविरचितवृत्त्यनुसारेण किमपि रचयामि । संक्षिप्ततरं रुद्रटकाव्यालङ्कारटिप्पणकम् ॥' इस प्रकार वल्लभदेव रुद्रट के प्राचीनतम टीकाकार सिद्ध होते हैं । परन्तु उनका एक स्थल पर 'रुद्रट' पाठ और दूसरे स्थल पर 'रुद्रजटालङ्कार' पाठ संशय में डाल देता है । संभव है कि 'रुद्रजटालङ्कार' 'रुद्रटालङ्कार' का अपपाठ हो ।

'काव्यालङ्कार' पर सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध और प्रकाशित व्याख्या है नमिसाधु की । वह एक जैन यति था । वह अपनी व्याख्या को जैसा ऊपर उद्धृत किया जा चुका है 'टिप्पणक' कहता है और उसका रचना काल ११२५ विक्रम संवत् बताता है—'पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः । विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥' नमिसाधु एक उच्च कोटि का पण्डित था । उसका अलङ्कारशास्त्र पर गम्भीर अध्ययन था । यही कारण है कि टीका के संक्षिप्त होने पर भी मूल को स्पष्ट करने में वह सर्वथा सक्षम है । उसकी टीका उसके समय तक लिखे गये अनेक साहित्यिक ग्रन्थों, नाटकों और महाकाव्यों के उद्धरणों से मण्डित है । ग्रन्थकार के मत की स्थापना के लिये पूर्व प्रचलित मतवादों का खण्डन भी उसने बडी पटुता से किया है । महामहोपाध्याय पी० वी० काणे ने हरिवंशभद्र द्राविड द्वारा विरचित 'रसतरङ्गिणी' और आशाधर द्वारा विरचित दो अन्य टीकाओं का भी उल्लेख किया है ।[1]

काव्यालङ्कार और शृङ्गारतिलक

'शृङ्गारतिलक' नाम से रुद्रभट्ट विरचित एक कृति मिली है । इसमें शृङ्गारादि नव रसों का सविस्तर विवेचन है । ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं । प्रथम और द्वितीय में क्रमशः सम्भोग और विप्रलम्भशृङ्गार का तथा तृतीय में शेष आठ रसों का विवेचन है । इस प्रकार काव्यालङ्कार में रुद्रट ने १२ वें से १५ वें अध्याय तक जिस प्रविधि से नायक-नायिका और रस का विवेचन

1. History of Sanskrit poetics. p. 147. [द्वि० सं०]

किया है ठीक उसी प्रविधि से प्रायः उन्हीं विषयों का यहाँ भी विवेचन मिलता है। विवेच्य-विषय की इस समरूपता के कारण शृङ्गारतिलक और काव्यालङ्कार के लेखक के विषय में विद्वानों में परस्पर एक बड़ा वैमत्य रहा है। इसके वैमत्य के कारण भी गंभीर हैं। काव्यालङ्कार की कुछ पाण्डुलिपियों में लेखक का नाम भट्टरुद्र आता है।[1] इसी प्रकार शृङ्गारतिलक की कुछ पाण्डुलिपियों में लेखक का नाम रुद्रट दिया गया है।[2] इण्डिया आफिस कैटेलाग् (पृ० ३२१–२२ सं० ११३१) में शृङ्गारतिलक के लेखक का नाम रुद्रट और रुद्रभट्ट दोनों दिया है। कुछ अन्य पाण्डुलिपियों में 'काव्यालङ्कारे शृङ्गारतिलके' के स्थान पर 'शृङ्गार-तिलकाख्ये काव्यालङ्कारे' पाठ मिलता है।[3] तथा तीसरे परिच्छेद की पुष्पिका में 'सङ्कीर्णरसवर्णनम्' यह अधिक विशेषण भी उपलब्ध होता है।[4] सुस्पष्ट है कि पाण्डुलिपियाँ तादात्म्य के विषय में भ्रम उत्पन्न करती हैं और उनके प्रामाण्य पर हम किसी निश्चायक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। क्योंकि काव्यालङ्कार का लेखक रुद्रट भी काव्यालङ्कार की पाण्डुलिपि में ही भट्टरुद्र के नाम से और शृङ्गारतिलक का लेखक रुद्रभट्ट शृङ्गारतिलक की ही पाण्डुलिपि में रुद्रट नाम से भी उल्लिखित है। इसके अतिरिक्त पाण्डुलिपियों में आये हुये पुष्पिका के अंश की शब्दावलियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं।

इसी प्रकार सुभाषितावलियाँ भी भ्रमोत्पादक हैं। काव्यालङ्कार के ही उद्धरण रुद्र और भट्टरुद्र के नाम से दिये गये हैं। शार्ङ्गधर-पद्धति स० ३७७३ [एकाकिनी यदबला–का० ७. ४१] और ३७७८ [मलयानिल–का० २-३०]

---

१. 'Catalogue of Sanskrit Manuscripts' The Maharaja of Bikaner (1880) No 610, p. 284. (इति भट्टरुद्रविरचिते काव्यालङ्कारे षोडशोऽध्यायः समाप्तः।)

२. A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in Government Oriental Manuscripts Library Madaras Vol. XXII 1918, pp. 8697-99.

'इति रुद्रटविरचिते काव्यालङ्कार-शृङ्गारतिलके तृतीयपरिच्छेदः समाप्तः।'

३. Sanskrit Mss. Library Tanjore No 5306, p. 4097.

'इति रुद्रभट्टविरचिते शृङ्गारतिलकाख्ये काव्यालङ्कारे विप्रलम्भाभिधानं नाम द्वितीयः परिच्छेदः।'

४. वही पाण्डुलिपि। 'इतिरुद्रभट्टविरचिते शृङ्गारतिलकाख्ये काव्यालङ्कारे सङ्कीर्णरसवर्णनं नाम तृतीयः परिच्छेदः।'

रुद्र और भट्टरुद्र के नाम से उद्धृत किये गये हैं। ५७५. और ३४७३ का रुद्रट के नाम से उल्लेख ठीक ही किया गया है । ३५६७-६८, ३५७९, ३६७०, ३६७५ और ३७५४ का रुद्र के नाम से उद्धरण समीचीन है। जल्हण ने शृङ्गारतिलक और काव्यालङ्कार [एकाकिनी यदबला—७. ४१; किं गौरि—२. १५] दोनों से ही रुद्र के नाम से उद्धरण दिये हैं। इसी प्रकार श्रीधरदास ने अपने सदुक्तिकर्णामृत में काव्यालङ्कार और शृङ्गारतिलक दोनों के उद्धरण रुद्रट नाम से ही दिये हैं। भारतरत्न महामहोपाध्याय काणे का अभिमत है कि चूँकि ये दोनों ही ग्रन्थ सुभाषित ग्रन्थों में प्राचीनतम हैं इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों नामों के बीच भ्रम लगभग ११५० ई० से ही चला आ रहा है।[1] यह बात इससे भी पुष्ट होती है कि भावप्रकाश[2] और रसार्णव सुधाकर[3] शृङ्गार-तिलक का मत रुद्रट के नाम से उद्धृत करते हैं। इसी प्रकार प्रताप-रुद्र-यशोभूषण काव्यालङ्कार का मत भट्टरुद्र के नाम से घोषित करता है।[4] परिणाम-स्वरूप भ्रान्त होकर विद्वानों ने काव्यालङ्कार और शृङ्गारतिलक के लेखकों को अभिन्न माना है। आफ्रेक्ट के मतानुसार रुद्र, रुद्रट, रुद्रभट्ट और भट्टरुद्र चारों नाम शृङ्गारतिलक और काव्यालङ्कार के प्रणेता के लिये उपयुक्त हैं।[5] यही बात वेबर और व्यूलर भी स्वीकार करते हैं।[6] इस विषय में सर्वप्रथम पिटर्सन ने तादात्म्य पर सन्देह प्रकट किया और दुर्गाप्रसाद और त्रिवेदी ने तादात्म्य को

---

१. History of Sanskrit Poetics p. 159

२. इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा। संख्येयं रुद्रटाचार्यैः—आनन्द० स० भा० प्र० पृ० ९५

साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं परमिच्छति।
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्या गुणिन्यपि॥
शृङ्गाराभास एव स्यान्न शृङ्गारः कदाचन।
इति द्विषन्तमुद्दिश्य प्राह श्रीरुद्रटः कविः॥

भा० प्र० पृ० ९५

३. तथाह रुद्रटः—'ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य निश्शङ्ककेलिर्न पराङ्ग-नासु.........१९१६ त्रिवेन्द्रम : टी गणपति

४. यो हेतुः काव्यशोभायाः सोऽलङ्कारः प्रकीर्त्यते।
गुणोऽपि तादृशो ज्ञेयो दोषः स्यात्तद्विपर्ययः॥ पृ० ३३५

५. Z. D. M. G. Vol. 27 (1873) P. 80–81, Vol. 36 (1882) p. 376

६. History of Sanskrit Poetics. p. 156.

अस्वीकार किया। अन्त में प्रसिद्ध जर्मन पण्डित याकोबी ने दोनों ही कृतियों का परीक्षण करके यह सिद्धान्तित किया कि उनके लेखक सभी संभावनाओं में भिन्न व्यक्ति हैं।[1] डा० हरिचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'कालिदास' में अपना अभिमत देते हुये दोनों लेखकों को भिन्न व्यक्ति स्वीकार किया है।[2]

भावप्रकाशन के सम्पादक ने रुद्रट और रुद्रभट्ट को अभिन्न माना है। अपने मत की पुष्टि में आपने अधोलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—'रुद्रट के तादात्म्य के प्रश्न को लेकर एक बड़ा विवाद है। कुछ विद्वान् उनका शृङ्गारतिलक के रुद्रभट्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं और दूसरे उन्हें भिन्न व्यक्ति स्वीकार करते हैं तथा रुद्रट की अपेक्षा उन्हें परवर्ती सिद्ध करते हैं। क्योंकि उनका विचार है कि रुद्रभट ने रुद्रट के काव्यालङ्कार से अनेक लक्षण उद्धृत किये हैं। प्रस्तुत कृति अनेक छन्दों को रुद्राचार्य और रुद्रट कवि के नाम से उद्धृत करके सामग्री उपस्थित करने के कारण इस समस्या को और भी जटिल बनाती है। इस लेखक के नाम के विषय में मतों में ऐक्य नहीं है। कुछ कृतियों में वह रुद्र नाम से और कुछ में रुद्रट नाम से उद्धृत है। कुछ स्थानों पर काव्यालंकार रुद्रट के नाम से उल्लिखित है तथा कुछ अन्य स्थानों पर इसी प्रकार शृङ्गारतिलक रुद्रट नाम से उद्धृत है। जो भी हो, शृङ्गारतिलक और रसनिरूपक काव्यालङ्कार के छन्दों में विचित्र साम्य है। तथा, एक सचेत द्रष्टा के लिये पूर्व ग्रन्थ छन्दों के परिवर्तन के अतिरिक्त शब्दशः अनुकरण प्रतीत होता है। कुछ भी हो यह सोचना भूल होगी कि रस के महान् अधिकारी, उच्चकोटि के कवि और दार्शनिक होकर रुद्रभट्ट इतना नीचे उतरेंगे कि अपने नाम के लिये रुद्रट से ऋण लेंगे। यदि हम शारदातनय और शिङ्गभूपाल—जिन्होंने पहले का प्रायः अनुसरण किया है—के प्रामाण्य में विश्वास करें तो यह मानने के अतिरिक्त हमारे पास कोई चारा नहीं रह जाता कि रुद्रट और रुद्रभट्ट दोनों एक ही व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शारदातनय ने रुद्रट के मतों का दो मुख्य विषयों में संकेत किया है। पहला नायिका-भेद की संख्या के विषय में जो उनके अनुसार ३८४ है और दूसरा वेश्या और उसके प्रेमी के प्रेम के स्वरूप के विषय में। वास्तविक अंश, जिनका विवादात्मक स्थलों पर रुद्राचार्य और रुद्रट कवि के नाम से उद्धरण दिया है, रुद्रट के काव्यालङ्कार में नहीं अपितु रुद्रभट्ट के शृङ्गारतिलक में पाये

१. Sanskrit Poetics (De) p. 86.

२. History of Sanskrit Poetics p. 156.

जाते हैं। रसार्णवसुधाकर से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि रुद्रट ही भिन्न मतों के लेखक थे।

जो कुछ भी हो, रुद्रट के काव्यालङ्कार में जो अंश वेश्या के स्वरूप और नायिका भेद का निरूपण करने में शृङ्गारतिलक से साम्य रखता है, काव्यालंकार के सम्पादक भरसक अपने ज्ञात कारणों से इस स्थल को प्रक्षिप्त मानते हैं। किन्तु इस विषय में यह दिखाने के लिये प्रभूत कारण हैं कि सम्पादक महोदय के द्वारा अवधारित प्रक्षिप्त अंश सर्वथा गलत सोचा गया है। शृङ्गारतिलक जो काव्यालंकार का अनुसरण करता है इस प्रक्षिप्त अंश को नहीं छोड़ता जिससे साफ जाहिर है कि प्रक्षिप्त कहा जाने वाला अंश मूलकृति का अभिन्न अंश था। दूसरी बात यह है कि भाव प्रकाशन ने विवादात्मक स्थल का निःसन्दिग्ध रूप से उद्धरण और उल्लेख किया है। इस प्रकार इस स्थल के छन्दों और मतों के मौलिक होने के विषय में कोई विवाद नहीं हो सकता। और चूँकि वही बातें शृङ्गारतिलक और काव्यालङ्कार दोनों में कही गई हैं इससे सर्वथा यही उचित होगा कि उन्हीं मतों के जन्मदाता दोनों प्रतिपादकों को एक और अभिन्न व्यक्ति माना जायेगा।

रुद्रट और रुद्रभट्ट के तादात्म्य के विरुद्ध प्रायः तीन तर्क दिये जाते हैं। प्रथमतः रुद्रट और रुद्रभट्ट दो भिन्न व्यक्ति माने जाने चाहिये क्योंकि वे रस की संख्या के विषय में भिन्न मत रखते हैं। रुद्र के अनुसार यह केवल नौ है जब कि रुद्रट के अनुसार यह दस है। किन्तु इस शङ्का का सहज ही निवारण हो सकता है। दोनों ही लेखकों का मत है कि सभी व्यभिचारी भाव रस की दशा में सम्पन्न हो सकते हैं। अत एव उनकी निश्चित संख्या उनके लिये कोई महत्त्व नहीं रखती। जहाँ तक संभव है संख्या में भेद संदिग्ध दोनों कृतियों की रचनाकाल के अन्तराल में परिवर्तित लेखक के मतों के कारण हुआ है। दूसरे यह कहा जाता है कि रुद्र और रुद्रट को अवश्य ही भिन्न मानना चाहिये क्योंकि दोनों ही कृतियों की संख्या के विषय में भिन्न मत रखते हैं। रुद्र को कैशिकी आदि चार की अभिमत संख्या है जब कि रुद्रट ने मधुरा आदि पांच को स्वीकार किया है। और इस प्रकार दोनों एक नहीं हो सकते। इस तर्क में कुछ अधिक सार नहीं है क्योंकि कैशिकी आदि वृत्तियाँ अर्थ की वृत्तियाँ मानी जाती हैं जब कि मधुरा आदि शब्द की वृत्तियाँ हैं और इन दो प्रकार की विविध वृत्तियों में कोई विषयगत साम्य नहीं है।

तीसरे, यह बहस की जाती है कि चूँकि दोनों कृतियों के नायिकावर्णन में भेद है अतएव दोनों लेखक अभिन्न नहीं हो सकते। इस विषय में पाठकगण

जो इस प्रश्न में रुचि रखते हैं, को परामर्श दिया जाता है कि वे उस अंश को जिसे काव्यालङ्कार के संपादक ने प्रक्षिप्त माना है, रचना का मौलिक अंश मानकर विचार करें। जब रचना का इस प्रकार पाठ होगा तो रुद्र और रुद्रट दोनों के नाम से उल्लिखित रचनाओं में कोई भेद नहीं होगा।

काव्यालङ्कार और शृङ्गारतिलक में उपन्यस्त विचार और सिद्धान्तों का विचित्र साम्य हमें यह विश्वास दिलाता है कि काव्यालङ्कार के लेखक रुद्रट ने बाद में और भी विस्तार की पूर्णता और विविध उदाहरणों के साथ शृङ्गारतिलक नामक रचना की और उनके तादात्म्य के विषय में अब तक विवाद करने के लिये कोई ठोस आधार नहीं है।

रुद्रट और रुद्रटभट्ट में रसार्णवसुधाकर और भावप्रकाशन के प्रामाण्य पर तादात्म्य नहीं स्थापित किया जा सकता। जैसा कि कहा जा चुका है, पाण्डुलिपियों में भी रुद्रटभट्ट के स्थान पर रुद्रट नाम आता है। रसार्णवसुधाकर और भावप्रकाशन शृङ्गारतिलक का मत रुद्रट और रुद्रट कवि के नाम से उद्धृत करते हैं। केवल इसी आधार पर दोनों को एक नहीं माना जा सकता।

दूसरी बात नायिकाभेद की संख्या की है। रुद्रट ने सर्वप्रथम नायिका के आत्मीया (स्वीया), परकीया और वेश्या तीन भेद किये हैं। पुनः आत्मीया के १३ प्रकार और परकीया के २ प्रकार बताये हैं। इस प्रकार वेश्या को लेकर १६ प्रकार की नायिकाओं के अभिसारिका और खण्डिता दो भेद किये हैं; पुनः स्वीया के स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका दो भेद किये हैं। इस प्रकार १३ प्रकार की आत्मीया, अभिसारिका और खण्डिता, स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका के भेद से ५२ प्रकार की नायिकायें बतायी गई हैं। चार प्रकार की परकीया और दो प्रकार की वेश्या को लेकर रुद्रट के अनुसार नायिका के केवल ५८ भेद होते हैं। सम्पादक महोदय का ३८४ भेद मानना नितान्त भ्रामक है। यदि हम चौदह आर्याओं को प्रक्षिप्त न मानें तथापि यह संख्या ३८४ नहीं होगी। क्योंकि ३८४ तो तब होती जब नीचे की कारिकायें न होतीं। यह सर्वथा उपहासास्पद है कि ४१ वीं कारिका को मूल मानकर भी सम्पादक महोदय नायिका के ३८४ प्रकार और १४ आर्याओं को मूल मानते हैं। १४ आर्याओं को प्रक्षिप्त मानना सर्वथा समीचीन है। क्योंकि नमिसाधु की ४४ वीं कारिका की वृत्ति से यह सुतरां स्फुट है कि रुद्रट ने अवस्था के अनुसार नायिका का अष्टधा वर्गीकरण नहीं किया है। नमिसाधु का कथन है—'तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि। स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरिता तथा॥ खण्डिता विप्रलब्धा च तथा प्रोषितभर्तृका। तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकाः स्मृताः॥ तदत्रापि संगृहीतम्॥ यदि रुद्रट ने नायिका का अष्टधा विभाजन

किया होता तो नमिसाधु को 'तदत्रापि संगृहीतम्' कहने की आवश्यकता न होती। ऊपर नमिसाधु ने कहा है—'तेन विप्रलब्धाकलहान्तरिते अत्रान्तर्भूते।' अर्थात् खण्डिता में ही विप्रलब्धा और कलहान्तरिता का अन्तर्भाव किया है। प्रक्षिप्त कारिका में अभिसंधिता शब्द विप्रलब्धा का स्थानापन्न है। इस प्रकार यह उचित नहीं कि एक बार १६ प्रकार की नायिकाओं को अवस्था के अनुसार अभिसारिका आदि आठ प्रकार की बताकर पुनः अभिसारिका और खण्डिता दो भेद किये जाँय। चूँकि संदिग्ध १४ आर्याओं की संगति मूल के साथ किसी भी प्रकार नहीं बैठती अतएव उन्हें प्रक्षिप्त मानना ठीक ही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भावप्रकाशन के सम्पादक ने जिस आधार पर मत दिया है वह धराशायी हो जाता है और उस मत का कोई मूल्य नहीं रह जाता। परिणाम-स्वरूप एस्० के० डे और भारतरत्न काणे ने काव्यालङ्कार और शृङ्गारतिलक के लेखकों को पृथक् स्वीकार किया है।

एस्० के० डे के अनुसार दोनों लेखक दो भिन्न धार्मिक मतों के अनुयायी हैं। काव्यालङ्कार के मङ्गलाचरण में रुद्रट ने गणेश की वन्दना की है तथा काव्य के अवसान में भवानी और मुरारि की वन्दना करने के बाद गणेश की वन्दना की है। शृङ्गारतिलक में पार्वती और शिव की वन्दना है। रुद्रट की दृष्टि धर्म के विषय में उदार थी और रुद्रभट्ट शैव थे।

परीक्षण करने पर दोनों लेखकों के तादात्म्य के पक्ष और विपक्ष में जो कुछ कहा जा सकता है वह यही कि इस बात के लिये गम्भीर आधार हैं कि दोनों लेखक भिन्न हैं। कारण भी संक्षेप में दिये जा सकते हैं, "रुद्रट का १२ वें से १४ वाँ अध्याय प्रायः वही विषय अधिकांशतः उन्हीं शब्दों में व्यक्त करता है। यह बहुत उचित नहीं प्रतीत होता कि वही लेखक इस प्रकार से दो रचनायें लिखेगा (क्योंकि) शृङ्गारतिलक में उदाहरणात्मक छन्दों के ही केवल योग का वैशिष्ट्य है। कुछ स्थलों पर शृङ्गारतिलक और भी विस्तार करता है जैसे चार वृत्तियों का विवेचन, काम की दश दशाओं के लक्षण तथा नायिका के उपभेद और उनके लक्षण। किन्तु कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ रुद्रट ने अधिक सूचनायें दी हैं जैसे काव्यालङ्कार का १४।२२–२४। कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जहाँ काव्यालङ्कार और शृङ्गारतिलक के मतों में भेद है। 'यह संभव नहीं है कि वही लेखक महत्त्वपूर्ण स्थलों पर मतभेद करेगा।" शृङ्गारतिलक के अनुसार 'काव्य में नव रस हैं जब कि रुद्रट के अनुसार इसमें दश हैं।' शृङ्गारतिलक के अनुसार इसमें चार वृत्तियाँ हैं (कैशिकी आदि) जो नाट्य के क्षेत्र से काव्य-सामान्य के क्षेत्र में परिवर्तित की जाती हैं। जब कि रुद्रट ने मधुरा, प्रौढ़ा आदि (का० २।१९) पाँच वृत्तियों का वर्णन किया है तथा कैशिकी और

अन्य वृत्तियों के विषय में मूक हैं। रुद्रट ने प्रथमतः नायिका को स्वीया, परकीया और वेश्या में वर्गीकृत किया है तदनन्तर उन तीनों के अभिसारिका और खण्डिता में उपभेद किया है। तदनन्तर स्वीया के पुनः दो प्रकार स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका के भेद से बताये गये हैं। शृङ्गारतिलक में एकत्र आठ प्रकार की नायिकाओं का वर्णन है [प्र० प० श्लोक ७२–७३]। काव्यालङ्कार में वेश्याओं के लिये एक भी साधु शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। शृङ्गारतिलक के–

सामान्यवनिता वेश्या सा वित्तं परमिच्छति ॥
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्या गुणिन्यपि।
तत्स्वरूपमिदं प्रोक्तं कैश्चिद् ब्रूमो वयं पुनः ॥ १–६२–६३

कथन से यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि लेखक यहां अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुद्रट की ओर सङ्केत कर रहा है।[1] रस की संख्या के भेद को भावप्रकाशन के सम्पादक ने बहुत तुच्छ माना है। किन्तु यह उन लोगों को उचित नहीं प्रतीत होगा जो रसों की संख्या के विवाद से परिचित हैं।

उक्त तर्कों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रुद्रट और रुद्रभट्ट भिन्न व्यक्ति हैं। दोनों कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से हम अधोलिखित तथ्यों पर पहुँचते हैं—

१. रुद्रट की भाषा से लक्षण अंशों में भी रुद्र की भाषा परिमार्जित है। रुद्रट किसी बात को तर्कप्रधान शैली में प्रतिपादित करता है जब कि रुद्र काव्य की कोटि से उतरना ही नहीं चाहते।

२. रुद्रट एक आलङ्कारिक आचार्य हैं। उनकी दृष्टि में अलङ्कारशून्य काव्य मध्यम कोटि से आगे बढ़ ही नहीं सकता। किन्तु काव्यालङ्कार में परिगणित अलङ्कारों का प्रभाव हमें शृङ्गारतिलक में नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि शृङ्गारतिलक में उपमा और उत्प्रेक्षा के ऐसे सुन्दर उदाहरण हैं जिन्हें देखकर यह प्रतीति होती है कि वे रुद्रट की लेखनी से निकल ही नहीं सकते। क्योंकि काव्यालङ्कार में जो उपमा और उत्प्रेक्षा के उदाहरण दिये गये हैं वे सर्वथा नीरस हैं।

३. वल्लभदेव की सूक्तिमुक्तावली में हमें काव्यालङ्कार से तो उद्धरण मिलते हैं किन्तु शृङ्गारतिलक से नहीं। यदि मुक्तावलीकार शृङ्गारतिलक जैसे रसपेशल काव्य से परिचित होता तो वह उससे उद्धरण क्यों न देता। काव्यालङ्कार का उद्धरण राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज, वल्लभदेव, धनिक, लोचन, नमिसाधु, मम्मट, रुय्यक सब ने दिया है। सर्वप्रथम उद्धरण देने वाले रुय्यक ने शृङ्गारतिलक के लेखक का नाम नहीं लिया है। अनुमान यही होता है कि शृङ्गारतिलक काव्यालंकार की अपेक्षा बहुत परवर्ती है।

---

१. Histoy of Sanskrit Poetics. p. 159.

४. शृङ्गारतिलक में रसदोषों का भी विवेचन है। यदि रसदोष रुद्रट को अभीष्ट होता तो अपनी प्रविधि के अनुसार रसचर्चा के पश्चात् शब्दालङ्कार के बाद शब्ददोष और अर्थालङ्कार के बाद अर्थदोष की भाँति रसदोषों का भी विवेचन करते।

५. रुद्रट और रुद्र के व्यक्तित्व में महान् अन्तर है। काव्यालङ्कार का लेखक शास्त्रकवि और उससे भी अधिक चिन्तक है। शृङ्गारतिलक का लेखक प्राधान्येन कवि है—चिन्तन की उसमें बहुत कम गुञ्जाइश है।

इस तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रुद्रट और रुद्रभट्ट दो भिन्न व्यक्ति हैं। इनमें किसी भी प्रकार तादात्म्य नहीं स्थापित किया जा सकता। रुद्रभट्ट जैसा कि पहले प्रदर्शित किया जा चुका है रुद्रट से परवर्ती हैं तथा उन्होंने रुद्रट के ही निर्मित लक्षणों को आधार बनाकर अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है।

काव्यालङ्कार में प्रतिपादित विषय

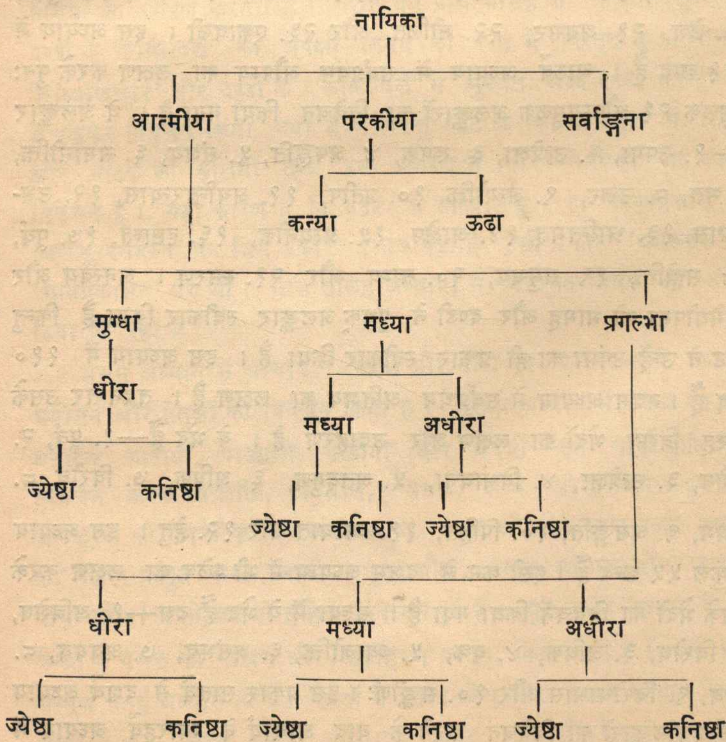
यद्यपि नाम से 'काव्यालङ्कार' भामह के 'काव्यालङ्कार' में प्रतिपादित विषयों का स्मरण कराता है। परन्तु यह ग्रन्थ भामह के 'काव्यालङ्कार' और दण्डी के 'काव्यादर्श' की अपेक्षा विषय की दृष्टि से विस्तृत है। भामह के 'काव्यालङ्कार' और दण्डी के 'काव्यादर्श' में मुख्यतः श्रव्य-काव्य को ही दृष्टि में रखकर विवेचन किया गया है। परन्तु रुद्रट के काव्यालङ्कार में अनुप्रास और नाटक की वृत्तियों तथा रस प्रकरण में नायक-नायिका भेद का भी विवेचन है। यही कारण है कि रुद्रट के काव्यालङ्कार का 'काव्यप्रकाश' और 'अलङ्कारसर्वस्व' पर जिस प्रकार प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार 'दशरूपक' और 'भावप्रकाशन' पर भी। नीचे सोलह अध्यायों में विवेचित विषय का संक्षिप्त दिया जा रहा है :

प्रथम अध्याय में आचार्य ने गणेश और गौरी की वन्दना करके काव्य के प्रयोजन और हेतुओं का विवेचन किया है। द्वितीय अध्याय में काव्य का लक्षण बताकर लाटीया, पाञ्चाली, गौडीया और वैदर्भी—इन चार रीतियों का विवेचन करके वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र—इन पाँच अलङ्कारों की गणना कराकर वक्रोक्ति का लक्षण और उदाहरण देकर अनुप्रास का लक्षण प्रस्तुत करके उसकी मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा—ये पाँच वृत्तियाँ अपने लक्षणों सहित विवेचित हुई हैं। पूरे तृतीय अध्याय के ५८ छन्दों में यमक का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय के ३४ छन्दों में शब्द-श्लेष और पञ्चम अध्याय के ३२ छन्दों में चक्र, खड्ग, मुसल, बाणासन, शक्ति, शूल और हल आदि विविध

प्रकार के चित्रालङ्कारों का विवेचन है। इस प्रकार पञ्चम अध्याय तक शब्दालङ्कारों का उपसंहार करने के पश्चात् आचार्य सम्पूर्ण षष्ठ अध्याय में शब्द-दोषों का विवेचन किया है। शब्द-दोषों के अन्तर्गत आचार्य ने दो प्रकार के दोष बताये हैं—पदगत और वाक्य-गत। १. असमर्थ, २. अप्रतीत, ३. विसंधि, ४. विपरीतकल्पन, ५. ग्राम्य और ६. देश्य (व्युत्पत्ति-शून्य) पद-दोषों के अन्तर्गत आते हैं। तथा १. सङ्कीर्णत्व, २. गर्भितत्व और ३. गतार्थत्व वाक्य-दोष के अन्तर्गत आते हैं। आचार्य ने इस अध्याय में दोषों के साथ-साथ दोषापवाद का भी विवेचन किया है। इस अध्याय में ४७ छन्द हैं। सातवें अध्याय में अर्थ के विवेचन के प्रसङ्ग में द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप चतुर्विध शब्दों का विवेचन है। पुनः अर्थ के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष रूप चतुर्विध अलङ्कारों का कथन करने के बाद वास्तवमूलक २३ अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। वे अलङ्कार हैं—१. सहोक्ति, २. समुच्चय, ३. जाति, ४. यथासंख्य, ५. भाव, ६. पर्याय, ७. विषम, ८. अनुमान, ९. दीपक, १०. परिकर, ११. परिवृत्ति, १२. परिसंख्या, १३. हेतु, १४. कारणमाला, १५. व्यतिरेक, १६. अन्योन्य, १७. उत्तर, १८. सार, १९. सूक्ष्म, २०. लेश, २१. अवसर, २२. मीलित और २३. एकावली। इस अध्याय में १११ छन्द हैं। आठवें अध्याय में सर्वप्रथम औपम्य का लक्षण करके पुनः तन्मूलक २१ औपम्यमूलक अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। वे अलङ्कार हैं—१. उपमा, २. उत्प्रेक्षा, ३. रूपक, ४. अपह्नुति, ५. संशय, ६. समासोक्ति, ७. मत, ८. उत्तर, ९. अन्योक्ति, १०. प्रतीप, ११. अर्थान्तरन्यास, १२. उभयन्यास, १३. भ्रान्तिमत्, १४. आक्षेप, १५. प्रत्यनीक, १६. दृष्टान्त, १७. पूर्व, १८. सहोक्ति, १९. समुच्चय, २०. साम्य और २१. स्मरण। अनन्वय और उपमेयोपमा को भामह और दण्डी ने पृथक् अलङ्कार स्वीकार किया है किन्तु रुद्रट ने उन्हें उपमा का ही प्रकार स्वीकार किया है। इस अध्याय में ११० छन्द हैं। नवम अध्याय में सर्वप्रथम अतिशय का लक्षण है। तदनन्तर उसके बारह विशेष भेदों का लक्षण और उदाहरण है। वे भेद हैं—१. पूर्व, २. विशेष, ३. उत्प्रेक्षा, ४. विभावना, ५. अतद्गुण, ६. अधिक, ७. विरोध, ८. विषम, ९. असङ्गति, १०. पिहित, ११. व्याघात और १२. हेतु। इस अध्याय में कुल ५५ छन्द हैं। इसी क्रम से दशम अध्याय में भी श्लेष का लक्षण करके उसके भेदों का विवेचन किया गया है। संख्या में ये भेद हैं दश—१. अविशेष, २. विरोध, ३. अधिक, ४. वक्र, ५. व्याजोक्ति, ६. असंभव, ७. अवयव, ८. तत्त्व, ९. विरोधाभास और १०. सङ्कीर्णः। इस प्रकार सातवें से दशवें अध्याय तक अर्थालङ्कारों का विवेचन करने के बाद आचार्य ने ग्यारहवें अध्याय में

अर्थ-दोषों का विवेचन किया है। संख्या में ये हैं नव—१. अपहेतु, २. अप्रतीत, ३. निरागम, ४. बाधयन्, ५. असम्बद्ध, ६. ग्राम्य, ७. विरस, ८. तद्वान् और ९. अतिमात्र। इनके अतिरिक्त आचार्य ने चार उपमा दोषों का भी इसी अध्याय में विवेचन किया है; वे हैं—१. सामान्य-शब्दभेद, २. वैषम्य, ३. असंभव और ४. अप्रसिद्धि। इस अध्याय में ३६ छन्द हैं।

बारहवें अध्याय से आचार्य ने रस-विवेचन का प्रकरण उठाया है। उसने, शृङ्गार, वीर, करुण, बीभत्स, भयानक, अद्‌भुत, हास्य, रौद्र और शान्त के अतिरिक्त दसवाँ प्रेयान् रस सर्वथा एक नवीन रस की स्थापना की है। रसों का परिगणन करने के पश्चात् वह शृङ्गार का लक्षण करता है जिसके प्रसङ्ग से शृङ्गार के आश्रय नायक का विवेचन प्रारम्भ होता है। सामान्य नायक का वह लक्षण करके अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट-नायक के इन चार प्रकारों का विशेष लक्षण करता है। इसके पश्चात् नायक के नर्म-सचिव का लक्षण करके उसके विशेष—पीठमर्द, विट और विदूषक का लक्षण करता है। इसके पश्चात् नायिका-भेद का विवेचन है। उसका चित्र इस प्रकार है।



इस प्रकार नायिकाओं के कुल १६ प्रकार होते हैं। पुनः इनके दो भेद किये गये हैं—अभिसारिका और खण्डिता। इस प्रकार नायिकाओं के ३२ भेद हुये। चित्र में १३ प्रकार की आत्मीया, दो प्रकार की परकीया और एक प्रकार की सर्वाङ्गना दिखायी गयी है। अतएव उक्त ३२ प्रकारों में २६ प्रकार की आत्मीया, ४ प्रकार की परकीया और २ प्रकार की सर्वाङ्गना हुई। आचार्य ने स्वीया (आत्मीया) के पुनः स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका के भेद से दो प्रकार माने हैं। इस प्रकार ५२ प्रकार की आत्मीया, ४ प्रकार की परकीया और दो प्रकार की पराङ्गना को लेकर कुल नायिका के ५८ भेद स्वीकार किये गये हैं।[1] आचार्यने शृङ्गार के दो भेद स्वीकार किये हैं—संभोग और विप्रलम्भ। समूचे तेरहवें अध्याय में केवल सम्भोग शृङ्गार का विवेचन है। यह 'काव्यालङ्कार' में सबसे छोटा अध्याय है। इसमे केवल १७ श्लोक हैं। चौदहवें अध्याय में विप्रलम्भ शृङ्गार का विवेचन है। विप्रलम्भ के चार प्रकार हैं—१. प्रथमानुराग, २. मान, ३. प्रवास और ४. करुण। साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा और प्रसङ्गविभ्रंश—नायिका-प्रसादन के ये छः उपाय भी इसी अध्याय में वर्णित हैं। इस अध्याय में कुल ३८ श्लोक हैं। पन्द्रहवें अध्याय में अन्य नव रसों—१. वीर, २. करुण, ३. बीभत्स, ४. भयानक, ५. अद्भुत, ६ हास्य, ७. रौद्र, ८. शान्त और ९. प्रेयान् का लक्षण मात्र किया गया है। इसके बाद रीतियों का नियम (रस में उपयोग) बताया गया है। केवल २१ श्लोक इस अध्याय में लगाये गये हैं। सोलहवें अध्याय में मङ्गलान्त श्लोक को लेकर ४२ श्लोक हैं। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को दृष्टि में रखकर काव्य का वर्गीकरण किया गया है। वर्गीकरण के विषय काव्य, कथा और आख्यायिका आदि हैं। वे प्रबन्ध दो प्रकार के होते हैं—१. महाप्रबन्ध,

१. बारहवें अध्याय के ४० वें श्लोक के बाद १४ कारिकायें काव्यालङ्कार में प्रक्षिप्त हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इन १४ कारिकाओं में अवस्था भेद से १. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३. अभिसारिका, ४. उत्का, ५. अभिसंधिता, ६. प्रगल्भा, ७. प्रोषितपतिका और ८. खण्डिता—जो ये आठ प्रकार बताये गये हैं उनकी ४१वीं कारिका के साथ अन्विति नहीं बैठती है। क्योंकि ४१वीं कारिका में अभिसारिका और खण्डिता तो सभी नायिकाओं के भेद स्वीकार किये गये हैं। यह सङ्गति ठीक नहीं बैठती कि वही विभेद पुनः पुनः बताये जायँ। वास्तव में यह किसी 'शृङ्गारतिलक' और 'काव्यालङ्कार' को एक ही लेखक की कृति मानने वाले का प्रयत्न है जिसमें उसने नायिकाओं के ३८४ प्रकार सिद्ध करने के लिये यह अंश घुसेड़ दिया और ४१वीं कारिका का ध्यान नहीं किया।

जो चतुर्वर्ग को दृष्टि में रखकर रचा जाता है और—२. लघु-प्रबन्ध—जो चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में किसी एक के प्रयोजन से रचा जाता है। पुनः ये प्रबन्ध दो कोटि में विभाजित किये गये हैं। प्रथमतः उत्पाद्य जिनकी कथा कवि-कल्पित होती है और दूसरे अनुत्पाद्य जिनकी कथा ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित होती है। काव्यों का वर्गीकरण कर लेने के पश्चात् आचार्य ने महाकाव्य, कथा और आख्यायिका का लक्षण भी प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार स्वरचित लक्षण और उदाहरणों सहित प्रायः आर्या छन्द में विरचित 'काव्यालङ्कार' में रुद्रट ने कुल ७३४ छन्द (श्लोक) लगाये हैं।

आनन्दवर्धन—

रुद्रट के समकालीन आनन्दवर्धन साहित्यशास्त्र के सबसे प्रसिद्ध आचार्य हैं। वे महाराज अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में मुक्ताकण, शिवस्वामी और रत्नाकर के साथ प्रख्यात थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५ ई० से ८८३ ई० माना जाता है। वह काश्मीर का शासक था। इस प्रकार आनन्दवर्धन का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध और देश काश्मीर सिद्ध होता है। उनके रचित पाँच ग्रन्थ हैं—१. विषमबाणलीला, २. अर्जुन-चरित, ३. तत्त्वालोक, ४. देवीशतक और ५. ध्वन्यालोक। इनमें ध्वन्यालोक साहित्य-शास्त्र का अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है केवल यही ग्रन्थ आनन्दवर्धन की प्रसिद्धि के लिये पर्याप्त है।

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं—१. कारिका, २. वृति और ३. उदाहरण। इसके अतिरिक्त कुछ परिकर श्लोक भी हैं जो कारिका के अर्थ को ही विशद रूप से व्याख्यात करते हैं। लोचनकार की उक्ति है—'परिकरार्थं कारिकार्थस्याधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः।' परिकर श्लोकों को भी वृत्ति ही समझना चाहिये। कारिका और वृत्ति के लेखक पृथक्-पृथक् हैं या एक—इस विषय को लेकर साहित्यशास्त्र के पण्डितों के बीच दो गुट बन चुके हैं। डा० शङ्करन्, डा० कुप्पूस्वामी शास्त्री, डा० ए० शङ्करन्, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय तथा के० कृष्णामूर्ति के मत में कारिकाकार और वृत्तिकार एक ही हैं। इसके विपरीत म० म० पी० वी० काणे, डा० एस० के० डे तथा डा० कीथ ने कारिकाकार और वृत्तिकार को पृथक् स्वीकार किया है। वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन था इस विषय में कोई सन्देह ही नहीं है—

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

ध्वन्यालोक पर प्राचीनतम प्रसिद्ध टीका है 'लोचन' जिसके प्रणेता प्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त हैं। 'लोचन' के विषय में उनका कथन है—

'किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥'

ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना की गयी है, द्वितीय में विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य (अभिधामूला और लक्षणामूला) ध्वनियों का भेदोपभेद के साथ विवेचन है, तृतीय में पद, पदैकदेश, वाक्य और प्रबन्धों के द्वारा ध्वनि की प्राकाश्यता का विवेचन है और रसों के विरोधाविरोध का विचार है। चतुर्थ उद्योत में गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य का विवेचन है तथा यह प्रतिपादन किया गया है कि ध्वनि का गुणीभूत-व्यङ्ग्य के साथ प्रयोग करने में कवि की प्रतिभा अनन्त को प्राप्त हो जाती है।

राजशेखर—

ध्वन्यालोक के बाद साहित्यशास्त्र में दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है काव्यमीमांसा। इसके लेखक हैं राजशेखर। वे अपने को अकालजलद का पौत्र बताते हैं। उनके पिता का नाम 'दुर्दुक' और माता का नाम शीलवती था। वे अपने पूर्वजों को महाराष्ट्र का निवासी बताते हैं और अपने को 'यायावर' कहते हैं। उनकी पत्नी का नाम अवन्तिसुन्दरी था। वह भी विदुषी थी। राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में उसके मत का प्रतिपादन किया है और उसके 'वस्तुस्वभावोऽत्र' आदि संस्कृत श्लोक को उद्धृत किया है। हेमचन्द्राचार्य ने अपने 'देशीनाम-माला' में अवन्तिसुन्दरी के नाम से तीन प्राकृत छन्दों को उद्धृत किया है। राजशेखर ब्राह्मण थे या क्षत्रिय—यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है।

राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में भामह, उद्भट और वामन का नाम लिया है। वे रुद्रट से भी परिचित हैं और रुद्रट का समय ८२५–८७५ ई० निर्धारित हो चुका है। दूसरी ओर धनपाल ने अपनी तिलकमञ्जरी में यायावर कवि के पदों की प्रशंसा की है। तिलकमञ्जरी का समय १००० ई० बताया जाता है। अतएव यह निश्चित है कि राजशेखर रुद्रट के पश्चात् और धनपाल के पूर्ववर्ती हैं। उनका समय दशवीं शताब्दी का पूर्वार्ध अनुमानित किया जाता है।

'बालरामायण' में यायावर कवि की छः रचनाओं का उल्लेख मिलता है जिसमें से—१. 'बालरामायण', २. 'बालभारत', ३. 'विद्धशालभञ्जिका', ४. 'कर्पूरमञ्जरी' और ५. 'काव्यमीमांसा'—केवल पाँच कृतियाँ उपलब्ध हैं। 'काव्यमीमांसा' साहित्यशास्त्र का विलक्षण-ग्रन्थ है। इसमें रस, गुण और

अलङ्कार का स्पष्ट विवेचन नहीं है। यह पौराणिक शैली में लिखा गया है। इसमें अठारह अध्याय हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. शास्त्रसङ्ग्रह, २. शास्त्रनिर्देश, ३. काव्यपुरुषोत्पत्ति, ४. शिष्य-प्रतिभा, ५. व्युत्पत्ति-कवि-पाक, ६. पदवाक्यविवेक, ७. वाक्यविधि, ८. काकुप्रकार, ९. पाठप्रतिष्ठा, १०. काव्यार्थ-योनि, ११ अर्थानुशासन, १२. कविचर्या, १३. राजचर्या, १४. शब्दार्थहरणोपाय, १५. कविविशेष, १६. कविसमय, १७. देश-काल-विभाग और १८. भुवन-कोश।

मुकुलभट्ट—

एक छोटी सी कृति 'अभिधावृत्तिमात्रिका' की चर्चा यहाँ अपेक्षित है। इसमें केवल पन्द्रह कारिकायें हैं जिन पर कारिकाकार की ही वृत्ति भी है। कारिकाकार मुकुलभट्ट भट्ट कल्लट के पुत्र थे। भट्ट कल्लट अवन्तिवर्मा के समकालीन थे। मुकुलभट्ट ने ध्वन्यालोक का सङ्केत भी किया है। अतएव उनका ध्वनिकार से परवर्ती होना सिद्ध है। 'अभिधावृत्तिमात्रिका' में केवल अभिधावृत्ति की सत्ता स्वीकार की गई है। लक्षणा को भी अभिधा का ही एक अङ्ग स्वीकार किया गया है। दश प्रकार की अभिधा का विवेचन इसमें प्राप्त होता है। व्यञ्जनावादी अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीन वृत्तियों को स्वीकार करते हैं। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'अभिधावृत्तिमात्रिका' के ही आधार पर अपने ग्रन्थ 'शब्द-व्यापार-विचार' का प्रणयन किया है। काव्य-प्रकाश में विवेचित अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को समझने के लिये मुकुलभट्ट की 'अभिधा-वृत्तिमात्रिका' और मम्मट के शब्दव्यापारविचार का अध्ययन अनिवार्य है।

अभिनवगुप्त—

प्रसिद्ध काश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त का नाम पहले लिया जा चुका है। साहित्यशास्त्र पर यद्यपि उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं है तथापि 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' और ध्वन्यालोक पर 'लोचन' केवल ये दो टीकायें ही स्वतंत्र मौलिक ग्रन्थ लिखने वाले आचार्यों की अपेक्षा उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देती हैं। महामहोपाध्याय काणे ने 'इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरान्त्ये युगांशे तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने। जगति विहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां व्यवृणुतपरिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥'—इस 'प्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी' की उक्ति के आधार पर उसका रचनाकाल १०१४ ई० स्वीकार किया है। उनके एक दूसरे ग्रन्थ 'भैरवस्तोत्र' का रचना-काल ९९२–३ ई० है। इस प्रकार अभिनव का साहित्यिक जीवन ९९०–१०२० ई० माना जा सकता है। अभिनव के प्रणीत ग्रन्थों की सूची बहुत लम्बी है—१. तन्त्रालोक, २. ध्वन्यालोकलोचन, ३. अभिनवभारती, ४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी,

५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिणी (बृहती) और ६. बोधपञ्चदशिका विशेष प्रसिद्ध हैं।

अभिनव का जीवन सुखमय नहीं रहा। माता का शैशव में ही स्वर्गवास हो गया था और पिता ने वैराग्य ले लिया था। परिणामस्वरूप उन्होंने साहित्य के सरस पक्ष को छोड़कर शिव-भक्ति को स्वीकार किया। उन्होंने शैव-दर्शन पर अनेक कृतियाँ लिखीं और आजीवन ब्रह्मचारी रहे। कहते हैं मृत्यु के समय वे एक गुफा में लीन हो गये। और पुनः वापस नहीं आये। उस समय उन्हें बिदाई देने के लिये उनके बारह सौ शिष्य वहाँ उपस्थित थे।

अभिनव रसवादी आचार्य थे। आनन्दवर्धन ने वस्तु, अलङ्कार और रसादि के भेद से त्रिविध ध्वनियों को मान्यता दी थी। अभिनव ने यह स्पष्ट किया कि रस ही वस्तुतः ध्वनि की आत्मा है। 'अभिनवभारती' और 'लोचन' मूल ग्रन्थकारों के मत की अपेक्षा अभिनव ने अपने ही मत का प्रतिपादन किया है। परवर्ती आचार्य मम्मट के सर्वाधिक उपास्य अभिनव ही हैं।

कुन्तक—

कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य हैं। उन्होंने ध्वनिकार और राजशेखर का उल्लेख किया है और महिमभट्ट ने कुन्तक का नाम लिया है जिससे उनका राजशेखर से परवर्ती और महिमभट्ट से पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। अभिनव गुप्त ने भी 'अभिनव भारती' में 'कुन्तलक' नाम लिया है जिससे यह सिद्ध होता है कि अभिनव 'कुन्तक' से परिचित थे। कुन्तक भी काश्मीरी माने जाते हैं। उनके ग्रन्थ का नाम है वक्रोक्तिजीवित। इसमें चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य-लक्षण और काव्य-प्रयोजन का कथन करने के बाद ग्रन्थ के प्रतिपाद्य छः प्रकार की वक्रताओं का सामान्य परिचय दिया गया है। द्वितीय उन्मेष में १. वर्णविन्यासवक्रता, २. पदपूर्वार्धवक्रता और ३. प्रत्यय-वक्रता—इन तीन प्रकार की वक्रताओं का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय उन्मेष में वाक्य-वक्रता का सविस्तर विवेचन है। तथा उसमें अलङ्कारों का अन्तर्भाव दिखाया गया है।

कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। वे लक्षणा और व्यंजना का भी अन्तर्भाव अभिधा में कर देते हैं।

× × ×

महिमभट्ट—

इनका समय दशवीं शताब्दी का अन्तिम भाग अनुमान किया जाता है। इनका भी निवास-स्थान काश्मीर ही था। इनका ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' ध्वनि-

ध्वंसक रूप में प्रसिद्ध है। यह सभी प्रकार की ध्वनियों को अनुमान के अन्तर्गत प्रकाशित करने के लिये तो प्रणीत ही हुआ है—

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यापि ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥

'व्यक्तिविवेक' में तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में ध्वनि का प्रबलतर युक्तियों से खण्डन करके उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया गया है। द्वितीय विमर्श में काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोषों का विवेचन है तथा अनौचित्य को सबसे बड़ा दोष बताया गया है। तृतीय विमर्श में ध्वनि के चालीस प्रसिद्ध उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया गया है। यह अवधेय बात है कि महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' ध्वनिविरोधी रूप में इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ कि उसके समक्ष भट्टनायक का 'हृदयदर्पण' लुप्त हो गया। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में रस के भुक्तिवाद का प्रतिपादन 'हृदय-दर्पण' के ही आधार पर किया है।

क्षेमेन्द्र—

क्षेमेन्द्र औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक काश्मीरी आचार्य हैं। इनका समय काश्मीराधिपति अनन्तराज के शासनकाल में स्वयं इन्हीं के द्वारा उल्लिखित है—'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।' उनके पिता का नाम 'प्रकाशेन्द्र' और बाबा का नाम 'सिन्धु' था। क्षेमेन्द्र के साहित्यिक गुरु अभिनव गुप्त थे जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, 'श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः। आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः ॥' (बृहत्कथामञ्जरी)

× × ×

धनञ्जय—

'नाट्यशास्त्र' की परम्परा में दूसरी कृति (नाट्यशास्त्र के बाद) दशरूपक है। इसके प्रणेता धनञ्जय हैं। उन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥

अर्थात् वे (धनञ्जय) विष्णु के पुत्र थे और उन्होंने मालवाधिपति मुञ्ज की राजसभा का आश्रय प्राप्त किया था। मुञ्ज का समय ९७४ ई०–९९४ ई० माना जाता है। अतएव उक्त कथन से धनञ्जय की भी यही तिथि निर्धारित होती है।

'दशरूपक' पर धनञ्जय के ही अनुज धनिक ने 'अवलोक' नामक विद्वत्ता-

पूर्ण वृत्ति लिखी है। इसके अतिरिक्त नृसिंहभट्ट, देवपाणि, कुरविराम और बहुरूप मिश्र की भी टीकाओं की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। बहुरूप मिश्र की टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं। प्रथम में धनञ्जय ने ग्रन्थ-रचना का प्रयोजन इन शब्दों में बताया है, 'नाट्यानां किन्तु किञ्चित् प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।' इसमें नाटकों की पाँच कार्यावस्थाओं, पाँच सन्धियों, पाँच अर्थप्रकृतियों और कथा-वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिकाभेद तथा रस के विषय में कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती—इन चारों नाट्यवृत्तियों का नियम बताया गया है। तृतीय प्रकाश में रूपकों के लक्षण, प्रस्तावना, अङ्कसंख्या, कथा के परिवर्तन के औचित्य, रूपकों के अङ्गीरस, पात्र-संख्या, उनके प्रवेश आदि तथा भाषा देशकाल के औचित्य का विवेचन है। चतुर्थ प्रकाश में केवल रस का विवेचन है। इसमें रस-संख्या, शान्तरस का नाट्य में अनुपयोग, रस के अङ्ग (स्थायीभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) तथा रस-सम्बन्धी अन्य बातों का भी विवेचन है। इस रचना का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें व्यंजना वृत्ति के स्थान पर तात्पर्य वृत्ति की सत्ता स्वीकार की गयी है और रस-निष्पत्ति के सिद्धान्त में काव्य से रस को व्यङ्ग्य न मानकर भाव्य माना गया है। अतएव काव्य और रस में व्यङ्ग्यव्यंजक सम्बन्ध नहीं अपितु भाव्य-भावक सम्बन्ध माना गया है—'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्य-व्यंजकभावः। किं तर्हि भाव्य-भावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।' अवलोक ४–३७। 'औचित्य-विचार-चर्चा', 'कवि-कण्ठाभरण', 'सुवृत्ततिलक', 'बृहत्कथाकञ्जरी', 'भारतमञ्जरी' और 'समयमातृका' आदि उपलब्ध ग्रन्थों में इनकी अन्य रचनाओं के नाम भी मिलते हैं जो अभी तक प्रकाश में नहीं आये। 'औचित्यविचारचर्चा' इनका अलङ्कारविषयक ग्रन्थ है जिसके कारण उनकी गणना आलङ्कारिक आचार्यों में की जाती है। अनौचित्य इनके मत में रसभङ्ग का कारण और औचित्य रस का परम रहस्य है—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥'

इन्होंने औचित्य को रस का भी जीवितभूत बताया है—

'औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥'

औचित्य का लक्षण करते हुए वे कहते हैं कि (देश, काल और पात्र के अनुसार) जैसा जिसके लिए उचित है उसके भाव का नाम औचित्य है—

'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥'

इनका सुवृत्त-तिलक छन्दःशास्त्र रचा गया ग्रन्थ है ।

भोजराज—

मालवाधिपति महाराज भोज भारतीय इतिहास में अपनी विद्वत्प्रियता, दानशीलता और उदारता के लिये प्रसिद्ध हैं। वे पूर्वोक्त कश्मीराधिपति अनन्तराज के समसामयिक थे। उनकी प्रशस्ति में राजतरङ्गिणी में अधोलिखित श्लोक मिलता है—

'स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्यं द्वावास्तां कविबान्धवौ ॥' ७।५९ ॥

यहां 'स च' में सर्वनाम पद स से प्रसङ्गोपात्त अनन्तराज का संकेत किया गया है। अनन्तराज का समय १०२८ ई०–१०६३ ई० माना जाता है। इस काल की अन्विति भोज के साथ भी बैठ जाती है। क्योंकि भोज का एक शिलादानपत्र सम्वत् १०७८ (१०२१ ई०) का पाया जाता है जिसमें स्वयं भोज के हाथ से आज्ञा लिखने का कथन है, 'इति। संवत् १०७८ चैत्र सुदी १४ स्वयमाज्ञा मङ्गलं महाश्रीः। स्वहस्तोऽयं भुजदेवस्य।'

भोज स्वयं भी उच्चकोटि के साहित्यिक थे। 'शृंगारप्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण'—इनके दो प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रन्थ हैं। शृंगारप्रकाश में ३६ प्रकाश हैं।

इसमें शृंगार-रस को ही सब रसों का स्रोत माना गया है—

'शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥'

'शृंगारप्रकाश' का शृङ्गार पूर्ववर्ती आचार्यों के शृङ्गार से विलक्षण है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय का समावेश कराया गया है। 'शृङ्गार-प्रकाश' कलेवर की दृष्टि से साहित्यिक ग्रन्थों में 'नाट्यशास्त्र' के बाद प्रथम है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' में पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में दोष और गुण का विवेचन है। पद, वाक्य और वाक्यार्थ—तीनों के १६-१६ दोष स्वीकार किये गये हैं तथा शब्द और अर्थ दोनों के २४–२४ गुण बताये गये हैं। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कारों का, तृतीय में २४ अर्थालंकारों का और चतुर्थ परिच्छेद में २४ उभयालंकारों का वर्णन है। पंचम परिच्छेद में रस, भाव,

पंचसन्धि और वृत्तिचतुष्टय का विवरण है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ 'काव्यादर्श' की सरणि का अनुसरण करता है।

मम्मट—

मम्मट भी काश्मीरी थे। उन्होंने अपने काव्यप्रकाश में रससूत्र की व्याख्या में अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत उद्धृत किया है तथा अपने उदात्त अलंकार के उदाहरण में भोजराज के उदारता की प्रशस्तिपरक 'यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्।' आदि श्लोक को उद्धृत किया है। भोज का शासनकाल १०५४ ई० तक माना जाता है। इस आधार पर महामहोपाध्याय काणे ने काव्यप्रकाश का रचनाकाल १०५० ई० के पश्चात् स्वीकार किया है।[1] ध्वन्यालोक की भाँति 'काव्यप्रकाश' के भी विषय में कारिका और वृत्ति के कर्तृत्व के प्रश्न को लेकर पण्डितों के बीच सन्देह है। महामहोपाध्याय काणे ने अपनी सूक्ष्म मति से यह सिद्ध कर दिया है कि कारिका और वृत्ति दोनों के कर्ता मम्मट ही थे।[2]

यद्यपि केवल मम्मट ही 'काव्यप्रकाश' के कर्ता रूप में प्रसिद्ध हैं किन्तु उसकी रचना में अल्लट का भी योगदान है यह बात सर्वसम्मत है। काव्यप्रकाश का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

'इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥'

काव्य-प्रकाश के प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटनावशादखण्डायते।'

इसी प्रकार 'संकेत' टीका के प्रणेता रुचक ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेष ग्रन्थो ग्रन्थकृतानेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरितावशेषत्वाद् द्विखण्डोऽपि।'

उक्त दोनों टीकाकारों के कथन से स्पष्ट है कि ग्रंथ का श्रीगणेश एक ने किया और अवसान दूसरे ने। राजानक आनन्द ने अपनी 'निदर्शना' नामक काव्य-प्रकाश की टीका में परिकरालङ्कार तक के अंश का प्रणेता आचार्य मम्मट को स्वीकार किया है और शेष छोटे से अंश का प्रणेता 'अल्लटसूरि' को—

---

१. History of Sanskrit Poetics p. 274.

२. History of Sanskrit Poetics. pp. 270–71.

'कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
ग्रन्थः सम्पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥'

'काव्यप्रकाश' पर टीकाओं की भरमार है। झलकीकर वामनाचार्य कृत बालबोधिनी टीका में ४८ टीकाओं और उनके निर्माताओं का नाम लिया गया है। उनमें से कुछ का नाम लेना अपेक्षित है—१. माणिक्यचन्द्र कृत 'संकेत', (सन् ११६० ई०), २. सोमेश्वर कृत 'काव्यादर्श', ३. विश्वनाथ कृत 'दर्पण', ४. आनन्द कवि कृत 'निदर्शना', ५. महेश्वरकृत आदर्श टीका, ६. नरसिंह कृत 'नरसिंह मनीषा', ७. नागेश भट्ट कृत 'बृहती', ८. गोविन्दकृत 'प्रदीपच्छाया' और रुचक कृत 'संकेत' टीका।

आजकल नागोजी भट्ट विरचित 'उद्योत' और गोविन्द ठक्कुर विरचित प्रदीप का पण्डितों में प्रचार अधिक है। हिन्दी में भी हरिमङ्गल मिश्र, डा० सत्यव्रत सिंह और आचार्य विश्वेश्वर ने टीकायें लिखी हैं।

काव्यप्रकाश में दश उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्य के प्रयोजन, काव्य के हेतु और काव्य-लक्षण का विवेचन करने के पश्चात् काव्य की उत्तम, मध्यम और अधम तीन कोटियाँ बतायी गई हैं। द्वितीय उल्लास में वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों का कथन करके उनके द्वारा बोधित होने वाले वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ का कथन है तथा इसी के प्रसङ्ग में तात्पर्य शक्ति और तात्पर्यार्थ का भी विवेचन किया गया है। इसके बाद लक्षणा और व्यञ्जना के उपभेद बताये गये हैं। तृतीय उल्लास में वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों की अर्थ-व्यञ्जकता का विवेचन किया गया है। चतुर्थ उल्लास में अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य—दो भेदों, उनके उपभेदों, रस के सिद्धान्तों और उनके अङ्गों (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव और स्थायीभाव) का विवेचन है। पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यमकाव्य) और ८ उपभेदों का विवेचन है। षष्ठ उल्लास में अव्यङ्ग्य (अधम) चित्र-काव्य और उसके भेद शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र का विवेचन है। सप्तम उल्लास में पद, पदैकदेश, वाक्य, अर्थ और रस दोषों का विवेचन है। साथ ही वे अवस्थायें भी बतायी गयी हैं जहाँ दोष दोष नहीं रह जाते एवं गुण भी हो जाते हैं। अष्टम उल्लास में गुण और अलङ्कार का भेद बताकर वामनकृत दश-दश शब्द और अर्थ गुणों का खण्डन करके माधुर्य, ओज और प्रसाद रूप तीन गुणों की स्थापना की गयी है। नवम उल्लास में शब्दालङ्कारों का विवेचन है। दशम उल्लास में अर्थालङ्कारों का विवेचन है और उपमा-दोषों को सप्तमोल्लास में विवेचित साधारण-दोषों में ही अन्तर्भावित कराया गया है। मम्मट की एक दूसरी कृति 'शब्दव्यापार-विचार' की चर्चा मुकुलभट्ट के प्रसङ्ग में की जा चुकी है।

सागरनन्दी—

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में सागरनन्दी द्वारा विरचित 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक 'नाट्यशास्त्र' की परम्परा में एक तीसरी कृति हमें उपलब्ध है। 'दशरूपक' की शैली में लिखे गये इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र नाट्यशास्त्र की पंक्तियाँ ज्यों की त्यों उतार ली गयी हैं। सागरनन्दी ने इस कृति की रचना श्री हर्ष, गर्ग, मातृगुप्त, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट और बादर के मतों के अनुरूप भरत के मत का अवगाहन करके किया है—

'श्री-हर्ष-विक्रम-नराधिप-मातृगुप्त गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टकवादराणाम् ॥
एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम् ॥'

रुय्यक—

इनकी रचना का नाम है अलङ्कारसर्वस्व। ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। सूत्र और वृत्ति दोनों के ही प्रणेता रुय्यक हैं। अलङ्कारसर्वस्व पर तीन टीकायें उपलब्ध हैं—१. जयरथकृत 'विमर्शिनी', २. समुद्रबन्ध कृत टीका (त्रि० सं० सी० १९२६), ३. विद्याचक्रवर्तिन् कृत टीका। अलङ्कारसर्वस्व का रचनाकाल महामहोपाध्याय काणे ने ११०० ई० सन् से पहले स्वीकार किया है।[1] 'साहित्यमीमांसा' को कुछ लोगों ने रुय्यक की रचना स्वीकार किया है। अवधेय बात यह है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' ध्वन्यालोक की सरणि का अनुसरण करता है और 'साहित्यमीमांसा' 'वक्रोक्तिजीवित' की सरणि का।

हेमचन्द्र—

प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) गुजरात के अहमदाबाद जिले के अन्तर्गत 'धुन्धुक' नामक गाँव में उत्पन्न हुये हैं। इन्होंने 'साहित्यशास्त्र' पर 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ का प्रणयन आठ अध्यायों में किया है और उस पर स्वयं ही 'विवेक' नामक वृत्ति भी लिखी है। ग्रन्थ की रचना 'काव्य-प्रकाश' के अनुकरण पर की गयी है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र—

ये दोनों व्यक्ति जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन दोनों व्यक्तियों ने मिलकर नाट्यदर्पण की रचना की है। 'नाट्यदर्पण' में रामचन्द्र द्वारा विरचित कई नाटकों से उद्धरण दिये गये हैं। रामचन्द्र को 'प्रबन्धशतकर्ता' कहा जाता है। किन्तु गुणचन्द्र की किसी व्यक्तिगत कृति का परिचय नहीं प्राप्त होता।

---

१. History of Sanskrit Poetics. p. 284.

'नाट्यदपण' में चार विवेक हैं। इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें रस को सुखात्मक ही नहीं दुःखात्मक भी माना गया है।

वाग्भट—

'वाग्भटालङ्कार' के प्रणेता वाग्भट का समय महामहोपाध्याय काणे ने बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध स्वीकार किया है। वाग्भट भी हेमचन्द्र की परम्परा के जैनी आचार्य थे। 'वाग्भटालङ्कार' में पाँच परिच्छेद और दो सौ साठ छन्द हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण, काव्य के हेतु, द्वितीय में काव्य के भेद और दोष, तृतीय में गुण, चतुर्थ में अलङ्कार और पञ्चम में रस से सम्बन्धित विषयों का विवेचन है। इसकी विशेषता यह है कि लेखक ने इसमें स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। 'नेमिनिर्माणमहाकाव्य' और 'अष्टाङ्गहृदय' इनकी दो अन्य कृतियाँ हैं। 'काव्यानुशासन' के प्रणेता वाग्भट को काणे आदि विद्वानों ने दूसरा वाग्भट माना है। इनकी दो और कृतियाँ 'ऋषभदेवचरित' और 'छान्दोनुशासन' बतायी जाती हैं।

अरिसिंह और अमरचन्द्र—

रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण' की चर्चा की जा चुकी है। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' नामक ग्रन्थ का प्रणयन भी दो लेखकों—अरिसिंह और अमरचन्द्र के सम्मिलित प्रयत्न से हुआ। दोनों ही लेखक एक ही गुरु के शिष्य थे। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' की ही अनुकृति पर एक दूसरे जैसे विद्वान् देवेश्वर ने 'कविकल्पलता' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

जयदेव—

'साहित्यशास्त्र' पर इनका विश्रुत ग्रन्थ है 'चन्द्रालोक'। ये 'गीतगोविन्दकार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका प्रणीत 'प्रसन्नराघव' भी 'नाट्यकृतियों' में अपना विशेष महत्त्व रखता है। ये वङ्गाधिपति वल्लालसेन के पुत्र लक्ष्मणसेन की राजसभा के 'रत्न' थे। इनके पिता का नाम महादेव और माता का सुमित्रा था।

'चन्द्रालोक' में दश मयूख हैं।

विद्याधर—

अब तक हमने जितने साहित्यिकों का विवेचन किया है वे प्रायः काश्मीरी थे। हेमचन्द्र, रामचन्द्र, गुणचन्द्र और वाग्भट गुजराती थे। दण्डी मध्यभारत के थे। एकावलीकार विद्याधर दक्षिण भारत के थे। 'एकावली' की सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि इसमें विद्याधर ने स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा उदाहरणों को उत्कल नरेश नरसिंहदेव का चाटुश्लोक कहा है—

एवं विद्याधरस्तेषु कान्तासम्मितलक्षणम् ।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् ।। एकावली ।

'एकावली' का रचनासमय महामहोपाध्याय काणे ने १२८५–१३२५ ई० स्वीकार किया है। एकावली पर केवल एक ही टीका मिलती है—प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ विरचित 'तरल'। एकावली में आठ उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष काव्य-स्वरूप और हेतु, द्वितीय में वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्द और अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना—उनकी त्रिविध शक्तियों, तृतीय में ध्वनि-भेद, चतुर्थ में गुणीभूतव्यङ्ग्य, पञ्चम में गुण और रीति, छठे में दोष, सातवें में शब्दालङ्कार और आठवें में अर्थालङ्कार का विवेचन है।

विद्यानाथ—

एकावली के अनुकरण पर लिखे गये विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में भी आन्ध्र के काकतीय वंश के राजा प्रतापरुद्र के चाटुश्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इसका रचना-काल महामहोपाध्याय काणे महोदय ने चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण माना है। इस पर मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी की 'रत्नापण' नामक टीका है। इसमें नव प्रकरण हैं जिनमें नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार का विवेचन है।

विश्वनाथ कविराज—

विश्वनाथ कविराज विरचित 'साहित्यदर्पण' अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। विश्वनाथ कविराज ने अपने पिता का नाम चन्द्रशेखर और पितामह का नाम नारायणदास बताया है। उनका साहत्यदर्पण १३८० ई० से पूर्व प्रणीत हो चुका था। उन्होंने 'साहित्यदर्पण' में अपने को 'सान्धिविग्रहिक' और 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग' कहा है जिससे पता चलता है कि उन्हें १८ भाषाओं का ज्ञान था और वे किसी राजा के वैदेशिक मन्त्री थे। खेद है कि उस राज्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। साहित्यदर्पण में दश परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-प्रयोजन, हेतु, स्वरूप, गुण और दोष, द्वितीय में वाक्य, पद, अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना, तृतीय में नायक और अन्य पात्र, रस तथा उसके अङ्ग, चतुर्थ में काव्यभेद, ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य, पञ्चम में व्यञ्जना, छठे

में दृश्यकाव्य, सातवें में दोष आठवें में गुण, नवें में रीति और दशवें में अलङ्कारों का विवेचन है।

'साहित्य-दर्पण' के अतिरिक्त विश्वनाथ ने अन्य रचनायें भी की हैं—१. 'राघवविलास' संस्कृत महाकाव्य, २. कुवलयाश्वचरित (प्राकृत काव्य), ३. चन्द्रकला (नाटिका), ४. प्रभावतीपरिणय (नाटिका), ५. नरसिंहविजय (काव्य), ६ प्रशस्तिरत्नावली (करम्भक)।

शारदातनय—

इनका समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। इनके ग्रन्थ का नाम है 'भावप्रकाशन'। प्रतिपाद्य विषय है 'नाट्य'।

शिङ्गभूपाल—

इनकी रचना का नाम है 'रसार्णव सुधाकर'। इसमें तीन उल्लास हैं—१. रञ्जकोल्लास, २. रसिकोल्लास और ३. भावोल्लास। प्रथम उल्लास में नायक-नायिका के स्वरूप का, द्वितीय में रस का और तृतीय में वस्तु-विन्यास का सविस्तर विवेचन है। ग्रन्थ की पुष्पिका में उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'इति श्रीमदान्ध्रमण्डलाधीश्वरप्रतिगुणभैरवश्रीअन्नप्रोतनरेन्द्रनन्दनभुजबलभीम-शिङ्गभूपालविरचिते रसार्णवसुधाकरनाम्नि ग्रन्थे नाट्यालङ्काररञ्जकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।'

शिङ्गभूपाल ने शार्ङ्गदेव के 'सङ्गीतरत्नाकर' पर 'सङ्गीत-सुधाकर' नामक टीका भी लिखी है।

भानुदत्त—

इनकी दो कृतियाँ साहित्यशास्त्र में प्रसिद्ध हैं—रसमञ्जरी और रसतरङ्गिणी। इनका समय १२५० ई०–१५०० ई० बताया जाता है।

रूपगोस्वामी—

इनकी भी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं—'भक्तिरसाभृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनील-मणि'। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और सोलहवीं का पूर्वार्धं माना जाता है।

केशव मिश्र—

इन्होंने साहित्यशास्त्र पर 'अलङ्कारशेखर' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इनका भी समय १६वीं शताब्दी है।

अप्पय दीक्षित—

अप्पय दीक्षित द्रविडजातीय ब्राह्मण थे। इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। कहते हैं इन्होंने सौ प्रबन्धों की रचना की थी। 'साहित्यशास्त्र' पर इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. वृत्तवार्तिक, २. कुवलयानन्द और ३. चित्रमीमांसा-खण्डन। वृत्तवार्तिक में दो परिच्छेद हैं। इसमें तीन प्रकार की अभिधा (रूढि, योग और योगरूढि) और लक्षणा (अपने शुद्धा और गौडी दो भेद, पुनः निरूढ और फल, उनके उपभेद, तदनन्तर अन्य प्रभेदों) का सविस्तर विवेचन है। कुवलयानन्द जयदेव के चन्द्रालोक का ही विशद व्याख्यान है। 'चन्द्रालोक' में १०० अलङ्कारों का विवेचन है। अप्पयदीक्षित ने इसमें २४ अलङ्कारों को और बढ़ा दिया है तथा चन्द्रालोक में विवेचित अलङ्कारों पर अपनी व्याख्या और उदाहरण दे दिया है। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में कहा है कि उन्होंने इसकी रचना वेङ्कट के आदेश से की—

'अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पय्यदीक्षितः।
नियोगाद्वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥'

'चित्रमीमांसा' इनकी तीसरी रचना है जो केवल अतिशयोक्ति अलङ्कार-पर्यन्त लिखी गयी है। इनका समय महामहोपाध्याय काणे ने १५५४ ई०-१६२६ ई० माना है। परवर्ती पण्डितराज जगन्नाथ ने इनकी बड़ी ही कटु आलोचना की है तथा इनके चित्रमीमांसा के खण्डन के लिये 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

जगन्नाथ—

ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। 'पण्डितराज' की उपाधि उन्हें मुगल सम्राट् शाहजहाँ से मिली थी। उन्होंने स्वयं कहा है—'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।' उनका जीवनकाल १६२० ई०–१६७० ई० माना जा सकता है। 'साहित्यशास्त्र' पर उनकी दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—'रसगङ्गाधर' और 'चित्रमीमांसाखण्डन'। रसगङ्गाधर में दो आनन हैं। प्रथम में काव्य-लक्षण, प्रतिभा की काव्यकारणता, उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम-काव्य का चार कोटियों में विभाजन, रसादि (रस, भाव, रसाभास आदि) और गुण का विवेचन है। द्वितीय आनन में ध्वनि, अभिधा, लक्षणा और उनके भेद और उपमा तथा अन्य अलङ्कारों का विवेचन है। 'चित्रमीमांसाखण्डन' में अप्पय्यदीक्षित विरचित 'चित्रमीमांसा' के दोषों की उद्भावना की गयी है।

'रसगङ्गाधर' पर प्रसिद्ध वैयाकरण नागेशभट्ट की 'मर्मप्रकाश' नाम की टीका है। पण्डितराज के अन्य ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है—१ पीयूष-लहरी (गङ्गा-स्तुति), २. सुधालहरी (३० पद्यों में सूर्य-स्तुति), ३. लक्ष्मीलहरी (४१ पद्यों में लक्ष्मी-स्तुति), ४. करुणालहरी (६० पद्यों में विष्णु की स्तुति), ५. अमृतलहरी (११ पद्यों में यमुना की स्तुति), ६. आसफविलास, ७. प्राणाभरण, ८. जगदाभरण और ९. मनोरमाकुचमर्दन (व्याकरणविषयक ग्रन्थ)।

विश्वेश्वर पण्डित—

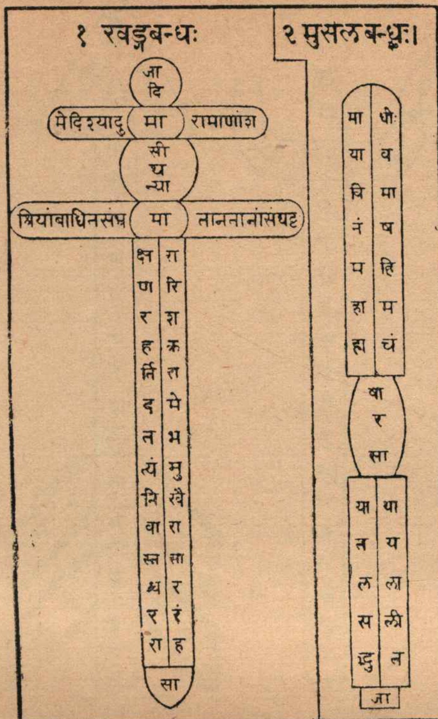
'अलङ्कारकौस्तुभ', 'रसचन्द्रिका', 'कवीन्द्रकण्ठाभरण', 'अलङ्कारप्रदीप' और 'अलङ्कारमुक्तावली'—इन पाँच साहित्यिक कृतियों के प्रणेता विश्वेश्वर पण्डित साहित्यशास्त्र के अन्तिम परिचित आचार्य हैं। 'अलङ्कारकौस्तुभ' अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें अप्पय्यदीक्षित और पण्डितराज के भी मतों का अनेकत्र बड़ी दृढ़ता से खण्डन किया गया है।



विषय-सूची

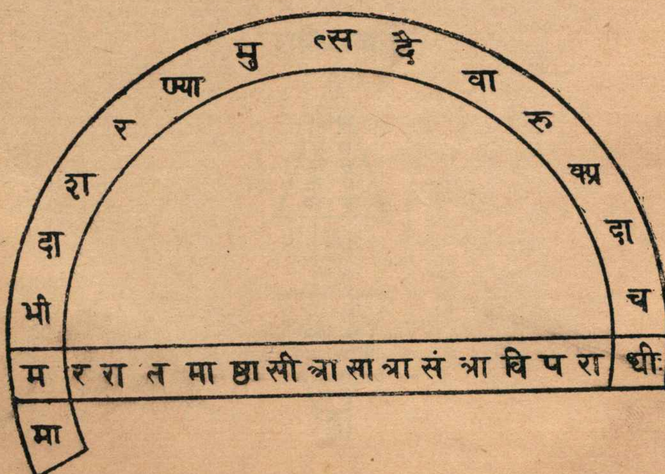
अध्याय–४

पञ्चमाध्यायान्तर्गत विभिन्न बन्धों के चित्र



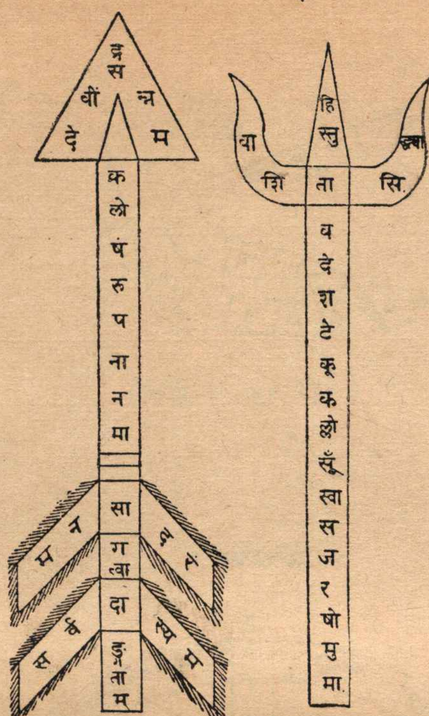
(श्लोक ६-७, पृ० १२४)　　(श्लोक ८, पृ० १२५)

३ धनुर्बन्धः



(श्लोक ९, पृ० १२५)

४ बाणबन्धः । ५ शूलबन्धः ।



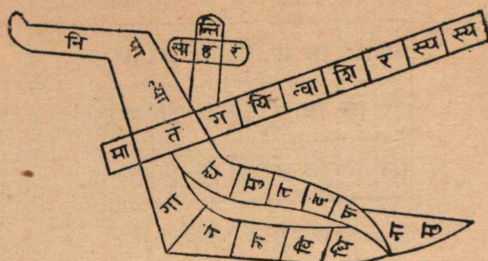
(श्लोक १०, पृ० १२६) (श्लोक ११, पृ० १२७)

६ शक्तिबन्धः ।



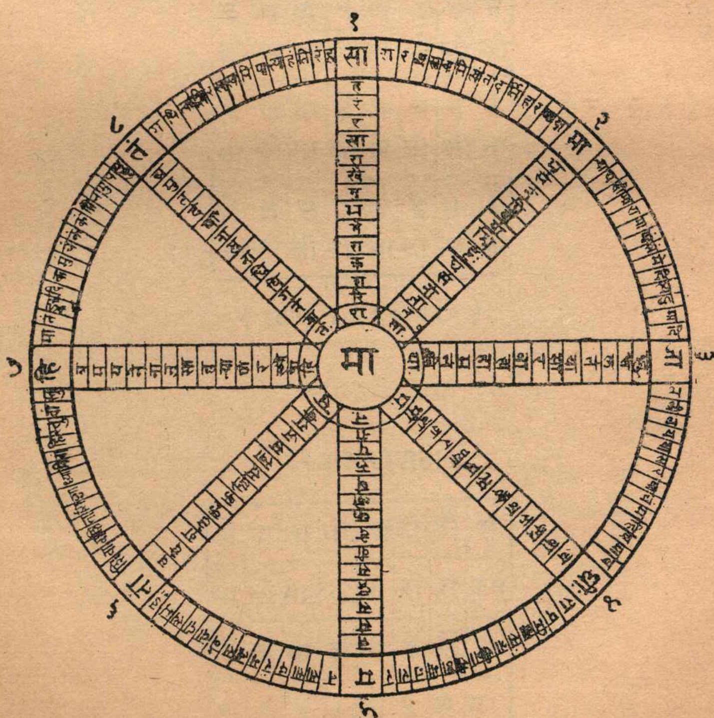
(श्लोक १२, पृ० १२८)

७ हलबन्धः



(श्लोक १३, पृ० १२८)

८ चक्रबन्धः



(श्लोक ६-१३, पृ० १२४)

९ रथपदपाठः

इ	ती	क्षि	ता	सु	रै	श्च	क्रे
या	य	मा	म	म	मा	य	या
म	हि	षं	पा	तु	बो	गौ	री
सा	य	ता	सि	सि	ता	य	सा

(श्लोक १४, पृ० १२८)

१० तुरगपदपाठः

क से	श ना	झे ली	ना ली	ग ली	भ ना	टा ना	य ली
त ली	थ ना	खे ना	वे ना	ब्व ना	रा ली	घ ली	वे ली
ष ना	जे ली	था ना	ढे ली	प ले	चे ना	मे ली	ठे ना
दो ली	ण ली	स ली	छ ना	ल ना	डे ना	प ना	डे ली

(श्लोक १५, पृ० १३०)

११ गजपदपाठः

ये	ना	ना	धी	ना	वा	धी	रा
ना	धी	वा	रा	धी	रा	रा	जन्
कि	ना	ना	शं	ना	कं	शं	ते
ना	शं	कं	ते	शं	ते	ते	जः

(श्लोक १६, पृ० १३२)

१२ अर्धभ्रमः

स	र	सा	या	रि	वी	रा	ली
र	स	न	व्या	ध्य	दे	श्व	रा
सा	नः	पा	या	द	रं	दे	वी
या	व्या	या	ग	म	द	ध्य	रि

(श्लोक १८, पृ० १३५)

१३ मुरजबन्धः

स	र	ला	ब	ह	ला	र	म्भ
त	र	ला	लि	ब	ला	र	वा
वा	र	ल	ब	ह	ला	म	न्द
क	र	ला	ब	ह	ला	म	ला

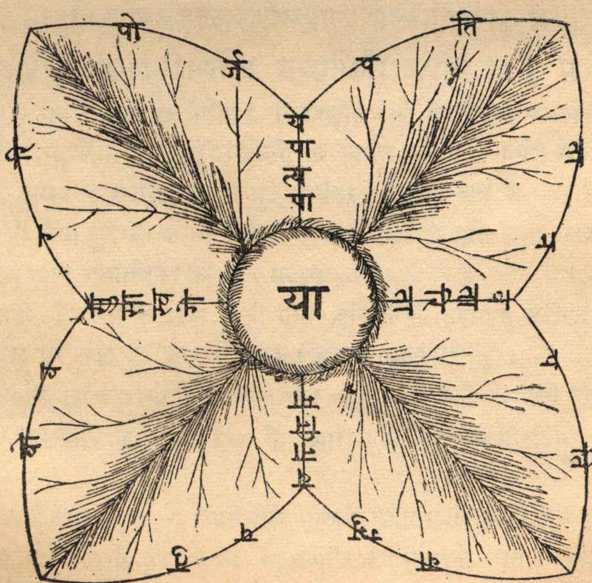
(श्लोक १९, पृ० १३६)

१४ सर्वतोभद्रबन्धः

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
र	सा	सा	र	र	सा	सा	र

(श्लो० २०, पृ० १३६)

१५ पद्मबन्धः



(श्लोक २१, पृ० १३७)

श्रीरुद्रटप्रणीतः

काव्यालङ्कारः

सटिप्पण 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथमोऽध्यायः

निःशेषापि त्रिलोकी विनयपरतया संनमन्ती पुरस्ता-
द्यस्याङ्घ्रिद्वन्द्वसक्ताङ्गुलिविमलनखादर्शसंक्रान्तदेहा ।
निर्भीतिस्थानलीना भयदभवमहारातिभीत्येव भाति
श्रीमान्नाभेयदेवः स भवतु भवतां शर्मणे कर्मभक्तः ॥
पूर्वमहामतिविरचितवृत्त्यनुसारेण किमपि रचयामि ।
संक्षिप्ततरं रुद्रटकाव्यालंकारटिप्पणकम् ॥

इह शास्त्रकारः शिष्टस्थितिपालनार्थमविघ्नेन शास्त्रसमाप्त्यर्थं च प्रथममेव तावद्गणनायकस्य स्तुतिमाह—

अविरलविगलन्मदजलकपोलपालीनिलीनमधुपकुलः ।
उद्भिन्ननवश्मश्रुश्रेणिरिव गणाधिपो जयति ॥ १ ॥

जिसके समक्ष अखिल त्रैलोक्य विनयशील होने के कारण नमस्कार करता हुआ, दोनो चरणों में जुटी हुई उंगलियों के निर्मल नखरूपी दर्पण में आक्रान्त शरीर हुई अभय के स्थान में लीन हुई भयंकर भव रूपी शत्रु के डर से अभय के स्थान में लीन हुई सी शोभित होती है। वे कर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले नाभेय देव आप सामाजिकों को सुख प्रदान करें ॥

पूर्ववर्ती विद्वानों के द्वारा रची गयी वृत्तियों की सहायता से रुद्रट-प्रणीत काव्यालङ्कार पर संक्षेप में कुछ टिप्पणक (नोट) लिख रहा हूँ।

ग्रन्थकार यहाँ विद्वानों की परिपाटी का अनुसरण करने के लिये और ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये ग्रन्थ के आरम्भ में ही गणेश जी की वन्दना करता है—

निरन्तर टपकते हुये दानवारिवाले सुन्दर कपोलों में लिपटे हुये भ्रमरों से युक्त (अतएव) उगी हुई नूतन दाढ़ी-पंक्ति से युक्त से प्रतीत होते हुये, गणेश जी विजयी हों ॥ १ ॥

गणाधिपो विनायको जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । कीदृशः । अविरलं घनं विगलच्च तन्मदजलं दानाम्बु ययोस्ते, अविरलविगलन्मदजले च ते कपोलपाल्यौ च प्रशस्तकपोलौ च । पालीशब्दस्य समासे केशपाशवत्प्रशंसार्थत्वात् । तयोर्निलीनं श्लिष्टं मधुपकुलं भ्रमरगणो यस्य सोऽविरलविगलन्मदजलकपोलपालीनिलीनमधुपकुलः । अत उत्प्रेक्षते—उद्भिन्नोद्गता नवा नूतना श्मश्रुश्रेणिर्मुखरोमसंस्थानविशेषो यस्य स उद्भिन्नवश्मश्रुश्रेणिः स इव ॥ १ ॥

'गणाधिपः' गणेश 'जयति' सर्वातिशायी हों । गणेश का क्या स्वरूप है ? अविरल अर्थात् निरन्तर 'विगलत्' क्षरित हो रहा है 'मदजल' दानवारि जिनमें ऐसे 'कपोलपाली' सुन्दर कपोल । उनमें निलीन हैं भ्रमरपटल जिसके वे निरन्तर क्षरित होते हुये दानवारिवाले कपोलों (गालों) में लिपटे हुये भ्रमरोंवाले (गणेश) । अतएव उत्प्रेक्षा करते हैं--उद्भिन्न अर्थात् उग आयी है नवीन 'श्मश्रुश्रेणि' मुख पर रोमपंक्ति जिसके वह उगी नूतन मुखरोमपंक्ति से युक्त । इस प्रकार प्रतीत होने वाले ॥ १ ॥

एवमभीष्टदेवतां स्तुत्वाधुना वाङ्मयव्यापिभवानीनमस्कृतिपुरःसरं श्रेष्ठजनप्रवृत्तयेऽभिधेयादि विवक्षुराह—

सकलजगदेकशरणं प्रणम्य चरणाम्बुजद्वयं गौर्याः ।
काव्यालंकारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति ॥ २ ॥

इस प्रकार अभीष्ट देवता की वन्दना करके अब वाणी को व्याप्त करने वाली (शीलरूपा) भवानी को नमस्कार कर के सज्जनों को शास्त्र में प्रवृत्त करने के लिये अभिधेय आदि को कहने की इच्छा से (महाकवि रुद्रट द्वितीय कारिका का) उपस्थापन करते हैं--

समस्त विश्व के एक मात्र शरण गौरी के चरण कमल-युगल को प्रणाम करके युक्तियुक्त काव्यालङ्कार (नामा) (अलङ्कार शास्त्र-विषयक) इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ ॥ २ ॥

सकलजगदेकशरणं निखिलविश्वाद्वितीयशरण्यम् , प्रणम्य नमस्कृत्य, चरणाम्बुजद्वयमङ्घ्रिकमलयुगम् , गौर्या उमायाः, काव्यस्य कवेर्भावः कर्म वा काव्यं तस्यालंकारो भूषणं काव्यालंकारः, अयमेषः, ग्रन्थः शास्त्रम्, क्रियते विधीयते । बुद्ध्या निष्पन्नमिव ग्रन्थं गृहीत्वेदमा परामृशत्ययमिति । तत्र काव्यालंकारा वक्रोक्तिवास्तवादयोऽस्य ग्रन्थस्य प्राधान्यतोऽभिधेयाः । अभिधेयव्यपदेशेन हि शास्त्रं व्यपदिशन्ति स्म पूर्वकवयः । यथा कुमारसंभवः काव्यमिति । दोषा रसाश्चेह प्रासङ्गिकाः, न तु

प्रधानाः। संबन्धस्तूपायोपेयलक्षणो नाम्नैवोक्तः। नहि तेन विनास्यालंकाराः प्रतिपाद्या भवन्ति। ननु दण्डि-मेधाविरुद्र-भामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि, तत्किमर्थमिदं पुनरिति पौनरुक्त्यदोषं क्रियाविशेषणेन निरस्यन्नाह—यथायुक्तीति। शेषेष्वलंकारेषु च या या युक्तिर्यथायुक्ति, युक्तिमनतिक्रम्य वा क्रियते। एतदुक्तं भवति—अन्यैरलंकारकारैर्न तथा युक्तियुक्तानि सक्रमाणि वा लक्ष्यानुसारीणि वा हृदयावर्जकानि वालंकारशास्त्राणि कृतानि, न तथा मया। अपितु यथारुचीति न पौनरुक्त्यदोषावसरः॥

'सकलजगदेकशरण' अर्थात् समूचे विश्व के एकमात्र आश्रय। 'प्रणम्य' नमस्कार करके। 'चरणाम्बुजद्वय' चरणकमल का जोड़ा। 'गौर्याः' पार्वती का। 'काव्य' कवि का भाव या कर्म। उसका 'अलङ्कार' आभूषण 'काव्यालङ्कार'। यह अलङ्कार शास्त्र-विषयक ग्रन्थ 'विधीयते' रचा जा रहा है। यह 'बुद्धि से निष्पन्न किये ग्रन्थ का ग्रहण करके परामर्श करता है, 'युक्ति-अयुक्ति' का विवेक करता है।

इस ग्रन्थ में वक्रोक्ति (आदि शब्दालङ्कार) वास्तव (आदि अर्थालङ्कार) काव्य के अलङ्कार ही मुख्यतः इसके अभिधेय हैं। अभिधेय के बहाने ही से पूर्ववर्ती कवि भी शास्त्र का नामकरण करते रहे हैं; जैसे कुमार-संभव। (ग्रन्थ के नामकरण में) काव्य पद का ग्रहण दोष और रस की गौड़ता का द्योतक है, प्राधान्य का नहीं। उपायोपेय लक्षण रूप संबन्ध तो नाम से ही कथित है (ग्रन्थ उपाय है और अलङ्कार आदि उपेय हैं)। उस (ग्रन्थ) के विना अलङ्कार (आदि का) प्रतिपादन ही नहीं हो सकता था। दण्डी मेधाविरुद्र और भामह आदि के द्वारा प्रणीत अलङ्कार शास्त्र के ग्रन्थ तो ये ही फिर उसी विषय पर पुनः ग्रन्थ लिखने—पुनरुक्ति ही तो हुई इस शङ्का का क्रियाविशेषण पद से समाधान करते हैं—यथायुक्तीति। शेष अलङ्कारों में जो जो युक्ति है—युक्ति का उल्लंघन न करके। भाव यह है—अन्य आलङ्कारिकों ने इस प्रकार के युक्तियुक्त, क्रमानुसारी, लक्ष्यानुसारी एवं मनोहर अलङ्कार-ग्रन्थों की रचना की वैसी मैने नहीं की। किन्तु अपनी रुचि के अनुसार किया; अतएव पुनरुक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

ग्रन्थस्याभिधेयसंबन्धौ व्याख्यायेदानीं प्रयोजनं विवक्षुराह—

अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य।
काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति॥ २॥

ग्रन्थ के विषय और संबन्ध का प्रतिपादन करके अब प्रयोजन बताने की इच्छा से कहते हैं—

इस (ग्रन्थ) के पौर्वापर्य का विवेक करने के बाद विद्वान् कवि की बुद्धि काव्य को अलङ्कृत करने में शीघ्र ही अत्यन्त दक्ष हो जायगी। इस काव्यालङ्कार का। 'हि' का प्रयोग (यस्माद्) अर्थ में हुआ है ॥ ३ ॥

अस्य काव्यालंकारस्य। हिशब्दो यस्मादर्थे। यस्मात्पौर्वापर्यं हेतुहेतुमद्भावम्। हेतुरेष ग्रन्थः। हेतुमन्तोऽलंकाराः। हेतुकार्ययोश्च पौर्वापर्यं सिद्धमेव। अथवाद्यन्तोदितग्रन्थार्थं पर्यालोच्यावगत्य, अचिरेण शीघ्रमेव, निपुणस्य प्रवीणस्य, काव्यं कविभावम्, अलंकर्तुमलंकारसमन्वितं विधातुम्, अलमत्यर्थम्, कर्तुः कवेः, उदारा स्फारा योग्या वा, मतिर्भवति बुद्धिर्जायते। तस्मात्सप्रयोजनमिदमलंकारकरणमिति ॥

'पौर्वापर्य' हेतुहेतुमद्भाव। यह ग्रन्थ हेतु है और इसके प्रतिपाद्य अलङ्कार हेतुमान्। कारण और कार्य (हेतु और हेतुमान्) में तो पौर्वापर्य सिद्ध ही है। अथवा आदि से अन्त तक ग्रन्थ के अर्थ को 'पर्यालोच्य' जानकर। 'अचिरेण' शीघ्र ही। 'निपुणस्य' कुशल की। 'काव्य' कविभाव। अलङ्कृत करने के लिये अर्थात् अलङ्कार से युक्त बनाने के लिये। 'अलम्' अत्यधिक। 'कर्ता' अर्थात् कवि। 'उदार' का अर्थ है तीक्ष्ण अथवा योग्य। 'मति' अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है। अतएव इस अलङ्कार की रचना सप्रयोजन है ॥

अथ काव्यकरणस्यैव तावत्किं प्रयोजनमित्याह—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥ ४ ॥

फिर काव्य-रचना से ही क्या लाभ, इसे बताते हैं—

देदीप्यमान वाणी के प्रबन्धवाला महाकवि रसपेशल काव्य की रचना करके सृष्टि के अवसान तक प्रभूत यश को प्रत्यक्ष बिखेरता रहता है—॥ ४ ॥

ज्वलन्देदीप्यमानोऽलंकारयोगात्, उज्ज्वलो निर्मलो दोषाभावात्, वाचां गिरां प्रसरः प्रबन्धो यस्य स ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः। सरसं सश्रृङ्गारादिकम्, कुर्वन्रचयन्, काव्यं कवेः कर्म, यत एवैवंगुणस्तत एव महाकविर्बृहत्काव्यकर्ता, स्फुटं प्रकटम्, आकल्पं युगान्तस्थायि, अनल्पमस्तोकम्। जगद्व्यापीत्यर्थः। प्रतनोति विस्तारयति, यशः कीर्तिम्, परस्य काव्यनायकस्य संबन्धि। अपिशब्दोऽत्र विस्मये। चित्रमिदं यत्कविः स्वल्पायुरप्येवंविधं यशस्तनोति। आत्मनोऽपीति तु व्याख्याने 'स्फारस्फुरद्गुरुमहिमा' (१।२१) इत्याद्यनर्थकं स्यात्, गतार्थत्वात् ॥

'ज्वलन्' अर्थात् अलङ्कार से युक्त होने के कारण देदीप्यमान। 'उज्ज्वल' अर्थात् दोषाभाव के कारण निर्मल। 'वाचाम् गिरां प्रसरः' वाणी का प्रवाह; प्रबन्ध अर्थात् देदीप्यमान निरवद्य वाणी का प्रबन्ध। 'सरस' अर्थात् शृङ्गारादि रसों से युक्त। 'कुर्वन्' रचना करता हुआ। कवि का कर्म काव्य; चूंकि इन गुणों से युक्त होता है अतएव महाकाव्य का रचयिता होता है। स्फुट रूप से अर्थात् प्रकट ही। सृष्टि तक अर्थात् युग के अवसान तक। 'अनल्प' अर्थात् प्रभूत। विश्वव्यापी। 'प्रतनोति' का अर्थ है फैलाता है। यश अर्थात् कीर्ति। 'परस्य' का अर्थ है काव्य के नायक का। 'अपि' शब्द यहाँ विस्मय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आश्चर्य है कि कवि स्वल्पायु होकर भी इस प्रकार के सृष्टि तक चलने वाले यश को फैलाता है। यदि 'अपि' पद से 'अपना भी' यह गम्य माना जाय तो आगे कही गयी 'स्फारस्फुरद्गुरुमहिमा' (१।२१) आदि कारिका के गतार्थ होने के कारण आनर्थक्य का प्रसङ्ग आ जायगा॥

ननु देवगृहमठादिकं कारयित्वा स्वयमेव नायकः स्वयशो विस्तारयिष्यति, किं कवेस्तदर्थं काव्यकरणेनेत्याशङ्क्याह—

तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि नष्टे तथाहि कालेन।
न भवेन्नामापि ततो यदि न स्युः सुकवयो राज्ञाम्॥ ५॥

इसी प्रयोजन से कवि की काव्य-रचना से क्या लाभ—इसका समाधान करते हैं—

चूंकि नायकों के द्वारा बनवाये गये देवालय आदि कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं अतएव यदि राजाओं के (नायकों के चरित को प्रबन्ध रूप में परिणत करनेवाले) सुकवि न हों तो उनका नाम भी न अवशेष रहे॥ ५॥

तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनीत्यत्र तच्छब्देनोत्तरत्र राज्ञामित्येतत्पदोपात्ताः काव्यनायकाः परामृश्यन्ते। ततः काव्यनायकविधापितदेवगृहादौ कालपर्ययेण नष्टे नाशं गते सति। तथा हीति हिशब्दो यस्मादर्थे, तथाशब्द उपप्रदर्शने। न भवेन्न स्यात्, नामाप्यभिधानमपि। आस्तां तावदन्वय इति। ततः सुरसदनादिनाशाद्धेतोः, यदि राज्ञां नायकानां सुकवयो न स्युः। तच्चरितकथाप्रबन्धकर्तार इति। राज्ञामिति काव्यनायकोपलक्षणम्।

कारिका में 'तत्कारितसुरसदनप्रभृतिनि' में 'तत्' पद से 'उत्तरवर्ती' 'राज्ञाम्' पद से काव्य के नायकों का परामर्श होता है। तदनन्तर काल के प्रभाव काव्य-नायकों के द्वारा बनवाये गये देवालय आदि के नष्ट हो जाने पर। 'तथा हि' में हि शब्द 'यस्मात्' के अर्थ में और तथा शब्द 'उपप्रदर्शन' अर्थ में आया

है। नाम भी अभिधान भी न शेष रहता। वंश (कुल) आदि का तो कहना ही क्या। तदनन्तर देवालय आदि के नष्ट हो जाने के कारण—यदि राजाओं के सुकवि न हों। सुकवि यहाँ नायकों के चरित को प्रबन्धरूप में परिणत करने वालों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (कारिका में) 'राज्ञाम्' काव्यनायकों के लिये प्रयुक्त किया गया है॥

अथ यदि नाम राज्ञां यशस्तन्वन्ति तथापि किं तेषां यत्ते काव्यकृतौ प्रवर्तन्त इत्याह—

इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलमलं सकललोककमनीयम्।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम्॥ ६॥

यदि (कवि) राजाओं का ही यश फैलाते हैं तो उससे उनका क्या लाभ जो वे काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं इसका उत्तर देते हैं—

इस प्रकार स्थायी, गुरुतर, अति निर्मल सकल प्रजा में रमणीय जिसके यश को जो फैलाता है वह उसका कौन सा उपकार नहीं करता?॥ ६॥

इत्थम् 'स्फुटमाकल्पमनल्पम्' (१।४) इत्यनेन प्रकारेण, स्थास्नु स्थिरतरम्, गरीयः प्रभूतम्, दोषाभावाच्च विमलम्, अलमत्यर्थम्, सकललोककमनीयं सकलजनकान्तम्, यः कविर्यस्य राजादेर्यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम्। सर्वथोपकृतं भवतीत्यर्थः॥

'इत्थम्' का अर्थ है 'स्फुटमाकल्पमनल्पम्' (१।४) आदि कारिका की द्वितीय पंक्ति कही गयी रीति से। 'स्थास्नु' अर्थात् चिरकाल तक चलनेवाला। गरीय अर्थात् गौरवमय और दोषों से शून्य होने से निर्मल। (कारिका में आये) 'सकललोककमनीयम्' का अर्थ है समस्तप्रजा में सम्मानित। जो कवि जिस राजा आदि का यश फैलाता है (भला) वह उसका क्या उपकार नहीं करता (वह) सर्वथा उपकृत ही होता है॥

ननु यदि कविना परस्योपकृतम्, ततोऽपि किं तस्येत्याह—

अन्योपकारकरणं धर्माय महीयसे च भवतीति।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र॥ ७॥

दूसरों का उपकार करने से धर्म होता है और तेज बढ़ता है। मोक्ष को प्राप्त किये हुये लोग ही इसमें प्रमाण हैं॥ ७॥

गतार्थं न वरम्। चकारोऽन्योपकारकरणं चेत्यत्र योज्यः॥

पुनः विवेचन करना उचित नहीं है। कारिका में 'च' का अन्वय 'अन्योपकारकरणम्' के साथ करना चाहिये।

एवं धर्म एव कवेः काव्यकरणे प्रयोजनमित्यभिधायार्थकाममोक्ष-हेतुत्वमप्याह—

अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य ।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः ॥ ८ ॥

'इस प्रकार धर्म ही काव्य-रचना में प्रयोजन होता है' इसका प्रतिपादन करने के बाद (अवशेष) अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थ की साधना में काव्य-रचना की कारणता सिद्ध करते हैं—

सुन्दर देवस्तुतियों की रचना करनेवाला कवि, कष्टों को हरण करनेवाले धन, असामान्य सुख अथवा जो कुछ उसका वाञ्छित होता है उस समग्र वस्तु को प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

अर्थमिति । अर्थो धनम्, अनर्थोपशमो विपदभावः, शं सुखम्, असममसाधारणम् । इह लोके कामजं परत्र तु पारम्पर्येण मोक्षजम् । अथवा किमेभिर्बहुभिरुक्तैर्यदेवास्य कवेः संमतं तदेवाप्नोतीति । कीदृशः । विरचितसदलंकारदेवतास्तुतिः ॥

अर्थमिति । 'अर्थ' धन, 'अनर्थोपशम' विपत्ति का नाश, 'शम्' सुख, 'असम' असामान्य (लोकोत्तर) इस लोक में कामनाओं से उत्पन्न और परलोक में मुक्तिजन्य । अथवा इस डींग मारने से क्या, इस कवि को जो कुछ वाञ्छित होता है वही उपलब्ध हो जाता है । कैसा (कवि वाञ्छित फल प्राप्त कर लेता है) ? जो सुन्दर अलङ्कारों से युक्त देव-स्तुति लिख लेता है ।

किमत्र प्रमाणमिति चेत्तदाह—

नुत्वा तथाहि दुर्गां केचित्तीर्णा दुरुत्तरां विपदम् ।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरेऽभिमतम् ॥ ९ ॥

इसमें प्रमाण ही क्या है इसका उत्तर देते हैं—

दुर्गा को नमस्कार करके कुछ लोग दुःख से तरणीय विपत्ति को पार कर गये, कुछ ने रोग से मुक्ति पायी (और) दूसरों ने अभीष्ट वर प्राप्त किया ॥९॥

नुत्वेति । तथाहीत्युदाहरणोपदर्शने । दुर्गाग्रहणं देवतोपलक्षणार्थम् । तथाहि केचिदनिरुद्धादयः शत्रुवश्यादिकां विपदं तीर्णाः । केचिद्वीर-देवादयो नीरुजत्वं प्रापुः । अपरे शत्रुघ्नप्रभृतयोऽभिमतं वरं लब्धवन्तः । एवमन्येऽप्युदाहरणत्वेन तथाविधा ज्ञेया इति ॥

नुत्वेति । (कारिका में) 'तथाहि' पद उदाहरण के उपदर्शन के लिये प्रयोग किया गया है । 'दुर्गा' पद का प्रयोग देवता का उपलक्षक है । कोई

अनिरुद्ध आदि शत्रु से प्राप्त अभिभव आदि विपत्ति को पार कर गये। वीर-देव आदि कुछ लोग आरोग्य प्राप्त कर लिये। शत्रुघ्न आदि अन्य लोगों ने अभीष्ट वर प्राप्त किये। अन्य उदाहरण भी इसी—प्रकार खोज लेने चाहिये ॥

इह केचिद्विक्रमादित्यादिजनितं कविजनसत्कारं श्रुत्वाधुनातननृपेभ्यस्तथानवलोक्य प्रेरयेयुर्यथा नृपेभ्यः सकाशान्न किंचित्फलं तथा देवताभ्योऽपि सांप्रतं न काव्येन किंचित्फलं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

आसाद्यते स्म सद्यः स्तुतिभिर्येभ्योऽभिवाञ्छितं कविभिः ।
अद्यापि त एव सुरा यदि नाम नराधिपा अन्ये ॥ १० ॥

यहाँ विक्रमादित्य आदि के द्वारा किये गये कवियों के सम्मान को सुनकर और संप्रति राजाओं से वैसा सम्मान न पाने के कारण, जिस प्रकार राजाओं के संसर्ग से कोई लाभ नहीं उसी प्रकार देवों से भी अतएव काव्य-रचना से क्या लाभ इसका उत्तर देते हैं—

कवि लोग स्तुतियों के द्वारा जिन (देवों) से शीघ्र ही अभीष्ट लाभ करते थे आज भी वे ही देवता हैं; राजा दूसरे हैं तो क्या हुआ ॥ १० ॥

स्फुटार्थं न वरम् । यदि नामेति नामशब्दः परं शब्दार्थे । यदि परं नृपाः । अन्ये देवास्तु त एवेति ॥

स्पष्ट है। 'नाम' पद 'परम्' के अर्थ में आया है। यदि राजा वे नहीं हैं। देवगण तो वे ही हैं।

काव्यकरणे प्रयोजनाप्रमेयतामाह—

कियदथवा वच्मि यतो गुरुगुणमणिसागरस्य काव्यस्य ।
कः खलु निखिलं कलयत्यलमलघुयशोनिदानस्य ॥ ११ ॥

काव्य-रचना के प्रयोजन अनन्त हैं—इसे बताते हैं—

मैं कहाँ तक कहूँ, प्रशस्तगुणरूपीमणियों के सागर, प्रभूत यश के आश्रय काव्य का भला कौन अविकल मूल्याङ्कन कर सकता है ॥ ११ ॥

कियदिति । कियदथवा भण्यते । यतो यथा सागरे मणीनामानन्त्यमेवं काव्ये गुणानामपीति तात्पर्यम् । खलुर्निश्चये ॥

कियदिति। अथवा कहाँ तक कहें। क्यों कि जिस प्रकार सागर में अनन्त मणियाँ होती हैं उसी प्रकार काव्य में अनन्त गुण। 'खलु' यहाँ निश्चय (के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) ॥

एवं प्रयोजनानन्त्ये सति कृत्यमाह—

तदिति पुरुषार्थसिद्धिं साधुविधास्यद्भिरविकलां कुशलैः ।
अधिगतसकलज्ञेयैः कर्तव्य काव्यममलमलम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार अनन्त प्रयोजन के होने पर क्या करना चाहिये इसे बताते हैं—

इस लिये ज्ञातव्य सभी बातों को जानने वाले भलीभाँति पुरुषार्थ सिद्धि करनेवाले कुशल व्यक्तियों को सुन्दर काव्य की प्रभूत रचना करनी चाहिये ॥ १२ ॥

तदिति । तस्मात्पुरुषार्थसिद्धिं पूर्णां चिकीर्षुभिः काव्यं कर्तव्यम् । कीदृशैः । अधिगतसकलज्ञेयैः । न त्वनीदृशामपि काव्यकरणं संभवतीत्याह—अलममलम् । सनिर्मलकरणेऽन्येषामसामर्थ्यमित्यभिप्रायः ॥

तदिति । अतएव पुरुषार्थसिद्धि को पूर्ण करने की इच्छा रखनेवालों को काव्य-रचना करनी चाहिये । किन लोगों को ? जो ज्ञातव्य (छन्द, कोश, व्याकरण आदि) जानते हैं । जो नहीं जानते हैं वे काव्य-रचना में सफल हो ही नहीं सकते । इसे बताते हैं—प्रभूत निर्दोष (काव्य की रचना करनी चाहिये । दोष-शून्य काव्य की रचना में ज्ञातव्य को न जाननेवाला असमर्थ होता है—यह भाव है ॥

ननु ज्ञातसकलज्ञेयस्य तत्त्वादेव पुरुषार्थसिद्धिर्भविष्यति; किं काव्यकरणेनेत्याह—

फलमिदमेव हि विदुषां शुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यः ।
यत्संस्कारो वाचां वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः ॥ १३ ॥

सब कुछ ज्ञातव्य को जानने वाले को तत्त्वज्ञान से ही पुरुषार्थ सिद्धि हो जायगी काव्य-रचना करने से क्या ? इसे आगे बताते हैं—

विशद व्याकरण और न्यायशास्त्र के ग्रन्थों से वाणी का जो संस्कार और सरस काव्यरूपी फल को उत्पन्न करनेवाली जो वाणी होती है वही विद्वानों के लिये फल है ॥ १३ ॥

फलमिति । हि यस्माज्जानतामिदमेव ज्ञानफलं यच्छुचिपदवाक्यप्रमाणशास्त्रेभ्यो विशदव्याकरणतर्कग्रन्थेभ्यः सकाशात्संस्कारो वाचाम् । ननु वाक्संस्कारस्यापि किं फलमित्याह—वाचश्च सुचारुकाव्यफलाः । चः समुच्चये । सुन्दरकाव्यकरणमेव वाक्संस्कारस्य फलमित्यर्थः ॥

फलमिति । क्यों कि विज्ञजनों के लिये वही फल मिलता है कि विशुद्ध व्याकरण और तर्क के ग्रन्थों से बोलने में एक निखार आती है । निखार से ही

क्या लाभ इस शङ्का का उत्तर देते हैं—सुमधुर काव्यरूप फल को जन्म देने वाले वचन होते हैं। 'च' निपात यहाँ समुच्चयार्थक है। सुन्दर काव्य-रचना वाणी के संस्कार का फल है—यही तात्पर्य है।

यथा च काव्यं चारु भवति, यथा च चारु कर्तुं ज्ञायते तथाह—

तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ १४॥

काव्य सुन्दर कैसे होता है, सुन्दर काव्य की रचना करना कोई कैसे जान सकता है—इसे बताते हैं—

उस सुन्दर (काव्य) की रचना में नीरस (अंश) के त्याग और सरस (अंश) के ग्रहण करने के लिये शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति और अभ्यास-ये तीनों ही वाञ्छित हैं॥ १४॥

तस्येति। तस्य काव्यस्यासारनिरासादसमर्थादिवक्ष्यमाणदोषत्यागात्, तथा सारग्रहणाद्वक्रोक्तिवास्तवाद्यलंकारयोगाद्धेतोः, चारुत्वगुणोपेतस्य करणे त्रितयमिदं शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यासलक्षणं व्याप्रियते। तस्य तत्र व्यापार इत्यर्थः। तथा च दण्डी—'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥' तत्र शक्त्या शब्दार्थौ मनसि संनिधीयेते। तयोः सारासारग्रहणनिरासौ व्युत्पत्त्या क्रियेते। अभ्यासेन शक्तेरुत्कर्ष आधीयत इति शक्त्यादिव्यापारः। असारनिरासात्सारग्रहणादिति च पदद्वयोपादानमुभययोगेन चारुत्वमिति ख्यापनार्थम्। तत्राप्यसारस्य प्रागुपन्यासस्तन्निरासस्य प्राधान्यख्यापनार्थः। सकलालंकारयुक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत, अलंकृतं वधूवदनं काणेनेव चक्षुषा। उक्तं च [दण्डिना]—'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन। स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्'॥

तस्येति। उस काव्य के असार के त्याग अर्थात् आगे कहे जाने वाले असमर्थादि दोषों के परिहार एवं सार के ग्रहण अर्थात् वक्रोक्ति, वास्तव आदि अलङ्कारों के उपादान के कारण—सौन्दर्यगुणविशिष्ट (काव्य) की रचना में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास रूप—ये तीनों हेतु अभीष्ट हैं। उसका (काव्य का) उन्हीं (शक्ति) में अस्तित्व है। दण्डी ने भी कहा है "इस काव्य-संपत्ति के हेतु हैं—सहज प्रतिभा, सुस्पष्ट (छन्द, कोश आदि की) व्युत्पत्ति और अनवरत अभ्यास।" इनमें शक्ति से ही मन में (अभीष्ट) शब्द और अर्थ की सूझ आती है। उन (शब्द और) अर्थ में सरस का ग्रहण और नीरस का परिहार शक्ति के द्वारा किया जाता है। अभ्यास से शक्ति में निखार आती

है—इस प्रकार शक्ति आदि का व्यापार कह दिया गया है। 'असारनिरासात् सारग्रहणात्' इस प्रकार दोनों पदों का उपादान दोनों के योग से ही काव्य में चारुत्व आता है'—यह बताने के लिये किया गया है। वहाँ भी (कारिका) 'असार' पद का प्रथम उपादान 'दोष-परित्याग' के प्राधान्य को सूचित करता है। जिस प्रकार कानी आँख से प्रभूत गहनों से लदी हुई भी वधू की काया दूषित हो जाती है उसी प्रकार सकल अलङ्कारों से युक्त होने पर भी काव्य एक ही दोष से दूषित हो जाता है। दण्डी ने भी कहा है—"अतएव काव्य में रञ्चमात्र भी दोष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। सुन्दर शरीर भी एक ही श्वेत कुष्ठ से दूषित हो जाता है।'

अथ शक्तिस्वरूपमाह—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥ १५ ॥

अब शक्ति का स्वरूप बताते हैं—

जिस में शक्ति होती है (उसके) समाहित चित्त में अभिधेय (अर्थ का) सदैव अनेक प्रकार से भान होता है तथा क्लिष्टत्वादि दोषों से शून्य पद (उसे) सदैव सूझते रहते हैं ॥ १५ ॥

मनसीति। असौ शक्तिर्यस्यामविक्षिप्ते चेतसि सदानेकप्रकारस्य वाक्यार्थस्य विस्फुरणम्। यस्यां चाक्लिष्टानि झगित्येवार्थप्रतिपादनसमर्थानि पदानि प्रतिभान्ति। यद्वशाद्धृदयंगमौ नानाविधौ शब्दार्थौ प्रतिभासेते सा शक्तिरित्यर्थः ॥

मनसीति। उसे शक्ति कहते हैं जिसमें समाहित चित्त होने पर सदा अनेक प्रकार के वाक्यों का विस्फुरण होता रहता है। जिस (शक्ति) में अक्लिष्ट अर्थात् सद्यः अर्थ व्यञ्जक पद भासित होते रहते हैं। जिस के कारण मनोहारी शब्द और अर्थ भासित होते रहते हैं उसे शक्ति जानना चाहिये ॥

अस्या एव भेदानाह—

प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥ १६ ॥

इसी शक्ति के ही भेद बताते हैं—

(दण्डी आदि) अन्य आलङ्कारिकों ने इसे प्रतिभा कहा है; सहज और उत्पाद्य के भेद से वह दो प्रकार की होती है, जन्म से उत्पन्न होने के कारण इन दोनों में सहज (प्रतिभा) प्रशस्यतर है ॥ १६ ॥

प्रतिभेति। एषा च शक्तिरपरैर्दण्डिमुख्यैः प्रतिभेत्युक्ता। सा च द्विधा भवति। कथम्। सहजोत्पाद्या चेति। तयोश्च मध्यात्सहजा ज्यायसी प्रशस्यतरा। पुंसा सहोत्पन्नत्वात्॥

प्रतिभेति। इस शक्ति को दण्डी आदि ने प्रतिभा कहा है। वह दो प्रकार की होती है। कैसे? सहज और उत्पाद्य। इनमें सहज प्रतिभा प्रशस्यतर है। जन्म से ही सिद्ध होने के कारण।

यदि नाम पुंसा सहोत्पन्ना किमित्येतावता ज्यायसीत्याह—

स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं मृगयते यतो हेतुम्।
उत्पाद्या तु कथंचिद्व्युत्पत्त्या जन्यते परया॥ १७॥

यदि जन्म से उत्पन्न होती है क्या इतने से ही प्रशस्यतर होती है—इसका उत्तर देते हैं—

यह (सहज शक्ति) अपने संस्कार के लिये चूँकि अभ्यास की अपेक्षा रखती है (इसलिये प्रशस्यतर होती है)। अर्जित शक्ति तो बड़े कष्ट से दूसरी व्युत्पत्ति से उत्पन्न होती है॥ १७॥

स्वस्येति। असौ सहजा शक्तिः स्वस्यात्मनः संस्कार उत्कर्ष एव परं केवलम्। अविद्यमानः परोऽन्यो यस्मादसावपरोऽभ्यासस्तं यतो मृगयतेऽन्वेषयति नोत्पत्तावतो ज्यायसी। उत्पत्तौ तु सहजातत्वमेव हेतुः। उत्पाद्या तु व्युत्पत्त्या परयानन्तरया कथंचिन्महता कष्टेन जन्यते। अतो न ज्यायसी सा॥

स्वस्येति। अपना संस्कार या जन्मतः स्थिति ही जिसका एकमात्र उत्कर्ष है उसे सहज शक्ति कहते हैं। जिसके लिये कोई पृथक् हेतु नहीं है और अभ्यास मात्र हेतु की अपेक्षा रखती है, उत्पत्ति की जहाँ अपेक्षा नहीं रहती, ऐसी (यह सहज शक्ति) प्रशस्यतर होती है। (इस सहज शक्ति में) जन्मना सिद्ध होना ही एकमात्र हेतु है। उत्पाद्य शक्ति अवान्तर काल में (किये गये अध्ययन आदि के द्वारा) प्राप्त व्युत्पत्तिरूपी अन्य हेतु से बड़े क्लेश से उपलब्ध होती है॥

इदानीं व्युत्पत्तिस्वरूपमाह—

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन॥ १८॥

अब व्युत्पत्ति का स्वरूप बताते हैं—

छन्दः शास्त्र, व्याकरण, नृत्यशास्त्र, लोकशास्त्र, नाममाला, कोश आदि के सम्यक् अध्ययन से उचित और अनुचित का विवेक—संक्षेप में इसे व्युत्पत्ति कहते हैं॥ १८॥

छन्द इति । छन्दो जयदेवादि, व्याकरणं पाणिन्यादि, कला नृत्यादिविषयभरतादिप्रणीतशास्त्राणि, लोकाः स्वःप्रभृतयस्तेषु चराचरादिस्वरूपनियमः स्थितिः, पदानि नाममालापठिताः पर्यायशब्दाः, पदार्थस्तेषामेव पदानामभिधेयार्थविषयप्रवृत्तिनैयत्यम् । एतेषां षण्णां छन्दःप्रभृतीनां विज्ञानाद्विशिष्टावगमाद्धेतोर्यो युक्तायुक्तविवेक उचितानुचितत्वपरिज्ञानम् । यथात्रेदं छन्द उचितमनुचितं वेत्यादि सर्वेषु द्रष्टव्यम् । व्युत्पत्तिरियम् । समासेन संक्षेपेण ॥

छन्द इति । जयदेव आदि के द्वारा प्रणीत छन्दः शास्त्र, पाणिनि आदि के द्वारा प्रणीत व्याकरण शास्त्र, नृत्य आदि पर भरत आदि से लिखे गये (नाट्य) शास्त्र, स्वः आदि लोकों में स्थावर, जङ्गम के स्वरूप के ज्ञान लोक-शास्त्र, नाममाला में पठित पर्यायवाची पद, उन्हीं पदों के अभिधेय अर्थ में प्रयुक्त होने के विषय की निश्चितता—इन उक्त छन्द आदि षट्शास्त्रों के विशेष ज्ञान से उत्पन्न उचित और अनुचित का विचार-संक्षेप में व्युत्पत्ति कहे जाते हैं, जैसे यहाँ इस छन्द का प्रयोग उचित है अथवा अनुचित है ॥

तर्हि विस्तरव्युत्पत्तेः किं स्वरूपमित्याह—

विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके ।
न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा ॥ १९ ॥

तो विस्तर व्युत्पत्ति का क्या स्वरूप है—इसे बताते हैं—

विस्तारपूर्वक, उस (काव्य) से पृथक् इस लोक में क्या है; ऐसा कोई वाच्य (अर्थ) अथवा वाचक (शब्द) नहीं है जो काव्य का अङ्ग न बन सके । अतः सर्वज्ञता दूसरी व्युत्पत्ति है ॥ १९ ॥

विस्तरत इति । व्युत्पत्तिसंबन्धिनो विस्तारात्किमन्यद्विद्यते यदन्तःपाति न भवति । कुत इत्याह—यस्मादिह लोके न तद्वाच्यमभिधेयमस्ति, न वाचकः शब्दो विद्यते यत्काव्याङ्गं काव्योपकरणं न भवतीति । ततो हेतोरेषान्या विस्तृता व्युत्पत्तिः । ततः संक्षेपाद्वा सकाशात् । अन्येति द्वितीया । सर्वज्ञत्वमेव विस्तीर्णा व्युत्पत्तिरित्यर्थः । उक्तं च—'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला । जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः ॥' अभ्यासो लोकप्रसिद्ध एव ॥

विस्तरत इति । विस्तर व्युत्पत्ति से पृथक् क्या है जिसका अन्तर्भाव काव्य में नहीं हो सकता । कुत इत्याह—क्यों कि ऐसा कोई वाच्य-वाचक नहीं है जो काव्य का अङ्ग न बने अथवा जिसका काव्य-रचना में उपयोग न हो सके । इसी लिये (यह) विस्तर-व्युत्पत्ति समास-व्युत्पत्ति से भिन्न है । 'ततः' अर्थात् समास-

व्युत्पत्ति से। 'अन्या' अर्थात् भिन्न। सर्वज्ञत्व ही विस्तर-व्युत्पत्ति है। कहा भी गया है—"ऐसा कोई शब्द नहीं है, अर्थ नहीं है, न्याय नहीं है एवं कला नहीं है जो काव्य का अङ्ग न हो सके। आश्चर्य है कि कवि का भार कितना गुरुतर है। अभ्यास तो लोकप्रसिद्ध है ही।

केवलं तस्य स्थाननियमं कर्तुमाह—

अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य संनिधौ नियतम्।
नक्तंदिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान्काव्यम्॥ २०॥

नियमानुसार केवल उसका स्थान प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं—ज्ञातव्य सभी बातों को जानकर प्रतिभासंपन्न सज्जन सुकवि के चरणों में बैठकर निरन्तर रातों दिन अभिनिवेशपूर्वक काव्य-रचना का अभ्यास करे॥ २०॥

अधिगतेति। वाक्यार्थः सुगमः। अत्राह—ननु यद्यधिगतसकलज्ञेयः शक्तिमांश्च तत्किं सुजनस्य सुकवेः संनिधानेऽभ्यस्यति। सत्यम्। छन्दोव्याकरणादिविषयलक्षणातिरिक्तमन्यदपि ज्ञेयं जानाति। यन्महाकविलक्ष्येषु दृश्यते। सुजनत्वाच्च निर्मत्सरो भूत्वा सर्वमसौ दर्शयति। तथाहि। छन्दांसि पिङ्गलजयदेवाद्यनुक्तान्यपि वृत्तानि सुकविकाव्येषु दृश्यन्ते बहुशः। यथा माघस्य—'कृतसकलजगद्विबोधो विधूतान्धकारोदयः, क्षपितकुमुदतारकश्रीर्वियोगं नयन्कामिनः। गुरुतरगुणदर्शनादभ्युपेताल्पदोषः कृती, तव वरद करोतु सुप्रातमह्नामयं नायकः॥' तथा भारवेः—'इह दुरधिगमैः किंचिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम्। अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम्॥' एवमन्येषामपि सन्ति। तथा व्याकरणे 'ववर्ष्टि-अजर्घाः-सस्ति-दर्द्रष्टिईट्टे-ईर्त्सति-जिह्वायकयिषति-अड्डिडिषती'त्येवमादीनि पदानि न प्रयोज्यानि। काव्यस्य माधुर्यलालित्यविनाशप्रसङ्गात्। तथा क्षपि-मिलि-अर्थि-वचिक्लीबप्रभृतयो धातवो धातुगणेषु पठिता अपि। सहेश्च परस्मैपदं प्रयोगदर्शनात्प्रयोक्तव्यम्। पदविषयं च यथा पक्ष्मशब्दोऽक्षिरोमस्वभिधानेषु पठितोऽन्यत्रापि दृश्यते। यथा माघस्य—'निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा' इति। एवमन्यदपि कलादिविषये द्रष्टव्यम्। यत्सुजनकविसंनिधानाज्ज्ञेयम्। नियतमित्यनेन सुकविसंनिधान एवाभ्यासः कार्य इति नियम इति। नक्तंदिनमित्यनेन तु यदैव पट्वी बुद्धिः क्षणश्च भवति तदैवाभ्यस्येत्, न पुनर्यथा कैश्चिदुक्तम् 'पश्चाद्रात्रे एव' इति तु कवेः काव्यकरणेऽत्यन्तादराधानार्थम्॥

अधिगतेति। वाक्य का अर्थ सुस्पष्ट है। यहाँ बताते हैं—यदि ज्ञातव्य

सभी बातों का अध्ययन कर चुका है और प्रतिभासंपन्न भी है तो फिर सज्जन सुकवि के संपर्क में क्यों अभ्यास करेगा ? ठीक है। (सज्जन सुकवि के संपर्क में) छन्द, व्याकरण आदि विषयों के अतिरिक्त भी तो जानता है जो महाकवियों द्वारा प्रणीत महाकाव्यों में उपलब्ध होता है। वह सुजन होने के कारण विना किसी द्वेष के इस (अभ्यास करने वाले) को सब कुछ द्रष्टव्य दिखला देता है। क्यों कि जैसे सुकवियों के काव्य में ऐसे भी छन्द उपलब्ध होते हैं जो छन्दःशास्त्र में जयदेव आदि के द्वारा नहीं प्रोक्त हैं। जैसे माघ का (महामालिनी छन्द) "सकल संसार को जगाने वाला, अन्धकार के उदय को दूर करनेवाला, कुमुद और तारों की कान्ति को मलिन करनेवाला कामियों को वियुक्त करनेवाला प्रचुर गुणों के प्रत्यक्ष होने के कारण जिसका (कलङ्करूप) दोष तुच्छ हो गया है (वह) पुण्यात्मा चन्द्रमा तुम्हारे लिये प्रकाशमय प्रभात करे॥ तथा भारवि का—यहाँ बड़े कष्ट से ज्ञेय पुराणों के द्वारा अन्तर का नित्य बड़े कष्ट से वर्णन करते हैं। अत्यन्त गहन दिशाओं में व्याप्त इसे परम पुरुष के समान केवल ब्रह्मा ही जानते हैं। इसी प्रकार अन्य काव्यों में भी (अनुक्त) वृत्त पाये जाते हैं। इसी प्रकार वर्वर्ष्टि आदि यद्यपि व्याकरण शास्त्र में प्रोक्त हैं तथापि उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्यों कि (प्रयोग करने पर) तो काव्य का माधुर्य और लालित्य नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार क्षपि आदि धातुगण में पठित हैं किन्तु इनका भी (प्रयोग नहीं करना चाहिये)। 'सह' धातु (व्याकरण शास्त्र के द्वारा प्रयोग अनुमत न होने पर भी) प्रयोग करना चाहिये क्यों कि ऐसा प्रयोग मिलता है। 'पक्ष्म' पद 'अक्षिरोम' के अर्थ में पठित है किन्तु उसका अन्य अर्थों में भी प्रयोग हुआ है। माघ ने 'निसर्ग'— आदि। 'स्वभाव से ही उज्ज्वल सूक्ष्म पक्ष्म वाले'। इसी प्रकार कला आदि के विषय में भी देखा जा सकता है जिसका ज्ञान सुकवि के साथ सहवास से ही हो सकता है। सदैव 'सुकवि के ही संनिधान में अभ्यास करना चाहिये 'यह नियत पद का अर्थ है। 'नक्तं दिन' का तात्पर्य है कि जब भी समय मिले और बुद्धि तीक्ष्ण हो तभी अभ्यास करना चाहिये। जैसा किसी ने कहा है कि रात्रि के पश्चाद् भाग में ही अभ्यास करना चाहिये ऐसा नहीं करना चाहिये। इस प्रकार कवि को काव्य-रचना के प्रति व्यसनी और (उसके लिये) समाहितचेता होने का व्याख्यान किया गया॥

पुनः काव्यस्य प्रयोजनान्तरमाह—

स्फारस्फुरदुरुमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम्।
कल्पान्तस्थायि यशः प्राप्नोति महाकविः काव्यात् ॥२१॥

आगे काव्य के अन्य प्रयोजन बताते हैं—

निरन्तर बढ़ती हुयी विस्तीर्ण महिमा को फैलाता हुआ, महाकवि युग के अन्त तक स्थिर रहने वाले, हिमके समान शुभ्र, रमणीय यश को काव्य से प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

स्फार इति । स्फारो दृढः, स्फुरञ्जनमनःसु प्रसरन्, अत एवोरुर्विस्तीर्णो महिमा यस्य कवेः सः। तथा यशः कीदृशम्। हिमधवलमित्यादि सुगमम् ॥

स्फार इति । 'स्फार' का अर्थ है दृढ । 'स्फुरन्' अर्थात् लोगों के मन में फैलता हुआ; इस प्रकार जिसका प्रभूत यश हो गया है वह । किस प्रकार का यश—जो हिम के समान शुभ्र होता है । स्पष्ट है ॥

ननु काव्यादेवंविधयशोभवने प्रमाणाभावाद्देवगृहादिकमेव कारयितव्यमित्येतन्निरस्यन्दृष्टान्तपुरःसरं काव्यकरणे यत्नोपदेशमाह—

अमरसदनादिभ्यो भूता न कीर्तिरनश्वरी
भवति यदसौ संवृद्धापि प्रणश्यति तत्क्षये ।
तदलममलं कर्तुं काव्यं यतेत समाहितो
जगति सकले व्यासादीनां विलोक्य परं यशः ॥२२॥

काव्य से इस प्रकार के यश फैलने में प्रमाण के अभाव के कारण मन्दिर आदि ही बनवाना चाहिये—इस बात का सोदाहरण खण्डन करते हुये काव्य-रचना में प्रयत्नशील होने का उपदेश देते हैं—

'मन्दिर आदि से (किसी की) अनश्वर कीर्ति नहीं हुयी । यह बहुत अधिक होने पर भी उनके नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाती है । इस लिये सकल संसार में व्यास आदि के प्रभूत यश को देखकर समाहितचित्त होकर निर्मल काव्य की रचना करने के लिये चिर प्रयत्न करना चाहिये' ॥ २२ ॥

अमर इति । सुगमम् । तस्मात्स्थितमेतत्कवेः काव्यकरणादेव परं यशो भवतीति । उक्तं च—'यतः क्षणध्वंसिनि संभवेऽस्मिन्काव्यादृतेऽन्यत्क्षयमेति सर्वम् । अतो महद्भिर्यशसे स्थिराय प्रवर्तितः काव्यकथाप्रसङ्गः' ॥

अमर इति । इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य-रचना से ही कवि का प्रभूत यश फैलता है । कहा भी गया है—'चूँकि क्षणनश्वर इस संसार में काव्य के अतिरिक्त सब कुछ नष्ट हो जाता है अतएव महा (कवियों) ने चिरयश के लिए काव्य-कथा के मार्ग का प्रवर्तन किया' ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

द्वितीयोऽध्यायः

शास्त्रस्य काव्यकरणस्य च प्रयोजनमाख्यायेदानीं काव्यलक्षणं पृष्टः सन्नाह—

ननु शब्दार्थौ काव्यं शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः ।
वर्णानां समुदायः स च भिन्नः पञ्चधा भवति ॥ १ ॥

शास्त्र और काव्य-रचना का प्रयोजन बताकर अब काव्य-लक्षण का स्वयं तर्क करके उत्तर देते हैं—

शब्द और अर्थ (दोनों मिलकर ही) काव्य हैं; उनमें शब्द अर्थवान् और अनेक प्रकार का होता है। वह वर्णों का समुदाय होता है तथा उसके पाँच भेद होते हैं ॥ १ ॥

नन्विति । ननुशब्दः पृष्टप्रतिवचने । यथा 'अपि त्वं कटं करिष्यसि । ननु भोः करोमि' इति । शब्दश्चार्थश्च तौ काव्यमुच्यते । कवेः कर्माभिप्रायो वेति शब्दार्थः । कवेः काव्योपयोगिनोः शब्दार्थयोरन्योन्याव्यभिचारादेकतरोपादानेनैव द्वितीये लब्धे द्वितीयोपादानं काव्ये द्वयस्यापि प्राधान्यख्यापनार्थम् । अन्यथा हि शब्दार्थयोरेकतरोपादानेऽन्यतरस्यालंकारैर्विरहितमपि दोषैश्च युक्तमपि काव्यं साधु स्यात् । अद्वयोपादाने न तुल्यकक्षतया शब्दार्थौ द्वावपि काव्यत्वेनाङ्गीकृतौ भवतः । द्वयमेतत्समुदितमेव काव्यं भवतीति तात्पर्यम् । शब्दार्थौ काव्यमित्युक्तम् , अथ शब्दः किमुच्यत इत्याह—शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधो वर्णानां समुदाय इति । तत्रेति शब्दार्थयोर्मध्यात् । शब्दोऽर्थवान् । साभिधेयोऽनेकविधोऽर्थवानिति स्वरूपविशेषणमात्रम् । यथा । कीदृशः शक्रः । वज्री सहस्राक्ष इति । न तु व्यवच्छेदकम् । काव्यलक्षणाख्यानेनैव निरर्थकस्य निरस्तत्वात् । कीदृशः शब्दः । वर्णानामकारादीनां समुदायः। वर्णानामिति बहुवचनमतन्त्रम् । तेनैकवर्णो द्विवर्णश्च शब्दः सिद्धो भवति । सोऽपि संभवतः कियद्भेद इत्याह—अनेकविधः । तद्यथा । कश्चिद्व्यक्तैकार्थावयवः यथा घट इति । अत्र हि घकारादयो वर्णा व्यक्ताः प्रकटाः संभूय कुम्भाख्यमेकमर्थमाहुः । कश्चिद्व्यक्तपृथगर्थावयवः । यथा एति पचतीति वा । अत्र हि एकारादयो वर्णा व्यक्ताः पृथगर्थाश्च । तथापि हि धातुना क्रियाभिधीयते प्रत्ययेन तु कर्ता । कश्चिदव्यक्तैका-

र्थावयवः। यथा संपदादित्वात्क्विपि कृते 'अवनं ऊः' इति पदम्। अत्र त्वकारवकारौ कृतादेशौ क्षीरनीरवदेकीभूतावबनक्रियामेकमेवार्थमाहतुः। कश्चिदव्यक्तपृथगर्थावयवः। यथा 'ऐः' इति क्रियापदम्। अत्र हि आकारैकारौ पूर्ववदेकीभूतौ सकारश्च कृतादेशत्वादव्यक्तीभूतः पृथगर्थश्च। यत ऐकार आगतिंक्रियामाह, सकारो युष्मदर्थं कर्तारमेकत्वं चेति चतुर्भेदत्वादनेकविधत्वम्। यदि वा द्रव्यजातिक्रियागुणवाचित्वेन चातुर्विध्यम्। अन्ये तु वक्ष्यमाणवक्रोक्त्याद्यलंकारभेदेन शब्दस्यानेकविधत्वमाहुः। यदि पुनः पञ्चधेत्युत्तरपदापेक्षयानेकविधत्वमुच्यते तदा पञ्चधेत्यनर्थकं स्यात्। अनेनैवोक्तार्थत्वादिति। तं चैवंरूपं शब्दं केचित्पाणिन्यादयः सुप्तिङन्तरूपतया द्विभेदमाहुः केचिच्चतुर्धेति। तद्द्वयं निरसितुमाह—स च भिन्नः पञ्चधा भवतीति। स चेति चकारः पुनरर्थे ततश्चायमर्थः। स पुनर्वर्णसमुदायात्मकः शब्दो भिन्नो भेदेन व्यवस्थापितः सन्पञ्चधा भवति। ते पुनः प्रकारा नामाख्यातनिपातोपसर्गकर्मप्रवचनीयलक्षणाः पुरो भङ्ग्यन्तरेण वक्ष्यन्ते॥

नन्विति। ननु शब्द पूर्वपक्ष का उपस्थान करता है। जैसे 'क्या तुम चटाई बनाओगे? हाँ बनाऊँगा। (यहाँ ननु पद पूर्व पक्ष के उत्तर के लिये प्रयुक्त हुआ है)। शब्द और अर्थ—ये दोनों काव्य कहे जाते हैं। कवि का कर्म अथवा अभिप्राय (काव्य) शब्द का अर्थ है। काव्य के लिये उपयोगी शब्द और अर्थ दोनों में से किसी एक के व्यभिचार होने के कारण किसी एक का उपादान करने पर दूसरे की भी सत्ता अनिवार्य होने के कारण कवि के काव्य के लिये शब्द के साथ अर्थ का भी कथन दोनों की प्रधानता सूचित करने के लिये किया गया है। यदि दोनों की प्रधानता न होती तो (शब्द और अर्थ) दोनों में से किसी एक का ही उपादान कर लेने पर दूसरे के अलङ्कार से शून्य दोष से युक्त होने पर काव्य सुकाव्य हो जाता (परन्तु ऐसा नहीं है)। यदि दोनों का उपादान न करते तो शब्द और अर्थ दोनों ही समान रूप से काव्य के निर्धारक न स्वीकृत हो सकते। ये दोनों (शब्द और अर्थ) मिलकर ही काव्य है—यह तात्पर्य है। 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह तो (लक्षण) में कह दिया गया अब शब्द क्या है इसे बताते हैं—उनमें वर्णों का समुदाय रूप शब्द अर्थवान् और अनेक प्रकार का होता है। 'तत्र' का अर्थ है शब्द और अर्थ में। शब्द अर्थवान् (होता है)। अभिधेय से युक्त होना, अनेक भेदों वाला होना तथा अर्थवान् होना—ये स्वरूपोपपादक विशेषण मात्र हैं जैसे किस प्रकार का शक्र 'वज्र' है (जिसके हाथ में) (तथा) हजार नेत्र हैं जिसके (यहाँ विशेषण वस्तु—स्वरूप के प्रतिपादक हैं) व्यवच्छेदक नहीं। क्यों कि काव्य-स्वरूप के कथन से

ही निःसारवस्तु का परिहार हो जाता है। वर्णों का अकार आदि का समुदाय। 'वर्णानाम्' में बहुवचन का नियम शिथिल है (अर्थात् शब्द एक वर्ण और दो वर्णों का भी हो सकता है)। पुनः उस संभव शब्द के कितने भेद होते हैं—इसे बताते हैं--कोई शब्द व्यक्तैकार्थावयव होता है; जैसे घट। यहाँ घकार आदि वर्ण प्रकट होकर घटरूप एक अर्थ का अभिधान करते हैं। कोई शब्द व्यक्त-पृथगर्थावयव होता है; जैसे 'एति' अथवा 'पचति'। यहाँ एकार आदि वर्ण व्यक्त हैं और अर्थ भिन्न-भिन्न है। फिर भी धातु से क्रिया का अभिधान होता है और प्रत्यय से कर्ता का। कोई शब्द व्यक्तैकार्थावयव होता है; कोई शब्द व्यक्त-पृथगर्थावयय होता है; जैसे, 'ऐः' यह क्रिया पद। यहाँ आकार और ऐकार पहले की ही भाँति एक हो गये और सकार का आदेश क्योंकि ऐकार आगति-क्रिया का अभिधान करता है और सकार युष्मदर्थक कर्ता के एकत्व का। (शब्द) के चार भेद होने के कारण (उसका) अनेकविधत्व सिद्ध है। अथवा द्रव्य, जाति, क्रिया और गुण के भेद से (शब्द) चार प्रकार का होता है। कुछ लोग आगे कहे जाने वाले वक्रोक्ति आदि अलंकारों के भेद से शब्द को अनेक प्रकार का बताते हैं, और यदि (कारिका के) उत्तरार्ध में प्रयुक्त 'पञ्चधा' के कारण (शब्द का) अनेकविधत्व माना जाय तो पञ्चधा का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। क्यों कि 'पञ्चधा' पद से ही (शब्द का पञ्चविधत्व) उक्त है। इस प्रकार के शब्द को पाणिनि आदि कुछ लोग सुबन्त और तिङन्त के भेद से शब्द को दो प्रकार का मानते हैं और (पतञ्जलि आदि) कुछ लोग (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के भेद से) चार प्रकार का मानते हैं। उक्त दोनों ही मतों का खण्डन करने के लिये कहते हैं--भेद से स्थिर करने पर वह (शब्द) पाँच प्रकार का होता है। (कारिका में) 'स च' के साथ प्रयुक्त चकार 'पुनः' के अर्थ में आया है। तब यह अर्थ होगा—वह पुनः वर्णसमुदायात्मक शब्दभेद से व्यवस्थापित करने पर पाँच प्रकार का होता है। वे भेद आगे—नाम, आख्यात (क्रिया), निपात, उपसर्ग कर्मप्रवचनीय भेद से भङ्ग्यन्तर से पाँच प्रकार के बताये जाँयगे।

अथ ये चतुर्धेत्याहुस्तेषामव्याप्तिदोषं प्रचिकटयिषुराह--

नामाख्यातनिपाता उपसर्गाश्चेति संमतं येषाम्।
तत्रोक्ता न भवेयुस्तैः कर्मप्रवचनीयास्तु ॥ २ ॥

अब शब्द के चार भेद मानने वालों के पक्ष में अव्याप्ति दोष दिखाते हुये कहते हैं—

नाम, आख्यात (क्रिया), निपात और उपसर्ग—ऐसा जिनका स्थिर मत है उसमें उन लोगों ने कर्मप्रवचनीय शब्दों की गणना ही नहीं करायी ॥ २ ॥

नामेति। वस्तुवाचि पदं नाम। क्रियाप्रधानं तिङन्तमाख्यातम्। नामाख्यातयोः समुच्चयाद्यर्थप्रख्यातिनिमित्तं निपाताः। क्रियाविशेषप्रतिनिबन्धनमुपसर्गाः। चशब्द एवार्थे। इति परिसमाप्तौ। एत एव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ् मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये तैर्मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः। तुरवधारणे भिन्नक्रमः। सप्तमीसंभावने नैव संगृहिता भवन्तीति संभावयामि। यतस्तैरुपसर्गेष्वन्तर्भावः कृतः स चायुक्तः। विद्यते ह्युपसर्गेभ्यो नामादीनामिव कर्मप्रवचनीयानामपि पृथग्व्यापारभेदः। तथाहि—'वृक्षमभिविद्योतते विद्युत्' इति विद्युद्वृक्षयोर्लक्ष्यलक्षणसंबन्धोऽभिना द्योत्यते। उपसर्गेण तु क्रियाविशेषार्थाभिव्यक्तिरेव क्रियते। तथा कार्यभेदोऽपि तेषां दृश्यते। यथा षत्वणत्वादिकार्यस्योपसर्गा एव निमित्तम्। द्विर्वचनादिकस्य तु कर्मप्रवचनीया एवेति। तथा प्रयोगोऽप्युपसर्गाणां नियत एव प्राग्धातोः, न तु कर्मप्रवचनीयानामिति कथमिवोपसर्गेष्वेषामन्तर्भावः। नन्वव्ययानि स्वरादीनि भेदान्तरं विद्यत इति कथं षोढा न स्यादित्ययुक्तम्। स्वरादीनां स्वर्गादिमत्त्वभूतार्थवाचकत्वेन नामस्वेवान्तर्भावात्। यदि वा नैरुक्तानामव्ययानि निपात एवेति निपातग्रहणेन तेषां संग्रहः। गतयोऽप्युपसर्गा एवेति पञ्चधा शब्द इति स्थितम्॥

नामेति। वस्तु के वाचक पद को नाम कहते हैं, क्रिया-प्रधान तिङन्त को आख्यात तथा नाम और आख्यात में समुच्चय आदि अर्थों के द्योतक कारणों को निपात कहते हैं। क्रिया के अर्थ में वैशिष्ट्य लाने वाले हेतु उपसर्ग कहे जाते हैं। (कारिका में) 'च' शब्द 'एव' के अर्थ में आया है 'इति' परिसमाप्ति के अर्थ में। शब्द के उक्त चार भेद ही बताने वाले मेधावि रुद्र आदि ने उन (नाम आदि) में कर्मप्रवचनीय (शब्दों की) गणना ही नहीं की। 'तु' अवधारण अर्थ में भिन्न क्रम से आया है (तथा) 'तत्र' में सप्तमी का प्रयोग संभावन अर्थ में किया गया है। (उन नाम आदि में) कर्मप्रवचनीय का ग्रहण नहीं होता ऐसी संभावना करता हूँ। क्योंकि उन्होंने (कर्मप्रवचनीय को) उपसर्ग में अन्तर्भावित करके ठीक नहीं किया। क्योंकि वृक्ष पर विजली चमकती है, विजली और वृक्ष में लक्ष्य-लक्षण संबन्ध 'अभि' से द्योतित किया गया है; उपसर्ग से तो क्रिया के अर्थ में ही वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया जाता है। इसके अतिरिक्त (कर्मप्रवचनीय और उपसर्ग) शब्दों के कार्य में भी भेद है। क्योंकि 'षत्व' 'णत्व' आदि कार्यों के उपसर्ग ही निमित्त होते हैं; द्विवचन आदि के निमित्त कर्मप्रवचनीय ही होते हैं (उपसर्ग

नहीं)। इसके अतिरिक्त भी उपसर्गों का प्रयोग धातु के पूर्व निश्चित है कर्मप्रवचनीय का नहीं। फिर कर्मप्रवचनीय का उपसर्ग में कैसे अन्तर्भाव हो सकता है? अव्यय और स्वः आदि अन्य भेद भी पाये ही जाते हैं, फिर शब्द को छ प्रकार का क्यों नहीं मान सकते—इसका उत्तर देते हैं। 'स्वः' आदि का स्वर्ग रूप अर्थ विशिष्ट के वाचक होने के कारण नाम में ही (उनका) अन्तर्भाव हो जायगा। अथवा निरुक्तकारों का अव्यय निपात ही है अतएव निपात का कथन कर देने से अव्यय का भी उसमें समाहार हो गया। गति भी उपसर्ग ही हैं—इस प्रकार शब्द का पञ्चविधत्व निश्चित हो गया।।

ननु तथाप्युपगुराजपुरुषादयः शब्द-समुदाया व्यतिरिक्ता विद्यन्त इति कथमुक्तं पञ्चधेत्याशङ्क्याह—

नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन ।
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः ॥ ३ ॥

'उपगु' 'राजपुरुष' आदि शब्द-समुदाय पृथक् ही हैं—फिर शब्द को पाँच ही प्रकार का क्यों कहा—इस शङ्का का उत्तर देते हैं—

नामों की वृत्ति समस्त और असमस्त भेद से दो प्रकार की होती है। समास से युक्त वृत्ति की तीन रीतियाँ होती हैं ॥ ३ ॥

नाम्नामिति। नाम्नां वृत्तिर्वर्तनं द्वेधा, समासवत्यसमावती चेति। तयोरपि प्रकारविशेषमाह—तत्र तयोर्वृत्त्योर्मध्यात्समासवत्या वृत्तेस्तिस्रो रीतयो भवन्ति। रीतिर्भङ्गिर्विच्छित्तिरिति पर्यायाः ॥

नाम्नामिति। नामों की वृत्ति (वर्तन) दो प्रकार की होती है—समासवती और असमासवती। उनमें भी विशेष भेद बताते हैं—उन दोनों वृत्तियों में से समासवती वृत्ति की तीन रीतियाँ होती हैं। रीति, भङ्गि, विच्छित्ति आदि पर्याय हैं।

कास्ता इत्याह—

पाञ्चाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः ।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र ॥ ४ ॥

वे कौन-सी हैं—इसे बताते हैं—

पाञ्चाली, लाटीया और गौडीया—इस नाम से कही गयी हैं। स्वल्प, मध्यम और समासभूयत्व (उनकी) रचना में भेदक तत्त्व हैं ॥ ४ ॥

पाञ्चालीति। चः समुच्चये। इति समाप्तौ। एतास्तिस्र एवेत्यर्थः। नामत इत्यनेन नाममात्रमेतदिति कथयति। न पुनः पञ्चालेषु भवा इत्यादि व्युत्पत्तितः। अतिप्रसङ्गात्। तर्हि केन विशेषेण तिस्र इत्याह—

लघुमध्येत्यादि। लघु मध्यमायतं च विरचनं यस्य समासस्य तद्भेदात्। तत्रेत्युत्तरत्र योज्यते॥

पाञ्चालीति। 'च' समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है और इति समाप्ति अर्थ में। ये (रीतियाँ) तीन ही हैं—यह अर्थ है। 'नामतः' पद का तात्पर्य है कि यह उनका नाममात्र बताया जा रहा है। 'पञ्चालेषु भवा' इत्यादि व्युत्पत्ति से (तत्र भवः। ४।३।५३) से नहीं। क्योंकि (ऐसा करने पर) अतिप्रसङ्ग आ जायगा। तो फिर किस वैशिष्ट्य को दृष्टि में रखकर तीन ही कहा—लघु, मध्य (समास) इत्यादि की दृष्टि से। स्वल्प, मध्यम और अत्यधिक रचना है समास की जहाँ इस भेद से। (कारिका में आये हुए) 'तत्र' का अन्वय पञ्चम कारिका के साथ होगा।

अनियमे प्राप्ते नियमार्थमाह—

द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया॥ ५॥

(स्वल्प आदि ये) नियम न होने के कारण नियम बताते हैं—पाञ्चाली में दो या तीन पद समस्त होते हैं; लाटीया में पाँच या सात तथा गौडीया में (कवि) अपनी शक्ति भर पदों को समस्त करता है॥ ५॥

द्वित्रिपदेति द्वे त्रीणि वा यस्यां पदानि। द्वित्रिग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वाच्चत्वारि वा समासवन्ति यस्यां सा पाञ्चाली रीतिर्भवति। यस्यां तु द्वितयादारभ्य पञ्च सप्त वा यावत्सा लाटीया। पञ्च सप्त वेति मतद्वयं तदुभयं संगृहीतम् यस्यां तु समासवन्तः शब्दा अष्टभ्य आरभ्य यथाशक्ति भवन्ति। यावतः कर्तुं शक्नोति तावन्त इत्यर्थः। सा गौडीया॥

द्वित्रिपदेति। जिसमें दो या तीन पद होते हैं। द्वि का ग्रहण उपलक्षण अर्थ में प्रयोग, जिसमें चार तक पद समस्त हों उसे पाञ्चाली रीति कहते हैं, यह तात्पर्य है।

जिसमें दो से लेकर पाँच या सात तक पद होते हैं उसे लाटीया (कहते हैं)। पाँच या सात यहाँ दोनों ही अभिमत हैं। जहाँ आठ से लेकर यथा शक्ति शब्द समस्त होते हैं एवं जहाँ तक (कवि) कर सकता है वहाँ तक करता है, उसे गौडीया कहते हैं।

नन्वाख्यातेऽपि पचति प्रपचतीति वृत्तिद्वैविध्यं कथं न स्यादित्यत आह—

आख्यातान्युपसर्गैः संसृज्यन्ते कदाचिदर्थाय ।
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव ॥ ६ ॥

'पचति' और 'प्रपचति' के प्रयोग से आख्यात में भी दो प्रकार की वृत्ति क्यों नहीं होगी—इस (शङ्का) का उत्तर देते हैं—

कभी कभी आख्यात उपसर्ग के साथ अर्थ के लिये (किसी विशेष प्रयोजन के लिये नहीं) जोड़ दिये जाते हैं (न कि समस्त किये जाते हैं) असमासा वृत्ति की वैदर्भी ही एकमात्र रीति होती है ॥ ६ ॥

आख्यातानीति । आख्यातानि तिङन्तक्रियापदान्युपसर्गैः सार्धं संसृज्यन्ते, न तु समस्यन्ते । सुप्सुपेत्यधिकारात् । किं नित्यमेव । न । कदाचित्कचिदपि । किमर्थमित्याह—अर्थाय । यत उक्तम्—'धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते । तमेव विशिनष्टयन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥' तत्र बाधते यथा—प्रहरति प्रतिष्ठते इत्यादि । अनुवर्तते यथा—प्रहन्ति अभिहन्ति विशिनष्टि यथा—प्रपचतीत्यादि । इदानीमसमासाया वृत्ते रीतिमाह—वृत्तेरसमासायाः समासरहितपदवृत्तेर्वैदर्भी नाम रीतिरेकैव । एताश्च रीतयो नालंकाराः, किं तर्हि शब्दाश्रया गुणा इति ॥

आख्यातानीति । आख्यात (अर्थात्) तिङन्त क्रियापद उपसर्गों के साथ जोड़ दिये जाते हैं न कि समस्त किये जाते हैं । 'सुप्सुपा' इस अधिकार सूत्र से । क्या नित्य (ही जोड़े जाते हैं ? नहीं । कभी-कभी । क्यों जोड़े जाते हैं) ? अर्थ देने के लिये, कहा भी गया है—कोई (उपसर्ग) तो धात्वर्थ को बाधित कर देता है । कोई उसी का अनुसरण करता है, कोई उसी (धात्वर्थ) को विशिष्ट बनाता है—इस प्रकार उपसर्ग तीन प्रकार का कार्य करते हैं । जैसे, 'प्रहरति' 'प्रतिष्ठते' में 'हृ' तथा 'स्था' धातु के उपसर्ग के प्रयोग से अर्थ बाधित हो गये हैं । 'प्रहन्ति' और 'अभिहन्ति' के उपसर्ग धात्वर्थ का ही अनुगमन कर रहा है तथा प्रपचति में उपसर्ग धात्वर्थ को विशिष्ट बना रहा है । अब असमासा वृत्ति की रीति बनाते हैं—असमासा समासरहित पदों वाली वृत्ति की वैदर्भी नाम की एक ही रीति होती है । ये रीतियाँ अलङ्कार नहीं हैं । फिर क्या हैं ? शब्द है आश्रय जिनका ऐसी गुण ॥

पञ्चविधस्यापि शब्दस्य यत्रोपयोगस्तस्येदानीं वाक्यस्य लक्षणं कर्तुमाह—

वाक्यं तत्राभिमतं परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनाम् ।
समुदायः शब्दानामेकपराणामनाकाङ्क्षः ॥ ७ ॥

जिस काव्य में पञ्चविध शब्द का उपयोग होता है उसका इस समय लक्षण करते हुये कहते हैं—

'उन पाँच प्रकार के शब्दों में परस्पर अपेक्षित व्यापार वाले एक वस्तु को सिद्ध करने के लिये उद्यत अनाकाङ्क्ष शब्दों का समुदाय वाक्य कहा जाता है ॥ ७ ॥

वाक्यमिति । तत्रेति पञ्चविधशब्दमध्यादन्यतरद्द्वित्रादिभेदानां समुदायो वाक्यम् । नतु नामादीनां पञ्चानामेव युगपत्सद्भावे । कीदृशां शब्दानाम् । परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनां अन्योन्यं साकाङ्क्षव्यापाराणाम् । न त्वेवंविधानां यथा—'आषाढी कार्तिकी मासी वचा हिङ्गु हरीतकी । पश्यतैतन्महच्चित्रमायुर्मर्माणि कृन्तति ॥' तथा एकपराणाम् । एकं वस्तु साधयितुमुद्यतानामित्यर्थः । तथा अनाकाङ्क्षः । साकाङ्क्षश्चेन्न भवति यस्मादाख्यातं विना शब्दसमुदायः साकाङ्क्षो भवति । तमपेक्षत इत्यर्थः ॥

वाक्यमिति । (तत्र) पद का तात्पर्य है कि पञ्चविध शब्दों में से दो प्रकार या तीन प्रकार के शब्दों का समुदाय भी वाक्य हो सकता है, नाम आदि पाँचों प्रकार के शब्दों का ही प्रयोग होने पर नहीं। किस प्रकार के शब्दों का (समुदाय) ? परस्पर अपेक्षित व्यापारवाले एवं एक दूसरे के व्यापार की आकाङ्क्षा रखनेवाले, न कि इस प्रकार के जैसे--"आषाढी आदि पद' (परस्पर एक दूसरे शब्द की आकाङ्क्षा न रखने के कारण वाक्य नहीं हैं)। तथा एकपर शब्दों का अर्थात् एक बात (वस्तु) को सिद्ध करने के लिये उद्यत शब्दों का। इसके अतिरिक्त अनाकाङ्क्ष ही शब्द-समुदाय वाक्य होता है, यदि शब्द-समुदाय साकाङ्क्ष होता है तो वह वाक्य नहीं होगा क्योंकि क्रिया-पद के अभाव में शब्द-समुदाय साकाङ्क्ष होता है (अतएव वह वाक्य नहीं होता)। उस क्रिया पद की उसे अपेक्षा रहती है ॥

अथ वाक्यगुणानाह—

अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम् ।
[1]क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ॥ ८ ॥

अब वाक्य-गुण बताते हैं--

'न्यून, अधिक, अवाचक, अक्रम, अपुष्टार्थ, अपशब्द, दुःश्रवत्वादि दोषों से शून्य (समस्त दोषों के त्याग और गुण के ग्रहण से) परिपूर्ण अर्थ-निर्भर वाक्य का प्रयोग विद्वान् को करना चाहिए ॥ ८ ॥

---

१. 'अक्षूणहेतोरिव पांसुतल्पान्' इति विक्रमाङ्कदेवचरितम् (७।४०) 'अक्षुण्णम्' इति पाठः सम्यग्भाति ।

अन्यूनेति। शब्दाश्च ते चारुपदानि च शोभनपदानि च शब्दचारुपदानि, ऊनानि चाधिकानि, चोनाधिकानि नितरामूनाधिकानि, न्यूनाधिकानि, न तथा अन्यूनाधिकानि,तानि च तानि वाचकानि च, सुक्रमाणि च पुष्टार्थानि च शब्दचारुपदानि यत्र वाक्ये तत्तथाभूतं वाक्यं प्रयुञ्जीतेति संबन्धः। तत्रान्यूनग्रहणाद्यत्र कंचिच्छब्दं विना दुष्टार्थप्रतीतिर्विवक्षितार्थाप्रतिपत्तिरेव वा भवति तन्न्यूनपदं वाक्यं निरस्तम्। यथा—'संपदो जलतरङ्गविलोला यौवनं त्रिचतुराणि दिनानि। शारदाभ्रमिव पेलवमायुः किं धनैः परहितानि कुरुध्वम्॥' अत्र हि धनशब्दादनन्तरं यावत्कार्यशब्दो न प्रयुक्तस्तावत् 'धनैः किमिति परहितानि कुरुध्वम्'। मा कुरुत इति दुष्टोऽर्थः प्रतीयते। विवक्षितार्थाप्रतीतिर्यथा—'सीसपडिच्छियगंगं पणमिय संझं नमह नाहं'। अत्र 'संझं' शब्दादनन्तरं 'ततः' शब्दमन्तरेण न ज्ञायते किं 'प्रणम्य संध्यां ततो नाथं नमत,' आहोस्वित् 'प्रणतसंध्यं नाथं नमत' इति। निशब्दग्रहणाद्यत्र विनापि पदमसाधारणविशेषणोपादानात्तदनुरूपकारकप्रयोगाद्वा। विवक्षितपदार्थप्रतीतिस्तदूनमात्रं साध्वेव। यथा—'स वः पायात्कला चान्द्री यस्य मूर्ध्नि विराजते। गौरीनखाग्रधारेव भग्नरूढा कचग्रहे॥' अत्र ह्यसाधारणविशेषणैः शंभुरित्यनुक्तमपि लभ्यते। अनुरूपकारकप्रयोगात्पदार्थप्रतीतिर्यथा—'यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा। यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः॥' अत्र च्छेदसेकालंकारा अनुक्ता अपि परश्वाद्युपादानात्प्रतीयन्ते। नहि तेषां च्छेदादेरन्यो व्यापार इति। अधिकग्रहणाद्यत्र शब्दान्तरेणोक्तेऽप्यर्थे पुनस्तदर्थपदं प्रयुज्यते तन्निरस्तम्। यथा—'स्फारध्वानाम्बुदालीवलयपरिकरालोकनं प्रेमदाम्नोः' इत्यत्रालीशब्देन मेघानां बाहुल्यं प्रतिपादितमिति तदर्थौ वलयपरिकरशब्दौ निष्प्रयोजनाविति। निग्रहणादधिकमात्रं साध्वेव। यथा—'नादेन यस्य सुरशत्रुविलासिनीनां काञ्चयो भवन्ति शिथिला जघनस्थलेषु'। अत्र हि काञ्चयस्तत्स्थानत्वादेव जघनस्थले लब्धे तदुपादानमधिकमात्रमिति। वाचकग्रहणमवाचकनिवृत्त्यर्थम्। यथा—'लावण्यसिन्धुरपरेव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते। उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥' अत्र शशिशब्देन मुखम्, उत्पलशब्देन नेत्रे द्विरदकुम्भाभ्यां स्तनौ, कदलिकाण्डशब्देनोरू, मृणालदण्डशब्देन बाहू कवेर्विवक्षितौ। न च शब्दास्तथा वाचकाः, न च मुखादिषु शशिप्रभृतीनि पदानि यौगिकानि रूढानि वेत्यवाचकान्येव। उपमेयपदाप्रयोगाच्च रूपकभ्रान्तिरपि

नास्ति। तथा दशरथ इति वक्तव्ये पङ्क्तिरथशब्दोऽप्यवाचकः संज्ञाशब्दत्वात्तस्य। न च दशसंख्यार्थो वा घटते। येन यौगिकरूढपदं स्यात्। तथा आम्रदेवादिषु चूतामरादयः शब्दा अवाचका इति। सुक्रमग्रहणं दुष्टक्रमनिवृत्त्यर्थम्। यथा—'वदन्त्यपर्णामिति तां पुराविदः' इत्यत्र हि इतिशब्देन पुराविदां संबन्धः, न त्वपर्णायाः। अपर्णायास्तु संबन्धे द्वितीया न स्यात्। यथा—'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः' इत्यादौ हि वस्तुस्वरूपमात्रमवस्थापयतीति। लिङ्गार्थमात्रे प्रथमैव न्याय्या न द्वितीया। क्वापि च शब्दमात्रप्रतिपादनेन प्रथमापि न भवति यथा—'गवित्ययमाह' इति।

अन्यूनेति। वे (पूर्वोक्त, पञ्चविध) शब्द (किस प्रकार के होंगे) चारुपद अर्थात् सुन्दरपद; शब्दों का सुन्दर पद, ऊन अर्थात् न्यून और अधिक, 'नि' का अर्थ अत्यधिक है। अर्थात् वाक्य में 'न्यूनाधिक, वाचक, सुन्दरक्रम वाले, पुष्ट अर्थवाले शब्दों के सुन्दर पदों को प्रयोग करना चाहिये। 'अन्यूनाधिक' में 'अ' का अर्थ है कि न्यूनाधिक पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जहाँ किसी शब्द के विना या अभाव में अर्थ सदोष हो अथवा अभीष्ट अर्थ में आपत्ति होती है वह न्यून-पद वाक्य काव्य में नहीं प्रयोग किया जा सकता—यह (कारिका) में 'अन्यून' पद का अभिप्राय है। जैसे, 'संपत्तियाँ जल की तरङ्ग के समान चञ्चल होती हैं और यौवन तीन-चार दिन का होता है; शरत्काल के मेघके समान आयु कोमल होती है, धन से क्या—परोपकार करना चाहिये।' यहाँ धन के बाद जब 'कार्य' पद का प्रयोग नहीं किया गया तब तक धनैः किमिति परहितानि कुरुध्वम्' कह दिया गया। (जिससे) (परहित) मत करो-इस दुष्ट अर्थ की प्रतीति होने लगती है। विवक्षित अर्थ की अप्रतीति का उदाहरण देते हैं—यहाँ 'संझं' शब्द के बाद 'ततः' शब्द के अभाव में यही नहीं ज्ञात होता कि 'संध्या को नमस्कार कर के फिर स्वामी को नमस्कार करें 'अथवा' संध्या को नमस्कार करनेवाले स्वामी को नमस्कार करें। जहाँ पदके अभाव में भी असाधारण विशेषणों के उपादान अथवा अनुरूप कारक के प्रयोग से विवक्षित अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ (वाक्य) ऊनमात्र होने से साधु होता है—यह 'नि' उपसर्ग के ग्रहण का तात्पर्य है; जैसे 'केश पकड़ने के समय टूटी हुई पुनः रूढ हुई गौरी के नख के अग्रभाग की धारा के समान चन्द्रमा की कलाजिसको शिर पर सुशोभित है वह आप सामाजिकों की रक्षा करें॥' यहाँ 'शंभु' अनुक्त होने पर भी असाधारण विशेषणों से प्रतीत हो जाता है। अनुरूपकारक के प्रयोग से पदार्थ की प्रतीति का उदाहरण देते हैं—'जो नीम को

फार्सा से, जो उसे मधु और घृत से और जो उसे गन्धमाल्य से--सबके लिये वह नीम कटु ही होता है।' परशु आदिके उपादान से काटने, सींचने और अलंकृत करने की क्रिया का बोध हो जाता है। क्यों कि (परशु आदि) कर्तन आदि के अलावा कोई भी व्यापार नहीं है। अधिक के ग्रहण से 'जहाँ एक अन्य शब्द--अर्थ का कथन कर चुका है वहीं उस अर्थ के लिये एक और पद का प्रयोग हो रहा है' ऐसे पद का परिहार हो जाता है। जैसे--'स्फारध्वाना-म्बुदाली' आदि में 'आली' शब्द से ही बाहुल्य का कथन हो जाने पर 'वलय' और 'परिकर' पद किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं करते। 'अधिकमात्र'—पद से (वाक्य) दुष्ट नहीं होता यह 'नि' के उपादान का प्रयोजन है; जैसे, 'जिसके नाद से राक्षस-रमणीजनों की कटिसूत्रियाँ जघनस्थलों पर शिथिल हो जाती हैं।' यहाँ काञ्ची से ही उसके स्थान जघनस्थल की प्रतीति हो जाने से (जघन-स्थल पद का) प्रयोग अधिकमात्र है (अत्यधिक नहीं)। अवाचक की निवृत्ति के लिये वाचक का ग्रहण किया गया है; जैसे, 'यह कौन सी लुनाई की दूसरी नदी है जिसमें नील कमल चन्द्र के साथ तैर रहे हैं, जिसमें हाथी के गण्डस्थल की पंक्ति स्नान कर रही है तथा जिसमें दूसरे ही केले के खम्भे एवं मृणाल-दण्ड हैं।' यहाँ शशि शब्द से मुख, उत्पल शब्द से नेत्र, द्विरदकुम्भ से स्तन, कदलिकाण्ड शब्द से जंघायें और मृणाल-दण्ड से कवि को भुजायें विवक्षित हैं। यहाँ शब्द उक्त रीति से (अर्थात्--शशि मुख का) वाचक नहीं हैं और शशि आदि पद मुख आदि अर्थ में यौगिक अथवा रूढ़ भी नहीं है (अत एव) वे अवाचक ही हैं। उपमेय पद का प्रयोग (मुख आदि पदों का उपादान) न होने के कारण रूपक की भ्रान्ति के लिये भी अवसर नहीं है। इसी प्रकार 'दशरथ' कहने के लिए 'पंक्तिरथ' पद अवाचक (दोष से दुष्ट) होगा क्यों कि दशरथ संज्ञा शब्द है (और पंक्ति एवं रथ जातिवाचक शब्द हैं)। न तो दशसंख्या का अर्थ अथवा रथका अर्थ युक्त ही हो सकता है जिससे पंक्तिरथ' शब्द 'दशरथ' शब्द के लिए यौगिकरूढ़ पद हो सके। इसी प्रकार 'आम्रदेव' आदि शब्दों के लिये 'चूतामर' आदि शब्द अवाचक हैं। 'सुक्रम' का ग्रहण दुष्टक्रम का निराकरण करने के लिये किया गया है; जैसे, 'वदन्त्यपर्णा-मिति तां पुराविदः' में इति शब्द का संबन्ध 'पुराविद्' के साथ है, अपर्णा के साथ नहीं। अपर्णा के साथ संबन्ध होने पर 'अपर्णा' पद में द्वितीया विभक्ति न होती; जैसे 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः" इस क्रम से उन्हें नारद हैं ऐसा उन्होंने (कृष्ण ने) जाना, इत्यादि (इति) वस्तु के स्वरूपमात्र को उपस्थित करता है। 'लिङ्गार्थ' मात्र के लिये प्रथमा ही 'प्रातिपदिकार्थ—' (२।३।४६) से उचित है द्वितीया नहीं। कहीं कहीं तो शब्द (प्रातिपदिक) मात्र से प्रति-

पादन हो जाने के कारण प्रथमा भी नहीं होती; जैसे 'गो—यह ऐसा कहता है (न कि गौः)।

पुष्टार्थग्रहणमपुष्टार्थनिवृत्त्यर्थम् एकशब्दप्रतिपाद्यार्थे निरभिप्रायबहुशब्दप्रयोगादपुष्टार्थता जायते। यथा—'पातु वो गिरिजामाता द्वादशार्धार्धलोचनः। यस्य सा गिरिजा माता स च द्वादशलोचनः॥' इत्यत्र न त्रिलोचनशब्दाद्द्वादशार्धार्धलोचन इत्यादिभिः शब्दैरधिकोऽर्थः प्रतिपाद्यत इत्यपुष्टार्थता। शब्दग्रहणमपशब्दनिरासार्थम्। अपशब्दनिरासश्च यद्यपि व्युत्पत्तिद्वारेणैव कृतस्तथापि महाकवीनामप्यपशब्दपातदर्शनात्तन्निरासादरख्यापनाय पुनरभियोगः। तथाहि पाणिनेः पातालविजये महाकाव्ये—'संध्यावधूं गृह्य करेण' इत्यत्र गृह्येति क्त्वो ल्यबादेशः तथा तस्यैव कवेः—'गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः। अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुं करोति॥' इत्यत्र 'पश्यती इदं लुप्त 'न्ती' नकारं पदम्। तथा च भर्तृहरेः—'इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते' इत्यत्रात्मनेपदम्। यथा वा कालिदासस्य—'अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा॥' इत्यत्र हि अनाराध्येति भिन्नकर्तृ पूर्वकाले क्त्वा। यस्मादाराधनस्य राजा कर्ता भवनस्य प्रजेति। यथा च भारवेः—'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।' इत्यात्रात्मनेपदमस्वाङ्गे। एवमन्येषामपि। चारुग्रहणं बर्बर्ष्टीत्यादिदुःश्रवशब्दनिवृत्त्यर्थमिति। यथैवमेवंगुणयुक्ते काव्ये प्रसादगुणयोगात्प्रसाद एव काव्ये गुणः समाश्रितो भवति, न तु गाम्भीर्यमित्याह—क्षोदक्षमं प्रेरणसहं वाक्यं प्रयुञ्जीत। गाम्भीर्ययुतमिति तात्पर्यार्थः। किमेतावद्गुणमेव वाक्यमित्याह—अक्षूणमिति। समस्तदोषत्यागात्समस्तगुणसंग्रहाच्च परिपूर्णम्। एतेन 'असमर्थमप्रतीतं विसंधि' इत्यादि वक्ष्यमाणदोषत्यागाच्च वाक्यस्य प्रयोगार्हत्वमावेदितम्॥

अपुष्टार्थ के निराकरण के लिये पुष्टार्थ का ग्रहण किया गया। एक शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ के लिये बिना किसी प्रयोजन के अनेक शब्दों का प्रयोग करने पर अपुष्टार्थत्व (दोष) होता है। जैसे—'वह गिरिजामाता और बारह के आधे के आधे नेत्र वाले (वह शिव) आप लोगों की रक्षा करे (और) जिसकी वह गिरिजा माता है वह द्वादशलोचन (षडानन) भी (आप लोगों की रक्षा करे)।' यहाँ त्रिलोचन शब्द के स्थान 'द्वादशार्धार्धलोचन' पद से कोई विशिष्ट अर्थ नहीं मिलता अतएव (वह पद) अपुष्टार्थ (दोष से) दुष्ट है। अपशब्द के

निराकरण के लिये शब्द का प्रयोग किया गया है। अपशब्द का निराकरण यद्यपि व्युत्पत्ति से ही किया जा चुका तथापि (व्युत्पन्न) महाकवियों में भी अपशब्द के उपलब्ध होने के कारण उसके निराकरण के लिये सावधान रहने की आवश्यकता को सूचित करने के लिये फिर से कहना पड़ा। उदाहरण के लिये पाणिनि के पाताल विजय (नामक) महाकाव्य में 'संध्यावधू गृह्य-करेण' में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् प्रत्यय करने से गृह्य (अपशब्द) हो गया है। और भी उसी कवि के—'आधी रात बीत जाने पर जब कालमेघ धीरे-धीरे गरजते हैं तो रात चन्द्रबिम्ब को न देखती हुई उसी प्रकार हुँकारी करती है जिस प्रकार बछड़े को न देखने के कारण गाय 'हुँ' 'हुँ' करती है॥ यहाँ पश्यती में नकारका लोप ('शप्श्यनोर्नित्यम्' का उल्लंघन होने से) अपशब्दत्व का हेतु है। इसी प्रकार भर्तृहरि का 'यहाँ बुद्धिमान् लोग ही चौदहों लोकों का भोग करते हैं' यहाँ भुजते में आत्मनेपद का प्रयोग 'भुजोऽनवने' (१।३।६६) के प्रतिकूल है। अथवा जैसे कालिदास का—'जो तुम मेरी सन्तति की पूजा न करके मेरा तिरस्कार कर रहे अत एव तुम्हारे कोई सन्तान न होगी—ऐसा उसने तुम्हें शाप दे दिया।' यहाँ पर 'अनाराध्य' पद में पूर्वकाल के अर्थ में भिन्न कर्ता में 'क्त्वा' प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है। क्यों कि आराधन का कर्ता राजा और 'भवन' का प्रजा है। और जैसे भारवि के गाण्डीवधारी 'अर्जुन ने स्वर्णशिला के समान शिवजी के वक्षस्थल पर (अपनी) दोनों भुजाओं से चोट किया' में आत्मनेपद का प्रयोग अपने अङ्ग से अतिरिक्त के लिये किया गया है। इसी प्रकार और भी उदाहरण खोजे जा सकते हैं। कारिका में 'चारु' पद का ग्रहण बर्बर्ष्टि आदि श्रुतिकटु शब्दों के निराकरण के लिये किया गया है। चूँकि ऊपर गिनाये गुणों से निर्भर काव्य में प्रसाद मात्र गुण का उसमें समावेश हो सकता है, गाम्भीर्य का नहीं इसलिये कहते हैं क्षोदक्षम (वाक्य) का प्रयोग करना चाहिये। क्षोदक्षम अर्थात् गाम्भीर्य (गुण) से युक्त। (टीका में) प्रेरण सह का तात्पर्य है गाम्भीर्य से युक्त। क्या इन्हीं गुणों से युक्त वाक्य होना चाहिये ? कहते हैं—अक्षूण अर्थात् समस्त दोषों के त्याग और गुणों के सङ्ग्रह से परिपूर्ण (वाक्य होना चाहिये)। इससे—असमर्थ, अप्रतीत, विसंधि आदि आगे कहे जाने वाले दोषों से शून्य होने पर ही वाक्य व्यवहार के योग्य होता है—यह बता दिया गया॥

अथ पूर्वत्रसंगृहीतवाक्यगुणप्रतिपादनार्थमाह—

रचयेत्तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम्।
सत्यपि सकलयथोदितपदगुणसाम्येऽभिधानेषु॥ ९॥

अत्र उक्त कारिका में अप्रतिपादित वाक्य-गुणों का विवेचन करते हुये कहते हैं—

'अर्थों में पूर्वोक्त सकल गुणों के समान होने पर भी कवि को उसी शब्द का उपादान करना चाहिये जिससे प्रबन्ध के सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है ॥९॥

रचयेदिति। तमेव शब्दं विरचयेत्। सकलैर्यथोदितैर्यथाभिहितैः पदगुणैरन्यूनादिकैः साम्ये समानत्वे सत्यपि विद्यमानेऽप्यभिधानेषु। नामसु मध्ये रचनायाः शब्दसंदर्भरूपायाश्चारुत्वं सौन्दर्यं करोति॥

रचयेदिति। (काव्य में) उसी शब्द का ग्रहण करना चाहिये जो उक्त (कारिका) में गिनाये गये अन्यून आदि गुणों के अर्थों में समान होने पर भी (रचना-सौन्दर्य में वृद्धि करे)। नाम (आदि) में से जो शब्दसंदर्भ रूप रचना के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं॥

किमिति चारुत्वापादकं शब्दं रचयेदित्याह—

रचनाचारुत्वे खलु शब्दगुणः संनिवेशचारुत्वम्।
तर्वाल्युर्वेवर्षे तरुपङ्क्तिरसंकटैव मुने॥ १०॥

सौन्दर्य-वर्धक ही शब्दों का ग्रहण क्यों करना चाहिये-इसे कहते हैं—। रचना की सुन्दरता में (पदों के) संनिवेश की सुन्दरता ही शब्द गुण होती है। 'तर्वाल्युर्वेवर्षे' (अचारुत्व का उदाहरण है) (और) 'तरुपंक्तिरसंकटैव मुने' (चारुत्वका) ॥ १०॥

रचनेति। खलुर्यस्मादर्थे। यतो रचनाचारुत्वे गुम्फसौन्दर्ये सति संनिवेशः शब्दानां संहिताख्यं नैरन्तर्योच्चारणं तस्य चारुत्वलक्षणो यः शब्दगुणः स भवतीति। तत्रोदाहरणं यथा—तरूणामाली पङ्क्तिरुर्व्येव महत्येव हे ऋषे मुने। एतदचारुरचनं वाक्यम्। एतत्समानार्थं चारुरचनं त्विदम्। यथा—तरुपङ्क्तिरसंकटैव मुने। अत एवंविधमेव वाक्यं प्रयोज्यम्, न त्वाद्यसममिति॥

रचनेति। खलु का प्रयोग कारण के अर्थ में हुआ है। क्यों कि रचना के चारुत्व अर्थात् बन्ध के सौन्दर्य के होने पर अविरत उच्चारण के स्वरूपवाले चारुत्व रूप, शब्दों की संहति का, गुण की सत्ता होती है। (कारिका में) उसका उदाहरण देते हैं। वृक्षों की पंक्ति 'हे मुने विशाल ही है' इस वाक्य की रचना सुन्दर नहीं है। इसी के समान अर्थवाले वाक्य की सुन्दर रचना यह है—जैसे, 'हे मुने! वृक्ष-पंक्ति सघन ही नहीं है।' अत एव इसी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करना चाहिये, न कि पहले (बताये गये) वाक्यों के समान (वाक्यों का) ॥

वाक्यलक्षणमभिधाय तस्य भेदप्रदर्शनार्थमाह—

वाक्यं भवति द्वेधा गद्यं छन्दोगतं च भूयोऽपि ।
भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति ॥ ११ ॥

वाक्य के लक्षण को बताकर उसके भेद-प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं—वाक्य दो प्रकार का होता है—गद्य और पद्य। भाषा को भेदके कारण मानने पर पुनः इसके छ भेद हो सकते हैं' ॥ ११ ॥

वाक्यमिति। वाक्यं च द्विविधं भवति। कथम्। एकं गद्यमुत्कलम् अन्यच्छन्दोगतं छन्दोनिबद्धम्। भूयस्तथापि भाषाभेदात्षोढा। भेदो वाक्यस्य संभवतीति। षोढेत्यनेन यदुक्तं कैश्चिद्यथा—'प्राकृतं संस्कृतं चैतदपभ्रंश इति त्रिधा' इत्येतन्निरस्तं भवति ॥

वाक्यमिति। और वाक्य दो प्रकार का होता है। कैसे एक गद्य (उत्कल-कला-विहीन) दूसरा छन्दोगत (छन्दोबद्ध)। इसके अतिरिक्त भाषा के भेद से छ प्रकार का (होता है)। भेद वाक्यों का संभव है—यह भाव है। षोढा यह कहने से जैसा किसी ने कहा है 'प्राकृत'संस्कृत और अपभ्रंश—यह तीन प्रकार के (वाक्य होते हैं)'—इसका खण्डन हो जाता है ॥

कास्ता भाषा इत्याह—

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ १२ ॥

वे भाषायें कौन सी हैं—इसे बताते हैं—

'प्राकृत, संस्कृत, मागध; पिशाच और सूरसेनी (ये पाँच) भाषायें हैं; देशभेद से अनेकरूपों वाली छठी भाषा अपभ्रंश है ॥ १२ ॥

प्राकृतेति। सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादि वचनाद्वा प्राक्पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात्संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत्संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात्संस्कृतमुच्यते। तथा प्राकृतभाषैव किंचिद्विशेषलक्षणान्मागधिका भण्यते। तच्चेदं यथा—रसयोर्लशौ मागधिकायाम्। रेफस्य लकारो दन्त्यसकारस्य तालव्यशकारः। यथा—सुरा शुला, सरसी, शलशी इत्यादि। तथा एत्वम-

कारस्य सौ पुंसि । यथा—एसो पुरिसो, एशे पुलिसे इत्यादि । पुंस्येवै-त्वम् । तेन तं शलिलं । तथा अहंवयमोर्हगे आदेशः । यथा—हगे संपत्ते, हगे संपत्ता । तथा जय्ययोर्यकारो भवति । यथा—य्याणदिय्याणवादी जाणइ जाणवदेयस्य च । अवय्यं मय्यं विय्याहले । अवद्यं मद्यं विद्या-धरः । तथा क्षस्य श्कोऽनादौ । यथा—यश्के लश्कसे यक्षो राक्षस इति । अनादावित्येव । क्षयजलधरः खयय्यलहले इति न स्यात् । स्कः प्रेक्षा-चक्ष्योः । प्रेक्षाचक्ष्योर्धात्वोः क्षस्य स्कादेशः । यथा—पेस्कदि आचस्कदि । तथा छस्य श्चो भवति । यथा—पिश्चिले आवण्णश्चले । तथा षशोः संयोगस्थयोस्तालव्यशकारः । यथा—विष्नुः विहस्पदी कास्यगालं । अर्थस्थयोः थस्य स्तादेशः । यथा—एसे अस्ते एषोऽर्थः, समुपस्तिदे समु-पस्थितः । तथा ज्ञण्यन्यव्वीनां ञ्ञो भवति । यथा—ज्ञ । अञ्ञली अञ्जलिः । ण्य । पुञ्ञकम्मे पुण्यकर्मा, पुञ्ञाहं पुण्याहम् । न्यस्य च अभिमञ्ञुः अभि-मन्युः, कञ्ञका कन्यका । व्रजेः कृतादेशस्य वव्वइ वञ्ञइ । तथा तस्य दकारोऽन्ते । यथा—मालेदि होदि य्याणदि इत्यादि । अन्यल्लक्षणं ग्रन्था-न्तराल्लक्ष्याच्च ज्ञेयमिति । तथा प्राकृतमेव किंचिद्विशेषात्पैशाचिकम् । यथा णनोर्नकारः पैशाचिक्याम् । यथा—आगंनूनयनमतीत्यादि । तथा दस्य वा तकारः । यथा—वतनं वदनम् । प्राकृतलक्षणापवादश्चात्र । यथा टस्य न डकारः । यथा—पाटलिपुत्रम् । तथा पस्य न वकारः । यथा—पदीपो, अनेकपो । तथा कगचजतदपयवानामनादौ यथाप्रयोगं लोपः स्वरशेषता च न कर्तव्या । यथा क्रमेण—आकाशं, मिगंको, वचनं, रजतं, वितानं, मदनो, सुपुरिसो, दयालू, लावण्णं । एवं सुको, सुभगो, सूची, गजो, भवति, नदी इत्यादि च । तथा खघथधफभानां हो न भवति । यथा—मुखं मेघो रथो विद्याधरो विफलं सभा इत्यादि । यथा थठयोर्ढोऽपि न भवति । यथा—पथमं, पुथुवी, मठो, कमठो । तथा ज्ञस्य ञ्ञो भवति । यथा—यञ्ञकोसलं राञ्ञा लपितं । तथा हृदये यस्य पः । हितपकं । तथा सर्वत्र तकारो न विक्रियते । एति बिंबमित्या-दिषु । इत्यादयोऽन्येऽपि प्राकृतविहिता व्यञ्जनादेशा न क्रियन्ते ते च बृहत्कथादिलक्ष्यदर्शनाज्ज्ञेया इति । सूरसेन्यपि प्राकृतभाषैव । केवलमयं विशेषः । यथा सूरसेन्यामस्वसंयोगस्यानादौ तस्य दो भवति यथा—तदो, दीसदि, होदि, अन्तरिदमित्यादिषु । अस्वसंयोगस्येति किम् । मत्तो, पसुत्तो । स्वग्रहणात् निच्चिन्दो, अन्देउरमिति स्यादेव । अनादावित्येव तेव तदेत्यादौ न भवति । तथा र्यस्य य्यो भवति । यथा लक्ष्यम्—अय्यउत्त, पय्याकुलीकदह्मि । यथालक्ष्यमित्येव । तेन कज्जपर-

वञ्जकञ्ज इत्यादौ न भवति। इह थध्वमां धो वा भवति। इध, होध, परित्तायध। पक्षे इथ, होह, परित्तायह। तथा पूर्वस्य पुरवो वा। यथा—न कोवि अपुरवो। पक्षे अपुव्वं पदं। तथा कडुय करिय गड्डय गच्छिय इति क्त्वान्तस्यादेशः। तथा एदु भवं, जयदु भवं, तथा आमन्त्रणे भयवं कुसुमाउह इत्यादि। तधा इनः आ वा। यथा—भो कंचुइया। अतश्च। भो वयस्सा, भो वयस्स। तथा इलोप इदानीमि। यथा—किं दाणिं करइस्सं। निलज्जो दाणिं सो जणो। तथा अन्त्यान्मादिहेतोर्णो भवति। यथा—जुतण्णिमं, किण्णिमं, एवण्णेदं। यथाप्रयोगमित्येव। तेन किं एत्थं करइस्सं। तदस्ता भवति। यथा ता जाव पविसामि। तथा एवार्थे य्येव। यथा—मम य्येव एकस्स। हंजे चेट्याह्वाने। हंजे चतुरिए। हीमाणहे निर्वेदविस्मययोर्निपातः। यथा—हीमाणहे पलिस्संता हगे एदिणा निर्यविहिणो दुव्विलसिदेण। हीमाणहे जीवंतवच्छा मे जनणो। णं निपातो नन्वर्थे। यथा—णं भणामि। अम्महे हर्षे निपातः। हीहीभो विदूषकाणां हर्षे। शेषं प्राकृतसमं द्रष्टव्यमिति। तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्कारणात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्। सामान्यं तु किंचिदिदम्। यथा न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य। यथा—प्रखुरश्रायरवव्रेणेत्यादि। तद्वदभूतोऽपि क्वाप्यधो रेफः क्रियते। यथा—व्राचालउत्रचत्रचउक्काखक्रूखीत्यादि। तथोदन्तस्य दकारो भवति। यथा—गोत्रुगंजिद्रुमलिदुचारितु इत्यादि। तथा ऋतः स्थाने ऋकारो वा भवति। यथा—तृणसमुगणिजई। पक्षे तणं इत्यादि लक्ष्यादवसेयम्। व्यत्ययो बहुलं भाषालक्षणस्य। यथा—थह्कारयोः सूरसेन्यां धत्वमुक्तं मागध्यामपि भवति। आभीरीभाषा अपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते। सूरसेन्यामिदानींशब्दे इलोप उक्तः शुद्धप्राकृतेऽपि भवति। तथा कगचजतदपयादीनां पैशाचिक्यां स्वरशेषत्वाभावोऽभिहितः। खघथफभादीनां हत्वाद्यभावश्च सूरसेन्यामपि भवति। इत्याद्यन्यदपि सांकर्यं महाकविलक्ष्यादवसेयमिति। विशेषतस्तु भाषालक्षणं ग्रन्थान्तरादवसेयमिति ॥

प्राकृतेति। सकल लोकों के जीवों का स्वाभाविक वचन व्यापार जिसका व्याकरण आदि के द्वारा संस्कार न किया गया हो, प्रकृति (कहलाता है) (तथा) उससे उत्पन्न अथवा उसी को प्राकृत (कहते हैं)। 'ऋषियों के वचन में ही देवों की अर्धमागधी वाणी सिद्ध है' इत्यादि आप्तवाक्यों के अनुसार

बालक, स्त्री आदि के लिये भली भाँति समझ में आने वाली प्राचीन काल से ही रची गयी सभी भाषाओं की जननी प्राकृत भाषा कही जाती है। वही (प्राकृत), मेघ से गिरा हुआ समान गुण वाला जल जिस प्रकार देश-भेद और संस्कार-भेद से भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार देश-भेद और संस्कार-भेद से उत्तर काल में पनपने वाली संस्कृत आदि बोलियों के भेद को प्राप्त हो गयी। इसीलिये शास्त्रकार ने (कारिका में) प्राकृत का पहले निर्देश किया और संस्कृत आदि का बाद में। पाणिनि आदि के व्याकरण से उपदिष्ट शब्दों का संस्कार होने के कारण (भाषा) संस्कृत कही जाती है। तथा वही प्राकृत भाषा कुछ विशेष लक्षणों के कारण मागधी कही जाती है। वह (विशेष लक्षण) यह है—जैसे, मागधी में र और स के स्थान पर (क्रमशः) ल और श हो जाता है—रेफ का लकार और दन्त्य सकार का तालव्य शकार, जैसे सुरा का शुला, सरसी का शलशी आदि। तथा 'सु' प्रत्यय परे रहने पर पुंल्लिंग में अकार के स्थान पर एकार हो जाता है; जैसे 'एसो पुरिसो' (के लिये) एशे पुलिशे (यह पुरुष)। पुंल्लिंग में ही एकार होता है। अतएव (नपुंसक में) 'तं शलिलं' होगा तथा 'अहम्' और 'वयम्' के स्थान पर 'हगे' आदेश होता है; जैसे, 'हगे संपत्ते' 'हगे संपत्ता' (हम संपत्ति वाले)। तथा जकार और यकार के स्थान पर यकार होता है; जैसे, य्याणदि (जानाति), य्याणवादी (ज्ञानवादी), जाणइ (जानाति) और जाणवदेयस्य, अवय्यं मय्यं विय्याहले (अवद्यं मद्यं विद्याधरः)। तथा क्ष के आदि में न रहने पर (उसके स्थान पर) 'श्क' आदेश होता है; जैसे, यक्ष से यश्के, लश्कसे, राक्षस आदि। 'क्षयजलधरः' से 'खयय्यलहले' (अर्थात् क्ष के यहाँ आदि में न होने से श्क) आदेश नहीं हुआ। स्कः प्रेक्षाचक्ष्योः। 'प्रेक्ष' और 'आचक्षि' धातुओं में 'क्ष' के स्थान पर स्क आदेश होता है, जैसे, पेस्कदि, आचस्कदि आदि। तथा छ के स्थान पर 'श्च' होता है; जैसे, पिश्चिले, आवण्ण-वश्चले (आपन्नछलः)। तथा संयोग में आये हुये षकार और सकार के स्थान पर तालव्य शकार हो जाता है; जैसे, विष्नु विहस्पदीकांस्य (आदि में उच्चारण में)?। अर्थ पद में आये हुये थकार के स्थान पर 'स्त' आदेश होता है। जैसे—एसे अस्ते (एषोऽर्थः), समुपस्तिदे (समुपस्थितः)। तथा 'ज्ञ' 'ण्य' 'न्य' और 'व्वी' के स्थान पर 'ञ' होता है, जैसे ज्ञ—'अञली' (अञ्जलिः), ण्य—'पुञकम्मे' (पुण्यकर्मा) 'पुञाहं' (पुण्याहम्) और न्य का 'अभिमञुः' (अभिमन्युः) 'कञका' (कन्यका)। आदेश किये गये 'व्रजि' के स्थान पर 'वव्वइ' और 'वञइ' होता है। तथा तकार का (पद के) अन्त में दकार होता है, जैसे मालेदि (मारयति) होदि (भवति) य्याणदि (जानाति) आदि। अतिरिक्त लक्षणों को अन्य ग्रन्थों और उदाहरणों से जानना चाहिये। तथा

प्राकृत ही कुछ भेद के कारण पैशाची हो जाती है, जैसे--पैशाची में ण और न के स्थान पर नकार हो जाता है, जैसे--आंगनूनयनम् (अङ्गणोन्नयनम्)। तथा दकार का तकार विकल्प से होता है, जैसे वतनं (वदनम्)। यही प्राकृत-लक्षण का अपवाद है। जैसे--टकार का डकार न होना; जैसे पाटलिपुत्र तथा पकार का बकार न होना; जैसे, पदीपो (प्रदीपः), अनेकपो (अनेकपः आदि)। तथा क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का आदि में प्रयोग न होने पर प्रयोग के अनुसार लोप और स्वरशेषता नहीं करनी चाहिये। जैसे क्रमशः आकाशं, मिगंको, वचनं, रजतं, वितानं, मदनं, सुपुरिसो, दयालु, लावण्णं आदि (प्राकृत-प्रयोगों में क आदि का आदि में न होने के कारण लोप नहीं हुआ)। इसी प्रकार सुको, सुभगो, सूची, गजो और नदी आदि प्रयोग होते हैं। इसके अतिरिक्त ख, घ, थ, ध, फ, भ के स्थान पर 'ह' नहीं होता है; जैसे—मुखं, मेघो, रथो, विद्याधरो, विफलं, सभा आदि (शब्दों में)। इसी प्रकार 'थ' और 'ठ' के स्थान पर ढ नहीं होता है। जैसे--पथमं, पुथुवी, मठो, कमठो आदि (प्राकृत-शब्दों में)। तथा ज्ञ के स्थान पर ञ होता है; जैसे--'यञकोसलं' (यज्ञकोसलम्) राञा लपितं (राज्ञा लपितम्)। तथा हृदय के यकार के स्थान पर पकार होता है; जैसे--हितपकं (हृदयकम्)। तथा तकार सर्वत्र विकृत नहीं होता है। 'एति बिंबम्' इत्यादि प्रयोगों में इत्यादि अन्य भी प्राकृत के द्वारा किये गये व्यञ्जन के आदेश नहीं किये जाते हैं उनका उदाहरण बृहत्कथा आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए। सूरसेनी भी प्राकृत भाषा ही है। उसका वैशिष्ट्य केवल यह है जैसे—सूरसेनी अपने संयुक्त न होने पर तकार के स्थान पर उसके आदि में न आने पर दकार हो जाता है—जैसे तदो (ततः), दीसदि (दृश्यते), होदि (भवति), अन्तरिदं (अन्तरितम्) आदि प्रयोगों में। अपने से असंयुक्त--ऐसा क्यों कहा ? मत्तो, पसुत्तो (आदि उदाहरणों में अपने से संयुक्त होने के कारण दकार नहीं हुआ)। स्वग्रहण करने से 'निच्चिन्द', 'अन्देउरं' आदि शब्दों की सिद्धि हो जाती है। आदि में न रहने पर ही। 'तेव' 'ते एव' (वे ही) (तथा) तदा आदि प्रयोग होते हैं। तथा 'र्य' का 'य्य' हो जाता है। जैसे उदाहरण—अय्यउत्त (आर्यपुत्र), 'पय्याकुली कदह्मि (पर्याकुलीकृतोस्मि)। उदाहरण के अनुसार ही जानना चाहिये अतएव 'कज्जपरवसो' (कार्यपरवशः), 'वज्जकज्ज' (वर्ज्यकार्य) आदि में (य्य) नहीं होता है। सूरसेनी में 'थ' और 'ध्वम्' के स्थान पर ध विकल्प से होता है। (जैसे) इध, होध, परित्तायध। पक्ष में (ध न होने पर) इथ, होह, परित्तायह। तथा पूर्व का पुरव विकल्प से होता है। जैसे—'न कोवि अपुरवो' (न कोऽपि अपूर्वः)। पक्ष में 'अपुव्वं पदं' (अपूर्वं पदम्)। तथा क्त्वान्त के आदेश

कड्डुय, करिय (कृत्वा) गड्डुय गच्छिय (गत्वा) होते हैं। इसी प्रकार 'एदु भवं' (एतु भवान्) 'जयदु भवं' (जयतु भवान्) तथा बुलाने के लिये 'भयवं' (भगवन्) 'कुसुमाउह' (कुसुमायुध) आदि प्रयोग होते हैं। तथा 'इन्' के नकार के स्थान पर 'आ' विकल्प से होता है। जैसे कंचुइआ (कञ्चुकिन्)। अकार के स्थान पर भी (आकार विकल्प से होता है) जैसे 'भो वयस्सा' भो वयस्स (भो वयस्य—मित्र)। तथा 'इदानीं' के इकार का लोप हो जाता है जैसे 'किं दाणिं करइस्सं' (किमिदानीं करिष्ये) अब क्या करूँगा। 'निलज्जो दाणिं सो जनः' (निर्लज्ज इदानीं स जनः—अब वह निर्लज्ज हो गया है)। तथा अन्त्य म का इ परे रहते ण हो जाता है जैसे जुतण्णिमं (युक्तमिदम्) किण्णिमं (किं नु इदम्) एवण्णेदं (एवं नु इदम्) प्रयोग के अनुसार ही। अतएव 'किम् इत्थम् करिष्ये' में वह नहीं लागू हुआ। जै तब तक जब तक प्रवेश करती हूँ। तथा 'एव' के लिये 'य्येव' जैसे 'मम एव एकस्य'। चेटी के बुलाने में हंजे प्रयोग होता है जैसे 'हंजे चतुरिके'। निर्वेद और विस्मय के लिये 'हीमाणहे' निपात प्रयुक्त होता है। जैसे—खेद है कि हम लोग अपने भाग्य के अनाचार से परेशान हैं। हर्ष है मेरी माता जीवित वत्स वाली है। 'णं' निपात 'ननु' के अर्थ में आता है। जैसे, णं (ननु) भणामि (कहता हूँ)। 'अम्महे' हर्ष-सूचक निपात है। 'हीहीभो' विदूषकों के हर्ष के लिये आता है। शेष बातें प्राकृत के समान ही जाननी चाहिए। तथा प्राकृत ही अपभ्रंश है। उसे कुछ लोगों ने उपनागर, आभीर और ग्राम्यत्व भेद से तीन प्रकार का बताया है उसका निराकरण करने के लिये 'भूरिभेद' (अनेक भेदों वाला) कहा गया। क्यों? देशविशेष के कारण। उसका उदाहरण तो लोक से ही भली भाँति जाना जा सकता है। कुछ सामान्य भेद तो यह है—जैसे, अपभ्रंश में नीचे के रेफ का लोप नहीं होता, उदाहरणार्थ—प्रखुर, भ्राय, खभ्रेण आदि। इसी प्रकार कहीं-कहीं न होने वाले भी नीचे के रेफ का विधान होता है, जैसे—व्राचाल, उव्रच, व्रच, उक्राख, क्रूखी आदि। तथा उदन्त के स्थान पर दकार होता है, जैसे—गोत्रुगंजिद्रुमलि दुचारितु आदि। तथा ऋकार के स्थान पर ऋकार विकल्प से होता है—उदाहरणार्थ 'तृणसमुगणिजई'। पक्ष में (तृण के स्थान पर) 'तणं' आदि उदाहरण समझने चाहिये। भाषा के लक्षण में व्यत्यय प्रचुर रूप से मिलता है। उदाहरणार्थ 'थ' और 'ह' के स्थान पर बताया गया सूरसेनी में 'ध' मागधी में भी मिलता है। (यद्यपि) आभीरी भाषा अपभ्रंश से प्रसूत कही गयी है किन्तु कहीं कहीं मागधी से भी मिलती है। सूरसेनी में बताये गये 'इदानीं' शब्द के इकार का लोप शुद्ध-प्राकृत में भी होता है। इसी प्रकार क ग च ज त द प य आदि के लोप एवं स्वर के अवशेष रहने का अभाव

पैशाची में बताया गया। ख, घ, ध, फ, और भ के स्थान पर सूरसेनी में भी हकार नहीं होता है। इस प्रकार भाषा के और भी सांकर्य (मिश्रण) महाकवियों के उदाहरणों से जानना चाहिए। विशेषतः भाषा का स्वरूप अन्य (व्याकरण आदि) ग्रन्थों से जानना चाहिए।

एवं शब्दलक्षणं गुणदोषांश्चाभिधायेदानीं तस्यालंकारान्विवक्षुराह—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ॥ १३ ॥

इस प्रकार शब्द का स्वरूप, उसका गुण और दोष बताकर अब उसके अलङ्कार बताते हैं—

वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा इसके अतिरिक्त चित्र शब्दालङ्कार हैं। श्लेष अर्थालङ्कार भी है वह (शब्दश्लेष से) भिन्न होता है ॥ १३ ॥

वक्रोक्तिरिति। तथाशब्दः समुच्चये। अन्यैरनुक्तं चित्रं शब्दालंकारमध्ये समुच्चीयते। परमुत्कृष्टमपरं वा। अन्यदित्यर्थः। शब्दस्येत्यर्थनिवृत्त्यर्थम्। अतश्च कश्चिदाशङ्कते—शब्दालंकार एवायं श्लेषो न त्वर्थालंकारोऽपीति तं प्रत्याह—श्लेषोऽर्थस्यापीति। किमयमेव श्लेषोऽर्थस्यापि नेत्याह—सोऽन्यस्तु। तुरवधारणे। सोऽन्यादृक्ष एवेत्यर्थः। तेन यदन्यैरभेदेन श्लेषलक्षणमवादि तदयुक्तमित्युक्तम्। नन्वलंकारोऽलंकार्याद्भिन्नो दृष्टः। यथा पुरुषात्कटकादयः। न चैवमत्र भेदमवगच्छाम इति। सत्यम्। विद्यत एव भेदः। यथा—'किं गौरि मां प्रति रुषा' इति शब्दसमुदायोऽलंकार्य एव। तस्य यद्भङ्ग्यन्तरेण व्याख्यानं सोऽलंकारः। अनुप्रासेऽपि प्रथमोक्ता वर्णा आवृत्ताश्चान्योन्यमलंकुर्वते। यथा हि—द्वौ साधू संगतौ परस्परमलंकुर्वाते इति। एवं यमके श्लेषे च द्रष्टव्यम्। चित्रेऽपि स्पष्टो वर्णक्रमोऽलंकार्यो भङ्ग्यन्तरकृतस्त्वलंकार इति ॥

वक्रोक्तिरिति। तथा शब्द समुच्चय अर्थ में आया है। दूसरों के द्वारा अवर्णित चित्र शब्दालंकारों में आता है। 'परम्' का अर्थ है उत्कृष्ट अथवा दूसरा। अर्थात् 'अन्यत्'। अर्थ के निराकरण के लिये 'शब्दस्य' कहा गया। अतएव यदि कोई सन्देह करे—यह श्लेष शब्दालंकार ही है अर्थालंकार नहीं, तो उसे उत्तर देते हैं—अर्थ का भी श्लेष अलंकार होता है। क्या यही श्लेष (जो शब्द का है) अर्थ का भी श्लेष होता है? नहीं। उत्तर देते हैं—वह (अर्थश्लेष) दूसरा ही होता है। 'तु' अवधारण अर्थ में आया है। तात्पर्य यह है कि वह (अर्थश्लेष) दूसरे ही प्रकार का होता है। अतएव जिन्होंने (शब्द और अर्थ दोनों) श्लेष का एक ही लक्षण बताया है वह ठीक ही नहीं है। अलंकार

अलंकार्य से भिन्न देखा गया है। यहाँ ऐसा कोई भेद हमारी समझ में नहीं आता। जैसे पुरुष से कटक में। ठीक है। भेद तो है ही। जैसे 'किं गौरि मां प्रति रुषा' में शब्दसमुदाय अलंकार्य ही है। उसी का जो भङ्गयन्तर से कथन है वही अलङ्कार है। अनुप्रास में भी प्रथम कह दिये गये वर्ण आवृत्त होकर एक दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं। जैसे दो साधु मिलकर एक दूसरे को शोभित करते हैं। इसी प्रकार यमक और श्लेष में भी जानना चाहिए। चित्र में भी स्पष्ट वर्णों का क्रम अलंकार्य होता है और भङ्गयन्तर के द्वारा किया गया अलङ्कार॥

यथोद्देशं निर्देश इति पूर्वं वक्रोक्तिलक्षणमाह—

वक्त्रा तदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः॥ १४॥

उद्देश के ही क्रम से निर्देश भी करना चाहिए, इस नियम के अनुसार सर्वप्रथम वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हैं—

वक्ता के द्वारा भिन्न अर्थ में कही गयी बात की, उत्तर देने वाला पदों को विभक्त कर जहाँ अविवक्षित अर्थ में, व्याख्या करे उसे श्लेष वक्रोक्ति समझना चाहिए॥ १४॥

वक्त्रा प्रतिपादकेन तस्मादुत्तरवचनादन्यथा प्रकारान्तरेणोक्तम्। तदन्यथोक्तं व्याचष्टे वक्ति चान्यथा। तस्योक्तस्योत्तरं ददातीति तदुत्तरदः। यद्वचनं यद्वाक्यम्। कैर्व्याचष्टे पदभङ्गैः। पदखण्डनयेत्यर्थः। सा श्लेषवक्रोक्तिर्ज्ञेया। वक्रोक्तिस्तु द्विविधा, श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च। तल्लक्षणयोश्च वैलक्षण्यान्नैकं लक्षणमस्तीति भेदेनाभिधानमुपपन्नम्॥

उस उत्तरवाक्य से विपरीत बोलने वाले या प्रतिपादन करने वाले के द्वारा कहा गया। उस भिन्न अर्थ में कही गयी बात की भिन्न प्रकार से व्याख्या करता है। उस कथित का जो उत्तर देता है वह है 'उत्तरद'। जो वचन, जो वाक्य। कैसे व्याख्या करता है? (कहते हैं) पदविच्छेद से। पदों को अलग-अलग करके। उसे श्लेष वक्रोक्ति जानना चाहिए। वक्रोक्ति भी दो प्रकार की होती है, श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। उन दोनों के स्वरूप में भेद होने के कारण एक ही लक्षण से काम न चलता अतएव भेदपूर्वक नाम लेना उचित ही है॥

तत्रोदाहरणमाह—

किं गौरि मां प्रति रुषा ननु गौरहं किं
कुप्यामि कां प्रति मयीत्यनुमानतोऽहम्।

जानाम्यतस्त्वमनुमानत एव सत्य-
मित्थं गिरो गिरिभुवः कुटिला जयन्ति ॥ १५ ॥

उनके उदाहरण देते हैं—

हे गौरि (पार्वती), इसके ऊपर क्रोध करने से क्या ? क्या मैं गौ हूँ (उत्तरवाक्य में गौरि पद को खण्ड करके 'गौः इ' अर्थ लिया गया)। मैं किस पर क्रोधित हूँ। मेरे ऊपर ऐसा मैं अनुमान से जानता हूँ। अतएव तुम (पार्वती से नत नहीं हो) अनुमानत हो। यह सही है। पार्वती की इस प्रकार की वक्र उक्तियाँ विजयिनी हों (यह श्लेषवक्रोक्ति का उदाहरण है)॥ १५ ॥

किमिति। इत्थमेवं गिरो वाचो गिरिभुवो गौर्याः कुटिला वक्रा जयन्ति। कथम्। प्रणयकुपितां गौरीं शंभुरनुनयन्नाह—हे गौरि उमे, मां प्रति मामुद्दिश्य किं तव रुषा रोषेण। तत्प्रसीदेत्यर्थः। एतदुत्तरदायिनी सान्यथा पदभङ्गैराह—ननु गौरहं किम्। ननुरक्षमायाम्। किमहं गोस्त्वया कृता यद्गौरित्यामन्त्रयसे। कां च प्रति मया कोपः कृतः यदात्थ किमिमां प्रति रुषेति। पुनः शंभुमाह—अतोऽस्मादनुमानतोऽनुमानाद्वक्रवचनलक्षणान्मयि विषये त्वं कुप्यसीत्यहं जाने। भूयो भवान्याह—त्वमनुमानत एव सत्यम्। न उमा अनुमा तस्या एव नतः। अस्मदनमनं केन तव ज्ञातमित्यर्थः॥

किमिति। इस प्रकार गिरि से उत्पन्न पार्वती की टेढ़ी उक्तियाँ विजयिनी हों। किस प्रकार ? प्रेम में क्रुद्ध हुई गौरी की विनती करते हुए शिवजी कहते हैं—हे उमे ! मेरे ऊपर तुम्हारे क्रोध करने से क्या ? अर्थात् प्रसन्न हो जाओ। इस बात का उत्तर देने वाली वह (पार्वती) भिन्न प्रकार से पदच्छेद करके कहने लगी--क्या मैं (गौः) गौ हूँ। ननु का प्रयोग यहाँ क्षमा न करने के अर्थ में आया है। क्या तुम्हारे द्वारा मैं गाय बना दी गयी जो गौरि कहकर पुकार रहे हो। किसके ऊपर मैंने क्रोध किया जो कह रहे हो कि इसके ऊपर क्रोध करने से क्या। फिर शंकर से कहने लगी--इस अनुमान से मेरे ऊपर क्रोधित है (इसे) मैं जानता हूँ (काव्यमाला में छपे हुये शंभुमाह पाठ का ग्रहण यद्यपि किया गया है किन्तु शंभुराह पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अतएव यहाँ शंकरजी कहने लगे यह अनुवाद करना अधिक उपयुक्त होगा)। पार्वती पुनः बोली—तुम पार्वती से नत नहीं हो, यही सत्य है। जो उमा नहीं है वह हुई अनुमा, जो उससे नमस्कार करे उसे कहेंगे 'अनुमानत'। तुम्हारा हमें न नमस्कार करना किसे ज्ञात है—यह तात्पर्य है॥

इदानीं काकुवक्रोक्तिलक्षणमाह—

विस्पष्टं क्रियमाणादक्लिष्टा स्वरविशेषतो भवति ।
अर्थान्तरप्रतीतिर्यत्रासौ काकुवक्रोक्तिः ॥ १६ ॥

अब काकु वक्रोक्ति का स्वरूप बताते हैं—

स्पष्ट रूप से उच्चारण किये गये स्वर के वैशिष्ट्य के कारण जहाँ दूसरे अर्थ की स्फुट प्रतीति होती है उसे काकुवक्रोक्ति अलंकार कहते हैं ॥ १६ ॥

विस्पष्टमिति । यत्र स्वरविशेषादर्थान्तरप्रतीतिर्भवति । कीदृशात् । विस्पष्टं स्फुटं क्रियमाणादुच्चार्यमाणात् । कीदृशी अर्थान्तरप्रतीतिः । अक्लिष्टा कल्पनारहिता सा काकुवक्रोक्तिः ॥

विस्पष्टमिति । जहाँ स्वर की विलक्षणता के कारण अन्य अर्थ की प्रतीति होती है । कैसे (स्वर से) । जिसका स्पष्ट उच्चारण किया जाये । किस प्रकार के अर्थ की—जो कल्पना से रहित हो (जिसकी झटिति प्रतीति हो) उसे काकुवक्रोक्ति कहते हैं ॥

तत्रोदाहरणम्—

शल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालहलदिग्धम् ।
धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनम् ॥ १७ ॥

उसका उदाहरण देते हैं—

विष से लिपटा हुआ काँटा हृदय में चुभता हुआ भी धीर पुरुषों के लिए सह्य होता है—किन्तु अकारण नाराज हुये दुष्टों की कटु वाणी नहीं ॥ १७ ॥

शल्यमिति । इदमनपराधकुपितखलवचनान्यसहमानं कश्चित्समुद्दीपयन्नाह—आस्तामन्यत् । शल्यमपि काण्डमपि स्खलदन्तर्मध्ये मर्मघट्टनां कुर्वाणं सोढुं क्षन्तुं शक्येत । कीदृशम् । हालहलेन विषेण दिग्धं लिप्तम् । धीरैर्धैर्योपेतैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनमित्येकोऽर्थः । एतदेव वाक्यं काक्का स्वरविशेषेण वदन्समाश्वासयति—यथा अपि शल्यं स्खलदन्तः सोढुं शक्येत धीरैर्न पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनम् । यदि शल्यमपि सोढुं शक्यते तदा दुर्वचनं सुसहमेवेत्यर्थः । पूर्वपक्षे खलदुर्वचनस्य दुःसहतोक्ता, द्वितीये तु सुसहतेति भेदः ॥

शल्यमिति । विना किसी अपराध के ही क्रोधित हुए दुष्ट के वचनों को न सहने वाले को कोई इस छन्द में उत्तेजित कर रहा है—और सब का तो कहना ही क्या । हृदय विदारण करने वाला काँटा भी सहा जा सकता है । कैसा (काँटा) । विष से लिपटा हुआ । किन्तु धैर्यवान् पुरुष बिना किसी

हेतु के क्रुद्ध हुये दुष्टों के दुर्वचन नहीं सह सकते—यह एक अर्थ है। यही वाक्य काकु के कारण इस प्रकार ढाढ़स बँधाता है—जैसे धीर पुरुष हृदय में चुभते हुये काँटे को क्या सह सकते हैं और अहेतुक दुष्टों के कटु वचन नहीं? तात्पर्य है कि यदि काँटा भी सहा जा सकता है तो दुष्टों का वचन तो सरलतापूर्वक सहा जा सकता है। प्रथम अर्थ में दुष्ट-वाक्य की दुःसहता कही गयी है और दूसरे अर्थ में सुसह्यता॥

अथानुप्रासलक्षणमाह—

एकद्वित्रान्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः॥ १८॥

आगे अनुप्रास का लक्षण बताते हैं—

एक, दो या तीन (व्यञ्जनों के) अन्तर पर स्वर के विसदृश होने पर व्यञ्जन की जो असकृत् अथवा निरन्तर आवृत्ति होती है उसे अनुप्रास कहते हैं॥ १८॥

एकेति। यद्व्यञ्जनं बहुशो बहून्वारानावर्त्यते। कीदृशम्। एकद्वित्रान्तरितम्। एकेन द्वित्रैर्वा व्यञ्जनैरन्तरितं व्यवहितम्। किं व्यवहितानुवर्तनमेवानुप्रासो नेत्याह—निरन्तरमथवा। एतेनैकव्यञ्जनश्लोकानामनुप्रासतोक्ता। व्यञ्जनग्रहणं स्वरनिरासार्थम्। ननु स्वरनिरासे कृतेऽनुप्रासस्याभाव एव स्यात्। स्वररहितस्यावृत्तेरनुपलम्भादित्याह—अविवक्षितस्वरम्। अविवक्षिताः स्वरा यत्र तथा। स्वरचिन्ता न क्रियत इत्यर्थः। बहुशोग्रहणादेकावृत्तिमात्रेण नानुप्रासः। किं तर्हि। एकद्वित्रान्तरितमनेकवारानावर्त्यते ततोऽनुप्रास इति॥

एकेति। जहाँ व्यञ्जन की अनेकशः आवृत्ति होती है—कैसी (आवृत्ति)? एक या दो के अन्तर पर अर्थात् एक या दो व्यञ्जनों की दूरी पर। क्या अन्तर देकर ही आवृत्ति होने पर अनुप्रास होगा—कहते हैं नहीं। अथवा निरन्तर (आवृत्ति होने पर भी अनुप्रास होगा)। इससे एक व्यञ्जन के श्लोकों का भी अनुप्रास होना सिद्ध हो गया। स्वर का निराकरण करने के लिये (व्यञ्जन) पद का ग्रहण किया गया। स्वर का निराकरण कर देने पर अनुप्रास का अभाव ही होगा। स्वर से शून्य (वर्ण समुदाय की) आवृत्ति होती ही नहीं—इस शंका का समाधान करने के लिये कहते हैं—स्वर अविवक्षित है। अनुप्रास में स्वर (की आवृत्ति) अविवक्षित है—अर्थात् स्वर (की आवृत्ति) की परवाह नहीं की जाती—यह तात्पर्य है। 'बहुशः' (पद के) उपादान का तात्पर्य है कि एक आवृत्ति होने पर अनुप्रास नहीं होता।

फिर कितनी ? एक, दो चरणों की दूरी पर जब अनेक बार आवृत्ति होगी उसी समय अनुप्रास होगा ॥

सामान्येनानुप्रासलक्षणमभिधायेदानीमस्यैव भेदानाह—

मधुरा प्रौढा परुषा ललिता भद्रेति वृत्तयः पञ्च ।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः ॥ १९ ॥

अनुप्रास का सामान्य लक्षण करके अब उसी के भेद बताते हैं—

वर्णों के अनेक प्रकार होने के कारण अन्वर्थ नाम वाली मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता, और भद्रा—इस अनुप्रास की ये पाँच वृत्तियाँ हैं ॥ १९ ॥

मधुरेति । अस्यानुप्रासस्य पञ्च वृत्तयो भवन्ति । कुतः । वर्णानां व्यञ्जनानां नानात्वात् । व्यञ्जनानामावृत्त्यानुप्रासस्योक्तत्वाद्वर्णानामित्युक्तेऽपि व्यञ्जनानामिति गम्यते । कास्ताः मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता, भद्रा । इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थः । एता एव, न त्वष्टौ तिस्रो वा । तथा ह्यष्टौ हरिणोक्ताः । यथा—'महुरं परुसं कोमलमोजस्सिं निट्ठुरं च ललियं च । गंभीरं सामण्णं च अट्ठभणिति उनायच्चा ॥' अत्रौजस्विनिष्ठुरगम्भीराणां न तथा भेद इत्येकतरोपादानमेव न्याय्यम् । तथा वृत्तीनां मिश्रता सामान्यम् । तच्चानुक्तमपि लभ्यते । इत्येताः पञ्चैव । तथान्यैर्ग्राम्या परुषोपनागरिकेत्युक्तं तत्र त्वसंग्रह एवेति । कीदृश्यस्ताः । यथार्थनामफलाः सान्वयनामिकाः । कुतः । इति हेत्वर्थे । सा च माधुर्यान्मधुरा, प्रौढत्वात्प्रौढा, इत्यादिहेत्वर्थो द्रष्टव्यः ॥

मधुरेति । इस अनुप्रास की पाँच वृत्तियाँ होती हैं । क्यों ? वर्णों की एवं व्यञ्जनों की भिन्नता के कारण । व्यञ्जनों की ही आवृत्ति होने पर अनुप्रास होने का कथन होने के कारण 'वर्ण' कहने से भी 'व्यञ्जन'—यह गम्य होता है । वे (वृत्तियाँ) कौन कौन हैं—(कहते हैं) मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता (और) भद्रा । 'इति' परिसमाप्ति के अर्थ में आया है । ये ही (पाँच) वृत्तियाँ हैं न कि आठ या तीन । आठ वृत्तियों का उदाहरण हरि ने दिया है—जैसे, मधुर, परुष, कोमल, ओजस्वी, निष्ठुर, ललित, गंभीर और सामान्य । इनमें ओजस्वी, निष्ठुर और गंभीर में कोई विशेष भेद नहीं है अतएव (इन में से) एक ही का ग्रहण करना उचित है । तथा वृत्तियों का साङ्कर्य ही सामान्य है और उसका बोध बिना बताये ही हो जाता है । इस प्रकार वृत्तियाँ पाँच ही हैं । तथा कुछ अन्य लोगों ने ग्राम्या, परुषा और उपनागरिका—ये तीन वृत्तियाँ बतायी हैं जिनमें (उक्त वृत्तियों) का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । वे पाँचों वृत्तियाँ कैसी हैं ? यथार्थ नाम के फलों वाली एवं अन्वित नामों

वाली। 'कुतः' पद का उपादान कारण अर्थ में किया गया है। इस प्रकार मधुर होने के कारण मधुरा, प्रौढ होने के कारण प्रौढा आदि नाम हेतु अर्थ में घटित हो जाते हैं॥

इदानीमासां लक्षणमाह। तत्र मधुरायास्तावत्—

निजवर्गान्त्यैर्वर्ग्याः संयुक्ता उपरि सन्ति मधुरायाम्।
तद्युक्तश्च लकारो रणौ च ह्रस्वस्वरान्तरितौ॥ २०॥

अब इन (वृत्तियों) के लक्षण बताते हैं—

उनमें मधुरा का—अपने वर्गान्त्य (ङ आदि) के साथ ऊपर से संयुक्त क आदि, ककार से युक्त लकार और ह्रस्व के अनन्तर रेफ और णकार मधुरा वृत्ति में होते हैं॥ २०॥

निजवर्गान्त्यैरिति। मधुरायां वर्ग्याः कचटतपवर्गवर्णा उपर्युपरिष्टात्संयुक्ताः सहिताः सन्ति विद्यन्ते। कैरित्याह—निजवर्गान्त्यैर्ङञणनमैर्वर्णैः। तथा तद्युक्तस्तेन लकारेण युक्तो लकारः। रणौ च रेफणकारौ च। कीदृशौ। ह्रस्वस्वरेणान्तरितौ व्यवहितौ भवतः। नन्वेकव्यञ्जनावृत्तिरनुप्रासलक्षणमुक्तम्, तत्किमिह बहुवर्णसद्भाव उच्यते। सत्यम्। बहुत्वाद्वर्णानां बहवोऽनुप्रासा अपीति न दोषः। एतेषां च वर्णानां युगपत्प्रयोग एव मधुरा वृत्तिरित्येव न द्रष्टव्यम्। किं तर्हि। तेषां वर्णानां मध्यादन्यतमवर्णैरनुप्रासे मधुरा वृत्तिरिति॥

निजवर्गान्त्यैरिति। मधुरा वृत्ति में वर्ग्य अर्थात् क, च, ट, त तथा प वर्गों के वर्ण ऊपर से संयुक्त होते हैं। किनके साथ (संयुक्त) होते हैं—इसे बताते हैं—अपने वर्गान्त्य अर्थात् ङ, ञ, ण, न और म वर्णों के साथ। तथा लकार से संयुक्त लकार और र और ण अर्थात् रेफ और णकार। किस प्रकार (संयुक्त होते हैं)? ह्रस्व स्वर से अन्तरित अर्थात् उसकी दूरी होने पर। एक व्यञ्जन की ही आवृत्ति अनुप्रास के लक्षण में बतायी गयी है तो फिर यहाँ अनेक वर्णों के सद्भाव बताने की क्या आवश्यकता (इसका समाधान करते हैं)। ठीक है। वर्णों के अनेक होने के कारण अनुप्रास भी अनेक होंगे इसलिये (वर्ण बहुत बताने में) कोई दोष नहीं है। इन वर्णों का एक साथ प्रयोग ही मधुरा वृत्ति है ऐसा नहीं समझना चाहिए। फिर कैसे (मधुरा होगी)। इन वर्णों में से अन्य वर्णों के साथ अनुप्रास होने पर ही मधुरा (वृत्ति) होगी—यह नियम है॥

किमविशेषेणैते प्रयोक्तव्याः । नेत्याह—

तत्र यथाशक्ति रणौ द्विस्त्रिर्वा युक्तितो लकारं च ।
पञ्चभ्यो न कदादिद्वर्ग्यानूर्ध्वं प्रयुञ्जीत ॥ २१ ॥

क्या विना विचार के ही इन वर्णों का प्रयोग करना चाहिए ? कहते हैं नहीं—

उन वर्णों में दो या तीन बार युक्तिपूर्वक लकार का और सामर्थ्य भर रेफ और णकार का प्रयोग होना चाहिए । वर्ग्यों (क आदि) का पाँच बार से अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥

तत्रेति । तत्र तेषु वर्णेषु मध्ये रणौ यथाशक्ति यावतोः प्रयोगकरणे सामर्थ्यमस्ति तावत्प्रमाणौ प्रयोक्तव्यौ । माधुर्यलाभात् । युक्तितः संयोगाल्लकारं द्विस्त्रिर्वा प्रयुञ्जीत । वर्ग्यास्तु पञ्चभ्य ऊर्ध्वमधिकं न कदाचनापि प्रयुञ्जीत । माधुर्यभङ्गप्रसङ्गादित्यर्थः ॥

तत्रेति । ऊपर (की कारिका में) गिनाये गये वर्णों में रेफ और णकार का प्रयोग जहाँ तक सामर्थ्य हो वहाँ तक करना चाहिए । (इससे काव्य में) माधुर्य आता है । संयोगवश लकार का दो या तीन ही बार प्रयोग करना चाहिए । (क आदि) वर्ग्यों का पाँच बार से अधिक प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए । (क्योंकि पाँच बार से अधिक प्रयोग करने पर) माधुर्य नष्ट हो जाता है ॥

एतदुदाहरणमाह—

भण तरुणि रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥ २२ ॥
अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥ २३ ॥ (युग्मम्)

इसके उदाहरण देते हैं—

हे लोहित चरणोंवाली ! विलासपूर्वक भाषण करनेवाली !! सुन्दर चन्द्रमुखी युवती !!! यदि तुम प्रिय के भवन जाती हो तो जोर से रणन करने वाली मणिखचित मेखलावाला, निरन्तर रणन करते हुये सुन्दर मञ्जीरोंवाला तुम्हारा गमन अकारण मुझे क्यों उत्कण्ठा उत्पन्न करता है ॥ २२-२३ ॥

भणेति । अनण्विति । कश्चित्परमहिलां निजदयितगृहं व्रजन्तीं वीक्ष्याह--भण वद त्वमेव हे तरुणि, यदि त्वं निजदयितमन्दिरं व्रजसि तत्किम् । त्वदीयं परिसरणं मे निष्प्रयोजनमेव रणरणकं हृदयाकुलत्वं कुरुते । आनन्दस्यन्दि हर्षकारि सुन्दरं रम्यमिन्दुवन्मुखं यस्याः साम-

न्त्र्यते । तथा सल्लीलया सुविलासेनोल्लपितुं वक्तुं शीलं यस्याः सा चामन्त्र्यते। तथारुणचरणे लोहितक्रमे। कीदृशं परिसरणम् । अनणु तारं रणन्ती शब्दायमाना मणिमेखला रत्नरशना यत्र तत्। तथाविरतं शिञ्जनानि रणन्ति मञ्जूनि मधुराणि मञ्जीराणि चरणाभरणानि यत्र तत्। लक्षणं तु स्वधिया सर्वमायोज्यम् ॥

भणेति । अनण्विति । कोई अपने प्रिय के स्थान को जाती हुयी दूसरे की रमणी को देखकर कहता है—बताओ, तुम्हीं हे युवती ! जब तुम अपने प्रिय के स्थान को जाती हो तब क्यों—। तुम्हारा गमन विना करण के ही मुझे उत्कण्ठा उत्पन्न करता है । आनन्द बरसाने वाला, हर्ष उत्पन्न करने वाला, सुन्दर रमणीक चन्द्रवदन है जिसका वह संबोधित की जा रही है। तथा विलासपूर्वक भाषण करने का स्वभाव है जिसका वह संबोधित की जा रही है। तथा जिसके चरण लोहित हैं । गमन का वर्णन करते हैं–तार स्वर से रणन कर रही है मणिखचित रत्नमेखला जिसमें ऐसा (गमन)। तथा जिसमें निरन्तर पायल की झंकार हो रही है ऐसा (गमन अकारण उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है) । पूरे लक्षण को अपनी बुद्धि से घटित कर लेना चाहिए ॥

अथ प्रौढामाह––

अन्त्यटवर्गान्मुक्त्वा वर्ग्ययणा उपरि रेफसंयुक्ताः ।
कपयुक्तश्च तकारः प्रौढायां कस्तयुक्तश्च ॥ २४ ॥

अब प्रौढ़ा (वृत्ति) का वर्णन करते हैं––

अन्त्य (ङ आदि) और ट, ठ, ड, ढ तथा ण को छोड़कर ऊपर से रेफ से संयुक्त वर्ग्य (क आदि) यकार, णकार, ककार और पकार से युक्त तकार और तकार से युक्त ककार प्रौढा वृत्ति में होते हैं ॥ २४ ॥

अन्त्यटवर्गानिति । प्रौढायां वृत्तौ वर्ग्याः कादयो यकारणकारौ चोपरिभागे रेफेण संयुक्ता भवन्ति । किं कृत्वा । अन्त्यान् ङञणनमान् टवर्गं च मुक्त्वा विहाय। तथा ककारपकाराभ्यामुपरिभागे तकारश्च युक्तो भवति । चः समुच्चये । तथा ककारस्तकारेणोपरिभागे संयुक्त इत्यर्थः ॥

अन्त्यटवर्गानिति । प्रौढा वृत्ति में (ककार आदि) वर्ग्य, यकार और णकार ऊपर से रेफ से संयुक्त होते हैं । क्या करके ? अन्त्य ङ, ञ, ण, न, म और टवर्ग को छोड़ कर । तथा ऊर्ध्व भाग में तकार ककार और पकार से युक्त होता है । 'च' समुच्चय अर्थ में आया है । इसी प्रकार ककार भी ऊर्ध्व भग में तकार से युक्त होता है ॥

तत्रेदमुदाहरणम्—

कार्याकार्यमनार्यैरुन्मार्गनिरर्गलैर्गलन्मतिभिः ।
नाकर्ण्यते विकर्णैर्युक्तोक्तिभिरुक्तमुक्तमपि ॥ २५ ॥

उसका यहाँ उदाहरण देते हैं--

दुष्ट, कुमार्ग में अप्रतिहत, नष्ट बुद्धि वाले मूर्ख आप्त पुरुषों के द्वारा बार-बार बताये जाने पर भी हिताहित का विचार नहीं करते हैं ॥ २५ ॥

कार्याकार्यमिति । येऽनार्या अशिष्टा उन्मार्गे कुमार्गे निरर्गला निरङ्कुशाः। स्वच्छन्दा इत्यर्थः । तथा गलन्मतयो नश्यद्बुद्धयः । विकर्णा जडास्तैरेवंभूतैः कार्याकार्यं हिताहितमुक्तमुक्तमपि पुनःपुनर्भणितमपि नाकर्ण्यते न श्रूयते । कैरुक्तमित्याह—युक्ता संगता उक्तिर्वचनं येषां तैः । पयुक्ततकारस्य तयुक्तककारस्य च स्वयमुदाहरणं द्रष्टव्यमिति । एषा वृत्तिरन्यैरोज इत्युक्ता ॥

कार्याकार्यमिति । जो अशिष्ट जन कुमार्ग में अप्रतिहत हैं—अर्थात् स्वच्छन्द हैं, जिनकी बुद्धि नष्ट हो चुकी है। जो विकर्ण (अर्थात्) जड हैं वे बार-बार उपदेश पाने पर भी हिताहित नहीं सुनते हैं। उपदेष्टा को बताते हैं—जिनकी वाणी संगत (अर्थानुसंधान में तत्पर) है। प से युक्त तकार (सुप्त आदि) और त से युक्त ककार (उत्कण्ठित आदि) के उदाहरण स्वयं ढूंढ़ना चाहिए। इसी को दूसरे लोगों ने ओज वृत्ति कहा है ॥

अथ परुषामाह—

सर्वैरुपरि सकारः सर्वे रेणोभयत्र संयुक्ताः ।
एकत्रापि हकारः परुषायां सर्वथा च शषौ ॥ २६ ॥

अब परुषा का वर्णन करते हैं--

ऊपर से सभी वर्णों से युक्त सकार, ऊपर तथा नीचे से रेफ से युक्त सभी वर्ण, रेफ से ऊपर अथवा नीचे से युक्त ह, सब प्रकार से परुषा में शकार और षकार होते हैं ॥ २६ ॥

सर्वैरिति । परुषायां वृत्तौ सर्वैरुक्तैरनुक्तैश्च वर्णैरुपरिभागे सकारो युक्तो भवति । तथा सर्वे वर्णा उक्ता अनुक्ता रेफेणोभयत्रोपर्यधोभागयोः पर्यायेण युगपद्वा युक्ता भवन्ति । तथा हकारो रेफेणैकत्रोपर्यधो वा युक्तो भवति । अपिशब्दो नियमार्थः । एकत्रैवेत्यर्थः । शकारषकारौ च सर्वथा सर्वेण प्रकारेण । रेफेणान्यैर्वा युक्तावसंयुक्तौ वेति सर्वथाशब्दार्थः ॥

सर्वैरिति। परुषा वृत्ति में गिनाये गये और न गिनाये गये सभी वर्णों से ऊर्ध्व भाग में सकार युक्त होता है। तथा सभी वर्ण गिनाये गये और न गिनाये गये ऊपर और नीचे दोनों भागों में रेफ से क्रमशः अथवा एक साथ युक्त होते हैं। इसी प्रकार हकार एक स्थान पर ऊपर अथवा नीचे रेफ से युक्त होता है। अपि शब्द यहाँ नियम अर्थ में आया है--'एक ही स्थान पर'--यह उसका अर्थ है। शकार और षकार सब प्रकार से--तात्पर्य है कि रेफ से अथवा अन्त्य वर्ण से युक्त भी हो सकता है और अयुक्त भी ॥

उदाहरणम्—

लिप्सून्सर्वान्सोऽन्तर्ब्रह्मोद्यैर्ब्राह्मणैर्वृतः पश्यन् ।
जिह्रेत्यगर्ह्यबर्हिःशेषशयः कोषशून्यः सन् ॥ २७ ॥

उदाहरण—

वेदपारंगत ब्राह्मणों से घिरा हुआ, बचे हुये पवित्र कुश पर सोने वाला, तन्मात्रधन वह सभी याचकों को देखकर हृदय से लज्जित होता है ॥ २७ ॥

लिप्सूनिति। कश्चिन्महासत्त्वो दत्तसर्वस्वोऽत्र वर्ण्यते। स महासत्त्वोऽन्तर्मध्ये जिह्रेति लज्जते। किं कुर्वन्। पश्यन्। कान्। लिप्सूंल्लब्धुकामान्। सर्वान्याचकानित्यर्थः। कीदृशः। वृतः परिगतः। कैः ब्रह्मोद्यैर्वेदपारगैर्ब्राह्मणैः। पुनः कीदृक्। अगर्ह्यः प्रशस्तो यो बर्हिर्दर्भः स एव शेषमुर्वरितं तत्र शेते यः। तन्मात्रधन इत्यर्थः। लक्षणयोजना स्वयं कार्या ॥

लिप्सूनिति। सर्वस्व त्याग कर देने वाले किसी महातेजस्वी का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। वह महातेजस्वी हृदय से लजाता है। क्या करता हुआ? देखकर! किसे? लेने की इच्छा रखने वालों को अर्थात् सभी याचकों को। किस प्रकार होकर? घिरा हुआ। किनसे? वेद में पारंगत ब्राह्मणों से। फिर किस प्रकार (वह तेजस्वी) होता है? अगर्ह्य अर्थात् अनिन्दनीय जो अवशेष कुश है उस पर जो सोता है (ऐसा तेजस्वी)। (वह) शय्या ही एक मात्र जिसका धन है—यह भाव है। लक्षण को स्वयं घटा लेना चाहिए ॥

अथास्याः सर्वत्र प्रयोगनिवारणार्थमाह—

परुषाभिधायिवचनादनुकरणाच्चापरत्र नो परुषाम् ।
रचयेदथागतिः स्यात्तत्रापि हादयो हेयाः ॥ २८ ॥

अब इसके सर्वत्र प्रयोग का निवारण करने के लिये कहते हैं—

कटु अर्थ वाली और अनुकरण से अतिरिक्त स्थलों में परुषा वृत्ति में

रचना नहीं करनी चाहिए। अगर कोई दूसरा मार्ग न हो तथापि ह आदि (प्रयोगों) को (अवश्य) त्याग देना चाहिए ॥ २८ ॥

परुषेति। परुषाभिधायिवचनान्निष्ठुरत्वप्रतिपादनपरगिरोऽनुकरणाच्चान्यत्र परुषां वृत्तिं न रचयेत्। अथागतिर्गत्यन्तराभावः स्यात्, तत्रापि ह्रादयो हेयास्त्याज्याः। अत्यन्तपरुषत्वात्। केवलं शषादिप्रयोगः कार्यः॥

कठोर बात के प्रतिपादन और अनुकरण को छोड़कर परुषा वृत्ति में रचना नहीं करनी चाहिए। यदि परुषा का त्याग असंभव हो तब भी वहाँ पर अत्यन्त कटु होने के कारण ह आदि का त्याग तो अवश्य कर देना चाहिए। केवल श,ष आदि (वर्णों) का प्रयोग करना चाहिए॥

ललिताभद्रयोर्लक्षणमाह—

ललितायां घधभरसा लघवो लश्चापरैरसंयुक्तः।
परिशिष्टाभद्रायां पृथगथवा श्रव्यसंयुक्ताः॥ २९॥

अब ललिता और भद्रा का लक्षण बताते हैं—

लघु घ, ध, भ, रेफ, सकार, अन्य वर्णों से असंयुक्त ल (तथा) शेष (चारों वृत्तियों में न गिनाये गये) वर्ण भद्रा (वृत्ति) में होते हैं। वे चाहे संयुक्त हों या असंयुक्त (पर सदैव) कानों को सुख देते हैं॥ २९॥

ललितायामिति। ललितायां वृत्तौ घकारधकारभकाररेफसकारा भवन्ति। ते च लघवो न गुरवः। तथा लकारश्चापरैर्वर्णैरसंयुक्तः। आत्मना तु भवेदिति। भद्रायां तु वृत्तौ परिशिष्टा वृत्तिचतुष्टयोपयुक्तवर्णशेषाः। ते च पृथगसंयुक्ताः सन्ति। युक्ताश्चेद्भवन्ति तदा श्रव्यैः श्रुतिसुखैर्योज्या इति॥

ललितायामिति। ललिता वृत्ति में घकार, धकार, भकार, रेफ और सकार होते हैं। वे लघु होते हैं गुरु नहीं। इसके अतिरिक्त लकार अन्य वर्णों से संयुक्त नहीं होता है—अपने से संयुक्त हो सकता है। भद्रा वृत्ति में (पूर्वोक्त) चार वृत्तियों में गिनाये वर्णों के अतिरिक्त (वर्ण प्रयुक्त होते हैं)। और वे (वर्ण) अलग संयुक्त नहीं होते हैं। यदि वे संयुक्त होते हैं तो बड़े ही श्रुति-मधुर होते हैं॥

ललितोदाहरणमाह—

मलयानिलललनोल्ललमदकलकलकण्ठकलकलललामः।
मधुरमधुविधुरमधुपो मधुरयमधुना धिनोति धराम्॥ ३०॥

ललिता का उदाहरण देते हैं—

मलयपवन के वेग से उत्कण्ठित मतवाली कोयलों की कूक से रमणीक, मधुर पराग से मत्त भ्रमरों वाला, यह वसन्त इस समय धरती को प्रसन्न कर रहा है॥ ३०॥

मलयेति । अयं मधुर्वसन्तोऽधुना धरां पृथ्वीं धिनोति प्रीणयति । किंभूतः । मलयानिलस्य मलयवायोर्यल्ललनं गमनं तेनोल्ललाः सोत्कण्ठा मदकला मदमधुरा ये कलकण्ठाः कोकिलास्तेषां यः कलकलः कोलाहलस्तेन ललामः श्रेष्ठः । अथवा स एव ललामो ध्वजो यस्य स तथा । अन्यच्च मधुरेण मधुना मकरन्देन विधुरा मत्ता भ्रमरा यस्य स तथा । अत्रान्ये उदाहृताः । घभसानां स्वयमुदाहरणं द्रष्टव्यम् ॥

मलयेति । यह मधु वसन्त इस समय पृथ्वी को प्रसन्न कर रहा है । कैसा है (वसन्त) ? मलय पवन की जो गति है उससे उत्कण्ठित, मद के कारण मधुर स्वरवाले जो कोकिल हैं उनका जो मधुर स्वर है उसके कारण श्रेष्ठ । अथवा वह (कलकल) ही ध्वज है जिसका इस प्रकार का वह (वसन्त) । और भी——मधुर पराग से भौंरे जिसमें मतवाले हो रहे हैं इस प्रकार का वह (वसन्त) । यहाँ अन्य (वर्णों) का उदाहरण दिया गया । घ, भ और स का उदाहरण स्वयं खोज लेना चाहिए ॥

भद्रोदाहरणमाह——

उत्कटकरिकरटतटस्फुटपाटनसुपटुकोटिभिः कुटिलैः ।
खेलेऽपि न खलु नखरैरुल्लिखति हरिः खरैराखुम् ॥ ३१ ॥

भद्रा (वृत्ति) का उदाहरण बताते हैं—

'हाथी के कठोर गण्डस्थल को सर्वथा फाड़ डालने में अत्यन्त दक्ष, अग्रभाग वाले टेढ़े तीक्ष्ण नखों से सिंह खेल में भी चूहे को कदापि नहीं कुरेदता है'॥३१॥

उत्कटेति । हरिः सिंहो न खलु नैव खेलेऽपि क्रीडायामप्याखुं मूषकमुल्लिखति विदारयति नखैः । कीदृशैः । उत्कटा दृढा ये करिकरटतटा द्विपगण्डस्थलानि तेषां यत्स्फुटं प्रकटं पाटनं दारणं तत्र सुष्ठु पटुर्दक्षा कोटिरग्रं येषां तैः । तथा कुटिलैरनृजुभिः खरैस्तीक्ष्णैः । अत्र कटखाः केवलाः केवलाः पूर्वत्र न प्रयुक्ता इति परिशिष्टत्वम् ॥

उत्कटेति । सिंह खेल में भी नखों से चूहे को नहीं कुरेदता है । कैसे (नखों से) ? कठोर हैं हाथी के जो गण्डस्थल उनके चीर डालने में स्पष्ट ही जिनके अग्रभाग अत्यन्त दक्ष हैं, तथा जो टेढ़े हैं (और) तीक्ष्ण हैं । यहाँ बताये शुद्ध शुद्ध क, ट और ख पूर्वोक्त (चार वृत्तियों में) नहीं प्रयुक्त हुये हैं इसलिये (कारिका २९) में परिशिष्ट बताया गया ॥

अथाध्यायमुपसंहरन्यथैता वृत्तयो रचिता रमणीया भवन्ति तथाह——

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ३२

आगे अध्याय का उपसंहार करते हैं, किस प्रकार से रचना करने पर ये वृत्तियाँ रमणीक होती हैं उसे बताते हैं—

इन (वृत्तियों) को परिश्रम से समझ कर तथा अर्थगत औचित्य का भली-भाँति परामर्श करके महाकवि इनके पुनः पुनः परित्याग और ग्रहणपूर्वक, किसी एक के ही पीछे न पड़कर, स्वल्प या अधिक अक्षरों में इनका उपन्यास करे ॥ ३२ ॥

एता इति। एता पूर्वोक्ता वृत्तयः कवीन्द्रैः सुकविभिर्मिश्राः परस्परान्तरिताः कार्याः। किं कृत्वा। अधिगम्य ज्ञात्वा प्रयत्नात्तात्पर्येण। कथम्। सम्यगविपरीतम्। तथा औचित्यमर्थसंस्थं पात्रगतमभिधेयगतं चालोच्य विमृश्य। कीदृश्यः सत्यो मिश्राः कार्या इत्याह—अघनाल्पदीर्घाः। अघना असंहताः। वृत्तौ वृत्तिर्निरन्तरलग्ना न कार्या। यदि वा अघना असंयोगाक्षराः। एवंविधा अप्यल्पदीर्घाः कर्तव्याः। एकैव वृत्तिरत्यन्तमायता न कार्या यदि वा अल्पानि दीर्घाणि दीर्घाक्षराणि यास्विति योज्यम्। एवंविधा अप्यलंकारान्तररहिता उद्वेगकारिण्यः श्रोतृणां स्युरित्याह—कार्या मुहुः पुनर्गृहीतमुक्ताः। मुहुर्मोक्तव्यः कर्तव्यश्चानुप्रास इति ॥

एता इति। महाकवियों को एक दूसरे से अन्तरित करके पहले बतायी गयी इन वृत्तियों की रचना करनी चाहिए। क्या करके? तात्पर्य (प्रयोजन) को भली भाँति जान कर। कैसे? सम्यक् अर्थात् (अविरुद्ध रूप में समझ कर)। तथा (उत्तम आदि) पात्रों और प्रतिपाद्य के औचित्य का भली भाँति परामर्श करके। किस प्रकार से अन्तरित (मिश्रित) करके रचना करनी चाहिए—कहते हैं—अघनाल्पदीर्घ रूप में। अघन अर्थात् असंहत रूप से। वृत्ति में एक ही वृत्ति की अविराम रचना नहीं करनी चाहिए। अथवा जिसमें संयुक्त अक्षर न हों—यह अघन का अर्थ है। इस प्रकार की भी वृत्तियों को थोड़ी ही दूर तक रचना चाहिए। एक ही वृत्ति का अत्यधिक विस्तार नहीं करना चाहिए। अथवा थोड़े ही हैं दीर्घ (अक्षर) जिन (वृत्तियों) में—इस प्रकार विच्छेद करना चाहिए। (वृत्तियाँ) इस प्रकार की भी होने पर श्रोताओं के लिये उद्वेगकारी हो जायेगी—इस शंका का निराकरण करते हैं—पुनः पुनः वृत्तियों की, परित्याग और ग्रहणपूर्वक रचना करनी चाहिए ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः।

तृतीयोऽध्यायः

अथेदानीं यमकलक्षणमाह—

तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ॥ १ ॥

अब यमक का लक्षण बताते हैं—समान उच्चारण और क्रमवाले परस्पर भिन्नार्थक वर्णों की दुबारा आवृत्ति को यमक कहते हैं। प्रायः छन्द ही इस (यमक) के विषय हैं ॥ १ ॥

तुल्येति । पुनरावृत्तिः पुनरुच्चारणं वर्णानां तद्यमकम् । कीदृशानाम् । समाना श्रुतिः श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः क्रमश्च परिपाटी येषाम् । श्रुतिग्रहणाद्यत्र वर्णविकारेण षत्वरत्वादिना वपुष्टा वपुस्ता इत्यादौ तथा पुनर्गता पुना रौतीत्यादौ च सत्यपि क्रमे तुल्यश्रुतित्वाभावस्तत्र यमकत्वनिरासः । न-क्रमग्रहणात्प्रतिलोमानुलोमसर्वतोभद्रानुप्रासादीनां यमकत्वनिरासः । न हि तेषु तुल्यश्रुतिसद्भावेऽपि तुल्यक्रमो विद्यते । मिथोऽन्यार्थानां परस्परं भिन्नार्थानाम् । इत्यनेन तु पुनरुक्तस्य यमकत्वव्युदासः । यथा 'अहो रूपमहो रूपमहो मुखमहो मुखम् । अहो कान्तिरहो कान्तिस्तस्याः सारङ्गचक्षुषः ॥' इत्यादिषु । अन्यार्थानामित्यत्रार्थशब्दः प्रयोजनवाच्यपि । तेनेहापि यमकत्वं सिद्धं भवति । 'विजृम्भितोद्दामरसेन चेतसा निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः । तदैव वैराग्यवता विभागशो निरूप्यमाणं किमपि प्रियावपुः ॥' अत्र हि वर्णानामेकाभिधेयत्वेऽपि प्रयोजनं भिद्यते । अस्य च यमकस्य प्रायो बाहुल्येन च्छन्दांसि पद्यं विषयः । प्रायोग्रहणाद्गद्यमपि क्वापीति ॥

तुल्येति । वर्णों का पुनः उच्चारण—वह यमक है। कैसे (वर्णों का)? जिनको श्रुति और परिपाटी समान है। जहाँ वर्ण के विकार के कारण षत्व, रत्व आदि के द्वारा 'वपुष्टा' 'वपुस्ता' आदि में और 'पुनर्गता पुनारौति' आदि में क्रम के होने पर भी श्रुति की समानता नहीं होती है वहाँ यमक नहीं होता है—श्रुति का (कारिका में) इसी प्रयोजन से उपादान किया गया है। क्रम के ग्रहण करने से, प्रतिलोम, अनुलोम, सर्वतोभद्र, अनुप्रास आदि से यमक का क्षेत्र बिलकुल पृथक् हो गया। उनमें श्रुति की समानता होने पर भी क्रम की समानता नहीं होती है। (फिर किस प्रकार के वर्णों का ?) परस्पर जिनके अर्थ

भिन्न हैं। इससे पुनरुक्त का यमक होना खण्डित हो गया--जैसे उस मृगनयना का कैसा रूप है, कैसा मुख है, क्या ही कान्ति है, क्या ही कान्ति है। आदि उदाहरण में। 'अन्यार्थानाम्' में अर्थ शब्द प्रयोजन का भी वाचक है। अतएव प्रयोजन भिन्न होने पर भी यमक सिद्ध हो जाता है। 'विवर्धित अत्यधिक रस से निर्भर चित्त से निरूपण करने पर प्रेयसी की काया क्या ही सुन्दर होती है (तथा) उसी क्षण विरक्त के अङ्ग-अङ्ग को अलग अलग निरूपण करने पर प्रेयसी की काया क्या हो जाती है' यहाँ वर्णों के प्रतिपाद्य के एक होने पर भी प्रयोजन भिन्न हैं। इस यमक के प्रायः छन्द ही विषय हैं। कहीं कहीं गद्य में भी यमक होते हैं (कारिका में) प्रायः पद के उपादान का यही प्रयोजन है।

अथ परोक्तयमकभेदान्निरस्यन्स्वाभिमतयमकभेदांल्लक्षणाभिधानायाह—

पूर्वं द्विभेदमेतत्समस्तवादैकदेशजत्वेन ।
पादार्धश्लोकानामावृत्त्या सर्वजं त्रेधा ॥ २ ॥

अब (भामह आदि) अन्य आलंकारिकों के द्वारा गिनाये गये यमक के भेदों का निराकरण करते हुए अपने अभिमत भेदों के लक्षण बताने के लिये कहते हैं--सर्वप्रथम इस (यमक) के दो भेद होते हैं—समस्त पादगत और एकदेशगत। उसमें समस्तपादगत के पादावृत्त, अर्धावृत्त और श्लोकावृत्त—ये तीन भेद होते हैं॥ २॥

पूर्वमिति। पूर्वं मूलभेदाद्यपेक्षया एतद्यमकं द्विभेदम्। केन भेदेनेत्याह—समस्तेत्यादि। तत्र समस्तपादश्च समस्तपादौ च समस्तपादाश्चेत्येकशेषः। तथा एकदेशश्च एकदेशौ च एकदेशाश्चेति। समस्तपादजमेकदेशजं चेति भेदद्वयम्। अत्र च वक्ष्यमाणभेदाः सर्वेऽप्यन्तर्भवन्तीति पञ्चधा चतुर्दशधा चेति परोक्तवचनव्युदास इति। तत्र समस्तपादजप्रभेदानाह--पादार्धेत्यादि। पादावृत्त्या अर्धावृत्त्या श्लोकावृत्त्या च समस्त पादजं त्रेधा भवति॥

पूर्वमिति। सर्वप्रथम मूलभेद को अपेक्षित करके यह यमक दो प्रकार का होता है। किस भेद से (दो प्रकार का होता है) इसे बताते हैं—समस्त आदि। एक समस्तपाद, दो समस्तपाद और अनेक समस्तपाद—इस प्रकार एकशेष (द्वन्द्व समास) हुआ। इसी प्रकार एक एकदेश, दो एकदेश और अनेक एकदेश (एक शेष-द्वन्द्व-समास) हुआ। समस्तपादगत और एक देशगत--ये दो भेद हुये। आगे बताये जाने वाले सभी भेदों का अन्तर्भाव इसी में हो जायगा। अतएव अन्य लोगों द्वारा बताये पाँच भेद या चौदह दभे

आदि का खण्डन हो जाता है। इनमें समस्तपादगत के भेद बताते हैं-- पादार्धेत्यादि। पाद की आवृत्ति, आधे (छन्द) की आवृत्ति और श्लोक की आवृत्ति होने से समस्तपादगत तीन प्रकार का होता है ॥

तत्रापि पादावृत्तेस्तावद्भेदानाह—

पर्यायेणान्येषामावृत्तानां सहादिपादेन।
मुखसंदंशावृतयः क्रमेण यमकानि जायन्ते ॥ ३ ॥

अब उनमें पादावृत्त के भेदों को बताते हैं—

प्रथम पाद के साथ द्वितीय आदि पादों के आवृत्त होने पर क्रमशः मुख, संदंश और आवृति (नामक) यमक-भेद होते हैं ॥ ३ ॥

पर्यायेणेति। पर्यायेण क्रमेणान्येषां द्वितीयादीनां त्रयाणां पादानामादिपादेन सहावृत्तानां यमकितानां मुखसंदंशावृतिसंज्ञितानि क्रमेण यथासंख्यं यमकानि त्रीणि जायन्ते भवन्तीति ॥

पर्यायेणेति। क्रमशः द्वितीय आदि (द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ) तीन पादों के प्रथम पाद के साथ आवृत्त होने पर क्रमशः मुख, संदंश और आवृति नामक तीन प्रकार के यमक होते हैं ॥

तदुदाहरणानि क्रमेणाह—

चक्रं दहतारं चक्रन्द हतारम्।
खड्गेन तवाजौ राजन्नरिनारी ॥ ४ ॥

(अब) इनके उदाहरण देते हैं—

रण में शत्रुसमूह को नष्ट करती हुयी तुम्हारी तलवार से मारी गयी रिपु-रमणी विलाप करने लगी ॥ ४ ॥

चक्रमिति। कश्चिन्नृपमाह—हे राजन्, तव संबन्धिना खड्गेनाजौ रणे आरं रिपुसक्तं चक्रं समूहमरं शीघ्रं दहता घ्नता अरिनारी रिपुस्त्री भर्तृवधेन हता ताडिता सती चक्रन्द। क्रन्दितवतीत्यर्थः। इति प्रथमद्वितीयपादयमकं मुखसंज्ञम् ॥

चक्रमिति। कोई राजा से कह रहा है--हे राजन्! शत्रुओं के समुदाय को वेगपूर्वक नष्ट करती हुई तुम्हारी तलवार से पति की हत्या हो जाने के कारण (स्वयं) हत हुयी शत्रु-रमणी रोने लगी अर्थात् चिल्ला पड़ी। यहाँ द्वितीय पाद के प्रथम पाद के साथ आवृत्त होने पर मुख नामक यमक हुआ।

अथ संदंशः—

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ॥ ५ ॥

अब संदंश का उदाहरण देते हैं--

साध्वी स्त्रियों का भरण तथा उमा के साथ रमण करने वाले शिव की आराधना करके, रण में शत्रुके हाथियों को मारने वाले सात्त्विक (सदाचारी) तुम पृथिवी को जीतो ॥ ५ ॥

सन्नारीति । कश्चिन्नृपस्याशिषमाह—त्वं विधुशेखरं हरमाराध्य ततः पृथिवीं जय। कीदृशं हरम्। सत्यश्च ता नार्यश्च सन्नार्यः साध्व्यः स्त्रियस्ता बिभर्ति पोषयतीति सन्नारीभरणः स चासावुमायश्च। उमा पार्वती तां याति गच्छति तया सह संयुज्यते यस्तं तथाविधम्। त्वं कीदृशः। सन्नाः खिन्ना अरीभा रिपुद्विपा यत्र स तथाविधो रणः संग्रामो यस्य स तथा। पुनः कीदृशः। अमायो मायारहितः। सात्त्विक इत्यर्थः। अत्र प्रथमतृतीयपादयोः संदंशनामकं यमकम् ॥

सन्नारीति। कोई राजा को आशीर्वाद दे रहा है—तुम शिव की आराधना करके पृथ्वी को जीतो। शिव कैसे ? सती हैं और नारी हैं जो वे हुयीं सन्नारी-साध्वी स्त्रियाँ उनका जो धारण-पोषण करता है वह है सन्नारीभरण--वह और उमाय। उमा-पार्वती—उसे प्राप्त होता है--उसके साथ रमण करता है जो—ऐसे शिव को। तुम (राजा) किस प्रकार के। सन्न अर्थात् व्याकुल कर दिये गये हैं शत्रुओं के हाथी जिसमें ऐसा जिसका सङ्ग्राम होता है (वह तुम)। और कैसे—अमाय माया से शून्य अर्थात् सात्त्विक। यहाँ तृतीय पाद के प्रथम पाद के साथ आवृत्त होने के कारण संदंश (नामक) यमक है ॥

अथावृतिः—

मुदारताडी समराजिराजितः प्रवृद्धतेजाः प्रथमो धनुष्मताम्।
भवान्बिभर्तीह नगश्च मेदिनीमुदारताडीसमराजिराजितः ॥६॥

अब आवृति (का उदाहरण देते हैं)—

हर्षपूर्वक शत्रुसमूह को मारने में कुशल, रणाङ्गण में अपराजेय, अत्यधिक तेजस्वी, धनुर्धरों में मुख्य आप और ऊँची ताड़ वृक्षों की पंक्तियों से सुशोभित पर्वत इस लोक में पृथ्वी को धारण करते हैं ॥ ६ ॥

मुदेति। कश्चिच्चाटुकक्रन्नृपमाह—इह भवांस्त्वं नगश्चादिश्च मेदिनीं भुवं बिभर्ति पोषयति धारयते च। कीदृशस्त्वम्। मुदा हर्षेण, न भयेन, आरताडी रिपुसमूहताडनशीलः। तथा समराजिरे रणाङ्गणेऽजितोऽपरिभूतः। तथा प्रवृद्धतेजाः प्रथितप्रतापः। धनुष्मतां धानुष्काणां प्रथमो मुख्यः। नगः कीदृशः। उदारा उन्नता यास्ताड्यस्ताडिवृक्षास्तासां समा अविषमा या राजयः पङ्क्तयस्ताभी राजितः शोभितः। इह चतुर्थपादयमकमावृतिर्नाम ॥

मुदेति—कोई चापलूस राजा से कह रहा है—इस लोक में आप और पर्वत पृथ्वी का धारण और पोषण करते हैं। तुम कैसे? प्रसन्नतापूर्वक, भय से नहीं, शत्रु-मण्डल का वध करना जिसका स्वभाव है। फिर कैसे—जो रणाङ्गण में अपराजेय है तथा जिसका तेज अत्यधिक बढ़ गया है जो धनुर्धरों में अग्रगण्य है—ऐसा तुम (राजा)। पर्वत कैसा—ऊँची ऊँची हैं जो सम ताड़-पंक्तियाँ उनसे जो शोभित है। यहाँ चतुर्थपाद के प्रथम पाद के साथ आवृत्त होने के कारण आवृति नामक यमक हैं।

भेदान्तरमाह—

प्रत्येकं पश्चिमयोरावृत्त्या पादयोर्द्वितीयेन।
यमके संजायेते गर्भः संदष्टकं चेति ॥ ७ ॥

और भी भेद गिनाते हैं—

तृतीय और चतुर्थ पाद के द्वितीय पाद के साथ आवृत्त होने पर गर्भ और संदष्टक नामक यमक के पृथक् भेद होते हैं ॥ ७ ॥

प्रत्येकमिति। पश्चिमयोस्तृतीयचतुर्थपादयोर्द्वितीयेन पादेन सहावृत्त्या प्रत्येकं पृथग्यमके संजायेते भवतो गर्भसंदष्टकसंज्ञिते ॥

प्रत्येकमिति। पश्चिम अर्थात् तृतीय और चतुर्थ पाद के द्वितीय पाद के साथ आवृत्त होने पर गर्भ और संदष्टक नामक यमक के भिन्न भेद होते हैं ॥

तत्र गर्भोदाहरणम्—

यो राज्यमासाद्य भवत्यचिन्तः समुद्रतारम्भरतः सदैव।
समुद्रतारं भरतः स दैवप्रमाणमारभ्य पयस्युदास्ते ॥ ८ ॥

उनमें गर्भ का उदाहरण दे रहे है—

जो राज्य को पाकर निश्चिन्त हो जाता है और हर्षपूर्वक सदैव विलास में रत रहता है वह पूर्वसञ्चित को प्रमाण मानकर बलपूर्वक समुद्रपार करने का उद्यम करके जल के बीच में निष्क्रिय हो जाता हैं ॥ ८ ॥

य इति। यः पुरुषो राज्यं प्राप्य तस्य रक्षणादौ निश्चिन्तो भवति। तथा प्राप्तं राज्यमिति समुत्सहर्षः। यो रतारम्भरतः सदैव निधुवनप्रारम्भासक्तः। सततं स तथाविधनृपो भरतो भरेण समुद्रतारं जलनिधितरणं बाहुभ्यामारभ्य पयसि जलमध्य उदास्ते निष्क्रियो भवति। कथम्। दैवं पुराकृतं कर्म प्रमाणं यत्र तत्तथेति क्रियाविशेषणम्। यः प्राप्तराज्यो निरुद्यमः स बाहुतरणप्रवृत्तजलधिमध्यस्थितनिष्क्रियनरतुल्य इत्यर्थः। इति मध्यमपादयोर्गर्भो नाम यमकम् ॥

य इति। जो पुरुष राज्य पाकर उसकी रक्षा आदि के विषय में निश्चिन्त हो जाता है। तथा राज्य तो मिला ही है यह समझकर प्रसन्न रहता है—जो सदैव भोग-विलास में आसक्त रहता है। वह पुरुष सदैव बलपूर्वक भुजाओं से समुद्र पार करने का उद्यम कर के जल-धार में पड़कर निश्चेष्ट हो जाता है। दैव (अर्थात्) पूर्व जन्म में किये गये कर्म ही जिसमें प्रमाण हैं इस प्रकार वह-यह क्रियाविशेषण है। राज्य पाकर जो मनुष्य उद्यमहीन हो जाता है वह भुजाओं से ही सागर पार कर जाने के लिये प्रयास करनेवाले यह मध्य में पड़े हुये निश्चेष्ट मनुष्य के समान होता है—यह तात्पर्य है। यहाँ मध्यम पादों में आवृत्ति होने के कारण गर्भनामक यमक है।

अथ संदष्टकम्—

इदं च येन स्वयमात्मभोग्यतां समस्तकाञ्चीकमनीयताकुलम्।
नितम्बबिम्बं कथमस्तु नो नृणां स मस्तकाञ्ची कमनीयताकुलम्॥९॥

'यह संदष्टक के उदाहरण का अनुवाद है'—

भली प्रकार निक्षिप्त मेखला वाले, रमणीयता के स्थान, चञ्चल श्रोणीतट को जिसने अपने भोग का विषय बनाया वह मनुष्यों में मूर्धाभिषिक्त क्यों न हो॥९॥

इदमिति। कश्चिद्रागी परस्त्रियं दृष्ट्वा कंचिदाह—इदं नितम्बबिम्बं श्रोणीतटं येन स्वयमसहायेनात्मभोग्यतां स्वोपकारितामनीयत नीतं स तथाविधो नृणां पुंसां मस्तकाञ्ची शिरोवर्ती कथं नो अस्तु कथं मा भूत्। सौभाग्यातिशयवानित्यर्थः। कीदृशं कटितटम्। आकुलं प्रयोगवशाच्चटुलमत एव समस्ता सम्यक्क्षिप्ता काञ्ची मेखला यतस्तत्समस्तकाञ्चीकम्। तथा च कमनीयताया रामणीयकस्य कुलं स्थानम्। अत्र द्वितीयचतुर्थ पादयोः संदष्टयमकम्॥

इदमिति। कोई परायी स्त्री को देखकर किसी से कह रहा है—इस श्रोणीतट को अकेले ही जिसने अपने भोग के लिये उपलब्ध कर लिया ऐसा वह मनुष्य पुरुषों में शिरोवर्ती (अग्रगण्य) क्यों न होगा? अर्थात् अत्यधिक सौभाग्यशाली होगा। कैसे श्रोणीतट को—आकुल (अर्थात्) पकड़ने आदि के कारण जिससे कटिसूत्री दूर हट गयी है। और भी, जो (श्रोणीतट) सुन्दरता का निदान है। यहाँ चतुर्थ पाद के द्वितीय पाद के साथ आवृत्त होने के कारग संदष्टक यमक है॥

पुनराह—

अन्योन्यं पश्चिमयोरावृत्त्या पादयोर्भवेत्पुच्छः।
सर्वैः सार्धं युगपत्प्रथमस्य तु जायते पङ्क्तिः॥१०॥

आगे कहते हैं—

तृतीय चतुर्थ पादों में परस्पर आवृत्ति होने पर दूसरा पुच्छ नामक यमक होता है। प्रथम पाद की एक साथ अन्यपादों से आवृत्ति होने पर पङ्क्ति नामक यमक होता है ॥ १० ॥

अन्योन्यमिति। पश्चिमयोस्तृतीयचतुर्थपादयोः परस्परावृत्त्या पुच्छो नाम यमकं भवेत्। तथा प्रथमपादस्य सर्वैस्त्रिभिरन्यैः सार्धं युगपत्सम-कालमावृत्त्या पङ्क्तिर्नाम यमकं जायते ॥

अन्योन्यमिति। पश्चिम तृतीय, चतुर्थ पादों में परस्पर आवृत्ति होने पर पुच्छ नामक यमक होता है। तथा प्रथम पाद की शेष तीनों पादों के साथ सम काल में ही आवृत्ति होने पर पङ्क्ति नामक यमक होता है ॥

तत्र पुच्छः—

उत्तुङ्गमातङ्गकुलाकुले यो व्यजेष्ट शत्रून्समरे सदैव।
स सारमानीय महारि चक्रं ससार मानी यमहारिचक्रम् ॥११॥

आगे पुच्छ का उदाहरण देते हैं—

बड़े बड़े हाथियों से खचाखच भरे हुए रण में जिसने शत्रुओं की सदैव हत्या की है वह मानी यमराज को भी मार डालने वाला, उत्कृष्ट बड़े बड़े अरों वाले चक्र को लेकर शत्रु की सीमा में प्रवेश कर गया ॥ ११ ॥

उत्तुङ्गेति। कश्चिद्वीरो वर्ण्यते—स मानी मानवान्नरोऽरिचक्रं रिपुराष्ट्रं ससार जगाम। कीदृशः। यः समरे रणे। कीदृशे। उत्तुङ्गमातङ्गकुलाकुले उन्नतद्विपसमूहसंकुले सदैव सर्वदैव व्यजेष्टाभ्यभूत्, शत्रून्रिपून्। कथम्। सारमुत्कृष्टं महारि महद्भिररैर्युक्तं चक्रमायुधविशेषमानीयादाय। कीदृशो मानी। यमं युग्मं कृतान्तमपि वा हन्तीति यमहा ॥

उत्तुङ्गेति। किसी वीर का वर्णन किया जा रहा है—वह मानी शत्रु के राज्य में प्रवेश कर गया। कैसा (मानी)। जो लड़ाई में—कैसी (लड़ाई में)—जो बड़े बड़े हाथियों से खचाखच भरी थी। सदैव शत्रुओं को मारता था। किस प्रकार—सुन्दर बड़े बड़े अरों वाले चक्र को लेकर। (फिर) कैसा मानी—जो यम अथवा काल को भी मार डालने वाला है ॥

अथ पङ्क्त्युदाहरणम्—

सभाजनेनोपरि पूरितासौ सभाजने नोपरिपूरितासौ।
सभा जनेनोऽपरिपूरितासौ सभाजने नोऽपरिपूरितासौ ॥१२॥

आगे पङ्क्ति का उदाहरण दे रहे हैं—

शत्रु के समीप में तलवार को न उठाये हुये, पुरवासियों के प्राणों के अनाप्यायित होने पर (तथा) पूजा के न पाने पर सभा में आये हुये पुरवासियों के पीछे से मन्त्रिगण आ पहुँचे जिससे राजा तेजस्वी हो गया और हम लोगों के पूजक पुरवासियों का रक्षक हो गया ॥ १२ ॥

सभाजनेनेति। 'कस्यचिद्राज्ञो मन्त्रिणः पौरैस्तिरस्कृताः। ततस्तस्य स्वसभ्याधिक्षेपजातकोपस्यापरागभयात्पौराननिगृह्णतः कान्तिभ्रंशो बभूव। ततः कस्मिंश्चिदवसरे ते सभ्या लब्धावसराः सन्तः पौराणामुपरि कटकयात्रामदुः। ततस्ते पौरा निरायुधाः सन्तः पराजिग्यिरे। ततो राजा परितुष्टः पुनरात्मीयां कान्तिमाप' इति समुदायार्थः। पादानां त्वेवं योजना। कश्चित्सभ्यः परस्य कथयति—सभाजनेन सभ्यलोकेन। मन्त्रिजनेनेत्यर्थः। उपरि पृष्ठतः, पूः पौरजनता। इता प्राप्ता, असौ। एषां पौराणां पृष्ठतः सभ्या आगता इत्यर्थः। कदा। सभां सभालोकमजति क्षिपतीति सभाजनस्तस्मिन्पौरजने। न उपरिपु शत्रुसमीपे सभ्यसंनिधाने ऊरिता असयः खड्गा येन स ऊरितासिस्तस्मिन्नेवंविधे। अनुद्यतखड्ग इत्यर्थः। अत एव जनानामिनः स्वामी जनेनो राजा, सह भासा वर्तते इति सभाः सदीप्तिकः संवृत्तः। अन्यच्च कीदृशे पौरलोके। अपरिधूरिता अनाप्यायिता असवः प्राणा यस्यासौ तथोक्तस्तस्मिन्। मृततुल्य इत्यर्थः। तथा सभाजने। 'सभाज प्रीतिदर्शने' इत्यस्मात्कर्तरि ल्युट्। नोऽस्माकं प्रीतिकरे। पूजक इत्यर्थः। कथम्। अपगता रिपवो यत्रावने तत्तथेति क्रियाविशेषणम्। किंभूते पौरलोके। इतासौ इता प्राप्ता असुः अपूजा येन तस्मिन्। अधिगतमानभ्रंश इत्यर्थः। 'परिप्रतिगतार्थौ तु सु पूजायां यदा भवेत्। अतिरतिक्रमणे चैव नोपसर्गा इमे तदा ॥' इति सर्वपादजं पङ्क्तियमकम् ॥

सभाजनेनेति। पुरवासियों ने किसी राजा के मंत्रियों का तिरस्कार कर दिया। तब (वह) अपने सभ्यजनों के अपमान के कारण उत्पन्न क्रोध के न छिपने के भय के कारण पुरवासियों का दमन न करने के कारण कान्ति-भ्रष्ट हो गया। तब किसी अवसर पर उन मन्त्रियों ने अवसर पाकर पुरवासियों पर चढ़ाई कर दिया। तब वे पुरवासी आयुध-विहीन होने के कारण पराजित हो गये। तब उससे सन्तुष्ट होकर राजा ने अपना तेज प्राप्त किया—यह छन्द का अर्थ है। (छन्द के) पादों की योजना इस प्रकार करनी चाहिए—कोई मन्त्री दूसरे से कहता है—सभाजनेन सभ्यलोकेन। (अर्थात्) मन्त्रियों के द्वारा पीछे से वह पुरवासी गण। प्रवेश किया। इन पुरवासियों के पीछे से मंत्रिगण आये—

यह अर्थ है। कब ? सभा को जाने के लिये पुरवासियों के तैयार होने पर। शत्रु के समीप में (अर्थात्) मन्त्रियों के समीप में जिन्होंने तलवार नहीं उठायी वे हुये—नोपरि पूरितासि। अर्थात् तलवार को नीचे किये हुये। अतएव प्रजा—पालक स्वामी, राजा तेजस्वी हो गया। फिर कैसे पुरवासियों में—जिनके प्राण परिपूरित आप्यायित नहीं हैं ऐसे अर्थात् मृततुल्य। तथा सभाजने। 'सभाज प्रीतिदर्शने' से कर्ता में ल्युट् प्रत्यय हुआ। हमारे प्रीतिकर अर्थात् पूजक (पुरवासियों में)। अतएव हमारा प्रकरण में (वर्णित राजा) रक्षक हो गया। कैसे ? जिस रक्षण में शत्रु अब हैं ही नहीं। (फिर) कैसे पुरवासियों में—जिन्हें अपमान मिल चुका है। अर्थात् जिनका मान भ्रष्ट हो गया है। इस प्रकार सभी पादों में आवृत्त होने के कारण यह पङ्क्ति यमक हुआ।

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

परिवृत्तिर्नाम भवेद्यमकं गर्भावृतिप्रयोगेण।
मुखपुच्छयोश्च योगाद्युग्मकमिति पादजं नवमम्॥ १३॥

आगे और भी भेद बताते हैं—गर्भ और आवृति नाम के यमकों के प्रयोग से परिवृत्ति नामक यमक होता है। मुख और पुच्छ के योग से समस्त पादगत युग्मक नामक यमक का नवाँ भेद होता है॥ १३॥

परिवृत्तिरिति। पूर्वोक्तगर्भावृतियमकयोर्युगपद्योगे वृत्तिर्नाम यमकं भवति। तथा पूर्वोक्तमुखपुच्छयोर्युगपद्योगाद्युग्मकं नाम समस्तपाद-संभवं नवमं यमकं भवति॥

परिवृत्तिरिति। पहले बताये गये गर्भ और आवृति नामक यमकों का एकत्र योग होने पर परिवृत्ति नामक यमक होता है। पूर्वोक्त मुख और पुच्छ का एकत्र योग होने पर समस्त पादगत नवाँ यमक भेद होता है॥

तत्र परिवृत्त्युदाहरणम्—

मुदा रतासौ रमणी यता यां स्मरस्यदोऽलं कुरुतेन वोढा।
स्मरस्यदोऽलंकुरुतेऽनवोढामुदारतासौ रमणीयतायाम्॥१४॥

उनमें परिवृत्ति का उदाहरण देते हैं—

निश्चय ही जिसको तुम विवाह करने वाले कुत्सित स्वर से स्मरण कर रहे हो वह रमणी प्रेमवश आसक्त है क्योंकि तुम्हारे लिये छटपटा रही है। रमणीयता में यही औचित्य है कि कामावेश प्रगल्भा को भूषित करता है॥ १४॥

मुदेति। एतन्मानिन्याः सखी अनुनयप्रत्याख्यानभयादपसृतं नायक-माह—असौ रमणी स्त्री त्वयि रता। मुदा प्रीत्या। न तु धनलोभादिना।

यता त्वदागमनार्थं प्रयत्नपरा। यां त्वं वोढा परिणेता। अदोऽलं निःसंदेहं स्मरसि ध्यायसि। कीदृशस्त्वम्। कुरुतेनोपलक्षितः। कुत्सितं रुतं कुरुतं तेन। यत्पुरुषस्य धैर्यच्युतिप्रकाशकमत एव तत्स्मरणपरिज्ञानम्। ननु यदि सा मानिनी तत्किमनुनयार्थं त्वं प्रेषितेत्याह—यस्मादुदारतासौ औचित्यमिदम्। रमणीयतायां रमणीयत्वे। यत्स्मरस्यदः कामोद्रेकोऽलंकुरुते भूषयति। अवोढां प्रगल्भां नायिकाम्॥

मुदेति। किसी मानिनी की सखी विनय के तिरस्कार के भय से दूर हट गये नायक से इसे कह रही है—यह स्त्री तुममें आसक्त है। प्रेम के कारण न कि संपत्ति के लोभ आदि के कारण। (यह) तुम्हारे आगमन के लिये छटपटा रही है। जिससे तुम विवाह करोगे (वह) निश्चय ही तुम्हारा ही ध्यान कर रही है। तुम कैसे हो—कुरुत से उपलक्षित—कुत्सित रुत (शब्द) हुआ कुरुत उससे, जो (कुरुत) पुरुष के धैर्य-भङ्ग होने का प्रकाशक है अतएव उसका स्मरण ही (नायिका का तुम्हारे प्रति आसक्त) होना बता देता है। यदि वह मानिनी ही है तो अनुनय करने के लिये तुम क्यों भेजी गयी—इसे कहते हैं—यही औचित्य है रमणीयता में कि कामावेश अविवाहिता प्रगल्भा नायिका को अलङ्कृत करता है॥

अथ युग्मकम्—

विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम्॥१५॥

अब युग्मक (का उदाहरण देते हैं)—

सुखादि से रहित करनेवाले प्राण—भक्षणशील यम शुभ कर्म करनेवाले पक्षीरूप इस हंस (आत्मा) और अशुभ कर्म करनेवाले दुष्टों को नष्ट करता है। हृदय से (प्राण-रक्षण के लिये) प्रयत्न करने पर भी (आत्मा) को शरीर से शीघ्र अलग कर देता है॥ १५॥

विनेति। कश्चित्कंचिदाह—अयं महाजनः सत्पुरुषलोकः। एनोऽपराधं विना। अनपराध इत्यर्थः। अदीयत खण्ड्यते स्म। केन। यमेन। किं कुर्वता यमेन। नयतात्मसमीपं प्रापयता। तथाऽसुखादिना प्राणभक्षणशीलेन। ऊनयता महाजनमनीकुर्वता। सुखादिना सौख्यभक्षकेण। अथवा सुखादिनार्थेन न्यूनयता। कीदृशो महाजनः। विना विगता नरो यस्मात्। यमं प्रति पुरुषकारविफलत्वाद्विपुरुष इत्यर्थः। बहुलत्वात्को न भवति। यद्वा विनष्टो ना पुरुषो विना। पुनः महाजनः कीदृशः। मानसान्मानमहंकारं सादयतीति मानसाद्रिपूणाम्। यदि वा

मानसाच्चित्तात्सकाशात्सुखादिना। तथा महाजनोदी महमुत्सवमर्जन्ति क्षिपन्ति महाजा दुर्जनास्तान्नुदति प्रेरयतीति महाजनोदी। कथमदीयत। अरं शीघ्रम्। तथा यतमानसादरं यतमानानां मरणप्रतिक्रियाऽव्यापृतानां सादं खेदं राति ददातीति च क्रियाविशेषणम्॥

विनेति। इस सत्पुरुष लोक की अपराध के बिना ही कटाई की जाती है। किससे! यम से। क्या करते हुये? अपने पास में ले जाते हुए तथा प्राणों को खाते हुये तथा सत्पुरुषों को कम करते हुये। (फिर कैसे यम से)? सुख आदि को नष्ट कर देनेवाले अथवा सुख आदि को कम करनेवाले। महाजन कैसा? मनुष्यों से शून्य? यम के प्रति पौरुष के विफल हो जाने के कारण बिना (पौरुषहीन) कहा गया। बहुल होने के कारण क (प्रत्यय) नहीं होता है। अथवा नष्ट हो गये हैं मनुष्य जिसके (ऐसा समास मानना चाहिए)। फिर कैसा महाजन? शत्रुओं का मानसाद् अर्थात् अहंकार को नष्ट करनेवाला। अथवा मन से। तथा उत्सव को नष्ट करनेवाले दुष्टों का दमन करनेवाला। कैसे कटाई की गयी--शीघ्र एवं यम की शय्या पर पौढ़े हुये लोगों को कष्ट पहुँचा कर—इस प्रकार क्रियाविशेषण (पद समझना) चाहिए।

एतानि नव यमकानि समस्तपादस्योक्तानि। अधुना समस्तपादयोः समस्तपादानां चाह—

अर्धं पुनरावृत्तं जनयति यमकं समुद्गकं नाम।
श्लोकस्तु महायमकं तदेवमेकादशैतानि॥ १६॥

समस्तपाद यमक के ये नव भेद बताये गये। अब दो समस्तपाद और अनेक समस्तपाद यमकों के भेद बताते हैं—

पूर्वार्ध के दुबारा आवृत्त होने पर समुद्गक नामक यमक होता है। श्लोक (के आवृत्त होने पर) महायमक (होता है)। इस प्रकार ये ग्यारह प्रकार के समस्तपादगत यमक होते हैं॥ १६॥

अर्धमिति। प्रथममर्धं पुनरावृत्तं भूय उच्चरितं समुद्गकाख्यं यमकं जनयति करोति। नामशब्दः संस्थाननिषेधसूचनार्थः। तेन चित्रमध्येऽस्य नान्तर्भावः। अर्धद्वयसारूप्येण च समुद्गकसादृश्यम्। श्लोकः श्लोकान्तरे यमकितो महायमकं जनयति। तुः पुनरर्थे। श्लोक इत्येकवचनं द्वयोस्त्र्यादीनां च यमकत्वनिवृत्त्यर्थम्। यथालक्ष्येष्वदर्शनात्। एवं मुखादारभ्य महायमकान्तान्येकादशैतानि समस्तपादयमकानि भवन्ति॥

अर्धमिति। पूर्वार्ध के पुनः आवृत्त होने पर—दुबारा उच्चरित होने पर—समुद्गक नामक यमक होता है। (कारिका) में नाम शब्द संस्थान के निषेध के

लिये आया है। अतएव चित्र (अलंकार) में इसका अन्तर्भाव नहीं होगा। दोनों अर्धांशों के सारूप्य से समुद्गक का सादृश्य होता है। एक श्लोक दूसरे श्लोक में आवृत्त होकर महायमक उत्पन्न करता है। तु पद 'पुनः' अर्थ में आया है। श्लोक में एक वचन का प्रयोग दो-तीन आदि श्लोकों की आवृत्ति को यमक के क्षेत्र से अलग करता है। उदाहरणों में उपलब्ध न होने के कारण। इस प्रकार मुख से लेकर महायमक तक समस्तपाद यमक के ग्यारह भेद हुए॥

तत्र समुद्गकम्—

ननाम लोको विदमानवेन मही न चारित्रमुदारधीरम्।
न नामलोऽकोविदमानवेनमहीनचारित्रमुदारधीरम्॥ १७॥

उनमें समुद्गक (का उदाहरण देते हैं)--

लोक जिसके कर्म पवित्र हैं, जिसका हर्ष शत्रुओं की रक्षा नहीं करता है, जो निर्मल है वह स्तुतिपूर्वक उदार और धीर, उच्च चरित्रवाले, मूर्खों के 'अहम्' को नष्ट करनेवाले, शत्रुओं की बुद्धि को प्रेरित करनेवाले पण्डित को स्तुतिपूर्वक प्रणाम करता है॥ १७॥

ननामेति। लोको जनो विदं पण्डितं ननाम प्रणतः। केन। आनवेन स्तुत्या। कीदृशः। महा उत्सवाः सन्त्यस्येति मही तथारीन्रिपूंस्त्राय-तेऽरित्रा मुत्प्रमोदो यस्य स तथाभूतो न च नैव। विदं कीदृशम्। अरीणां समूह आरं तस्य धीर्बुद्धिस्तामीरयतीति तं तथाविधम्। लोकस्तु न नामलः, अपि त्वमलो निर्मल एव। विदं पुनः कीदृशम्। अकोविदा मूर्खास्तेषां मानमहंकारं वान्ति गन्धयन्ति नाशयन्तीत्यकोविदमानवास्ते-षामिनः स्वामी तम्। तथाहीनचारित्रमखण्डशीलम्। उदारो विपुला-शयो धीरो धैर्योपेतः। उदारं च धीरं चेति॥

ननामेति। लोक पण्डित को प्रणाम करता है—कैसे—स्तुतिपूर्वक। कैसा (लोक) मही अर्थात् बड़े बड़े उत्सवोंवाला। तथा शत्रुओं की रक्षा करनेवाला अरित्रा हर्ष जिसका नहीं है। कैसे पण्डित को (नमस्कार करता है)—जो शत्रु-मण्डल की बुद्धि को प्रेरित करता है। लोक भी अमल नहीं है ऐसा नहीं—अर्थात् निर्मल ही। फिर कैसे पण्डित को। अकोविद अर्थात् मूर्ख उनके मान एवं अहंकार को जो नष्ट करते हैं वे हुये अकोविद मानव—उनका स्वामी—ऐसे (पण्डित) को। तथा अखण्ड चरित्रवाले (पण्डित को)। उदार अर्थात् विशाल हृदयवाला धीर अर्थात् धैर्य से युक्त। उदार और धीर (पण्डित) को (लोक नमस्कार करता है)॥

अथ महायमकं श्लोकद्वयेनाह—

स त्वारं भरतोऽवश्यमबलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषीदवानलसमस्थितः ॥ १८ ॥
सत्त्वारम्भरतो वश्यमवलम्बिततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥ १९ ॥

आगे दो श्लोकों में महायमक का उदाहरण देते हैं—

वह (पण्डित) निष्क्रिय से दूर हटकर (शत्रुओं के) अस्थिपंजर को नष्ट करता हुआ, भयभीत, शक्तिहीन, शत्रुसमुदाय को सदैव रण में जुझाता है। बलपूर्वक अपनी क्रियाओं को शुरू करनेवाला, वृक्षों (वनों) की शरण लेनेवाले वशंगत शत्रुमण्डल को (समर में जुझाता हुआ) सब को नष्ट करने के कारण मान का इच्छुक, दावाग्नि के तुल्य स्थितिवाला (पण्डित समर करता है) ॥ १८–१६ ॥

स इति । सत्त्वेति । स पूर्वप्रकान्तो वित् । तुशब्दः क्रियान्तरोपन्यासार्थः । आरमरिसमूहम्, भरतो भरेण, अवश्यं निश्चितम्, अबलं बलरहितम्, विततारवं कृतभयार्तिविस्तीर्णनिःस्वनम्, सर्वदा सदा, रणं समरम्,आनैषीदानीतवान । कीदृशोऽसौ । अवानगच्छन् । कम् । अलसं निष्क्रियं जनम् । तथास्थितोऽस्थीनि शत्रूणां तस्यति क्षयं नयतीत्यस्थित इति । तथा सत्त्वेनावष्टम्भेनारम्भा ये तेषु रतः सक्तः । कीदृशमारम् । वश्यं वशगतमथवावश्यमनायत्तम्, अवलम्बिततारवं समाश्रिततरुसमूहम् । वित्कीदृशः । सर्वदारणमानैषी सर्वेषां यद्दारणं विनाशनं तेन मानमिच्छतीति कृत्वा, अत एव दवानलेन दवाग्निना समं तुल्यं स्थितं स्थितिर्यस्येति । शब्दश्लेषस्यास्य च महायमकस्यायं विशेषः । तत्रैकेनैव प्रयत्नेन वाक्यद्वयमुच्चार्यते, इह तु द्वाभ्याम् ॥

स इति । सत्त्वेति । वह पूर्व से प्रकरणगत पण्डित । तु शब्द दूसरी क्रिया के उपादान के लिये (आया है) । (उस पण्डित ने) रिपुमण्डल को बलात्—(जो) निश्चय ही शक्तिहीन था और भय के कारण जिसका रोदन बढ गया था—सदैव समर में जुझाया । कैसा था वह (वित्)—जो चलता नहीं था । किसे ? निश्चेष्ट को । (फिर कैसा था वह वित्) जो शत्रुओं की हड्डियों को तोड़ देता था । तथा पराक्रमपूर्वक प्रारंभ किये गये कार्यों में जो व्याप्त रहता था । कैसे रिपुमण्डल को ? शरण में आये हुये अथवा निश्चय ही अधीन हुये एवं वृक्षों की शरण लेने वाले । (फिर) कैसा वित् (पण्डित) । सब को जो

नष्ट करता था उसके कारण जिसे मान पाने की इच्छा हो गयी थी अतएव दावाग्नि के समान जिसकी स्थिति थी। शब्दश्लेष और महायमक में यह भेद है--उस (शब्द श्लेष) में एक ही प्रयत्न से दोनों वाक्यों का उच्चारण होता है यहाँ (महायमक में) दो प्रयत्नों से ॥

एवं समस्तपादजं यमकमाख्यायेदानीमेकदेशजमाह—

पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य तत्रैकदेशजं कुर्यात्।
आवर्तयेत्तमंशं तत्रान्यत्रापि वा भूयः ॥ २० ॥

इस प्रकार समस्तपादगत यमक (भेदों) को बताकर अब एकदेशगत का वर्णन करते हैं--

पाद को दो या तीन अंशों में विभक्त कर उन (विभक्त अंशों) में आवृत्ति करके एकदेशगत यमक (के भेदों) की रचना करे। उस विभक्त अंश को उसी के स्थानीय अथवा अन्यस्थानीय भागों में अनेक आवृत्त करे ॥२०॥

पादमिति। यच्छन्दोऽर्धादिभागं ददाति तस्य पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य द्विखण्डं त्रिखण्डं वा कृत्वा तत्र विभक्तेंऽश एकदेशजं यमकं कुर्यात्। कथमित्याह—आवर्तयेद्यमकयेत्तमंशं विभक्तं भागम्। तत्रैवांशे प्रथमार्धानि प्रथमार्धेषु द्वितीयार्धानि द्वितीयार्धेष्वित्यादिक्रमेण। अन्यत्र वाप्यंशान्तरैर्भूयः प्रभूतमावर्तयेत्। अंशान्तरावृत्तौ बहवो भेदा भवन्तीत्यर्थः। अपिशब्दः समुच्चये ॥

पादमिति। जिस छन्द में अर्ध आदि खण्ड होते हैं उसके (एक) चरण को दो या तीन खण्डों में विभक्त करके उस विभक्त अंश में एकदेशगत यमक की रचना करे। किस प्रकार (रचना करे)--इसे बताते हैं--उस विभक्त खण्ड को (पुनः) आवृत्त कर के। उसी विभक्त अंश में प्रथम-अर्ध प्रथम-अर्धों में, द्वितीय-अर्ध द्वितीय अर्धों में—इस क्रम से रचना करे। और स्थलों पर भी, अथवा, अन्य विभक्त अंशों की पुनः पुनः आवृत्ति करे। अन्य विभक्त अंशों में (प्रथम अर्ध का द्वितीय अर्ध में आदि) आवृत्ति करने पर यमक के अनन्त भेद होते हैं। (कारिका में) अपि शब्द समुच्चय के अर्थ में आया है।

तत्रैवावृत्त्या ये भेदाः संभवन्ति तानाह—

आद्यर्धान्यन्योन्यं पादावृत्तिक्रमेण जनयन्ति।
दश यमकान्यपरस्मिन्परिवृत्त्या तद्वदन्यानि ॥ २१ ॥

उसी (निश्चित) स्थल में आवृत्ति होने पर जो भेद हो सकते हैं उन्हें बताते हैं—

आद्यर्ध परस्पर पादावृत्ति के ही क्रम से दश यमक उत्पन्न करते हैं; उसी प्रकार परिवृत्ति होने पर अन्त्यार्ध भी अन्य दश यमक (उत्पन्न करते हैं) ॥२१॥

आद्यर्धानीति । श्लोकपादचतुष्टयस्य प्रथमार्धान्यपरस्मिन्पादेऽन्योन्यं परस्परं पादावृत्तिक्रमेण समस्तपादद्वययमकवद्दश यमकानि जनयन्ति । तद्वत्तथैव चान्यान्यपि दश जनयन्ति । तानि च मुखसंदंशावृत्तिगर्भसंदष्टकपुच्छपङ्क्तिपरिवृत्तियुग्मकसमुद्गकसंज्ञानि ॥

आद्यर्धानीति । श्लोक के चारों पादों के प्रथम अर्ध दूसरे पाद में दूसरे पादों में परस्पर आवृत्त होकर पादावृत्ति के ही क्रम से समस्तपादगत यमक की ही तरह दश-यमक उत्पन्न करते हैं । उसी प्रकार अन्त्य (अर्ध) भी दश यमक उत्पन्न करते हैं । उनके नाम हैं—मुख, संदेश ; आवृत्ति, गर्भ, संदष्टक, पुच्छ, पङ्क्ति, परिवृत्ति, युग्मक और समुद्गक ॥

किं पुनरेषामुदाहरणानि नोक्तानीत्याह—

एतदुदाहरणानां पादावृत्त्यैव दर्शितो मार्गः ।
इह विंशतिभेदमिदं यमकं नोदाहृतं तेन ॥ २२ ॥

फिर इनके उदाहरण क्यों नहीं दिये—इसे बताते हैं--

पादावृत्ति के ही क्रम से इन उदाहरणों का मार्ग दिखा दिया गया । अत एव (पादार्धावृत्त) इस यमक के २० भेदों का उदाहरण नहीं दिया गया ॥ २२ ॥

एतदिति । समस्तपादावृत्तियमकोदाहरणैरेव पूर्वोक्तैरेतदुदाहरणानां दिक्प्रदर्शनं कृतमितीह विंशतिभेदं यमकं नोदाहृतमिति । यद्यपि चोभयत्राप्यत्रैकादशोऽपि भेदः संभवति । यथा यादृशानि प्रथमश्लोक आद्यन्तानि चार्धानि कृतानि तादृशान्येव तानि लोकान्तरे क्रियन्त इति कृत्वा तथापि महाकवीनां न क्वचिदेवंविधं लक्ष्यं दृश्यत इति दशैव भेदा उक्ताः ॥

एतदिति । पहले बताये गये समस्तपादावृत्ति के यमक के उदाहरणों से ही इस के उदाहरणों का दिगुन्मीलन कर दिया गया इसलिये २० भेदवाले यमक का उदाहरण नहीं दिया गया । यद्यपि दोनों ही (प्रथमार्ध और अन्त्यार्ध स्थलों में ग्यारहवाँ भी प्रकार (भेद) संभव है । जैसे जिस प्रकार प्रथम श्लोक में आद्य और अन्त्य अर्ध किये गये उसी प्रकार के दूसरे श्लोक में भी बनाये जाँय—इस प्रकार (ग्यारहवाँ भेद होगा) तथापि महाकवियों में इस प्रकार कहीं कोई उदाहरण नहीं मिलता—इस लिए दश ही भेद बनाये गये ॥

इदानीमन्यत्र देश आवृत्त्या तानाह—

प्रथमतृतीयान्त्यार्धे तदनन्तरभागयोः परावृत्ते ।
अन्तादिकमिति यमकं व्यस्तसमस्ते त्रिधा कुरुतः ॥ २३ ॥

अब भिन्न स्थल में आवृत्ति होने पर उन (भेदों की) चर्चा करते हैं--

प्रथम और तृतीय पादों के अन्त्यार्ध के बाद वाले आद्यर्ध में एक एक करके अथवा एक साथ आवृत्त होने पर तीन प्रकार का अन्तादिक नामक यमक होता है ॥ २३ ॥

प्रथमेति । प्रथमपादान्त्यार्धं द्वितीयपादाद्यर्धे तृतीयपादान्त्यार्धं च चतुर्थपादाद्यर्धे परावृत्तं प्रत्येकं युगपच्चेत्यन्तादिकं नाम त्रिविधं यमकमन्ताद्योर्यमकनाद्भवतीति ॥

प्रथमेति । प्रथम पाद के अन्त्यार्ध के द्वितीयपाद के आद्यर्ध में और तृतीय पाद के अन्त्यार्ध के चतुर्थपाद के आद्यर्ध में आवृत्त होने पर पृथक् पृथक् और एक साथ—अन्त और आदि में यमक होने पर अन्तादिक नामक तीन प्रकार का यमक होता है ॥

तत्रोदाहरणानि—

नारीणामलसं नाभि लसन्नाभि कदम्बकम् ।
परमास्त्रमनङ्गस्य कस्य नो रमयेन्मनः ॥ २४ ॥

उनके उदाहरण देते हैं—

कामदेव का परमास्त्र भयार्त्त, मन्थरगति वाला एवं मनोहर नाभिवाला रमणीसमुदाय जिसके चित्त को नहीं आकर्षित कर लेता ॥ २४ ॥

नारीणामिति । नारीणां कदम्बकं स्त्रैणं कस्य मनश्चित्तं नो रमयेत्प्रीणयेत् । कीदृशम् । अलसं मन्थरगमनम् । तथा नाभि अबलात्वात्सभयम् । तथा लसन्ती मनोज्ञा नाभिर्यस्य तत्तथा । तथा परमास्त्रं प्रकृष्टायुधमनङ्गस्य ॥

नारीणामिति । स्त्रियों का समुदाय किसके चित्त को नहीं प्रसन्न कर देता । कैसा (समुदाय) ? अलस अर्थात् मन्थरगतिवाला तथा नाभि-अबला होने के कारण भयभीत तथा मनोहर नाभिवाला तथा कामदेव का परम अस्त्र (ऐसा स्त्रियों का समुदाय) ॥

द्वितीयोदाहरणमाह—

पश्यन्ति पथिकाः कामशिखिधूमशिखामिव ।
इमां पद्मालयालीनां लयालीनां महावलीम् ॥ २५ ॥

द्वितीय (अन्तादिक) का उदाहरण देते हैं—

भ्रमरों की परस्पर संवलित इस दीर्घ श्रेणी को राही कामाग्नि की धूमराजि मानते हैं ॥ २५ ॥

पश्यन्तीति। पद्मान्यालयो येषां ते च तेऽलयश्च भ्रमराश्च तेषां महावलीं दीर्घश्रेणीमिमां पथिकाः पान्थाः पश्यन्ति। कीदृशीम्। लयेनान्योन्यश्लेषेणालीनां संबद्धाम्। कामशिखिधूमशिखामिव स्मरानलधूमलेखामिव। इति व्यस्तोदाहरणे॥

पश्यन्तीति। कमल में निवास करनेवाले उन भ्रमरों की विशाल पङ्क्ति को ये राही देखा करते हैं। कैसी (पङ्क्ति)—परस्पर संपृक्त होने के कारण संबलित। (पथिक-पङ्क्ति) कामाग्नि की धूमराजि सी (मानते हैं)—यह पृथक् पृथक् का उदाहरण हुआ॥

समस्तोदाहरणमाह—

पुष्यन्विलासं नारीणां सन्नारीणां कुलक्षयम्।
आ कल्पं वसुधासार सुधासार जगज्जय॥ २६॥

(अब) एक साथ (आवृत्त होने पर) उदाहरण देते हैं—

हे पृथ्वी के रत्न, अमृत वर्षण करनेवाले, कामिनियों का विलास बढ़ाकर, दुःख में पड़े शत्रुओं का कुलनाश करके (आप) कल्पान्त तक जगद्विजयी हों॥ २६॥

पुष्यन्निति। हे वसुधासार भूप्रधान नृप, आ कल्पं युगान्तं यावज्जगद्भुवनं जय। कीदृश। सुधासार अमृतवेगवर्ष। किं कुर्वन्। पुष्यन्पुष्टिं नयन्। कम् विलासम्। कासाम्। नारीणाम्। तथा सन्नानामवसादं गतानामरीणां रिपूणां कुलक्षयमन्वायान्तं पुष्यन्। अन्तर्भावितकारितार्थोऽत्र पुषिः सकर्मकः॥

पुष्यन्निति। हे पृथिवी के सार-धरती पर अग्रगण्य राजन् कल्पान्त तक जगद्विजयी हों। कैसे—अमृत-धार का वर्षण करनेवाले। क्या करते हुये—बताते हुये—क्या—विलास, किसका—कामिनियों का। (फिर) क्या करते हुये—दुःख में पड़े हुये शत्रुओं के कुलक्षय का पोषण करते हुये (कुलक्षय करते हुये)। यहाँ सकर्मक (क्रिया) पुषि में कारितार्थ अन्तर्भावित है॥

भेदान्तराण्याह—

द्वैतीयमन्यमर्धं परिवृत्तमनन्तरे भवेन्मध्यम्।
मध्यसमस्तान्तादिकयोगादपि जायते वंशः॥ २७॥

अन्य भेद बताते हैं—

द्वितीय पाद के अन्त्यार्ध के बाद में (तृतीय पाद के आद्यर्ध में) आवृत्त होने पर मध्य नामक यमक होता है। मध्य और समस्तान्तादिक के योग से वंश नामक यमक होता है ॥ २७ ॥

द्वैतीयमिति । द्वितीयपादस्यान्त्यार्धं तृतीयपादाद्यर्धे परिवृत्तं मध्याख्यं यमकं जनयति। एतस्य मध्यस्य पूर्वोक्तसमस्तान्तादिकस्य योगे वंशो नाम यमकम्। समस्तग्रहणं व्यस्तान्तादिकनिवृत्त्यर्थम्। तन्निवृत्तिस्तु लक्ष्यदर्शनात्, न त्वसंभवात्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अपिः समुच्चये ॥

द्वैतीयमिति। द्वितीय पाद के अन्त्यार्ध के तृतीय पाद के आद्यर्ध में आवृत्त होने पर मध्याख्य नामक यमक होता है। इस मध्य के पहले बताये गये समस्तान्तादिक के साथ प्रयोग होने पर वंश नामक यमक होता है। समस्त का ग्रहण व्यस्त अन्तादिक के योग में निषेध करने के लिये हैं। उसका निषेध असंभव होने के कारण नहीं अपितु उदाहरण न मिलने के कारण किया गया है। 'अपि' (कारिका में) समुच्चय अर्थ में आया है ॥

तत्रोदाहरणमाह—

समस्तभुवनव्यापियशसस्तरसेहते।
रसेहते प्रियं कर्तुं प्राणैरपि महीपते ॥ २८ ॥

उनमें उदाहरण देते हैं—

हे राजन्! समस्त भुवन में प्रथित यशवाले आपके हित को यहाँ पृथ्वी शीघ्र ही प्राणों से भी (धन आदि का कहना ही क्या) करना चाहती है ॥२८॥

समस्तेति। हे महीपते भूपते, तवेहात्र रसा पृथ्वी प्राणैरपि। आस्तां धनादिभिः। प्रियं हितं कर्तुमीहते चेष्टते,। तरसा झटिति। कीदृशस्य ते। समस्तभुवनव्यापियशसः सकलजगद्व्यापिश्लोकस्य। इति मध्यः ॥

समस्तेति। हे राजन्! तुम्हारी इस लोक में पृथ्वी प्राणों से भी धन आदि का तो कहना ही क्या—हित करना चाहती है। तरसा अर्थात् शीघ्र ही। कैसे तुम्हारी? निखिल भुवनों में व्याप्त यशवाले। यह मध्य (का उदाहरण हुआ)।

अथ वंशः—

ग्रीष्मेण महिमानीतो हिमानीतोयशोभितः।
यशोऽभितः पर्वतस्य पर्व तस्य हि तन्महत् ॥ २९ ॥

अब वंश (का उदाहरण देते हैं)—

गर्मी ने हिमजल से शोभित महिमा ले आ दिया; चारो ओर पर्वत का यश (फैला है) जो उसका महापर्व (उत्सव) है ॥ २९ ॥

ग्रीष्मेणेति। ग्रीष्मेण निदाघेन पर्वतस्य शैलस्य महिमा माहात्म्यमानीतः। कीदृशः। महद्धिमं हिमानी ततः स्रुतेन तोयेनाम्बुना शोभितो राजितः। हि यस्मात्तस्य पर्वतस्य तद्धिमानीतोयमभितः समन्ताद्यशो वर्तते। तथा पर्व महोत्सवश्च महन्महाप्रमाणम्॥

ग्रीष्मेणेति। ग्रीष्म ने पर्वत की महिमा ले आ दी——कैसा महिमा——हिमसंघात से टपके हुये जल से शोभित, क्योंकि उस पर्वत का उस हिम जल के चारों ओर यश फैला है। तथा पर्व महोत्सव (उसका) महान् है॥

पुनर्भेदमाह—

आवृत्तं प्रथमादौ द्वितीयमर्धं चतुर्थपादस्य।
वंशश्च चक्रकाख्यं षष्ठं चान्तादिकं यमकम्॥ ३०॥

आगे और भेद बताते हैं——

प्रथम पाद के आद्यर्ध चतुर्थ पाद के अन्त्यार्ध में आवृत्त होने पर और वंश नामक यमक का प्रयोग होने पर अन्तादिक यमक का चक्रक नामक छठा भेद होता है॥ ३०॥

आवृत्तमिति। चतुर्थपादद्वितीयार्धं प्रथमपादाद्यर्धेन सहावृत्तं पूर्वोक्तवंशश्चेति यमकयोगे चक्रकं नाम यमकम्। षष्ठोऽन्तादिकभेदः। एकश्चकारो वंशकसमुच्चये द्वितीयश्च चक्रस्यान्तादिकमध्ये समुच्चयार्थः॥

आवृत्तमिति। चतुर्थपाद के द्वितीयार्ध के प्रथम पाद के आद्यर्ध के साथ आवृत्त होने पर और पूर्ववर्णित वंश नामक यमक का योग होने पर चक्रक नामक यमक होता है। अन्तादिक का (यह) छठाँ भेद है। एक चकार वंशक के समुच्चय के लिये और दूसरा चक्र के अन्तादिक के मध्य में समुच्चय के लिये आया है॥

सभाजनं समानीय स मानी यः स्फुटन्नपि।
स्फुटं न पिहितं चक्रे हितं चक्रे सभाजनम्॥ ३१॥

वही मनस्वी होता है जो शुभ दर्शनवाले सभाजनों को अपने समीप पाकर राष्ट्र में, बिना डींग हाँके गुप्तरूप से अनुकूल आचरण करता है॥ ३१॥

सभाजनमिति। स एव मानी मनस्वी यश्चक्रे राष्ट्रे हितं चक्रेऽनुकूलं चकार। किं कृत्वा। सभाजनं सभालोकं समानीय सम्यगात्मसमीपं प्रापय्य। सभ्यानां विदितं कृत्वेत्यर्थः। कथं हितं चक्रे। पिहितं गुप्तम्, न स्फुटं प्रकटम्। अविकत्थनात्। किं कुर्वन्नपि स्फुटन्नपि पीडितोऽपि। कीदृशं सभाजनम्। सभाजनं प्रीतिदर्शनम्। लक्षणं सर्वत्र स्वधिया योज्यम्।

अत्र च सप्तमोऽप्येष भेदः संभवति। यत्र केवलमेव प्रथमाद्यर्धे चतुर्थान्त्यार्धमावर्त्यते स तु पूर्वकविलक्ष्येषु दृश्यमानोऽपि कथमपि नोक्तः॥

सभाजनमिति। वही मनस्वी है जिसने राष्ट्र में हित कार्य किया। क्या करके? सभालोक को अपने समीप में भली भाँति मिलाकर–अर्थात् शिष्टों को बताकर। किस प्रकार हित किया? गुप्त रूप से—स्पष्ट रूप से नहीं, डींग न हाँकने के कारण। और क्या करके? (स्वयं) पीडित होकर भी। कैसे सभालोक को (बताकर)? जिसका दर्शन सुखकर है। लक्षण की योजना सर्वत्र अपनी बुद्धि से करनी चाहिए। यहाँ साँतवाँ यह भेद भी हो सकता है—जहाँ केवल प्रथम (पाद) का आद्यर्ध चतुर्थ के अन्त्यार्ध में आवृत्त होता है–उसका उदाहरण पूर्व कवियों में मिलने पर भी किसी प्रकार नहीं कहा गया॥

अथाद्यन्तकभेदानाह—

प्रथमादिप्रथमार्धैः परिवृत्तान्यत्र सार्धमर्धानि।
अन्त्यान्यनन्तराणां जनयन्त्याद्यन्तकं नाम॥ ३२॥

आगे आद्यन्तक के भेदों का वर्णन करते हैं—

प्रथम आदि पादों के आद्यर्ध के द्वितीय आदि पादों के अन्त्यार्ध में आवृत्त होने पर आद्यन्तक यमक होता है॥ ३२॥

प्रथमादीति। प्रथमद्वितीयतृतीयपादप्रथमार्धैः सार्धमनन्तराणां द्वितीयतृतीयचतुर्थपादानामन्त्यार्धानि परिवृत्तानि यमकितानि सन्त्याद्यन्तकसंज्ञकं यमकं जनयन्ति॥

प्रथमादीति। प्रथम, द्वितीय और तृतीय पादों के आद्यर्ध के साथ बाद के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पादों के अन्त्यार्ध के आवृत्त होने पर आद्यन्तक नामक यमक होते हैं॥

किमेकभेदमेवेदम्। नेत्याह—

इदमप्यन्तादिकवत्क्रमेण षोढैव भिद्यते भूयः।
अस्योदाहरणानां तेनैव च दर्शितो मार्गः॥ ३३॥

क्या इसका एक ही भेद होता है--कहते हैं नहीं—

यह भी—अन्तादिक के समान क्रमशः पुनः छह ही भेदों वाला होता है। इसके उदाहरणों का मार्ग उसी क्रम से दिखला दिया गया है॥ ३३॥

इदमिति। न केवलमन्तादिकमिदमप्याद्यन्तकं तेनैव क्रमेण षोढा षड्भिर्भेदैर्भिद्यते। भूयः पुनः। यथा प्रथमाद्यर्धे द्वितीयपादान्त्यार्धेन सह यमकिते तृतीयाद्यर्धे चतुर्थान्त्यार्धेन सह व्यस्तमाद्यन्तकं द्विधा तदुभययोगे समस्तमिति तृतीयो भेदः। द्वितीयाद्यार्धं तृतीयान्त्यार्धेन

सह मध्यनामा चतुर्थः । मध्यसमस्ताद्यन्तकयोगे वंशः पञ्चमभेदः । प्रथमान्त्यार्धचतुर्थाद्यर्धसारूप्ये वंशे च युगपत्कृते चक्रकं नाम षष्ठः । पूर्ववच्च सप्तमो भेदः सम्भवतीति यत्र प्रथमाद्यर्धचतुर्थान्त्यभागयोः सारूप्यम् । अस्य च निदर्शनानां तेनैवान्तादिकेन मार्गो दर्शितो दिक्प्रदर्शनं कृतमिति नोदाहरणं दत्तम् ॥

इदमिति । केवल अन्तादिक ही नहीं आद्यन्तक भी उसी क्रम से छह भेदों में विभक्त किया जाता है । पुनः, जैसे, प्रथम (पाद) के आद्यर्ध के द्वितीय (पाद) के अन्त्यार्ध के साथ आवृत्त होने पर, तृतीय (पाद) के आद्यर्ध के चतुर्थ (पाद) के अन्त्यार्ध में आवृत्त होने पर आद्यन्तक पृथक् पृथक् दो प्रकार का होता है । दोनों का एक साथ योग होने पर तीसरा भेद होता है । द्वितीय (पाद) के आद्यर्ध के तृतीय (पाद) के अन्त्यार्ध के साथ आवृत्त होने पर मध्य नामक चौथा (आद्यन्तक) यमक होता है । मध्य और समस्त आद्यन्तक का प्रयोग होने पर वंश नामक पाचवाँ भेद होता । प्रथम (पाद) के अन्त्यार्ध के चतुर्थ (पाद) के आद्यर्ध में आवृत्त होने पर और वंश का प्रयोग होने पर चक्रक नामक छठवाँ यमक होता है । पहले बतायी गयी रीति से ही सातवाँ भेद भी हो सकता है—जहाँ प्रथम (पाद) के आद्यर्ध और चतुर्थ (पाद) के अन्त्यार्ध में सरूपता हो । इसके उदाहरणों का भी उसी अन्तादिक से दिगुन्मीलन कर दिया गया । अतएव उदाहरण अपेक्षित नहीं ॥

भूयो भेदमाह—

प्रथमतृतीयाद्यर्धे तदनन्तरचरमयोः परावृत्ते ।
भवति समस्तान्तादिकयोगादप्यर्धपरिवृत्तिः ॥ ३४ ॥

और भी भेद बताते हैं—

प्रथम और तृतीय पादके आद्यर्ध भाग के द्वितीय और चतुर्थ पादके अन्त्यार्ध में क्रमशः आवृत्त होने पर और समस्तान्तादिक के योग होने पर अर्धपरिवृत्ति नामक यमक होता है ॥ ३४ ॥

प्रथमेति । प्रथमाद्यर्धं द्वितीयपादान्त्यार्धेन तृतीयाद्यर्थं चतुर्थान्त्यार्धेन यमकितं समस्तान्तादिकं चेत्युभययोगेऽर्धपरिवृत्तिर्नाम भवति ॥

प्रथमेति । प्रथम (पाद) के आद्यर्ध के द्वितीय (पाद) के आन्त्यार्ध के साथ, तृतीय (पाद) के आद्यर्ध के चतुर्थ (पाद) के अन्त्यार्ध के साथ आवृत्त होने पर और समस्तान्तादिक—इन दोनों के योग में अर्धपरिवृत्ति नामक (यमक) होता है ॥

यथा—

ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा ।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरं नवा ॥ ३५ ॥

जैसे—

कामदेव के साथ सारसों से युक्त, नवीन गाड़ियों वाली तथा पक्षियों के कलरव से युक्त, नवीन शरदृतु शीघ्र ही व्याप्त हो गयी ॥ ३५ ॥

ससारेति। कन्दर्पेण कामेन साकं सार्धं दर्पेण वेगेन शरत्ससा प्रसृता कीदृशी सा। ससारसा सह सारसैः पक्षिविशेषैर्वर्तते या सा। तथा नवानि नूतनान्यनांसि शकटानि यस्यां सा नवानाः। तथा शरं काण्ड-तृणविशेषं बिभ्राणा धारयमाणा। तथा भ्राणनं भ्राणः शब्दः। वीनां पक्षिणां भ्राणो विभ्राणो न विद्यते विभ्राणो यस्यां साऽविभ्राणा नैवंविधा। सपक्षिरुतेत्यर्थः। तथा नवा प्रत्यग्रा तत्कालप्रवृत्तत्वात् ॥

ससारेति। कामदेव के साथ शीघ्र ही शरद् ऋतु व्याप्त हो गयी। कैसी है वह (शरद्)? ससारसा अर्थात् सारस नामक विशेष पक्षियों वाली, तथा नवीन नवीन गाड़ियो वाली एवं शरकण्डों से भरी हुयी। फिर भ्राणन है भ्राण अर्थात् शब्द--पक्षियों का भ्राण जिसमें नहीं है वह हुयी अविभ्राणा। ऐसी जो नहीं है—अर्थात् पक्षियों के कलरव से युक्त। तथा शीघ्र ही फैली होने के कारण जो नवीन है ॥

पुनर्भेदान्तराण्याह--

पादसमुद्गकसंज्ञं तत्रावृत्तानि कुर्वते तच्च ।
अन्तरितानन्तरितव्यस्तसमस्तेषु पादेषु ॥ ३६ ॥

आगे और भी भेद बताते हैं--

एक या दो पादका अन्त देकर अथवा बिना अन्तर दिये एक एक करके अथवा एक साथ ही सभी पादों में उसी पाद के आवृत्त होने पर पाद समुद्गक नामक यमक होता है ॥ ३६ ॥

पादेति। चतुर्णामपि पादानां यान्यर्धानि तानि तत्रैव पादे परिवृत्तानि सन्ति पादे पादे समुद्गकसादृश्यात्पादसमुद्गकं नाम यमकं कुर्वन्ति। तच्च पादेष्वन्तरितेषु व्यावहितेष्वनन्तरितेषु च तथा व्यस्तेषु केवलेषु समस्तेषु च पादेषु बहुधा भवति। ते च बहवः प्रकाराः पञ्चदश। कथमन्तरितं तावत्पञ्चधा। प्रथमतृतीययोर्द्वितीयेन, द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयेन, प्रथम-तृतीयचतुर्थानां द्वितीयेन, प्रथमद्वितीयचतुर्थानां तृतीयेनान्तरणम्। इत्ये-कान्तरितं चतुर्भेदम्। प्रथमचतुर्थयोस्तु द्वितीयतृतीयाभ्यामिति द्व्यन्तरि-

त्समेकमेव। इत्यन्तरितं पञ्चभेदम्। अनन्तरितमपि प्रथमद्वितीययोगर्युपद्द्वितीयतृतीययोर्वा तृतीयचतुर्थयोर्वेति द्वियोगे त्रिभेदम्। त्रियोगेन तु प्रथमद्वितीयतृतीयानां द्वितीयतृतीयचतुर्थानां चेति द्विभेदम्। एवमेकत्रानन्तरितं तत्पञ्चधा। तथा व्यस्तेषु चतुर्षु पादेषु चत्वारो भेदाः, समस्तेषु त्वेक एव भेदः। इत्येवं सर्वे पञ्चदश॥

पादेति। चारों पादों के जो अर्ध (अंश) होते हैं वे उसी पाद में आवृत्त होते हैं। प्रत्येक पाद में समुद्गक की सरूपता धारण करने वाले समुद्गक नामक यमक बनाते हैं। वे पादों में अन्तर देकर पृथक् पृथक् और एक साथ पादों में आवृत्त होकर (अनेक) प्रकार से होते हैं। वे अनेक प्रकार पन्द्रह हैं। कैसे--अन्तर देकर पाँच प्रकार का होता है। प्रथम और तृतीय में द्वितीय से, द्वितीय और चतुर्थ में तृतीय से, प्रथम, तृतीय और चतुर्थ में द्वितीय से, प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ में तृतीय से अन्तर होने पर एकान्तरित चार प्रकार का होता है। प्रथम और चतुर्थ में द्वितीय और तृतीय से अन्तर होने पर--दो के अन्तर में एक ही प्रकार का अन्तरित होता है। इस प्रकार अन्तरित के पाँच भेद हुये। अन्तर न होने पर भी प्रथम और द्वितीय में एक साथ, द्वितीय और तृतीय में, तृतीय और चतुर्थ में--इस प्रकार दो के योग में तीन प्रकार का होता है। तीन के योग में, प्रथम, द्वितीय और तृतीय और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ में—यह दो प्रकार का होता है। इस प्रकार एक साथ बिना अन्तर के (समुद्गक) पाँच प्रकार का हुआ। तथा पृथक् पृथक् चारों पादों में चार प्रकारका होता है—एक साथ प्रयोग होने पर एक प्रकार का। इस प्रकार (समुद्गक के) सब पन्द्रह भेद हुये॥

तत्राद्येऽन्तरितभेदद्वये तथा पञ्चदशे समस्तजभेदे च दिक्प्रदर्शनायोदाहरणत्रयमाह। यथा—

मुदा सेनामुदासेनादसौ तामसमञ्जसम्।
महीनाथमहीनाथ जयश्रीरालिलिङ्ग तम्॥ ३७॥

उनमें प्रथम अन्तरित के दोनों प्रकार और पन्द्रहवें प्रकार के समस्तगत भेद का मार्ग दिखाने के लिये तीन उदाहरण देते हैं—जैसे:—

इस राजा ने हर्ष पूर्वक—इस सेना को सेनापति के समीप से इधर-उधर बिखेर दिया। तदनन्तर संपूर्ण विजय-श्री ने उसका आलिङ्गन किया॥ ३७॥

मुदेति। असौ महीनाथो राजा तां सेनां मुदा हर्षेण इनात्स्वामिनः सेनाभर्तुः सकाशादुदास चिक्षेप। वियोजितवानित्यर्थः। कथम्? अस-

मञ्जसमितस्ततः। अथानन्तरं महीनाथम्–अहीना सम्पूर्णा जयलक्ष्मीरालिलिङ्ग परिषस्वजे।।

मुदेति। पृथ्वी—पातालक इस राजाने प्रसन्नता से ही उस सेना को सेनापति के पास से छिन्न भिन्न कर दिया। अर्थात् अलग कर दिया। किस प्रकार? तितर–बितर के। इसके पश्चात् संपूर्ण विजय श्री ने राजा का आलिङ्गन किया।

द्वितीयोदाहरणमाह—

यत्त्वया शात्रवं जन्ये मदायतमदायत।
तेन त्वामनुरक्तेयं रसायत रसायत।। ३८।।

दूसरा उदाहरण देते हैं—

मद के कारण रण में जो तुमने विस्तीर्ण शत्रुमण्डल को काट डाला इससे अधिक राग वाली अनुरक्त हुयी यह धरती तुम्हें प्राप्त हुयी।। ३८।।

यदिति। कश्चिद्राजानमाह—यद्यस्मात्त्वया शात्रवं शत्रुगणो जन्ये रणेऽदायताल्लूयत तेन हेतुनेयं रसा पृथ्व्यनुरक्ता सती त्वामयतागता। 'अय गतौ' इत्यस्य रूपम्। कीदृशम्। शात्रवं मथ्नातीति मत् रिपुमथनसमर्थम्। आयतं विस्तीर्णम्। यद्वा मदेनायतम्। कीदृशी रसा। आयतरसा त्वां प्रति दीर्घाभिलाषा।।

यदिति। कोई राजा से कह रहा है—चूँकि तुमने सङ्ग्राम में शत्रु मण्डल को काट डाला अत एव (तुममें) आसक्त हुयी यह धरती तुम्हें प्राप्त हुयी। (अयता) रूप गमनार्थक अय धातु से निष्पन्न हुआ है। कैसे (तुम्हें प्राप्त हुयी)? शत्रु-मण्डल को मथता है—मत् अर्थात् शत्रुओं को मथ डालने में सक्षम। विशाल (शत्रु-मण्डल को) अथवा मदके कारण आयत (फूले हुये)। कैसी पृथ्वी? आयतरसा अर्थात् तुम्हारे प्रति गाढ आसक्ति वाली।।

तृतीयोदाहरणमाह—

रसासार रसासार विदा रणविदारण।
भवतारम्भवतारं महीयतमहीयत।। ३९।।

तीसरा उदाहरण देते हैं—

हे भू–श्रेष्ठ! (शृङ्गार आदि) रसों के धारासम्पात! समरभेदक उद्योगी विद्वान् आपने शत्रु-समूह को भूमि (राज्य, निवास) आदि से शून्य कर दिया।। ३९।।

रसासारेति। हे रसासार भूश्रेष्ठ, तथा रसानां शृङ्गारादीनामासार वेगवर्षतुल्य, तथा रणविदारण समरभेदक, भवता त्वया, विदा पण्डितेन, आरम्भवता सोद्योगेन, आरं शात्रवमहीयत हानिं नीतम्। जित-

मित्यर्थः। कीदृशम्। मह्यां पृथिव्यां यतं सम्बद्धम्। हर्म्यादिवियोजितत्वादिति। अन्यदेशावृत्तौ मनोहारित्वमाश्रित्यैते त्रिंशद्भेदा जाताः। यथान्तादिके षट्कमाद्यन्तकेषट्कमिति द्वादश सम्भवन्ति। सप्तमभेदाभ्यां सह चतुर्दश। पञ्चदशार्धपरिवृत्तिः तथामी पादसमुद्गकभेदाश्च पञ्चदशेति। यथेष्टं चावृत्तावसंख्याता भेदाः सम्भवन्ति। ते तु नोक्ताः। कविलक्ष्येष्वदर्शनादरम्यात्वाच्चेति॥

रससारेति। हे पृथ्वी के सार भू-श्रेष्ठ, शृङ्गारादि रसों के वेग-वर्ष (धारा-सम्पात) समर-भेदक, कुशल एवं उद्योगी आप ने शत्रु—समूह को क्षुद्र बना डाला; अर्थात् जीत लिया। कैसे (शत्रु समूह को)? पृथ्वी में राज भवन आदि से निकाल दिये जाने के कारण लिपटे हुये। भिन्न देश में आवृत्ति होने पर सौंदर्य को आश्रय करके ये (अर्धावृत्त) तीस प्रकार के हो गये, जैसे अन्तादिक में छह प्रकार के आद्यन्तक में छह प्रकार—ये बारह भेद संभव है। सातवाँ भेद लेने पर चौदह होंगे। पन्द्रहवी हुयी अर्धपरिवृत्ति तथा पादसमुद्गक के ये पन्द्रह भेद (ये तीस भेद हुये)। स्वेच्छा से आवृत्त होने पर तो अनन्त भेद संभव हैं। उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया क्यों कि कवियोंने उनका उदाहरण नहीं दिया तथा वे रमणीयक भी नहीं होते॥

अधुना प्रकरान्तरमाह—

आवृत्तानि तु तस्मिन्नाद्यर्धान्यर्धशो विभक्तानि।
वक्त्रं तथा शिखान्त्यान्युभयानि च जायते माला॥ ४०॥

अत्र अन्य भेद बताते हैं—

आदि अर्ध के आधे में विभक्त होकर उसी विभक्त अंश में आवृत्त होने पर वक्त्र तथा अन्त्यार्ध के आधे में विभक्त होने पर उसी विभक्त अंश में आवृत्त होने पर शिखा (तथा) दोनों के योग में माला यमक होता है॥४०॥

आवृत्तानीति। पादानामाद्यान्यर्धान्यर्धशः खण्डितानि तस्मिन्नेव खण्डितेऽर्धे यमकितानि वक्त्रं नाम यमकं जनयन्ति। तथान्त्यार्धान्यर्धीकृतानि तस्मिन्नेव यमकितानि शिखां जनयन्ति। वक्त्रशिखयोश्च युगपद्योगे माला भवति॥

आवृत्तानीति। पादों के आदि के आधे अंश के पुनः आधे में खण्डित होने पर उसी खण्डित अंश में आवृत्त होने पर वक्त्र नामक यमक उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्त्य के अर्धांश के आधे में खण्डित होकर उसी खण्डित अंश में आवृत्त होने पर शिखा नामक (यमक) उत्पन्न करते हैं। एक ही छन्द में वक्त्र और शिखा का प्रयोग होने पर माला नामक यमक होता है॥

क्रमेणैषामुदाहरणत्रयमाह—

घनाघनाभिनीलानामास्थामास्थाय शाश्वतीम् ।
चलाचलापि कमले लीनालीनामिहावली ॥ ४१ ॥

क्रमशः इनके तीन उदाहण देते हैं--

बरसने वाले मेघों के समान श्यामल, चञ्चल होकर भी स्थिर वृत्ति का आश्रय ग्रहण करने वाली भ्रमरावली यहाँ कमल में लिपटी हुयी है ॥ ४१ ॥

घनेति । इह कमले पद्मेऽलीनां भ्रमराणामावली पङ्क्तिर्लीना श्लिष्टा। कीदृक् । चलाचलापि चञ्चलापि । कीदृशामलीनाम् । घनाघना वार्षुक-मेघास्तद्वदभिनीलानां श्यामानाम् । किं कृत्वा । लीनां शाश्वतीं स्थिरा-मास्थां वृत्तिमास्थाय कृत्वा । वक्त्रमिदम् ।

घनेति । यहाँ कमल में भौंरों की पंङ्क्ति लिपटी हुयी है । कैसी (है वह पङ्क्ति)? चञ्चल होकर भी कैसे भ्रमरों की ? बरसने वाले मेघों के समान श्यामल (वर्ण वाले)? क्या करके ? लीन वृत्ति—स्थिर व्यापार वाली होकर यह वक्त्र यमक है ॥

यासां चित्ते मानोऽमानो नारीर्भूयोऽरं ता रन्ता ।
सोरप्रेमा सन्नासन्ना जायेतैवानन्ता नन्ता ॥ ४२ ॥

जिनके चित्त में असीमित मान है ऐसी रमणियाँ अधिक हैं और समीप हैं । उनसे रमण करने सतत प्रेम वाला विनम्र सत्पुरुष शीघ्र ही पैदा होगा ॥४२॥

यासामिति । सन्ना सत्पुरुषो भूयः पुनररं शीघ्रं जायेतैव भवेदेव । कीदृशः । रन्ता रमणशीलः । रमेरन्तभूतकारितार्थाद्रमयितेत्यर्थः । कास्ताः नारीः । कीदृशीः । अनन्ताः प्रचुरास्तथा आसन्ना अभ्यर्णाः । यासां नारीणां चित्ते मनसि मानोऽहंकारोऽमानोऽतिबहुः । कीदृशः । सन्ना नन्ता नम्रः । सारप्रेमा स्थिरप्रीतिः । इति शिखा ॥

यासामिति । सज्जन पुरुष शीघ्र ही पुनः उत्पन्न ही होगा । कैसा ? रमण करने वाला । 'रमु' धातु के कारितार्थ (णिजर्थ) के अन्तर्भावित होने के कारण 'रमयिता' यह अर्थ लेना चाहिये । कौन हैं वे । स्त्रियाँ । किस प्रकार की ? असंख्य और समीपस्थ । जिन नारियों के मन में मान अहंकार अत्यधिक है । (किए) कैसा (सज्जन) सदाचारी नम्र । 'सारप्रेमा' अर्थात् अविचल प्रेम वाला । यह शिखा (का उदाहरण है) ।

भीताभीता सन्नासन्ना सेना सेनागत्यागत्या ।
धीराधीराह त्वा हत्वा संत्रासं त्रायस्वायस्वा ॥ ४३ ॥

'हे अभीत (शत्रुओं को) मानसिक कष्ट देने वाले (तुम्हारे पास) आगमन ही जिसका सर्वस्व है, वह विषाद-युक्त, स्वामी के साथ त्रस्त, शत्रु-सेना समक्ष आकर लाचार होकर आप से इस प्रकार कह रही है-अभय देकर (मेरी) रक्षा करो ।। ४३ ।।

भीतेति । कश्चिद्दूतो राजानमाह—हे धीर निर्भय, आधीर मनोदुःखप्रेरक, सा परकीया सेना चमूः सेना सस्वामिका त्वा भवन्तमाह ब्रूते । कीदृशी । भीता त्रस्ता, अभीता सम्मुखमागता, सन्ना सखेदा, आसन्ना निकटवर्तिनी, आगत्य समेत्य, अगत्या गत्यन्तराभावेन । किं तदाह—हत्वा विनाश्य, सन्त्रासं भयम् , त्रायस्व पालय । पुनः कीदृशी । आयस्वा आयस्त्वत्सकाशादागमनमेव स्वं धनं यस्याः । इति माला ।।

भीतेति । कोई दूत राजा से कह रहा है-हे अभीत, मनोवेदना (शत्रुओं) को देने वाले, वह परायी सेना स्वमी के साथ आप से निवेदन कर रही है । कैसी ? डरी हुयी, समक्ष आकर, दुःखित होकर, पास में उपस्थित होकर—आकर, और कोई उपाय न होने के कारण । वह क्या कह रही है ? भय को नष्ट करके (हमें) बँचाओ । रक्षा करो । फिर कैसी ? आयस्वा अर्थात् आप की शरण में पहुँच जाना ही जिसका सर्वस्व है । यह माला (का उदाहरण है) ।

भूयोऽप्याह—

मध्यान्यर्धार्धानि तु मध्यं कुर्वन्ति तत्र परिवृत्त्या ।
आद्यन्तान्याद्यन्तं काञ्चीयमकं तथैकत्र ।। ४४ ।।

और भी बताते हैं—

मध्य में अर्धार्ध के उसी स्थल में आवृत्त होने पर मध्य नामक यमक होता है । इसी प्रकार आद्यन्त आवृत्त होकर आद्यन्त नामक यमक उत्पन्न करते हैं । दोनों को एक साथ प्रयोग होने पर काञ्ची यमक होता है ।। ४४ ।।

मध्यानीति । तुः पुनरर्थे । मध्यान्यर्धार्धानि पुनस्तत्रैव मध्ये परिवृत्त्या मध्यं नाम यमकं जनयन्ति । एवमाद्यन्तान्यर्धार्धानि परिवृत्त्याद्यन्तं नाम कुर्वन्ति । तदुभययोगे समकालं काञ्चीयमकं जनयन्ति । तथाशब्दः समुच्चये ।।

मध्यानीति । 'तु' पद का ग्रहण 'पुनः' के अर्थ में किया गया है । मध्य के अर्धार्ध उसी स्थल में आवृत्त मध्य नामक यमक उत्पन्न करते हैं । इसी प्रकार आद्यन्त के अर्धार्ध आवृत्त होकर आद्यन्त नामक (यमक) बनाते हैं । उन दोनों का एक साथ प्रयोग होने पर काञ्ची यमक होता है । तथा शब्द समुच्चय के अर्थ में आया है ।।

तत्रोदाहरणत्रयं क्रमेणाह—

सन्तोऽवत बत प्राणानिमानिह निहन्ति नः ।
सदाजनो जनोऽयं हि बोद्धुं सदसदक्षमः ॥ ४५ ॥

उनके तीन उदाहरण क्रमशः देते हैं:—

उचित अनुचित का विचार करने में असमर्थ, सज्जनों पर आक्षेप करने वाले, ये लोग हमारे प्राणों को यहाँ नष्ट कर रहे हैं। हे सन्तों रक्षा करो ॥ ४५ ॥

सन्त इति । कश्चिदाह—हे सन्तः शिष्टाः, नोऽस्माकं प्राणानवत रक्षत । हि यस्मादयं जनो लोक इहात्रेमान्प्राणान्निहन्ति हिनस्ति । बतेति खेदे । कीदृशो जनः । सदाजनः सतां क्षेप्ता । तथा सच्चासच्च युक्तायुक्तं बोद्धुं ज्ञातुमक्षमोऽसमर्थः । इति मध्यम् ॥

सन्त इति । कोई कह रहा है—हे सज्जनों हमारे प्राणों की रक्षा करो क्योंकि ये (दुष्ट) लोग यहाँ (हमारे) प्राणों की हत्या कर रहे हैं। बत—खेद के अर्थ में आया है । कैसा (जन) समुदाय ? सदाजन—सज्जनों का तिरस्कार करने वाला तथा—युक्त अयुक्त को जानने में असमर्थ । यह मध्य (यमक का उदाहरण है) ॥

दीना दूनविषादीना शरापादितभीशरा ।
सेना तेन परासे ना रणे पुञ्जीवितेरणे ॥ ४६ ॥

"हे मनुष्य ! पुरुष के जीवन के विध्वंसक, रण में बाणों के द्वारा उत्पन्न किये गये भय और हिंसा वाली तथा परितप्त विवाद युक्त नेता वाली विक्षुब्ध सेना किसी वीर के द्वारा पिछाड़ दी गयी ॥ ४६ ॥

दीना इति । कश्चित्कस्यापि कथयति—हे नः पुरुष, तेन केनापि वीरेण रणे समरे सेना चमूः परासे क्षिप्ता । कीदृशे रणे पुंजीवितेरणे क्षेप्तरि । सेना कीदृशी । दीना निष्पौरुषा । तथा दूनः परितप्तो विषादी विषण्ण इनः स्वामी यस्याः सा तथाभूता । तथा शरैर्बाणैरापादिता भीर्भयं शरो हिंसा च यस्याः सा तथा इत्याद्यन्तम् ॥

दीना इति । कोई किसी से कह रहा है—हे नर ! उस किसी अलौकिक वीर ने समर में सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया । कैसे समर में ? पुरुष के जीवित (जीवन) के विनाशक । सेना कैसी ? पौरुष जिसका समाप्त हो चुका है तथा खिन्न है—दुःखी है नायक जिसका ऐसी । और भी, बाणों की बौछार से जिसमें भय समा गया है और जिसके सैनिक मारे जा रहे हैं ऐसी । यह आद्यन्त (का उदाहरण) है ॥

या मानीतानीतायामा लोकाधीरा धीरालोका।
सेनासन्नासन्ना सेना सारं हत्वाह त्वा सारम् ॥ ४७ ॥

"जो मनस्वियों के द्वारा अधिष्ठित है, (शत्रु सेना को पराजित करने के कारण) जिसकी सीमा विस्तृत हो गयी है, जो शत्रु लोक को मानसिक पीड़ा देती है जो निडर होकर देखती है, सेनापति के साथ उत्साह वाली वह सेना रिपुसमुदाय को मार कर आप से सही बात ही कह रही है ॥ ४७ ॥

येति। कश्चिद्दूतः स्वसेनासन्देशं राज्ञः कथयति—सा त्वदीया सेना पृतना, आरं रिपुसमूहम्, हत्वा विनाश्य, आह ब्रवीति। त्वा भवन्तम्! किं ब्रवीति। सारं प्रधानं वस्तु। शत्रवो जिता इति निवेदयतीत्यर्थः। तस्यैव सारत्वादिति। कीदृशी। या मानिभिर्मनस्विभिरिताधिष्ठिता। तथा आनीतः संपादितः परबलस्वीकारेणायामो विस्तारो यस्याः सा तथाभूता। लोकानामाधीर्मनःपीडा ईरयति सा लोकाधीरा। तथा धीरो निर्भय आलोकः प्रेक्षणं यस्याः सा तथाभूता। सेना सदण्डनायका, असन्ना सोत्साहा, आसन्ना निकटा। इति काञ्चीयमकम्। पादसमुद्गकभेदवदन्तादिकादियमकभेदवच्चेहापि सर्व एव भेदा द्रष्टव्या इति ॥

येति। कोई दूत राजा से अपनी सेना का संदेश कह रहा है—वह तुम्हारी सेना शत्रु मण्डल को मारकर कह रही है। तुम से कि क्या कह रही है ? मुख्य बात। अर्थात् शत्रु जीत लिया गया—यह कह रही है। क्यों वही तो मुख्य बात है। कैसी (तुम्हारी सेना)। जो मनस्वियों से अधिष्ठित है, फिर जिसकी शत्रुसेना की दृष्टि में रखकर संख्या बढ़ा दी गयी है ऐसी। (शत्रु) लोक की मनोवेदना का प्रेरणा करने वाली लोकाधीश, (फिर) जो (शत्रुओं को) बिना किसी भय के देखती है ऐसी। (फिर जो) दण्डनायक के साथ है, उत्साह वाली है और (यहाँ से) निकट स्थल पर है। यह काञ्चीयमक का (उदाहरण है।) पाद समुद्गक के भेदों के समान और अन्तादिक के भेदों के समान यहाँ (मध्य आदि में) भी सभी भेद समझना चाहिये ॥

'पादं द्विधा त्रिधा वा विभज्य' (३।२०) इत्युक्तम्, तत्र द्विधा विभक्ते यमकान्याख्यायेदानीं त्रिधा विभक्तस्याह—

पादस्त्रिधा विभक्तः सकलस्तस्यादिमध्यपर्यन्ताः।
तेष्वपरत्रावृत्त्या दश दश यमकानि जनयन्ति ॥ ४८ ॥

पाद को दो या तीन अंशों में विभक्त कर (३।२०) ऐसा जा चुका है, उनमें दो अंशों में विभक्त करके यमक का व्याख्यान कर के अब (पाद को) तीन अंशों में विभक्त कर के (भेद) बताते हैं—

"समूचे पाद के तीन अंशों में विभक्त होने पर उसके आदि मध्य और अन्त अंशों के अन्य पाद के उन्हीं स्थानों में यथाक्रम आवृत्त होने पर दश-दश यमक होते हैं ॥ ४८ ॥

पाद इति। यस्य पादस्य त्रिधा भागः संभवति स त्रिधा खण्डितस्ततश्च तस्यादिमध्यान्तभागा अपरत्र पादान्तरे तेष्वेव प्रथमद्वितीयतृतीयभागेषु यथाक्रमं यमकिता दश दश यमकानि पूर्ववज्जनयन्ति। एवं त्रिंशद्यमकानि भवन्ति ॥

पाद इति। जिस पाद के तीन भाग हो सकते हैं वह तीन भागों में बढ़कर उसके आदि, मध्य और अन्त भागों के अन्य पादों के प्रथम द्वितीय और तृतीय भागों में क्रमशः आवृत्त होने पर पहले की ही तरह दश-दश यमक होते हैं। इस प्रकार तीस यमक होते हैं ॥

एतदाह--

सुमतिरिमानि त्रीण्यपि पादावृत्तिक्रमेण दशकानि।
यमकानां जानीयात्तदुदाहरणानि तद्वच्च ॥ ४९ ॥

इसे बताते हैं—

विद्वान् यमक के इन तीन दशकों (तीस प्रकारों) को पादावृत्ति के ही क्रम से ही जान ले। तथा उनके उदाहरणों को भी उसी क्रम से जान ले ॥ ४९ ॥

सुमतिरिति। एतानि यमकानां त्रीणि दशकानि प्राज्ञः पादावृत्तिक्रमेण मुखसन्दंशादिसंज्ञाभिर्जानीयात्। तदुदाहरणान्यपि तद्वदेव तेनैव प्रकारेण। सर्वं चैतद्द्विधा विभक्तपाद इव यमकजातं ज्ञेयम्। केवलं तृतीयभागकृतो विशेषः ॥

सुमतिरिति। विद्वान् को इन यमकों के तीन दशक पादावृत्ति के ही क्रम से मुख, संदंश आदि नामों से जानना चाहिये। उनके उदाहरणों को भी उसी प्रकार से (जानना चाहिये)। इस पूरे प्रपञ्च दो अंशों में बँटे हुये पाद वाले यमक-भेदों की तरह जानना चाहिए। भेद केवल तीसरे भाग के कारण है॥

तदेवाह—

अन्तादिकमिव षोढा विभिन्नमेतत्करोति तावन्ति।
यमकान्याद्यन्तकवत्तथापरामर्धपरिवृत्तिम् ॥ ५० ॥

उसी को बताते हैं—

अन्तादिक और आद्यन्तक के समान ही छह प्रकार को यमक और पाद के दो अंशों में विभक्त होने पर बताये गये अर्धपरिवृत्ति नामक यमक को यह भी उत्पन्न करता है ॥ ५० ॥

अन्तादिकमिति । यथान्तादिकमाद्यन्तकं च पूर्वत्र षोढा भिन्नं सन्प्रत्येकं षड्यमकानि जनितवत्तथेदमपि । तथापरामन्यामर्धपरिवृत्तिं द्वेधाविभक्तपादवज्जनयति । तथाशब्दस्योभयत्र योगः । इति त्रयोदश यमकानि ॥

अन्तादिकमिति । जिस प्रकार अन्तादिक और आद्यन्तक पृथक् पृथक् छ छ यमक उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार यह भी (छ प्रकार का यमक उत्पन्न करता है ।) तथा दो भागों में बटे हुये पाद की तरह दूसरी अर्धपरिवृत्ति को भी उत्पन्न करता है । तथा शब्द का दोनो स्थानों पर उपयोग होगा । इस प्रकार तेरह यमक हुये ॥

एषामुदाहरणानि कानीत्याह—

तद्वदुदाहरणान्यपि मन्तव्यानि त्रयोदशैतेषाम् ।
कृत्वार्धशश्च भागानिहापि सर्वं तथा रचयेत् ॥ ५१ ॥

इनके उदाहरण कौन हैं—इसे बताते हैं—

इसी प्रकार इनके १३ उदाहरणों को भी समझ लेना चाहिये । (विभक्त अंश को) पुनः आधे आधे में बाँट कर इसमें भी उसी प्रकार का प्रपञ्च रचना चाहिए ॥ ५१ ॥

तद्वदिति । उदाहरणान्यपि तद्वदेव त्रयोदश ज्ञेयानि । उपलक्षणं चैतत् । पादसमुद्गकवदिहापि पञ्चदशानां भेदानां सम्भवात्केवलमिह भागत्रयस्य सादृश्यम् । तत्र तु द्वयस्य पुनरपि भेदानाह—कृत्वार्धशश्चे-त्यादि । यथा पूर्वत्रार्धार्धानि कृत्वा वक्त्रशिखामालामध्याद्यन्तकाञ्चीयमकानि कृतान्येवमिहापि कर्तव्यान्युदाहरणानि च देयानीति ॥

तद्वदिति । उदाहरणों को भी उसी प्रकार १३ जानना चाहिए । यह उपलक्षण है । पाद समुद्गक की भाँति ही पन्द्रह भेदों के यहाँ भी संभव होने के कारण तीन भागों का सादृश्य ही केवल यहाँ भी है । वह (केवल) दो का ही (सादृश्य था) । और भी भेद बताते हैं—कृत्वार्धशश्चेत्यादि । जिस प्रकार पहले आधे आधे में बाँटकर वक्त्र, शिखा, माला, मध्य, आद्यन्तक, काञ्ची यमक बनाये गये उसी प्रकार यहाँ भी बनाना चाहिए और उनके उदाहरण देना चाहिये ॥

भूयो भेदान्तराण्याह—

स्थानाभिधानभाञ्जि त्रीण्यन्यानीति सन्ति यमकानि ।
आदिर्मध्येऽन्ते वा मध्योऽन्ते तत्र परिवृत्तः ॥ ५२ ॥

और भी भेद बताते हैं—

स्थानकृत नाम वाले तीन प्रकार के यमक और होते हैं—आदि भाग के मध्य और अन्त में तथा मध्य भाग के अन्त में आवृत्त होने पर (आदि मध्य, आद्यन्त और मध्यान्त) यमक होते हैं ॥ ५२ ॥

स्थानेति । त्रिधा विभक्ते पादेऽन्यानि त्रीणि वक्ष्यमाणानि यमकानि सन्ति । किंनामधेयानीत्याह—स्थानाभिधानभाञ्जीति । स्थानकृतमभिधानं भजन्ते यानि । कथमित्याह—आदिभागे मध्यभागेन यमकिते आदिमध्ययमकम् । आदिभागेऽन्त्येन चेत्तदाद्यन्तयमकम् । मध्यभागेऽन्त्येन यदि तदा मध्यान्तयमकम् ॥

स्थानेति । पाद को तीन खण्डों में करने पर आगे बताये जाने वाले तीन अन्य यमक होते हैं । उनके नाम क्या हैं--इसे बताते हैं—स्थानाभिधानभाञ्जीति । जो स्थान के नाम पर (अपनी) संज्ञा पाते हैं । कैसे--इसे बताते हैं--आदि भाग के मध्य भाग में आवृत्त होने पर आदि मध्ययमक होता है । आदि भाग के अन्त्यभाग में आवृत्त होने पर आद्यन्त यमक होता है । (इसी प्रकार) मध्यभाग अन्त्य के साथ जब आवृत्त होता है तब मध्यान्त यमक होता है ॥

तदुदाहरणत्रयं क्रमादाह--

स रणे सरणेन नृपो बलितावलितारिजनः ।
पदमाप दमात्स्वमतेरुचितं रुचितं च निजम् ॥ ५३ ॥

उनके क्रमशः तीन उदाहरण देते हैं--

(अपने) पराक्रम से शत्रुओं को घेर लेने वाले उस राजा ने समर में (अपनी) सवारियों से (शत्रुओं को) पराजित कर देने के कारण अपनी बुद्धि के अनुरूप और अभीष्ट, अपने स्थान को प्राप्त किया ॥ ५३ ॥

स इति । स कश्चिन्नृपो रणे समरे सरणेन यानेन तथा दमादुपशमाच्च हेतोः स्वमतेर्निजबुद्धेरुचितं योग्यं रुचितमिष्टं च निजं स्वकीयं पदं स्थानमाप लेभे । कीदृशोऽसौ । बलिता बलित्वं तया वेष्टितोऽरिजनः शत्रुलोको येन स तथाविधः । इत्यादिमध्यम् ॥

स इति । ऐसे किसी राजा ने (अपनी) सवारियों और इन्द्रियों पर विजय पाने के कारण समर में अपनी बुद्धि के अनुरूप और अभीष्ट अपने स्थान को प्राप्त किया । कैसा है वह (राजा) ? शक्ति के कारण जिसने शत्रु मण्डल को घेर लिया है—ऐसा । यह मध्ययमक का उदाहरण है ॥

घनाघ नायं न नभा घनाघनानुदारयन्नेति मनोऽनु दारयन् ।
सखेऽदयं तामविलास खेदयन्नहीयसे गोरथवा न हीयसे ।।५४।।

हे बहुपाप, सजल मेघों को फैलाता हुआ, तदनन्तर हृदय को बेधता हुआ, यह श्रावण मास नहीं है ऐसा नहीं। हे निश्चेष्ट मित्र ! निर्दयता पूर्वक उस (नायिका) को दुःखी बनाकर सर्प सा आचरण कर रहे हो अथवा बैल से कम नहीं हो (अर्थात् बैल ही हो) ।। ५४ ।।

घनेति । एतत्प्रावृषि पथिकस्य सुहृदोच्यते—हे घनाघ गृहाननुसरणाद्बहुपाप, अयमसौ नभाः श्रावणो मासो न नैति । अपि त्वायात्येव । नभःशब्दो मासवाचकः पुंलिङ्गः । कीदृशो नभाः घनाघनान्सजलजलदानुदारयन्विस्तारयन् । अनु पश्चाच्च मनश्चित्तं दारयन्विपाटयन् । तथा हे सखे अविलास निर्लील, तां कान्तामदयं निर्दयं खेदयन्नुद्वेजयन्नहीयसे सर्पायसे । अथवा गोर्बलीवर्दान्न हीयसे बलीवर्द एवासीत्यर्थः । इत्याद्यन्तयमकम् ।।

घनेति । वर्षा काल में पथिक का मित्र (उससे) इसे कह रहा है—घर पर न जाने के कारण हे बहुपाप ! यह सावन महीना नहीं आ रहा है ऐसा नहीं (अर्थात् सावन ही है)। 'नभः' शब्द मास के अर्थ में पुल्लिंग में प्रयुक्त होता है। कैसा नभस् (महीना)? जल भरे बादलों को फैलाने वाला तदनन्तर (वियोगियों का) हृदय वेधन करने वाला। और हे मित्र ! उस प्रिया को निर्दयता से पीडित करते हुये तुम सर्प हो रहे हो। अथवा बली बैल से कम नहीं हो अर्थात् बली बैल ही हो। यह आद्यन्त यमक है ।।

असतामहितो युधि सारतया रतया ।
स तयोरुरुचे रुरुचे परमेभवते भवते ।। ५५ ।।

"दुष्टों का द्रोहकारी अत एव रण में पूजित किसी ने उस उत्कृष्ट आसक्ति से विशाल हाथियों वाले, विस्तीर्ण क्रान्ति वाले आप के लिये प्रीति उत्पन्न किया ।। ५५ ।।

असतामिति । हे उरुरुचे विस्तीर्णकान्ते । अथवा उर्वी रुग्यस्य स तस्मै विस्तीर्णकान्तये । स कश्चिद्वीरो भवते तुभ्यं रुरुचे प्रीतिमुत्पादितवान् । तया जगत्प्रसिद्धया युधि रणे सारतयोत्कृष्टतया हेतुभूतया । कीदृश्या । रतया सक्तया । संबद्धयेत्यर्थः । कीदृशोऽसौ । असतां दुर्जनानामहितो द्रोहकारी । अत एव महितः पूजितः । भवते कीदृशाय । परमा उत्कृष्टा इभा हस्तिनो विद्यन्ते यस्य स तथा तस्मै ।।

असतामिति। हे विस्तीर्ण कान्ति वाले! अथवा विस्तृत है कान्ति जिसकी उस विस्तीर्ण कान्ति वाले के लिये (इस प्रकार समास विच्छेद करना चाहिये)। उस किसी वीर ने तुम्हारे प्रति प्रीति उत्पन्न की। उस संसार प्रसिद्ध—लड़ाई में—अत्यन्त उत्कृष्ट कारण से। किस प्रकार से। सत्ता से अर्थात् संबद्ध से। कैसा है वह (वीर) दुष्टों से द्रोह करने वाला अत एव पूजित। किस प्रकार के आप के लिये? उत्कृष्ट हैं हाथी जिसके ऐसे (आपके लिये)।

अथोपसंहारं कुर्वन्ननियतदेशावयवयमकानामानन्त्यमाह—

यमकानां गतिरेषा देशावयवावपेक्षमाणानाम्।
अनियतदेशावयवं तपरमसंख्यं सदेवास्ति॥ ५६॥

अब उपसंहार करते हुये अनिश्चित देश और अवयव वाले यमकों की असंख्यता बताते हैं—

स्थान और अवयव (अंश) की अपेक्षा करने वाले यमकों की यही गति है। देश (स्थान) और अवयव की अपेक्षा के विना होने वाले यमकों की संख्या तो अपरिमित है॥ ५६॥

यमकानामिति। देश आदिमध्यान्तलक्षणः। अवयवोऽर्धत्रिभागादिः। तौ देशावयवावपेक्षमाणानामत्यजतां यमकानां गतिरेषा परिपाटीयं पूर्वोक्ता। यत्तु यमकं देशावयवौ नापेक्षते तदपरमसंख्यमसंख्यातम्। तच्च महाकविलक्ष्येषु सदेव साध्वेवास्ति विद्यते। एतदुक्तं भवति—स्वेच्छाकृतत्वेनानन्तत्वात्तस्य लक्षणं कर्तुं न शक्यते। केवलं महाकविलक्ष्यदर्शनाज्ज्ञेयम्॥

यमकानामिति। देश अर्थात् आदि मध्य स्थान। अवयव अर्थात् आधा तिहाई आदि भाग। उन देश और अवयव की अपेक्षा करने वाले यमकों की रीति यह पहले बता दी गयी। जो यमक स्थान और अंश की अपेक्षा नहीं करता वह असंख्य है। उसका उदाहरण भी महाकवियों में मिलता ही है। तात्पर्य यह है—स्वेच्छापूर्वक रचे जाने के कारण और असंख्येय होने के कारण (उसका) स्वरूप बताना संभव नहीं है। केवल (उसे) महाकवियों के उदाहरणों से जानना चाहिये॥

अत्र तु दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थमाह—

कमलिनीमलिनी दयितं विना न सहते सह तेन निषेविताम्।
तमधुना मधुना निहितं हृदि स्मरति सा रतिसारमहर्निशम्॥५७॥

उसका मार्ग मात्र दिखाने के लिये कहते हैं—

उस (प्रिय) के साथ साथ सेवन की गयी कमलिनी को भ्रमरी प्रिय के अभाव में बर्दाश्त नहीं कर पाती। उस प्रियको इस समय हृदय में रखकर वह दिन रात रति-सर्वस्व को स्मरण करती है॥ ५७॥

कमलिनीति। सालिनी भ्रमरी दयितं प्रियं विना कमलिनीं पद्मिनीं न सहते न क्षमते तां दृष्ट्वा तप्यत इत्यर्थः। कीदृशीं कमलिनीम्। तेन दयितेन सह समं निषेवितांम्। किं तर्हीदानीं करोतीत्याह—तं प्रियमधुनेदानीं मधुना वसन्तेन हृदि मनसि निहितमर्पितं रतिसारं रसप्रधानं सा स्मरति ध्यायति। अहर्निशं दिवानिशम्। अत्र न देशविभागेनावृत्तिर्नाप्यवयवविभागेन। यतो द्रुतविलम्बिताख्यं द्वादशाक्षरमेतद्वृत्तम्। अस्यार्धे षडक्षराणि। अत्र च प्रथममक्षरं मुक्त्वा त्रीणि यमकितानि॥

कमलिनीति। वह भ्रमरी प्रिय की अनुपस्थिति में कमलिनी को नहीं सह सकती है। अर्थात् उसे देखकर कष्ट पाती है। कैसी कमलिनी को? उस प्रिय के साथ जिसका सेवन कर चुकी है। फिर इस समय क्या करती है,—इसे बताते हैं—वसन्त के द्वारा हृदय में भर दिये गये कामावेश को—प्रिय को ध्यान करती है। रात दिन यहाँ न तो स्थान के नियम से आवृत्ति हुयी है न तो अंश के नियम से। यह बारह अक्षरों वाला द्रुतविलम्बित नामक छन्द है। इसके आधे में छ अक्षर हैं। यहाँ प्रथम अक्षर को छोड़कर तीन अक्षरों की आवृत्ति हुई है॥

तथा—

कमलिनी सरसा सरसामियं विकसितानवमं नवमण्डनम्।
किमिति नाधिगता धिगतादृशं मधुकरेणु बताणवता कृतम्॥५८॥

और भी—

जलाशयों का श्रेष्ठ अलंकरण रूप यह प्रफुल्ल कमलिनी भ्रमर को क्यों नहीं मिली। हा कष्ट है—गुञ्जार करते हुये उसने क्या ही दुराचार किया॥ ५८॥

कमलिनीति। इयं कमलिनी पद्मिनी किमिति तस्मान्मधुकरेण भृङ्गेन नाधिगता न संप्राप्ता। धिक्कष्टम्। तेनाणवता शब्दवता तादृशमयुक्तं कृतम्। धिग्बतशब्दावत्र खेदाधिक्यं सूचयतः। कीदृशी। सरसा नूतना। विकसिता प्रफुल्ला। अत एव सरसां जलाशयानामनवमं श्रेष्ठं नवमन्डनं प्रत्यग्रालंकरणम्। अत्रापि देशावयवानपेक्षयावृत्तिः॥

कमलिनीति। उस भौरे ने इस कमलिनी का भोग क्यों नहीं किया। खेद है! गुञ्जार करते हुये और ऐसा आचरण किया। 'धिग्' और 'बत' शब्द यहाँ कष्ट का आधिक्य सूचित करते हैं। कैसी (कमलिनी) नवीन—खिली हुयी—अतएव जलशशयों का श्रेष्ठ नूतन अलङ्करण। यहाँ भी आवृत्ति स्थान और अंश की अपेक्षा के बिना हुयी है॥

अध्यायमुपसंहरन्यमकस्वरूपं विषयं चाह—

इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ॥ ५९ ॥

अध्याय का उपसंहार करते हुये यमक के स्वरूप और विषय को बताते हैं—

इस प्रकार सभी प्रकार के यमक का भली भाँति विचार करके, औचित्य को जानने वाले, सावधान सुकवि सुन्दर पद-भङ्गों और सुप्रसिद्ध वस्तु-वाचक शब्दों को महाकाव्यों में यथाशक्ति रचे ॥ ५९ ॥

इतीति। इति पूर्वोक्तं यमकमशेषं सर्वं समस्तपादैकदेशजं सम्यग्यथान्यायमालोचयद्भिः सत्कविभिरभियुक्तैः सावधानैः। तथा वस्तु च विषयविभागमालोचयद्भिः। यथा कस्मिन्रसे कर्तव्यम्, क्व वा न कर्तव्यम्। यमकश्लेषचित्राणि हि सरसे काव्ये क्रियमाणानि रसखण्डनां कुर्युः। विशेषतस्तु शृङ्गारकरुणयोः। कवेः किलैतानि शक्तिमात्रं पोषयन्ति, न तु रसवत्ताम्। यदुक्तम्—'यमकानुलोमतदितरचक्रादिभिदो हि रसविरोधिन्यः। अभिधानमात्रमेतद्गड्डरिकादिप्रवाहो वा ॥' प्रयोगस्तु तेषां खण्डकाव्येषु देवतास्तुतिषु रणवर्णनेषु च। तदेवाह—औचित्यविद्भिरिति। औचित्यं यमकादिविधानास्थानस्थानादिकं विदन्ति ये तैः। कीदृशं यमकम्। सुष्ठु विहिता हृदयंगमाः पदभङ्गा यत्र तत्तथाभूतम्। तथा सुप्रसिद्धान्यभिधानानि वस्तुवाचकशब्दा यत्र तत्तथाभूतं यमकम्। तदनु चौचित्यादिज्ञानानन्तरं विरचनीयम्। भूम्ना बाहुल्येन सर्गबन्धेषु महाकाव्येषु। नाटककथाख्यायिकादिषु पुनः स्वल्पमेवेत्यर्थः ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालङ्कारे नमिसाधुविरचित-
टिप्पण-समेतः तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

इतीति। इस प्रकार पहले बताये गये समस्त पादगत और एकदेशगत निखिल यमक को सावहितचेता महाकवियों को भली भाँति विचार कर विषय विभाग की आलोचना करके (रचना करनी चाहिये)। जैसे—किस रस में यमक की रचना करनी चाहिये किसमें नहीं करनी चाहिए। सरसकाव्य में यमक श्लेष और चित्र की रचना होने पर रस-भङ्ग हो जाता है। विशेषकर शृङ्गार और करुण (रस वाले काव्यों) में। ये केवल कवि की शक्ति को बढाते हैं रसवत्ता को नहीं। जैसा कि कहा गया है—यमक, अनुलोम और उससे भिन्न चक्र आदि भेद रस के विरोधी होते हैं ये नाम मात्र हैं अथवा गड्डरिका-प्रवाह

(से इन्हें लोग रचते हैं)। उसका प्रयोग खण्ड काव्य, देवता की स्तुति और युद्ध के वर्णन में करना चाहिए। उसे ही बताते हैं--औचित्यविद्भिरिति। औचित्य--यमक रचने के स्थल—अस्थल को जो पहचानते हैं। कैसे यमक को—? जहाँ हृदयस्पर्शी पदभङ्ग हों जहाँ प्रसिद्ध वस्तुवाचक शब्द हो, ऐसे (यमक को)। इतनी क्षमता होने पर औचित्य आदि की पहिचान के बाद (यमक की) रचना करनी चाहिए। प्रायः महाकाव्यों में। अर्थात् नाटक, कथा और आख्यायिका में (यमक के लिये) बहुत ही कम अवसर है ॥

इस प्रकार नमि साधु रचित टिप्पण से युक्त श्री रुद्रट रचित
काव्यालंकार का तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थोऽध्यायः

यमकं व्याख्याय श्लेषं व्याचिख्यासुराह—

वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधि ।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥ १ ॥

यमक का व्याख्यान करके अब श्लेष का व्याख्यान करने की इच्छा से कहते हैं—

अर्थ बताने में समर्थ, सुप्रयोजित कष्ट कल्पना-रहित, नाना प्रकार के सुबन्त-तिङन्त पदों की संधिवाले, एक ही प्रयत्न से उच्चारणीय अनेक वाक्यों को जहाँ रचना की जाती है उसे श्लेष नामक (शब्दालंकार) कहते हैं ॥ १ ॥

वक्तुमिति। यत्रालंकारे युगपत् तुल्यकालमेकप्रयत्नेनैवानेकं द्व्यादिकं वाक्यं विधीयेत स श्लेषः । युगपत्पदग्रहणान्महायमकादीनां श्लेषत्वनिवृत्तिः । कीदृशम् । वाक्यमर्थमभिधेयं वक्तुं भणितुं समर्थं शक्तम् । अनेकमितीहापि द्रष्टव्यम् । तथा सुष्ठु श्लिष्टः सुयोजितोऽक्लिष्टः कष्टकल्पनारहितो विविधो नानाविधः पदानां सुप्तिङन्तानां संधिरेकीभावो यत्र तत्सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसंधीति ॥

वक्तुमिति । जिस अलंकार में एक ही काल में एक ही प्रयत्न से उच्चारणीय अनेक-दो आदि वाक्यों की रचना की जाती है उसे श्लेष नामक (अलंकार) कहते हैं । (कारिका में) 'युगपत्' का उपादान महायमक आदि को श्लेष से भिन्न बताने के लिये किया गया है । कैसे वाक्य की ? अभिधेय (प्रतिपाद्य अर्थ को बताने में समर्थ वाक्य की । अनेक (अर्थात् अनेक अर्थ) को यहाँ भी समझना चाहिये । फिर (कैसे वाक्य की) ? भली भाँति जहाँ सुबन्त—तिङन्त पदों की श्लिष्ट और सुप्रयोजित संधि की गयी हो तथा कष्ट कल्पना से रहित हो ।

सामान्यलक्षणमभिधाय विशेषाभिधानाय श्लेषप्रकारानाह—

वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।
अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥ २ ॥

श्लेष के सामान्य स्वरूप को बताकर उसका विशेष प्रपञ्च बताने की इच्छा से श्लेष के भेदों को बताते हैं—

शब्दालंकार में वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति प्रत्यय विभक्ति और वचन के भेद से रचा जाता हुआ यह (श्लेष) आठ प्रकार का होता है ॥ २ ॥

वर्णपदेति। अत्र शब्दालंकारेष्वयं श्लेषो मतिमद्भिर्विधीयमानो धीमद्भिः क्रियमाणोऽष्टधाप्रकारो भवति। केषां विधीयमान इत्याह–वर्णेत्यादि। वर्णश्च पदं च लिङ्गं च भाषा च प्रकृतिश्च प्रत्ययश्च विभक्तिश्च वचनं च वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानि तेषाम्। वर्णपदादिविषयभेदात्तन्नामाष्टधा श्लेष इत्यर्थः। अत्रेति परमतनिरासार्थम्। अन्यैर्ह्यविशेषेण शब्दार्थयोः श्लेषोऽभ्यधायि। वर्णादिनिर्देशादेवाष्टविधत्वे लब्धेऽष्टधेति नियमार्थम्। भेदे सत्यष्टधैव नान्यथेत्यर्थः। केचिद्धि पदेषु लिङ्गमन्तर्भावयन्ति। प्रत्यये च विभक्तिवचने। विभक्तौ च वचनम्। तदेतन्न चारु। भेददर्शनात्। तथाहि हार इति भूषणं मुक्ताकलापः, हरणं हारो मोषः, हरस्यायं हारः कोऽप्यर्थः इत्यत्र पदश्लेषेऽपि लिङ्गश्लेषो न विद्यते। सर्वत्र पुंलिङ्गत्वात्। तथा पद्मो निधिः, पद्मं कमलम्, पद्मा श्रीरिति लिङ्गश्लेषेऽपि पदमभिन्नम्। तथा तपनस्यायं तापयतीति वा तापनः। इत्यादिषु प्रत्ययभेदेऽपि विभक्तिवचनभेदो न विद्यते। तथा सतां मुख्यः पुरःसरः सन्मुख्यः सच्छोभनं मुखं यासां ताः सन्मुख्यः इत्यत्र वचनभेदेऽपि विभक्तिभेदो न विद्यते इति भेदप्रतीतेर्न शोभनोऽन्तर्भाव इति॥

वर्णपदेति। यहाँ शब्दालंकारों में यह श्लेष विद्वानों के द्वारा रचा गया आठ प्रकार का होता है।

किनका रचा जाता हुआ इसे बताते हैं—वर्णेत्यादि। वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन का। वर्ण, पद आदि विषयों के भेद से उन्हीं के नाम से संज्ञा पाने वाला श्लेष आठ प्रकार का होता है। 'अत्र' का (कारिका में उपादान) दूसरों के मत को खण्डित करने के लिये किया गया है। अन्य (आलङ्कारिकों) ने शब्द और अर्थ श्लेष को बिना किसी भेद के व्याख्यान किया है। वर्ण आदि की गणना कर देने से ही आठ प्रकार का होना सिद्ध हो जाने से 'अष्टधा' नियमार्थ में प्रयुक्त है। भेद होने पर आठ ही प्रकार का होगा अन्य (सात या नव) प्रकार का नहीं यह तात्पर्य है। कुछ लोग लिङ्ग को पदों में ही अन्तर्भावित करते हैं। इसी प्रकार विभक्ति और वचन को प्रत्यय में, विभक्ति में वचन को। यह सङ्गत नहीं है। भेद तो स्पष्ट है—जैसे (एक ही) हार पद आभूषण–मोती की माला; चोरी और शिव जी की वस्तु—इन भिन्न अर्थों में (प्रत्यय की भिन्नता के कारण) आता है। यहाँ पद के श्लिष्ट होने पर भी लिङ्ग श्लिष्ट नहीं है। सभी अर्थों में पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार पद्म (निधि) कमल के अर्थ में (पद्मम्) और लक्ष्मी के अर्थ में पद्मा में लिङ्ग के श्लिष्ट होने पर भी पद वही है। इसी प्रकार 'तापन' में

'तपनस्यायम्' 'तापयतीति वा' से प्रत्यय के भिन्न होने पर भी विभक्ति और वचन भेद भिन्न नहीं है। इसी प्रकार 'सन्मुख्यः' में—सज्जनों में प्रमुख। और सुन्दर मुखों वाली में वचन में भेद होने पर भी विभक्ति में भेद नहीं हैं। अतएव विभक्ति में वचन का भेद प्रतीत होने पर अन्तर्भाव असङ्गत नहीं है।

यथोद्देशस्तथा निर्देश इत्यादौ वर्णश्लेषलक्षणमाह—

यत्र विभक्तिप्रत्ययवर्णवशादैकरूप्यमापतति।
वर्णानां विविधानां वर्णश्लेषः स विज्ञेयः ॥ ३ ॥

उद्देश के अनुसार निर्देश होना चाहिये इस नियम के अनुसार सर्वप्रथम वर्णश्लेष का लक्षण बताते हैं। 'जहाँ विभक्ति, प्रत्यय अथवा वर्ण के बल से पृथक् वर्णों का ऐकरूप हो जाता है उसे वर्णश्लेष जानना चाहिए ॥ ३ ॥

यत्रेति। यत्र विविधानां नानारूपाणां वर्णानामैकरूप्यं साम्यमागच्छति स वर्णश्लेषः। विरूपाणां कथं सादृश्यमित्याह—विभक्तिबलात्प्रत्ययबलाद्वर्णबलाच्चेति ॥

यत्रेति। जहाँ नाना प्रकार के वर्णों का ऐकरूप्य—साम्य हो जाता है उसे वर्णश्लेष कहते हैं। विविध रूपों का होने पर भी कैसे साम्य होता है—इसे बताते हैं—विभक्ति के कारण—प्रत्यय के कारण और वर्ण के कारण—॥

उदाहरणमिदम्—

साधौ विधात्रपर्तावपराहावास्थितं विषादमितः।
आयासि दानवत्त्वं तद्धर्म्यं परमकुर्वाणः ॥ ४ ॥

यह उदाहरण है—(१) उस श्रेष्ठ धर्म दान देने के आचरण को त्याग देने के कारण निरन्तर मानसिक पीडा देने वाले, दूसरे सर्प के समान स्थित भाग्य में स्थित कष्टदायी विषाद को (वह दानवीर) प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

(२) हे दानव बाण ! तुम इस प्रदेश से सुन्दर राहु से रहित, सदा-स्थित चन्द्र में, उत्पन्न आस्था वाले, शिव को प्राप्त हुए हो क्योंकि उनका निवास उच्च-भूमि (निर्वाण पद) है ॥ ४ ॥

साधाविति। अत्र महासत्त्वो दरिद्रो वर्ण्यते—कश्चिन्नरो दानवतो भावो दानवत्त्वं दातृत्वं तत्पुराकृतमकुर्वाणोऽसंपादयन्विषादं खेदमितः प्राप्तः। कीदृशं दातृत्वम्। विधिर्दैवं तस्मिन्नास्थितमायत्तम्। दैवाधीनमित्यर्थः। दैवेऽनुकूले भवतीति भावः। कीदृशे विधौ। सहाधिभिर्वर्तत इति साधिस्तस्मिन्। नित्यमेव मनःपीडावह इत्यर्थः। तथापर्तौ सदा संनिधानादपगत ऋतुः कालविशेषो यस्य सोऽपर्तुस्तस्मिन्। तथापराहावविद्यमानः परः प्रतिपक्षो यस्यासावपरः स चासावहिश्च सर्पश्च पीडा-

कारित्वादपराहिस्तस्मिन्। अपरस्याहेर्नकुलादिर्हिंसको भवति, अस्य तु नैव। अन्यच्च कीदृशं दानवत्त्वम्। आयास्यघटनादभीक्ष्णं खेददायि। तथा धर्म्यं स्वभावतो धर्मादनपेतम्, अत एव परं श्रेष्ठम्। एष एकस्य वाक्यस्यार्थः॥ अपरस्य तु—साधावित्यादि कश्चिद्बाणासुरमाह—हे दानव दनुसुत, त्वं बाणो बाणाख्य इतोऽस्मात्प्रदेशाद्विषादं कालकूटभक्षकं शिवमायास्यागच्छसि। कीदृशं शिवम्। विधौ चन्द्रमस्यास्थितमास्या संजातास्येति तम्। कीदृशे विधौ। साधौ सुन्दरे। तथापगता ऋतिर्गमनं यस्यासावपर्तिस्तस्मिन् सदावस्थिते। तथापगतो राहुर्विधुंतुदो यस्मादसौ तथाविधस्तस्मिन्। किमिति तत्सकाशमायासीत्याह—तस्य हर्म्यं स्थानं तद्धर्म्यं यतः परमोत्कृष्टा कुर्भूमिः। निर्वाणपदमित्यर्थः। साधावित्यादाविकारोकारयोः सप्तमीविभक्तिवशादैकरूप्यम्। आस्थितमितःप्रभृतिषु प्रत्ययवशात्। तद्धर्म्यमित्यत्र धकारहकारवशादिति। परमकुर्वाण इत्यत्रैकत्रौष्ठ्योऽन्यत्र दन्त्यौष्ठ्यो वकारस्तत्कथमेकरूपता वर्णानाम्। सत्यम्। यमकश्लेशचित्रेषु बवकारयोरौष्ठ्यदन्त्यौष्ठ्ययोरभेदो दृश्यते। यथा—'तस्यारिजातं नृपतेरपश्यदबलं वनम्। ययौ निर्भरसंभोगैरपश्यदवलम्बनम्॥' तथा नकारणकारयोश्च न भेदः। यथा—'वेगं हे तुरगाणां जयन्नसावेति भङ्गहेतुरगानाम्' इति शिवभद्रस्य। विसर्जनीयभावाभावयोश्च न विशेषः। यथा—'द्विषतां मूलमुच्छेत्तुं राजवंशादजायथाः। द्विषद्भयत्रस्यसि कथं वृकयूथादजा यथा॥' अत्र ह्येकत्राजायथा इति विसर्गान्तं क्रियापदम्, अपरत्र यथाशब्दोऽव्ययम्। तथान्त्योर्मकारनकारयोश्च न भेदः। यथा—'प्रापयासुरथं वीर समीरसमरंहसम्। द्विषतां जहि निःशेषपृतनाः समरं हसन्॥' अत्र हि समरंहसमिति मान्तम्, हसन्निति नान्तं पदम्। तथा व्यञ्जनात्परस्यैकस्य व्यञ्जनस्य द्वयोर्वा न विशेषः। यथा—'शुक्ले शुक्लेशनाशं दिशति' इत्यादौ शुक्ले शुक्ले यमकः। तस्मिंश्चैकत्र शुक्लगुणयुक्ते, अन्यत्र शुचः क्लेशस्य च नाशं दिशतीत्यर्थः। अत्र ह्येकत्र ककाराल्लकार एवैकं व्यञ्जनम्। अन्य ककारो लकारश्च द्वयमिति॥

साधाविति। यहाँ तेजस्वी दरिद्र का वर्णन किया जा रहा है--दान देने के कार्य को न करता हुआ। जिसे वह पहले कर चुका है, कष्ट को प्राप्त हुआ। कैसे दान—कर्म को ?—जिसमें भाग्य आस्थित होता है—अर्थात् दैवाधीन-—एवं दैव के अनुकूल होने पर ही जो होता है। कैसे दैव के ? साधि अर्थात् मनो वेदना दैन वाले—यह तात्पर्य है।

तथा अपर्तु में—समीप से सदैव जिसके काल विशेष बीत गया है—ऐसे। तथा अपराहि में--जिसका कोई प्रतिवादी नहीं वह हुआ अपर—तथा सर्प

पीडा देने के कारण अपराहि (दैव के)। दूसरे सर्प के तो नेवले आदि हिंसक होते हैं—इस (भाग्य रूप सर्प) के नहीं। फिर कैसे दान कर्म को (न करने के कारण) ? न किये जाने के कारण जो निरन्तर मनो-वेदना उत्पन्न करता है तथा जो धर्म रूप—स्वभाव से ही धर्म के समीप होने के कारण—वरीय है। यह एक वाक्य का अर्थ है ॥ दूसरे वाक्य का भी—साधावित्यादि ! कोई बाणासुर से कहता है—दनु के पुत्र हे दानव ! बाण नामधारी तुम इस प्रदेश से विष खाने वाले शिव को प्राप्त हुये हो। (फिर) कैसे शिव को ? चन्द्रमा में जिनकी आस्था उत्पन्न हो गयी है। कैसे चन्द्रमा में। सुन्दर और जिसमें (घटना बढ़ना रूप) क्रिया अब नहीं है। अर्थात् जो सदा अवस्थित है, इसके अतिरिक्त (जो) राहु के प्रकोप से मुक्त है। क्यों उसके पास आये हो—इसे बताते हैं—क्यों कि उस (शिव) का निवास स्थान अत्यन्त उत्कृष्ट भूमि है। अर्थात् निर्वाण पद है। 'साधौ' में सप्तमी विभक्ति के कारण इकार और उकार में समरूपता है। 'आस्थितम्' 'इतः' में प्रत्यय के कारण ऐकरूप्य है। (इसी प्रकार) 'तद्धर्म्यम्' में (एकरूपता) धकार और हकार वर्ण के कारण है।

'परमकुर्वाण' में एक जगह ओष्ठ्य और दूसरी जगह दन्त्योष्ठ्य वकार है। फिर एकरूपता कैसे हुयी। सत्य है। यमक, श्लेष और चित्र के स्थलों में ओष्ठ्य और दन्त्योष्ठ्य ब और व में भेद नहीं किया जाता है। जैसे—उस राजा का निर्बल शत्रु समुदाय अवलम्बन को न देखकर निर्भर संभोगों के अभाव में बन में चला गया।

तथा नकार और णकार में भेद नहीं होता है। जैसे—घोड़ों के वेग को जीतता हुआ पर्वतों के भङ्ग होने का कारण भूत यह जा रहा है। यह शिव भद्र (कवि) का है। विसर्ग की सत्ता और असत्ता में भेद नहीं किया जाता है। जैसे—शत्रुओं की जड़ काटने के लिये राजकुल में उत्पन्न हुये हो ; भेड़ियों के समुदाय से बकरी के समान क्यों डर रहे हो ॥' इस उदाहरण में एक स्थान पर "अजायथाः' विसर्गान्त क्रियापद है और दूसरे स्थान पर यथा शब्द अव्यय है। इसी प्रकार अन्त में आने वाले मकार और नकार में भेद नहीं किया जाता है। जैसे—हे वीर पवन के समान वेग वाले प्राण रथ को पहुँचाओ, शत्रुओं की निखिल सेना को हँसते हुये लड़ाई में मार डालो। यहाँ 'समरंहसम्' मान्त पद है और 'हसन्' नान्त पद। तथा व्यञ्जन से परे एक या दो वर्णों में भेद नहीं किया जाता है। जैसे शुक्र में कष्ट का अभाव बताता है। आदि में शुक्र-शुक्र में यमक है। यहाँ एक स्थल पर अर्थ है शुक्र गुण युक्त और अन्यत्र 'शुक्, 'क्लेश' के नाश को बताता है। यहाँ एक स्थल

पर ककार के बाद लकार एकमात्र व्यञ्जन है और दूसरे स्थल पर ककार और लकार दो व्यञ्जन है।

पदश्लेषः—

यस्मिन्विभक्तियोगः समासयोगश्च जायते विविधः।
पदभङ्गेषु विविक्तो विज्ञेयोऽसौ पदश्लेषः ॥ ५ ॥ ॥

अब पद श्लेष (का लक्षण कहते हैं)—जहाँ पद भङ्गों में नाना प्रकार का विभक्ति योग और समास योग होता है वहाँ स्पष्ट ही पदश्लेष होता है ॥ ५ ॥

यस्मिन्निति। यत्र वाक्ये विभक्तियोगो विविधो नानासमासयोगश्च जायते। केषु। पदभङ्गेषु सत्सु। विविक्तः स्फुटः स पदश्लेषः ॥

यस्मिन्निति। जिस वाक्य में नाना प्रकार के विभक्तियों के योग और समासों के योग होते हैं। क्या होने पर ? पद भङ्गों के होने पर (वह स्फुट ही पद-श्लेष (अलङ्कार होता है)।

उदाहरणमिदम्—

सुरतरुतलालसगलन्नयनोदकलालसत्कुचारोहम्।
समराजिदन्तरुचिरस्मिते नमदसौ शरीरमदः ६ ॥
नवरोमराजिराजितवलिवलयमनोहरतरसारं भाः।
धवलयति रोहितानवमद्ध्यानमदाहितस्तनि ते॥७॥ (युग्मम्)

उदाहरण यह है—(१) बढ़ती हुयी कृशता वाली कटि पर झुके हुये उभरे दोनों स्तनों वाली, दन्तपंक्ति के अविष होने के कारण सुन्दर मुस्कान वाली, तुम्हारी यह कान्ति संयोग के संभाषणों में लालायित कण्ठवाली, नेत्र वारि के प्रवाह से सुशोभित स्तनों की उँचाई वाली, नूतन रोमपंक्ति से शोभित, वलयाकार त्रिवली से अत्यन्त मनोहर इस शरीर को शुभ्र बना रही है ॥ ६-७ ॥

(२) कल्प-वृक्ष के नीचे अलसाये हुये दुर्नीतियों वाले शत्रुओं को दूर करने की कला से सुशोभित पृथ्वी पर पृथ्वी पर (यात्रा) (कुचारः) रण में अजेय (प्रतिभटों) की हिंसा का मैं आदी हूँ। इसलिये (नेन) धानुष्कों को पछाड़ने का मेरा यह दर्प श्रेष्ठ नहीं है। (मित्रों को सङ्केत करके कहता है) देवों के प्राङ्गण में अजेय बलि की सेना को रोकने की चिन्ता में लगे हुये विष्णु के से तात्पर्य और अनुष्ठान वाले ! धव में छिप जाने के कारण मुझसे संबन्धित चिर चिन्ता के तिरोहित हो जाने के कारण, मदोन्मत्त शत्रुओं के बीच में (उन शत्रु-गणों की हिंसा के कारण) तलवार की रणन् होने पर (सावधान हो जाओ)।

सुरेति । नवरोमेति । कश्चिच्चाटुकृत्प्रियामाह—हे समराजिदन्तरुचिरस्मिते अविषमदन्तपङ्क्तिकान्तर्हासिते, तवासौ भा एषा दीप्तिरद एतच्छरीरं वपुर्धवलयति शुक्लयति । कीदृशम् । सुरतरुतेषु निधुवनभणितेषु लालसो लम्पटो गलः कण्ठो यस्य तत्तथाभूतम् । तथा प्रियसंनिधानाद्यन्नयनोदकमानन्दलोचनवारि तस्य यो लालः प्रसरणं तेन सञ्शोभनः कुचारोहः स्तनोच्छ्रायो यत्र तत्तथाभूतम् । तथा नमत्स्तनाभोगभारान्नम्रम् । तथा नवा नूतना या रोमराजी रोमलेखा तया राजितं भूषितं यद्वलिवलयं वलयाकारं वलित्रयं तेन मनोहरतरं रम्यतरं तच्च तत्सारमुत्कृष्टं चेति समासः । रोहत्युत्तिष्ठतीति रोहि तानवं कृशत्वं यस्य तद्रोहितानवं यन्मध्यमुदरं तत्रानमन्तौ कठिनत्वादलम्बमानावाहितावविस्थितौ स्तनौ यस्यास्तस्या आमन्त्रणं हे रोहितानवमध्यानमदाहितस्तनि । एष एकस्य वाक्यस्यार्थः ॥ अपरस्य तु यथा—कश्चित्खड्गप्रहरणो धानुष्कं स्पर्धिनमुद्दिश्य वयस्यानाह—यतोऽहमेवंशिष्टस्तेन हेतुना मदसावस्मत्खड्गे न वरो न श्रेष्ठः योऽसौ शरीरमदः । शरा विद्यन्ते येषां ते शरिणो धानुष्कास्तानीरयति क्षिपत्यभिभवतीति शरीरस्तस्य मदः । जितधनुर्धरोऽहमिति कृत्वा यो दर्प इत्यर्थः । यतः कीदृशोऽहम् । सुरतरुतलेषु देववृक्षाधोभागेष्वलसा मन्दा ये गलन्नया भ्रश्यन्नीतयः । विषयासक्ता इत्यर्थः । तेषां नोदस्ततः पातनं तत्र या कला विज्ञानं तया लसञ्शोभमानः कौ पृथिव्यां चारो वल्गनं यस्य स तथाविधोऽहम् । खड्गविद्यया स्वर्गस्थानपि पातयामीत्यर्थः । तथा समरं रणमासमन्ताज्जयन्त्यभिभवन्तीति समराजितो ये शूरास्तेषामत्यन्ते विनाशे रुचिरभिलाषो यस्य स एवंविधोऽस्मि भवामीति । अधुना वयस्यानामन्त्रयते—अमराजिरेषु देवाङ्गनेष्वजितमपराभूतं यद्बलिबलं बलिदानवसैन्यं तस्य यमनं बन्धनं तत्रोहस्तर्कश्चिन्ता तत्र रतो विष्णुस्तस्येव रसस्तात्पर्यमारम्भश्चानुष्ठानं येषां ते तथाभूता भवन्त आमन्त्र्यन्ते । कीदृशो मदसौ । धवा वृक्षविशेषास्तेषु लयो दुर्गधिया संश्रयस्तेन तिरोहितमन्तरितमनवं बहुदिवसभवं यन्मद्ध्यानं मदीयचिन्तनम् । दुर्गस्था वयमतः स किं करिष्यतीति कृत्वा । तेन मच्चिन्तान्तर्धानेन मदो येषां ते च तेऽहिताश्च शत्रवश्च तेषु स्तनिते तद्दारणाच्छणच्छणायमाने । खड्ग इत्यर्थः । अथवा धवाः पुरुषास्तेषां लयः स्वपौरुषकर्मकौशलम् । अनवम उत्कृष्टो ध्यानमदो नीतिशास्त्रचिन्तादर्पो येषां तेऽनवमध्यानमदा मन्त्रिप्राया उच्यन्ते । धवलयेन कर्मकौशलेन तिरोहिता न्यक्कृता अनवमध्यानमदा यैस्ते तथा ते च तेऽहिताश्च शत्रवस्तेषु स्तनिते शब्दिते । अन्योऽप्यत्र यदि भङ्गः संभवति सोऽपि तद्विदा विचार्य कर्तव्य एव ॥

सुरेति। नवरोमेति। कोई चाटुकार प्रेयसी से कह रहा है--हे अविषम पंक्ति वाले दाँतों के कारण सुन्दर मुस्कान वाली! तुम्हारी यह कान्ति इस शरीर को आलोकित कर रही है। कैसे शरीर को—संभोग के स्वरों में जिसका कण्ठ लालायित है--जो प्रिय के सामीप्य के कारण आनन्दाश्रु के प्रवाह से सुशोभित स्तनों वाला है--जो स्तनों के भार से झुक रहा है--तथा जो नूतन रोमराजि के कारण शोभित त्रिवलियों के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट है। हे शनैः शनैः कृश होती कमर पर झुकते हुये स्तनों वाली! यह एक वाक्य का अर्थ है। दूसरे वाक्य कभी जैसे—कोई तलवार से प्रहार करने वाला स्पर्धा करने वाले धनुर्धरों को उद्देश्य करके (अपने) मित्रों से कह रहा है--चूँकि मैं तलवार धारण कर रहा हूँ अतएव मेरा शरीर-मद इस तलवार में उचित नहीं है।

(कैसा मद) बाण धारण करने वाले शरियों को तितर-वितर करने वाला शरीरी होने का मद। (अर्थात् धनुर्धारियों पर विजयी होने का मद) फिर मैं कैसा हूँ—कल्प-वृक्ष के नीचे भ्रष्ट नीति वाले मन्द विषयासक्तों को दूर करने--विषयासक्ति से पराङ्मुख करने की कला में निपुण होने के कारण पृथ्वी पर सुन्दर यात्रा करने वाला (आक्रमण करने वाला)। तलवार की विद्या से स्वर्ग वासियों को भी मैं नीचे गिरा देता हूँ--यह अर्थ है। फिर कैसा मैं हूँ--युद्ध को चारों ओर से जो भली भाँति जीत लेते हैं ऐसे वीरों को भी नष्ट कर देने की इच्छा वाला। अब मित्रों को संबोधित कर रहा है--अमराङ्गण में अपराजित बलि राक्षस की सेना को बाँधनें की चिन्ता में पगे हुये विष्णु के से अनुष्ठान वाले आप लोग संबोधित किये जा रहे हैं--कैसे मेरी तलवार में? धव में दुर्ग के भ्रम से तिरोहित हो जाने के मेरी चिन्ता होने के कारण—हम लोग दुर्ग में हैं अतएव वह क्या करेगा—यह समझ कर--अतएव मुझ से होने वाली चिन्ता के तिरोहित हो जाने के कारण घमण्ड में पड़े हुये शत्रुओं को विदीर्ण करने के कारण छण छण करती हुयी (मेरी) तलवार में।

अथवा धव-पुरुष उनका अपने पराक्रम से कर्म-कौशल। नीतिशास्त्र में सुविवेक करने वाले मंत्रिगण यहाँ संबोधित किये जा रहे हैं। कर्म-कौशल से उत्कृष्ट नीति शास्त्र की चिन्ता का अहंकार जिनका तिरस्कृत हो गया है ऐसे शत्रुओं के शब्द करने पर। यदि यहाँ किसी और प्रकार पद-विच्छेद संभव हो तो उसके जानने वाले को विचार करके कर लेना चाहिए॥

अथ लिङ्गश्लेषः—

स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दानां भवति यत्र सारूप्यम्।
लघुदीर्घत्वसमासैर्लिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः॥ ८॥

अब लिङ्ग श्लेष (का स्वरूप बताते हैं)—स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग वाले शब्दों में (मात्रा के) ह्रस्व, दीर्घ होने अथवा समास होने के कारण जहाँ सारूप्य हो उसे लिङ्ग श्लेष जानना चाहिए ॥ ८ ॥

स्त्रीपुमिति। यत्र स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानां सारूप्यं भवत्यसौ लिङ्गश्लेषः। कैः कृत्वा। लघुदीर्घत्वसमासैरिति क्वचिद्दीर्घस्य लघुत्वेन। ह्रस्वत्वेनेत्यर्थः। क्वचिद्ध्रस्वस्य दीर्घत्वेन क्वचित्समासेन चेति ॥

स्त्रीपुमिति। जहां स्त्रीलिङ्ग पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में सारूप्य होता है वह लिङ्ग श्लेष होता है। किन कारणों से ?—लघु, दीर्घ और समास होने से—कहीं दीर्घ (मात्रा) के लघु होने से—अर्थात् ह्रस्व होने से कहीं ह्रस्व (मात्रा) के दीर्घ होने से और कहीं समास होने के कारण।

उदाहरणम्—

देवी मही कुमारी पद्मानां भावनी रसाहारी।
सुखनी राज तिरोऽहितमहिमानं यस्य सद्धारी ॥ ९ ॥

(१) उदाहरण (देते हैं)—(कोई राजा से कहता है हे राजन्) क्रीडारत, महान् उत्सवों वाले, चोर आदि की हिंसा करने वाले, (पृथ्वी और कामदेव से युक्त) (सेवकों को) लक्ष्मी प्रदान करने वाले, पृथ्वी को जीतने वाले, (मधुर आदि रसों से भोजन करने वाले) (सेवकों को) सुखी करने वाले, शिष्टों को धारण करने वाले (तुम) शोभित होओ तथा वृत्र (अहि) के समान अहंकार वाले शत्रु जिससे तिरोहित हो जाय, नष्ट करो ॥ ९ ॥

(२) समस्त विद्यमान वस्तु को धारण करने वाली, अनन्त की महिमा को आरोपित करने वाली, शोभनकरा, रसाञ्जलि आदि से युक्त, कमलों को उत्पन्न करने वाली, नित्य तरुणी, देवी पृथ्वी शोभित होती है ॥ ९ ॥

देवीति। कश्चिद्राजानमाशास्ते—त्वं राज शोभस्व। तथा तिरश्चीनं यथा भवत्येवमहितं शत्रुं तस्य क्षयं नय। 'तसु उपक्षये' इत्यस्य रूपम्। कीदृशस्त्वम्। दीव्यतीति देवी क्रीडारतः, मही उत्सववान्, कुत्सितांश्चौरादीन्मारयतीति कुमारी। अथवा कुः पृथ्वी मारः कामस्तौ विद्येते यस्य स कुमारी। तथा पद्मानां श्रियां भावं सत्तां नयति भृत्येष्विति भावनी। सेवकानां लक्ष्मीप्रद इत्यर्थः। रसां भुवमाहरत्यात्मसात्करोतीति रसाहारी यदि वा रसैर्मधुरादिभिराहरतीति रसाहारी। सुखं नयति भृत्यानिति सुखानीः, सतः शिष्टान्धारयति पोषयतीति सद्धारी, शोभनहारवान्वा। कीदृशम्। अहितमहिमानमहेर्वृत्रस्येव मानोऽहंकारो यस्य तं तथाविधम्। अयमेकस्य वाक्यस्यार्थः ॥ अपरस्य तु—मही पृथ्वी राजति

शोभते। देवीति पूजापदम्। कीदृशी मही। कुमार्यकृतविवाहा नित्यतरुणी वा। पद्मानां नलिनानां भावन्युत्पादिका। रसाञ्जलादीनाहरति गृह्णातीति। 'कर्मण्यणन्तादी।' सुखनिः शोभनाकरा। तथानन्तस्य शेषस्य रोहित आरोपितो महिमा माहात्म्यं यया। स्वयमात्मधारणे शक्तयाप्यनन्तस्य लोके माहात्म्यख्यापनात्मभरस्तयार्पित इत्यर्थः। सद्विद्यमानं वस्तुजातं धरतीति। 'कर्मण्यणन्तादी।' देवीत्यादौ दीर्घत्वे रसाहारीत्यादौ दीर्घत्वे समासे च सारूप्यं दीर्घस्य। ह्रस्वत्वं त्वन्यत्र स्वधिया द्रष्टव्यम्॥

देवीति। कोई राजा को आशीर्वाद दे रहा है—तुम शोभित होओ। तथा शत्रुओं का इस प्रकार अन्त करो कि उनका पता ही न लगे। (कारिका में तस्य) 'तसु उपक्षये' धातु का रूप है। कैसे तुम?—देवी अर्थात् खेल में व्यस्त, बड़े-बड़े उत्सवों को करने वाले तथा चौर आदि की हत्या करने वाले अथवा कुमारी अर्थात् पृथ्वी और कामदेव से युक्त। तथा भृत्यों (सेवकों) को लक्ष्मी प्रदान करने वाले (तथा) रसा (पृथ्वी) का आहरण (विजय) करने वाले, रसाहारी अथवा (मधुर आदि) रसों से आहार करने वाले रसाहारी (तथा) सुखनी (अर्थात्) सेवकों को सुख देने वाले (तथा) सद्धारी—शिष्टों की संगति करने वाले अथवा सुन्दर हार वाले हैं।

कैसे (शत्रु) को? अहित अर्थात् अहि-वृत्रासुर के समान अहंकार वाले। यह एक वाक्य का अर्थ हुआ। दूसरे का भी—मही (पृथ्वी) शोभित हो रही है। 'देवी' संमान सूचक पद है। कैसी पृथ्वी?—कुमारी अविवाहिता अथवा नित्य तरुणी—कमलों को उत्पन्न करने वाली, रसाञ्जलि आदि का आहरण करने वाली। सुखनि (अर्थात्) सुन्दर आकर वाली—(सुन्दर खानों वाली) तथा शेष को माहात्म्य देने वाली—अपने को धारण करने में समर्थ होने पर भी लोक में अनन्त के महत्त्व को प्रथित करने के लिये उसने अपना भार (शेष को) अर्पित कर दिया—यह तात्पर्य है) (तथा) सत् विद्यमान समस्त वस्तु को धारण करने वाली—कर्म उपपद रहते अण् (प्रत्यय) के योग में स्त्रीलिङ्ग में ई प्रत्यय प्रयुक्त हुआ। देवी आदि के दीर्घ होने और रसाहारी आदि के दीर्घ होने और समास में सारूप्य है। मात्रा के ह्रस्व होने का उदाहरण अपनी बुद्धि से अन्यत्र खोज लेना चाहिए॥

अथ भाषाश्लेषः—

यस्मिन्नुच्चार्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभिन्नभाषाणि।
वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेयः॥ १०॥

आगे भाषा श्लेष (का उदाहरण देते हैं)—(एक ही प्रयत्न से उच्चार्यमाण) जिस वाक्य में भली भाँति व्यक्त स्पष्ट भिन्न भाषाओं वाले

वाक्य कवि के विवक्षित सभी अर्थों में घटते हैं उसे भाषाश्लेष जानना चाहिए ॥ १० ॥

यस्मिन्निति । यत्र यावदर्थं कवेर्यावन्तोऽर्था विवक्षितास्तावन्ति वाक्यान्युच्चार्यन्ते स भाषाश्लेष इति । कीदृशानि । सुव्यक्तं स्फुटं यथा भवत्येवं विविक्ताः पृथगुपलभ्यमानविवेका भिन्ना द्वित्राद्या भाषा येषु तानि तथाविधानि ॥

यस्मिन्निति । जहाँ कवि को जितने अर्थ अभीष्ट होते हैं उतने वाक्य उच्चारण किये जाते हैं उसे भाषा श्लेष जानना चाहिए । कैसे वाक्य ? जिनमें पृथक् पृथक् दो-तीन भाषायें सुस्पष्ट होती हैं ॥

तत्र संस्कृतप्राकृतश्लेषोदाहरणम्—

सरसबलं स हि सूरोऽसङ्गामे माणवं धुरसहावम् ।
मित्तमसीसरदवरं ससरणमुद्धर इमं दवलम् ॥ ११ ॥

[शरशबलं सखि शूरोऽसंग्रामे मानबन्धुरस्वभावम् ।
मित्रमसीश्वरदवरं सशरणमुद्धरति मन्दबलम् ॥]

उनमें संस्कृत-प्राकृत श्लेष का उदाहरण (देते हैं)—(१)योगियों के हर्ष को लाने वाले, कृपणों में करुणापर उस सूर्य ने इस उपताप युक्त उस अश्रेष्ठ कुत्सित मनुष्य को, न स्पर्श करने योग्य रोग के होने के कारण, 'जिसे वैद्यों ने पहले त्याग दिया था तथा जिसकी शक्ति बड़ी क्षीण(सरस) थी चलने-फिरने योग्य बना दिया ।

(२) वह वीर रण में बाणों से चितकबरे, मान के कारण रमणीक स्वभाव वाले, तलवार से युद्ध करने वालों को ताप देने वाले, शरणागत के रक्षक मित्र की रक्षा करता है (क्यों कि) क्षीण शक्ति वाला (वह) लड़ने में असमर्थ सेना वाला है ॥ ११ ॥

सरसबलमिति । कश्चित्कंचिदाह—स सूरो रविरिमं तं माणवं रोगित्वात्कुत्सितमनुष्यमसीसरत्सारयामास । गतियुक्तं चकारेत्यर्थः । कीदृशम् । सरसं गतिलाभात्प्रत्यग्रं बलं शक्तिर्यस्य तं तथाभूतम् । हि स्फुटम् । क सति पूर्वमसीसरदसङ्गामे न विद्यते सङ्गो यत्रासावसङ्गः स चासावामश्च तस्मिन् । असंपर्कयोग्ये रोगे सतीत्यर्थः । पुनः कीदृशं माणवम् । धुरसहावं धुरि प्रथममसहासमर्था अवा रक्षितारो वैद्या यस्य । पूर्वं वैद्यत्यक्तमित्यर्थः । सूरः कीदृशः । मिन्मेद्यति स्निह्यति । कृपणेषु दयापर इत्यर्थः । कीदृशम् । तमवरं सरोगत्वादश्रेष्ठम् । तथा दवं लातीति दवलमुपतापयुक्तम् कीदृशः । ससरणमुद्धरः सह सरणेन ज्ञानेन वर्तन्ते ये ते ससरणा योगिनस्तेषां मुदं हर्षं धारयति पुष्णातीति कृत्वेति संस्कृतवाक्यार्थः ।

प्राकृतस्य तु--काचिद्भर्तारमुद्दिश्य सखीमाह—हे सखि, स शूरोऽस्मद्भर्ता मित्रं सुहृदं सङ्ग्रामे रण उद्धरति रक्षति। कीदृशम्। शरैर्बाणैः शबलं कर्बुरम्। तथा मानेन गर्वेण बन्धुरो रम्यः स्वभावो यस्य तं तथाभूतम्। तथासीश्वराणां खड्गयोधिनां दवरमुपतापदम्। तथा सह शरणेन वर्तते यस्तं सशरणं परित्राणार्थिनामार्तिहरम्। यद्येवंविधं तत्किमिति तेनोद्ध्रियत इत्याह—मन्दबलं मन्दमसमर्थं बलं यस्य तं तथाभूतम्। बहुयोधनादक्षमसैन्यमिति ॥

सरसबलमिति। कोई किसी से कहता है—उस सूर्य ने रोगी होने के कारण हेय इस उस मनुष्य को चलने योग्य कर दिया अर्थात् गति से युक्त कर दिया। कैसे मनुष्य को)? सरस—गति लाभ के कारण नूतन शक्ति से संपन्न। हि—स्पष्ट ही। क्या होने पर पहले चला दिया—असङ्गाम--जिसमें सम्पर्क न हो सके वह हुआ असङ्ग और रोग के होने पर अर्थात् असाध्य रोग के होने पर। फिर कैसे मनुष्य को?—धुरसहाव--जिसके रक्षक वैद्य पहले असमर्थ हो चुके हैं अर्थात् जो वैद्यों के द्वारा पहले से ही त्यक्त है। सूर (सूर्य) कैसा? मित्—स्नेह करने वाला अर्थात् कृपणों पर दया करने वाला। (फिर) कैसे (मनुष्य को)?—रोगी होने के कारण हेय तथा दवल—उपताप से युक्त। (पुनः) किस प्रकार का सूर्य—ससरणमुद्धर-ज्ञानी योगियों को हर्ष (आनन्द) देने वाला। यह संस्कृत वाक्य का अर्थ है।

प्राकृत का भी—कोई पति को लक्ष्य करके सखी से कह रही है—हे सखि! वह हमारा पति युद्ध में मित्र की रक्षा करता है। कैसे (मित्र की)—बाणों से शबल (चितकबरे) तथा (आत्म) सम्मान के कारण सुन्दर स्वभाव वाले—तलवार से युद्ध करने वालों को कष्ट देने वाले—तथा शरण चाहने वालों की रक्षा करने वाले। यदि (वह मित्र) इस प्रकार का है तो उसके उद्धार करने की क्या आवश्यकता इसे कहते हैं—मन्दबल होने के कारण अर्थात् निरन्तर युद्ध के कारण सेना के असमर्थ होने से।

इदानीं संस्कृतमागध्युदाहरणम्—

कुलला लिलावलोले शलिलेशे शालशालिलवशूले।
कमलाशवलालिवलेऽमाले दिशमन्तकेऽविशमे ॥ १२ ॥

[कुररालिरावरोलं सलिलं तत्सारसालिरवशूरम्।
कमलासवलालिवरं मारयति शाम्यतो विषमम् ॥].

अब संस्कृत और मागधी का उदाहरण देते हैं—(१) कुल का भरण-पोषण करने वालों के काटने में लम्पट, खड्ग-योधाओं को तुच्छ करने वाले,

घर-बार में आसक्त लोगों की कटाई करने वाले, कांटे, लक्ष्मी के अपात्र में भी विलसित होने वाली सेना वाले, अनिवारणीय यम के समीप होने पर विष्णु की दिशा में प्रवेश किया ॥ १२ ॥

(२) कुररी पक्षियों की पंक्ति के कलरव से निनादित, सारसों के शब्द से वियोगियों के घातक होने के कारण। हिंसक कमलों के पराग को ढोने वाले, भ्रमरों की गुञ्जार से रमणीक शरत्कालीन जल मुनियों को भी क्षुब्ध कर देता है ॥१२॥

कुलेति। कश्चिज्जातसंसारभयो वक्ति—एवंविधेऽन्तके मृत्यौ सति ए विष्णौ विषये या दिङ्मार्गस्तां दिशमविशं प्रविष्टोऽस्मि। कीदृशेऽन्तके। कुलानि लालयन्ति पोषयन्ति तच्छीलाः कुललालिनः सत्पुरुषास्तेषां लावे छेदे कर्तव्ये लोलो लम्पटो यस्तस्मिन्। तथा शलन्तीति शलाः सोद्यमास्ते विद्यन्ते यत्र देशे स शली। यद्वा शलं खड्गकोषबन्धोऽस्ति येषां शलिनः खड्गयोधास्तांल्लिशत्यल्पीकरोतीति शलीलेशस्तस्मिन्। तथा शालैर्गृहैः शालन्ते श्लाघन्त इत्येवंशीलाः शालशालिनस्तांल्लुनातीति शालशालिलवः स चासौ शूलं च। पीडाकरत्वात्। तथा कमला लक्ष्मीस्तस्याः शवा दरिद्रास्तेष्वपि ललति विलसतीत्येवंशीलं बलं सैन्यं यस्य स तथा तस्मिन्। तथामाले। 'मल धारणे।' मलनं मालो न विद्यते मालो यस्यासावमालस्तस्मिन्। अनिवार्य इत्यर्थः। एष संस्कृतवाक्यार्थः॥ मागधस्य तु—शे शलिले तत्सलिलं जलं शमन्तके शाम्यतः शमिनोऽपि मालेदि मारयति। कीदृशं तत्। कुरराः पक्षिविशेषास्तेषामालिः पङ्क्तिस्तदीयै रावैः शब्दै रोलः कलकलो यत्र तत्तथाभूतम्। तथा सारसालिरवेण सारसश्रेणिवाशितेन शूरं तद्विरहिमारणसमर्थम्। तथा कमलानां पद्मानामासवं मकरन्दाख्यं लान्ति ये ते च तेऽलिनश्च भ्रमरास्तैर्वरं श्रेष्ठं यत्तत्। तथा विषमं वियोगिभीषणमेवंविधं शरदि सलिलं विलोक्य मुनयोऽपि क्षुभ्यन्ति। इति मागधवाक्यार्थः॥

कुलेति। कोई संसार से भयभीत होकर कह रहा है—मृत्यु की इस प्रकार की सत्ता होने पर विष्णु के विषय में जो मार्ग है उसमें मैं प्रवेश कर गया हूँ। कैसे यमराज के—कुल का भरण-पोषण करने वाले सत्पुरुषों की कटाई में लम्पट। तथा शली—उद्योगी लोगों से संपन्न देश अथवा तलवार से युद्ध करने वाले योद्धाओं को क्षुद्र बनाने वाले तथा घर-गृहस्थी वाले लोगों की कटाई रूपी शूल—कष्ट देने के कारण तथा लक्ष्मी से शून्य लोगों में भी उत्पात मचाने वाली सेना वाले तथा अमाल (यम की सत्ता होने पर) 'मल' धातु धारण अर्थ में आती है। मलन–माल–जिसका माल न हो सके वह हुआ अमाल अर्थात्

अनिवार्य। यह संस्कृत वाक्य का अर्थ हुआ। मागध का भी—वह जल योगियों को भी मार डालता है—कैसा है वह—कुरर पक्षियों की पंक्ति के कलरव से युक्त—तथा सारस-पङ्क्तियों की ध्वनि से उन वियोगियों की हत्या करने में समर्थ—तथा कमलों के आसव (पराग) लाने वाले भ्रमरों से श्रेष्ठ—। इस प्रकार के जल को शरदृतु में देखकर मुनिजन भी क्षुब्ध हो जाते हैं। यह मागध वाक्य का अर्थ है।

इदानीं संस्कृतपिशाचभाषाश्लेषोदाहरणमाह—

कमनेकतमादानं सुरतनरजतु च्छलं तदासीनम्।
अप्पतिमानं खमते सोऽगनिकानं नरं जेतुम्॥ १३॥

[कामे कृतामोदानां सुवर्णरजतोच्छलद्दासीनाम्।
अप्रतिमानं क्षमते स गणिकानां न रञ्जयितुम्॥]

अब संस्कृत और पिशाच भाषा में श्लेष का उदाहरण देते हैं—

(१) हे शून्य—बुद्धि। कामी पुरुष नाना प्रकार से उत्पन्न किये जाने वाले उस कपट के आश्रित, वरुण की सी टेक वाले, मन्दर-गिरि की सी दीप्ति वाले किस व्यक्ति को जीतने के लिये वह जाय।

(२) काम के विषय में प्रसन्न करने वाली, सोने और चाँदी से विलसित दासियों वाली गणिकाओं का अपमान वह अपने को प्रसन्न रखने के लिये नहीं सह सकता है॥ १३॥

कमिति। कस्यचित्केनचित्पौरुषस्तुतिः कृता। ततोऽन्यस्तामसहमान आह—हे सुरतनः निधुवनपुरुष, ते तव पौरुषं न रणे इत्यामन्त्रणपदाभिप्रायः। तथा खमते शून्यबुद्धे, यस्त्वया वर्ण्यते स कं नरं जेतुमजतु गच्छतु। नास्त्येवासौ पुरुषो यं सोऽभिभविष्यतीत्यर्थः। कीदृशं नरम्। अनेकतमान्यादानान्युत्पत्तिस्थानानि यस्य तं तथाभूतम्। तथा छलं तदासीनं तां मायामाश्रितम्। आश्रयणार्थः 'आसिः' सकर्मकः। तथापां पतेरप्पतेर्वरुणस्येव मानो गर्वो यस्य तम्। तथागस्येव मन्दरस्येव निकाना दीप्तिर्यस्य तम्। अथवा न गच्छतीत्यगो निकानो यस्येत्यन्यथास्य वाक्यस्यार्थः। अथवा यदा न सन्त्येवंविधास्तदा सर्वमेव तेन यतो जितमतः स कमिव नरं जेतुमजत्विति स्तुतिरेवात्रार्थः। इति संस्कृतवाक्यार्थः॥ पैशाचस्य तु—केनचिद्वेश्यानामुपकारः कृतः। ताभिस्तु तस्य न कृत इति सोऽत्र वर्ण्यते—स पूजितगणिकः पुरुषो गणिकानां वेश्यानामप्पतिमानमप्रतीपमपूजनं न क्षमते न सहते। किमर्थम्। रञ्जयितुमात्मरञ्जनाय। इदानीं मां ताः पूजयन्त्वित्येवमर्थम्। कीदृशीनां गणिकानाम्। कामविषये कृतामोदानां कृतहर्षाणाम। तथा सुरन (स्वर्ण)

रजताभ्यामुच्छलन्त्यो विलसन्त्यो दास्यो यासाम्। पिशाचभाषायां कगचजतदपयवानां लोपो न क्रियत इत्यादिपूर्वोक्तं लक्षणम् ॥

कमिति। किसी ने किसी के पराक्रम की प्रशंसा की। तदनन्तर दूसरा उसे न सह सकता हुआ बोला—हे कामी पुरुष तुम्हारा पराक्रम लड़ाई में नहीं चलता (यह) 'ते' (इस) आमन्त्रण पद का अभिप्राय है। तथा हे शून्य—बुद्धि! जिसका तुम वर्णन कर रहे हो वह किसे जीतने जाय। ऐसा कोई पुरुष नहीं है जिसे वह पराजित करेगा। कैसे मनुष्य को?—अनेक उत्पत्ति वाले कपट की आश्रय करने वाला। अश्रयण अर्थ में 'आसिः।' सकर्मक. है—तथा वरुण के समान मान वाले—तथा मन्दराचल के समान दीप्ति वाले—अथवा अक्षय दीप्ति वाले—इस प्रकार अन्यथा इस वाक्य का अर्थ होगा। अथवा जब उक्त गुणों से युक्त कोई है ही नहीं तो वह किसे जीतेगा—इस प्रकार स्तुति ही यहाँ वाच्य है। यह संस्कृत वाक्य का अर्थ है। पिशाच वाक्य का भी—किसी ने वेश्याओं का उपकार किया किन्तु उन्हों ने उसका प्रतिकार नहीं किया—उसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है—वेश्याओं की पूजा करने वाला वह वेश्याओं का अपमान नहीं सह सकता है। क्यों—अपने को प्रसन्न रखने के लिये। इस समय मेरी वे पूजा करें—यह तात्पर्य है। कैसी वेश्याओं का—काम के विषय में आनन्द देने वाली—तथा सोने और चाँदी से विलसित होती हुई दासियों वाली (वेश्याओं का)। पिशाच भाषा में क, ग, च, ज, त, द, प, य, और व का लोप नहीं किया जाता है—यह लक्षण पहले ही बताया जा चुका है।

इदानीं संस्कृतसूरसेनीवाक्योदाहरणमाह—

तोदी सदिगगणमदोऽकलहं स सदा बलं विदन्तरिदम्।
आर दमेहावसरं सागदमारं गदासारम् ॥ १४ ॥

[ततो दृश्यते गगनमदः कलहंसशतावलम्बितान्तरितम्।
आर तमेघातसरं शाश्वतमारं गतासारम् ॥]

अब संस्कृत और सूरसेनी वाक्य का उदाहरण देते है—

(१) (दूसरों को) पीड़ा देने वाला, सदैव अपनी सेना पर बिना गर्व किये,—व्यूह-रचनादि करने वाला बुद्धिमान् वह गदाओं से उत्कृष्ट, धनुर्धारियों से युक्त तथा पराजय को प्राप्त हुयी अतएव अब कलह से विरक्त हुयी इस शत्रु सेना में प्रवेश कर गया।

(२) तदनन्तर सैकड़ों राजहंसों से आश्रित अतएव आच्छादित मेघ पटल से शून्य, वर्षा से विरक्त कामदेव का स्थिर निकेत यह आकाश दिखाई पड़ता है ॥ १४ ॥

तोदीति। कश्चिन्नरो रणस्थो वर्ण्यते—स कश्चिच्छूरो वित्पण्डित इदमारमरिसक्तं बलं सैन्यमन्तर्मध्य आर ससार। कीदृशोऽसौ। तुदति

परानिति तोदी। तथा देशनं दिगुपदेशो व्यूहरचनादिविषयः सह दिशा वर्तत इति सदिक्। तथा न गणेन सहायवर्गेण मदो यस्यासावगणमदः स्वभुजबलसहायकापेक्ष इत्यर्थः। सदा सर्वकालमेव। कीदृशं बलम्। अकलहं परिभूतत्वान्निर्वैरम्। अत एव दमेहाया उपशमचेष्टाया अवसरः कालो यस्य तत्तथाभूतम्। तथास्यन्ते क्षिप्यन्त इत्यासाः शरास्तान्द्यन्ति खण्डयन्तीत्यासदा धानुष्काः सह तैर्वर्तत इति सासदम्। तथा गदाभिः सारमुत्कृष्टम्। एष संस्कृतवाक्यार्थः॥ सूरसेन्यास्तु–शरदि नभो वर्ण्यते–तो इति ततः प्रावृषोऽनन्तरं दृश्यतेऽवलोक्यते। गगनं नभः। अद एतत्। कीदृशम्। कलहंसशतैरवलम्बितं चान्तरितं च। तथा आरतो निवृत्तो मेघानां घनानामवसरः कालो यत्र। यदि वा आरता उपरता मेघानामाप एव शरा बाणा यत्र तत्तथाभूतम्। तथा शाश्वतः स्थिरो मारः कामो यत्र। तथा गत आसारो वेगवर्षो यतस्तत्तथाभूतम्॥

तोदीति। लड़ाई में डरे हुये किसी मनुष्य का वर्णन किया जा रहा है—वह कोई वीर शत्रु-मण्डल की इस सेना में प्रवेश कर गया। कैसा है वह (वीर) लोदी (शत्रुओं को पीड़ा पहुँचाने वाला) तथा सदिक् (व्यूह रचना आदि विषयों को जानने वाला)—तथा सहायक वर्ग की परवाह न करने वाला अपनी भुजाओं का ही भरोसा करने वाला। सदैव। कैसी सेना में (प्रवेश कर गया)? निर्वैर (पराजित हो जाने के कारण जो अब वैर नहीं कर सकती) दमन की जाने के समय को प्राप्त हुयी, तथा बाणों को खण्डित करने वाले धनुर्धारियों से युक्त तथा गदाओं से उत्कृष्ट (सेना में) [प्रवेश कर गया]। यह संस्कृत वाक्य का अर्थ हुआ। सूरसेनी। (वाक्य में) भी शरद में आकाश का वर्णन किया जा रहा है। वर्षा के अनन्तर यह आकाश दिखलाई पड़ता है—किस प्रकार सैकड़ों राजहंसों से आश्रित अतएव आच्छादित। तथा मेघों के विचरण से शून्य अथवा मेघों के जल रूपी बाणों से शून्य। तथा कामदेव की स्थिर सत्ता से युक्त। तथा धारा—सम्पात वर्षण से रहित।

अथ संस्कृतापभ्रंशयोः श्लेषोदाहरणमाह—

धीरागच्छदुमे हतमु–दुद्धरवारिसदःसु।
अभ्रमदप्पसराहरणु–रविकिरणा तेजःसु॥ १९॥

[धीरा गच्छतु मेघतमो दुर्धरवार्षिकदस्यु।
अभ्रमदप्रसरा हरणं रविकिरणास्ते यस्य॥]

आगे संस्कृत और अपभ्रंश के श्लेष का उदाहरण देते हैं—

(१) (संस्कृत) हे गौरि! धैर्य धारण करो! आकाश में उमड़ते हुये

जल-प्रवाह वाली (गङ्गा) दौड़ा दी गयी, मेड़ के समान हर्ष के नष्ट हो जाने के कारण कृश हुयी, दिन में भी निकली हुयी पृथ्वी वाले जल रूप निवास भवन वाले, तेजों में (वाडवाग्नि में) गिर पड़ी।

(२) (अपभ्रंश वाक्यार्थ) हे धीरो हट जाओ! यह अवारणीय मेघ रूप चोरों वाला, मेघ कृत अन्धकार है जिस मेघाच्छन्न अन्धकार को निश्चित प्रतीति कराने वाली वे सूर्यकिरणे नष्ट करती हैं ॥ १५ ॥

धीरेति। अत्र काचिद्गौरीसखी गङ्गायाः सपत्न्यया व्यसनेन गौरीमानन्दयति—यथा हे उमे गौरि, धीरा स्वस्था भवेति क्रिया गम्यते। यतः, अभ्रे गगने माद्यत्युद्धतो भवति यः स तथाविधोऽपां जलानां प्रसरो यस्याः सा अभ्रमदप्प्रसरा गङ्गा अवेरिव गड्डरिकाया इव किरणं विक्षेपणं निर्वासनं यस्याः साविकिरणा। अहर्दिवसमपि। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे—' इति कर्म। अत एव हतमुद्गतहर्षा। तत एव चाणुः कृशा सत्यगच्छदपतत्। क्व तेजःसु। कीदृशेषु। उद्गता धरा पृथ्वी प्रलयापन्निमग्ना सती यस्मात्तदुद्धरं तच्च तद्वारि च समुद्रजलं च तदेव सदो गृहं येषां तानि तथाविधानि तेषु। वडवानलतेजःस्वित्यर्थः। हरनिर्वासनदुःखिता सती गङ्गात्मानं वडवानलेन्धनीचकारेति भावार्थः। एष संस्कृतवाक्यार्थः॥ अथवा काचित्सखी गौर्याः पुरतो हरसमरं वर्णयति—हे उमे, धीर्बुद्धिरागच्छदागता। कथमहतमुदनष्टहर्षं यथा भवति तथोद्गता निवृत्ता हरवारिणो हरनिषेधकाः शत्रवो यत्र कर्मणि तदुद्धरवारि यथा भवति यथास्माकं बुद्धिस्तुष्टिश्चाभूत्तथा हरेणारयो जिता इत्यर्थः। सा च धीः सदःसु सभासु तेजःसु च परतेजोविषयेऽभ्रमत्प्रसृता। तेजस्तारेत्यर्थः। कीदृशी धीः। सर्वगत्वादपामिव प्रसरो गतिर्यस्याः साप्प्रसरा। अहर्दिवसम्। सदेत्यर्थः। अणुः कुशाग्रीया। तथाविकिरणा निरसितुमशक्या। इति संस्कृतवाक्यार्थः॥

धीरेति। यहाँ कोइ गौरी की सखी (उनकी) सवत गङ्गा के व्यसन से गौरी को प्रसन्न कर रही है। जैसे हे गौरि! स्वस्थ हो जाओं यह क्रिया गम्य है। क्यों कि आकाश में मद करता है—उद्धत होता है जल का प्रवाह जिसका वह हुयी अभ्रमदप्रसरा (गङ्गा) तथा गड़रिये के भेड़ों की भाँति जिनका निष्कासन हो जाता है वह हुयी अविकिरणा। 'अहः' दिन में भी। 'कालाध्वनो' आदि से 'अहः' में कर्म विभक्ति हुयी। इसलिये (उन गङ्गा का) हर्ष नष्ट हो गया। इसी (शोक) के कारण दुबली होकर गिर पड़ी—कहाँ तेजों में। किस प्रकार के तेजों में—प्रलय काल में निमग्न हुयी पृथ्वी के कारण उच्छलित हुये सागर के जलरूपी घरो वाले तेजों में अर्थात् वाडवाग्नि में। शंकर के

द्वारा निर्वासित होने से दुःखी गङ्गा ने अपने को वाडवाग्नि का इन्धन बना लिया यह भाव है ॥ यह संस्कृत वाक्य का अर्थ है। अथवा कोई सखी गौरी के समक्ष शिव जी के युद्ध का वर्णन करती है। हे उमे--धी (बुद्धि) आ गयी। कैसे ? शिव के शत्रुओं का भेदन हो जाने के कारण हर्ष से युक्त—अर्थात् हमारी बुद्धि और प्रसन्नता के लिये शिव जी ने शत्रुओं को जीत लिया। वह बुद्धि सभाओं में और तेजो पर—दूसरों के तेजों में फैल गयी। अर्थात् तेज दीप्यमान हो उठा। बुद्धि कैसे--सब में पायी जाने के कारण जल की सी गति वाली दिन में अर्थात् सदैव—अणु (कुशाग्र) तथा अविकिरणा--अर्थात् दूर करने में अशक्य। यह संस्कृत वाक्य का अर्थ है।

अपभ्रंशस्य तु—वर्षावर्णनम्—हे धीराः, गच्छत्वपसरतु। किम्। तन्मेघकृतं तमो मेघतमः। कीदृशम्। दुर्धरा दुर्वारा वार्षिका वर्षासु भवा दस्यवश्चोरा यत्र। यदि वा वार्षिका मेघा एव दस्यवश्चौरास्तेजसो हरणाद्यत्र। तथा यस्य मेघतमसस्ते रविकिरणाः सूर्यकरा हरणं हर्तारः। कीदृशाः। अभ्रमदप्रसरा भ्रमो भ्रान्तिर्न भ्रमो निश्चयस्तं ददातीत्यभ्रमदः प्रसरो येषां ते तथाविधाः यथावस्थितं वस्तुस्वरूपं ये प्रकाशयन्तीत्यर्थः ॥

अपभ्रंश का भी वर्षा-वर्णन—हे धीरो हट जाओ। क्यों ? यह मेघ कृत अन्धकार है--कैसा अन्धकार ? अनिवारणीय वर्षाकालीन चोरोवाला अथवा प्रकाश को नष्ट करने के कारण वर्षाकालीन मेघरूपी चोरोवाला। तथा—जिस मेघकृत अन्धकार को दूर करनेवाली सूर्य की किरणें हैं--कैसी किरणें—अभ्रमदप्रसरा—निश्चय प्रतीत करने वाली एवं यथावस्थित वस्तुका स्वरूप दिखलाने वाली ॥

अथ भाषाश्लेषस्य प्रकारान्तरमाह—

वाक्ये यत्रैकस्मिन्ननेकभाषानिबन्धनं क्रियते।
अयमपरो विद्वद्भिर्भाषाश्लेषोऽत्र विज्ञेयः ॥ १६ ॥

आगे भाषा श्लेष का अन्य भेद बताते हैं—जहाँ एक ही वाक्य में अनेक भाषाओं का बन्धन किया जाता है विद्वानों को भाषा श्लेष यह प्रकार भी अभीष्ट है ॥ १६ ॥

वाक्य इति। यत्रैकस्मिन्नेव वाक्येऽनेकभाषा निबध्यन्ते सोऽयमपरः पूर्वस्मादन्यो भाषाश्लेषोऽत्र ज्ञातव्यः। पूर्वत्रानेकार्थोऽनेकाभिर्भाषाभिरुक्तः, इह त्वेक एवार्थो बह्वीभिर्भाषाभिरुच्यत इति तात्पर्यार्थः ॥

वाक्य इति। जहाँ एक ही वाक्य में अनेक भाषायें बाँधी जाती हैं—वह पूर्व वर्णित श्लेष प्रकार से भिन्न प्रकार का श्लेष होता है। पूर्व भेद अनेक

अर्थ अनेक भाषाओं में बताये जाते थे—यहाँ एक ही अर्थ अनेक भाषाओं में वाच्य होगा—यह तात्पर्य है ॥

उदाहरणम्—

समरे भीमारम्भं विमलासु कलासु सुन्दरं सरसम् ।
सारं सभासु सूरिं तमहं सुरगुरुसमं वन्दे १७ ॥

उदाहरण—

रण में भीषण उद्योग करनेवाले, निर्मल कथाओं में सुन्दर, श्रृङ्गारादिसे युक्त, सभाओं में उत्कृष्ट, बृहस्पति-तुल्य उस विद्वान को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

समर इति । तमहं सूरिं वन्दे स्तौमि । कीदृशम् । समरे रणे भीमारम्भं भीषणोद्योगम् । विमलासु कलासु सुन्दरं निर्मलकलाविषये शोभनम् । सरसं श्रृङ्गारादिरसोपेतम् । तथा सभासु सदःसु सारमुत्कृष्टम् । अत एव सुरगुरुसमं बृहस्पतितुल्यम् । अयमेकत्रार्थे संस्कृतप्राकृतश्लेषः ; समसंस्कृतप्राकृतशब्दरचितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि समसंस्कृतमागधशब्दरचितत्वादित्यादि द्रष्टव्यम् ॥

समर इति । मैं ऐसे विद्वान् को नमस्कार करता हूँ—कैसे युद्ध में भीषण पराक्रम वाले, पवित्र कलाओं में प्रबुद्ध, श्रृङ्गारादिरसों से युक्त सरस, सभाओं में उत्कृष्ट अतएव देवों के गुरु बृहस्पति के तुल्य । यहाँ एक ही अर्थ में संस्कृत और प्राकृत भाषायें श्लिष्ट हैं—समान संस्कृत और प्राकृत शब्दों के द्वारा रची गयी होने के कारण । इसी प्रकार आगे भी समान संस्कृत और मागध आदि भाषाओं के शब्दों द्वारा रचा गया (श्लेष) समझना चाहिए ॥

समसंस्कृतमागधशब्दोदाहरणमाह—

शूलं शलन्तु शं वा विशन्तु शबला वशं विशङ्का वा ।
अशमदशं दुःशीला दिशन्ति काले खला अशिवम् ॥ १८ ॥

समान संस्कृत और मागध शब्दों का उदाहरण देते हैं—दुराचारी खल अनुपशमनीय अवस्था वाले, अवसर पड़ने पर अमङ्गल का कारण बनते हैं अतएव वे दुष्ट हैं । (वे दुष्ट) शूली पर चढ़े, सुख को प्राप्त हों, पराधीन हो और चाहे स्वच्छन्द रहें ॥ १८ ॥

शूलमिति । दुःशीला दुष्टचारित्राः खलाः शलवोऽशिवं पीडादिकं दिशन्ति ददति यतोऽतस्ते शबलाः पातकिनः शूलं वा शलन्त्वधिरोहन्तु । शं वा सुखं वा विशन्त्वधिगच्छन्तु । वशं पराधीनतां वा यान्तु । विशङ्काः स्वच्छन्दा वा भवन्तु तच्चिन्तामपि न कुर्मः । कीदृशमशिवम् ।

अविद्यमानः शम उपशमो यस्यां सा तथाविधा दशावस्था यत्र तदशम-दशम् ॥

शूलमिति। दुराचारी दुष्ट पीडा ही देते हैं अतः वे पापी चाहे शूली पर चढ़ें, चाहे सुखी हों, पराधीन हों या स्वच्छन्द हों उसकी चिन्ता भी नहीं करता हूँ। कैसी पीड़ा (देते हैं)—अनिवारणीय अवस्था वाली (पीडा)।

संस्कृतपैशाचिकयोः श्लेषोदाहरणमाह—

चम्पककलिकाकोमलकान्तिकपोलाथ दीपिकानङ्गी।
इच्छति गजपतिगमना चपलायतलोचना लपितुम् ॥ १९ ॥

संस्कृत और पैशाची में श्लेष का उदाहरण देते हैं—चम्पक की कली के समान कोमलकान्त कपोल-स्थल वाली काम की दीपिका, गजराज के समान चाल वाली, चञ्चलनेत्री बोलना चाहती है ॥ १९ ॥

चम्पकेति। काचिन्नायिका गजेन्द्रसमगमना चञ्चलदीर्घलोचना च। तथा चम्पककलिकावत्कोमलकान्ती रम्यरुची कपोलौ यस्याः सा तथाविधा। तथानङ्गस्येयमानङ्गी दीपिका। तया कामस्य प्रकाशितत्वात्। सा लपितुं वक्तुमिच्छति ॥

चम्पकेति। गजराज की सी गति वाली और चञ्चल नेत्रों वाली कोई नायिका है। उसकी कपोल-स्थली चम्पा की कली के समान कोमल एवं कमनीय है। (वह) काम की दीपिका सी है। उसी के द्वारा काम मानों प्रकाशित हुआ हो। वह बोलना चाहती है ॥

अथ संस्कृतसूरसेनीश्लेषमाह—

अधरदलं ते तरुणा मदिरामदमधुरवाणि सामोदम्।
साधु पिबन्तु सुपीवर-परिणाहिपयोधरारम्भे ॥ २० ॥

आगे संस्कृत और सूरसेनी में श्लेष का उदाहरण देते हैं—हे सुन्दर, मांसल, विस्तृत कुचयुग्म के आभोगवाली! मदिरामद के कारण मधुर रचनावाले सुगन्धित तुम्हारे अधर-दलका युवक भली-भाँति पान करें ॥ २० ॥

अधरेति। मदिरामदेन मधुरा वाणी यस्याः सा संबोध्य भण्यते। ते तवाधरदलमोष्ठपल्लवं तरुणा युवानः साधु यथा भवत्येवं पिबन्तु चुम्बन्तु। कीदृशम्। सामोदं सुगन्धि। किंविशिष्टे। सुष्ठु पीवरो मांसलः परिणाही परिमण्डलः पयोधरारम्भः कुचाभोगो यस्याः सैवमामन्त्र्यते ॥

अधरेति। मदिरा के मद के कारण मधुर वाणी वाली को संबोधन कर के कहा जा रहा है—युवक तुम्हारे अधर-दल का आकण्ठ पान करें। कैसे (अधर-

दल का)—सुगन्धित। किन विशेषणों से युक्त ? अत्यन्त विस्तृत ओर मांसल स्तनाभोग वाली (नायिका की ओर) लक्ष्य किया जा रहा है ॥

संस्कृतापभ्रंशश्लेषमाह--

क्रीडन्ति प्रसरन्ति मधु-कमलप्रणयि लिहन्ति।
भ्रमरा मित्र सुविभ्रमा मत्ता भूरि रसन्ति ॥ २१ ॥

संस्कृत और अपभ्रंश में श्लेष बताते हैं--हे मित्र ! सुविचरण करने वाले भ्रमर मतवाले होकर खेल रहे हैं; इधर-उधर घूम रहे हैं, कमल संपृक्त मधु का पान कर रहे हैं और इस प्रकार अत्यन्त गुञ्जार कर रहे हैं॥ २१॥

क्रीडन्तीति। कश्चित्कंचिदाह—हे मित्र, भ्रमरा मत्ताः सन्तः क्रीडन्ति विचरन्ति। प्रसरन्तीतस्ततो गच्छन्ति। तथा मधु मकरन्दं कमलप्रणयि पद्मसंबद्धं लिहन्त्यास्वादयन्ति। कीदृशाः। सुष्ठु विभ्रमो येषां ते तथाविधाः। तथा भूरि प्रभूतं रसन्ति शब्दायन्ते। अन्योऽपि मत्त एवंविधो भवति॥

क्रीडन्तीति। कोई किसी से कह रहा है—हे मित्र ! भ्रमर मत्त होकर क्रीडा कर रहे हैं—इधर-उधर घूम रहे हैं—कमल में लिपटे हुये पराग का पान कर रहे हैं। (भ्रमरों का वर्णन करते हैं)—(ये भ्रमर) सुन्दर भ्रमण वाले तथा अत्यधिक गुञ्जार करने वाले हैं। दूसरा भी मत्त होकर इसी प्रकार हो जाता है॥

भाषाश्लेषमुपसंहरन्नाह—

एवं सर्वासामपि कुर्वीत कविः परस्परं श्लेषम्।
अनयैव दिशा भाषास्त्र्यादी रचयेद्यथाशक्ति ॥ २२ ॥

[१६ वीं कारिका से २१ वीं कारिका तक बताया गया श्लेष-प्रकार आलङ्कारिकों के द्वारा भाषा-सम नाम से जाना गया है।]

आगे भाषा श्लेष का उपसंहार करते हुए कहते हैं—इसी प्रकार कवि सभी भाषाओं का परस्पर श्लेष करे। इसी मार्ग से तीन आदि भाषाओं में भी (वह) यथाशक्ति रचना करे॥ २२॥

एवमिति। तथा संस्कृतभाषाया अन्याभिर्भाषाभिः सह श्लेषः कृत एवमन्यासामपि परस्परं कर्तव्योऽसौ। तद्यथा--प्राकृतभाषाया मागधिकापैशाचीसूरसेन्यपभ्रंशैः सह, मागधिकायाः पैशाच्याः सूरसेन्यपभ्रंशैः पैशाच्याः सूरसेन्यपभ्रंशाभ्याम्, सूरसेन्या अपभ्रंशेन। एते दश भेदाः प्राच्यैः द्वियोगे सर्व एव पञ्चदश भेदा भवन्ति। तथानयैव दिशानेनैव

न्यायेन त्र्यादीस्तिस्रश्चतस्रः पञ्च षड्वा युगपच्छ्लिष्टा भाषा यथासामर्थ्यमेकवाक्यतया भिन्नवाक्यतया वा रचयेत्। तत्र त्रियोगे विंशतिर्भेदाः। यथा--सं० प्रा० मा० १, सं० प्रा० पै० २, सं० प्रा० सू० ३, सं० प्रा० अ० ४, प्रा० मा० पै० ५, प्रा० मा० सू० ६, प्रा० मा० अ० ७, मा० पै० सू०, ८, मा० पै० अ० ९, पै० सू० अ० १०, सं० मा० पै० ११, सं० मा० सू० १२, सं० मा० अ० १३, प्रा० पै० सू० १४: प्रा० पै० अ० १५, प्रा० सू० अ० १६, सं० पै० सू० १७, सं० पै० अ० १८, प्रा० सू० अ० १९, सं० सू० अ० २०। चतुर्योगे तु पञ्चदश। तद्यथा--सं० प्रा० मा० पै० १, सं० प्रा० मा० सू० २, सं० प्रा० मा० अ० ३, प्रा० मा० पै० सू० ४, प्रा० मा० पै० अ० ५, मा० पै० सू० अ० ६, सं० मा० पै० सू० ७, सं० मा० पै० अ० ८, सं० पै० सू० अ० ९, प्रा० पै० सू० अ० १०, सं० प्रा० सू० अ० ११, सं० मा० सू० अ० १२, सं० प्रा० पै० सू० १३, सं० प्रा० पै० अ० १४, प्रा० मा० सू० अ० १५। पञ्चयोगे षट्। तद्यथा--सं० प्रा० मा० पै० सू० १, सं प्रा मा पै० अ० २, सं० मा० पै० सू० अ० ३, सं० प्रा० पै० सू० अ० ४, सं० प्रा० मा० सू० अ० ५, प्रा० मा० पै० सू० अ० ६। षड्योगे त्वेक एव भेदः॥

एवमिति। जिस प्रकार संस्कृत भाषा का अन्य (सूरसेनी आदि) भाषाओं के साथ श्लेष किया गया। इसी प्रकार अन्य (प्राकृत आदि) भाषाओं का भी परस्पर श्लेष करना चाहिए—उदाहरणार्थ—प्राकृत भाषा का मागधी, पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ, मागधी का पैशाची, सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ, पैशाची का सूरसेनी और अपभ्रंश के साथ और सूरसेनी का अपभ्रंश के साथ। ये (अभी बताये गये) दश भेद पहले के (पाँच) भेदों के साथ दो भाषाओं में श्लेष होने पर सब पन्द्रह भेद होते हैं। आगे इसी विधि से और इसी न्याय से तीन आदि--तीन, चार, पाँच अथवा छ भाषाओं को श्लिष्ट करके अपनी सामर्थ्य के अनुरूप एक ही वाक्य के रूप में भिन्न वाक्यों के रूप में रचना करे। उनमें तीन भाषाओं का योग होने पर २० भेद होता है············चार (भाषाओं का योग होने पर १५ भेद होता है जैसे····················। पाँच के योग में छै जैसे············। छै के योग में तो एक ही भेद होता है।

तत्र षड्योगादिकप्रदर्शनायैकार्थश्लेषमेकमुदाहरणमाह—

अकलङ्ककुल कलालय बहुलीलालोल विमलबाहुबल।
खलमौलिकील कोमल मङ्गलकमलाललाम लल॥ २३॥

उनमें छ (भाषाओं) के योग में उदाहरण देने के लिये एक अर्थ वाले श्लेष का एक उदाहरण देते हैं—हे अकलङ्क-कुल कलाओं में (निपुण, अनेक प्रकार की लीलाओं में चञ्चल, निर्मल भुज बल वाले, दुष्टों के शिर पर कील, कोमल, जय लक्ष्मी के चिह्न तुम खेलो ॥ २३ ॥

अकलङ्केति। हे एवंविध, त्वं लल क्रीड। कीदृश। अकलङ्ककुल निर्मलान्वय। कलालय कलावास। बहुलीलालोल प्रचुरविलासलम्पट। विमलबाहुबल प्रकटभुजपराक्रम। खलमौलिकील दुर्जनशिरःशङ्को। कोमल कमनीय। मङ्गलकमलाललाम जयलक्ष्मीचिह्न। अत्रैकस्मिन्नर्थे भाषाषट्कस्यापि समानं रूपम् ॥

अकलङ्केति। हे इन गुणों से युक्त। तुम खेलो। कैसे (तुम)—पवित्र कुल वाले—कलाओं के निवास—प्रभूत विलास के लोभी—प्रकट भुजाओं के पराक्रम वाले—दुष्टों की खोपड़ी में धँसायी जाने वाली कील—जय लक्ष्मी के चिह्न। यहाँ एक ही अर्थ में छ भाषाओं का रूप समान है ॥

अथ प्रकृतिश्लेषमाह—

सिद्ध्यति यत्रानन्यैः सारूप्यं प्रत्ययागमोपपदैः।
प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः ॥ २४ ॥

[भाषा-श्लेष से निवृत्त होकर] प्रकृति-श्लेष का उदाहरण देते हैं—जहाँ एक ही प्रत्यय, आगम और उपपद से नाना प्रकार की प्रकृतियों का सारूप्य सिद्ध होता है उसे प्रकृति-श्लेष जानना चाहिए ॥ २४ ॥

सिद्ध्यतीति। यत्र प्रत्ययैरागमैरुपपदैश्चानन्यैस्तैरेव प्रकृतीनां तु नानाप्रकाराणां सारूप्यं समानरूपता सिद्ध्यति स प्रकृतिश्लेषः ॥

सिद्ध्यतीति। जहाँ उन्हीं प्रत्ययों, आगमों और उपपदों से नाना प्रकार की प्रकृतियों की समरूपता सिद्ध होती है उसे प्रकृति श्लेष जानना चाहिए ॥

तत्रोदाहरणमाह—

परहृदयविदसुरहितप्राणनमत्काव्यकृत्सुधारसनुत्।
सौरमनारं कलयति सदसि महत्कालचित्सारम् ॥ २५ ॥

उसका उदाहरण देते हैं—(१) शत्रु-मण्डल के साथ, मानवों से शून्य, शत्रुओं का हृदय वेधन करने वाला, राक्षसों के हितैषियों का प्राण मथने वाला, शुक्र का छेदन करने वाला, अमृत-रस को नमस्कार करने वाला, कृत्य-करण के समय में प्रभूत चैतन्य वाला, सुर-मण्डल सभा में गणना करता है।

(२) दूसरों के चित्त को जानने वाला, प्राण-रहित हो गये लोगों के पुनः जीवित होने के कारण प्रसन्न, काव्य-रचना करने वाले, खलों को प्रेरित

करने वाले, कलाओं का चयन करने वाले, शत्रु-समुदाय से रहित विद्वान् सभा में उत्तम का ही चयन करते हैं ॥ २५ ॥

परेति । देवासुरयुद्धं वर्ण्यते—सौरं सुरसमूहः कर्तृ कलयति कलिं गृह्णाति । युध्यत इत्यर्थः । क्व सन्तः । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते यत्र तत्सदस्तत्र सदसि युद्धे । सौरं कीदृशम् । परहृदयानि रिपुवक्षांसि विध्यतीति परहृदयविवत् । यथासुरहितानां दानवपक्षपातिनां प्राणनं जीवनं मन्थातीत्यसुरहितप्राणमत् । तथा काव्यं दानवगुरुं कृन्तति पीडयतीति काव्यकृत् । तथा सुधारसममृतरसं नौति स्तौतीति सुधारसनुत् । तथा देवत्वान्न विद्यते नारं नरसमूहो यत्र तदनारम् । तथा महत्प्रभूतम् तथा काले कृत्यकरणसमये चिच्चैतन्यं ज्ञानं यस्य तत्कालचित् तथा सहारेणारिसमूहेन वर्तते यत्तत्सारं यथा भवत्येवं कलयति । एष एकस्य वाक्यस्यार्थः ॥ परस्यापि तादृशान्येव पदानि । सौरं सूरिसमूहः सारमुत्कृष्टं वस्तु न्याय्यं वा सदसि सभायां कलयति परिच्छिनत्ति । किं कुर्वत्सौरम् । महत्पूजयत्पूज्यजनम् । तथा परहृदयवित्परचित्तज्ञम् । तथासुरहितानां प्राणवर्जितानां प्राणनेन प्रत्युज्जीवनेन माद्यति हृष्यतीत्यसुरहितप्राणनमत् । तथा काव्यं कविकर्म करोतीति काव्यकृत् । तथा शोभनो धारो मर्यादादिधारणं येषां ते सुधाराः सुजनास्तान्स्यन्ति घ्नन्ति ये ते सुधारसाः खलास्तान्नुदति प्रेरयतीति सुधारसनुत् । तथा न विद्यत आरमरिसमूहो यस्य तदनारम् । तथा कलानां समूहः कालं चिनोत्यर्जयतीति कालचित् । अत्र प्रकृतयो व्यधिविदिप्रभृतयो भिन्नाः । प्रत्ययाः क्विबादय उभयत्रापि त एव । परहृदयादीन्युपपदानि च तान्येव । आगमश्च कालचिदादिपदेऽतोऽन्तागमादिकोऽनन्यः । ननु चैकत्र पक्षेऽतोऽन्तोऽस्ति द्वितीये नास्तीति कथमनन्यः । सत्यम् । नास्यान्योऽस्तीत्यनन्यो द्वितीयपक्षेऽन्यागमाभावादुच्यत इति सुस्थम् ॥

परेति । देवासुर सङ्ग्राम का वर्णन किया जा रहा है—सुर-समूह कलि का ग्रहण अर्थात् युद्ध कर रहा है । किस स्थल में ? युद्ध में । कैसा सुरसमुदाय परहृदयवित्—शत्रुओं के हृदय को बेधने वाला, असुरहितप्राणमत्—राक्षसों के हितैषियों के प्राणों का मन्थन करने वाला तथा काव्यकृत्—शुक्राचार्य का भेदन करने वाला तथा सुधारसनुत्—अमृत के रस को नमस्कार करने वाला (चाहने वाला) तथा अनार देवता होने के कारण मनुष्य जाति से रहित-तथा-अत्यधिक संख्या वाला—तथा कृत्य करण के समय में ज्ञान से युक्त—तथा रिपु-समुदाय से युक्त—उक्त विशेषणों वाला सुरसमुदाय युद्ध करता है । यह एक वाक्य का अर्थ है ॥ दूसरे वाक्य के भी वही पद हैं । विद्वन्मण्डल सभा में उत्तम एवं

न्याय्य वस्तु को ही धारण करता है। क्या करता हुआ विद्वत्समुदाय--पूज्य लोगों की पूजा करता हुआ--तथा शत्रुओं का मर्म ताड़ने वाला—तथा, प्राणों से रहित होने के कारण मर गये लोगों के पुनः जीवित हो जाने से आनन्दित—तथा, काव्यकृत-काव्य-रचनेवाला—तथा सुधारसनुत् (सुन्दर आचरणों के पालन करने वालों को नष्ट करने वाले दुष्टों का विनाश करने वाला)--तथा, शत्रुओं से रहित—तथा कालचित्--कलाओं का समूह काल—उसका चयन करने वाला यहाँ व्यधि, विदि आदि प्रकृतियाँ पृथक् पृथक् हैं। क्विप् आदि प्रत्यय दोनों ही स्थलों पर वे ही हैं। पर हृदय आदि उपपद भी वे ही हैं।

अथ प्रत्ययश्लेषः—

यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां भवत्यनेकेषाम् ।
सारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्ययश्लेषः ॥ २६ ॥

अब प्रत्यय श्लेष (का उदाहरण देते हैं।)

जहाँ प्रत्ययों के कारण अनेक प्रकृति और प्रत्यय के समूहों में समरूपता होती है वहाँ प्रत्यय—श्लेष जानना चाहिए ॥ २६ ॥

यत्रेति। यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां बहूनां प्रत्ययात्सकाशात्सारूप्यं समानरूपता भवति स प्रत्ययश्लेषो ज्ञातव्यः ॥

यत्रेति। जहाँ प्रकृति प्रत्यय के अनेक समुदायों में प्रत्यय के कारण समरूपता होती है उसे प्रत्यय-श्लेष जानना चाहिए ॥

उदाहरणम्----

तापनमाजं पावनमारं हारं पराप दासेयः ।
कारं चारणमाहितमाज दरं साधनं बहुशः ॥ २७ ॥

उदाहरण—(१) (यह) दासीपुत्र संताप देने वाले, आक्षेप करने वाले, शुद्ध मृत्यु कराने वाले हार को चुराकर पा गया। (उसने) शासकों से मिल सकने वाले, हृदय में समाये हुये हाथ-पैर के भय को अनेक बार त्याग दिया है॥

(२) अनेक बार शीघ्र ही अहित (राग आदि) के साधन संसार में प्राणियों को भ्रमण कराने वाली क्रिया के परित्याग के कारण (यह) आसेय (ज्ञानी) सूर्य, विष्णु, वायु और शिव की गति को प्राप्त हो गया ॥ २७ ॥

तापनमिति। एष दासेयो दासीपुत्रश्चौरो हारं मुक्ताकलापं ह्रियमाणं वा वस्तु पराप मुषित्वा प्राप्तवान्। कीदृशम्। तापयतीति तापनम्। बन्धादिहेतुत्वात्। तथा अज्यते क्षिप्यतेऽनेनेत्याजयतीति वा आजम्। चौरो हि चारकादौ क्षिप्यते तथा पावयतीति पावनः शुद्धिकृन्मारो

मरणं यत्र तत्पावनमारम्। तथा स दासेयो हरणकाले दरं भयमाज चिक्षेप त्यक्तवान्। कीदृशं दरम्। सधनादीश्वरादागतं साधनम्। आहितं हृदये निहितम्। पुनः कीदृशं दरम्। करयोरिदं कारम्। तथा चरणयोः पादयोरिदं चारणम्। करचरणखण्डनादिभयं नाजीगणदित्यर्थः। यतोऽसौ बहून्श्यतीति बहुशः। बहवस्तेन धनाद्यपहारतस्तनूकृता इत्यर्थः। एष एकोऽर्थः॥ द्वितीयस्तु—आसेय आरं गतिं परापत्प्राप्तवान्। 'षिञ् बन्धने'। आसेतव्य आसेयो मोक्षमप्राप्तो ज्ञानी भण्यते। ईषत्कर्मबन्धनात्। कीदृशमारम्। तपनस्येमं तापनम्। अजस्येममाजम्। पवनस्येमं पावनम्। हरस्येमं हारम्। सूर्यविष्णुवायुरुद्राणां संबन्धिनीं गतिं लेभ इत्यर्थः। यतोऽसौ कारं क्रियामाज त्यक्तवान्। कीदृशं कारम्। चारयति गमयति संसारे प्राणिनमिति चारणम्। पुनः कीदृशम्। अहितानां रागादीनामिदमाहितम्। किं तत्। साध्यतेऽनेनेति साधनम्। रागादीनामुपकरणमित्यर्थः। कथं साधनम्। बहुशोऽनेकशः। अरं शीघ्रम्। अत्र प्रत्ययवशात्प्रकृतिप्रत्ययसमुदायानां सारूप्यम्॥

तापनमिति। यह दासीपुत्र चोर हार को चुराकर पा गया। कैसे (हार को)? बन्ध आदि के कारण ताप देने वाला—आक्षेप कराने वाला तथा पवित्र मृत्यु देने वाला—तथा, उस दासीपुत्र ने चोरी करने के समय भय को त्याग दिया था—किस भय को?—(उस हार के) मालिक से होने वाले—तथा हृदय में समाये हुये, फिर कैसे भय को? हाथों के चरणों के। हाथ-पैर तोड़ दिये जाने के भय की परवाह नहीं की—यह तात्पर्य है। (फिर वह दासी-पुत्र कैसा है) बहुश— चूँकि उसने अनेकों को नष्ट किया है—धन आदि चुराने के कारण अनेक उसके द्वारा क्षीण कर दिये गये—यह भाव है। यह एक अर्थ है॥ दूसरा भी आसेय (ज्ञानी) गति को प्राप्त हो गया। 'षिञ्' धातु बन्धन के अर्थ में आती है। मोक्ष को न प्राप्त हुआ (बन्धन में पड़ा हुआ) ज्ञानी आसेय कहा जाता है। क्यों कि उसे कर्म का थोड़ा सा बन्धन होता है। कैसी गति को—तपन की अजन्मा की—पवन की—शिव की। अर्थात् सूर्य, विष्णु, वायु और रुद्र की गति को प्राप्त हुआ। (कारण देते हैं) क्यों कि इसने क्रिया का त्याग कर दिया—कैसी क्रिया का? प्राणी को संसार में भ्रमण कराने वाली चारण क्रिया का—फिर कैसी क्रिया का? अहित राग आदि की क्रिया का—वह क्या है—साधन अर्थात् रागादि का उपकरण। साधन को कैसे त्याग दिया—अनेक बार शीघ्र ही। यहाँ प्रत्यय के ही कारण प्रकृति और प्रत्यय के समुदायों में समरूपता है॥

अथ विभक्तिवचनश्लेषः—

सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति ।
सोऽत्र विभक्तिश्लेषो वचनश्लेषस्तु वचनानाम् ॥ २८ ॥

आगे विभक्ति और वचन श्लेष (का उदाहरण देते हैं)—

सुबन्त और तिङन्त में जहाँ सर्वथा परस्पर सारूप्य होता है वहाँ विभक्ति-श्लेष होता है (और) जहाँ वचनों में श्लेष होता है उसे वचन-श्लेष जानना चाहिए ॥ २८ ॥

सारूप्यमिति । यत्र सारूप्यं समानरूपता सुपां स्यादीनां तिङां त्यादीनां मिथः परस्परं सर्वथा सर्वप्रकारैर्भवति सोऽत्र श्लेषाधिकारे विभक्तिश्लेषो ज्ञेयः । वचनानां त्वेकवचनादीनां मिथः सारूप्ये वचनश्लेषः ॥

सारूप्यमिति । जहाँ सु आदि में और तिङ् आदि में परस्पर सब प्रकार से समरूपता होती है श्लेष के प्रपञ्च में उसे विभक्ति-श्लेष जानना चाहिए । बचनों में भी एकवचन आदि में परस्पर समरूपता होने पर वचन-श्लेष होता है ॥

तत्र तावद्विभक्तिश्लेषोदाहरणम्—

आयामो दानवतां सरति बले जीवतां न नाकिरताम् ।
नयदानवाँल्ललामः किमभूरसि दारुणः सहसा ॥ २९ ॥

उनमें सर्वप्रथम विभक्ति-श्लेष का उदाहरण देते हैं—

प्राणियों में दान देने वालों की ही सेना में विस्तार होता है—कृपणों की नहीं । पराक्रम में भयङ्कर तलवार वाला, कुत्सा का अपात्र, नीति से युक्त, दानी ही संसार का भूषण होता है ॥ २६ ॥

आयाम इति । जीवतां प्राणभृतां दानवतां दानं ददतां सतां संबन्धिनि बले सैन्य आयामो विस्तारः सरति प्रसरति । न नाकिरतां न विक्षिपताम् । कार्पण्येन गलेऽर्थिनं गृह्णतां नेत्यर्थः । कुतः । यतो नयश्च दानं च ते विद्येते यस्यासौ नयदानवान्पुरुषो ललामो भूषणं जगतः । तथा किमः कुत्साया अभूरस्थानं किमभूः । तथा सहसा बलेन असिदारुणः खड्गभीषणश्च ललामः । इत्येकोऽर्थः ॥

आयाम इति । प्राणियों में दान देने वालों की ही सेना में विस्तार होता है । न कि कंजूसी करने वालों की । कृपणता से याचक को गले लगाने वालों की सेना में विस्तार नहीं होता । क्यों ? क्योंकि नीति और दान से संपन्न ही पुरुष संसार का भूषण होता है—तथा (वह) कुत्सा का अपात्र होता है तथा पराक्रम में भीषण तलवार के कारण सुन्दर होता है । यह एक अर्थ है ।

अपरस्तु—केचित्सुरा बलिनामानमसुरमूचुः—हे बले वैरोचन, दानवतामसुरत्वमायाम आगच्छामः। कथम्। सरति सप्रीतीति कृत्वा। न पुनर्जीवतां बृहस्पतिताम्। किंभूताम् नाकिषु देवेषु रतां सक्तां नाकिरताम्। तस्मान्नय प्रापय दानवानसुरान्, येन तेषां मध्ये ललामो विलसामः। किमसि त्वं दारुणः काष्ठादभूः संजातः सहसा। येनास्माकं वचनं न शृणोषीत्यर्थः। अत्रायाम इत्यादयो य एव स्याद्यन्तास्त एव त्याद्यन्ताः शब्दा इति सारूप्यम्॥

दूसरा भी—कुछ देवताओंने बलि-नामक राक्षस से कहा, हे बलि! हम दानवता को प्राप्त हो रहे हैं। कैसे? प्रेमपूर्वक। न कि बृहस्पतिता को? कैसी (बृहस्पतिता)? देवताओं में आसक्त—(संलग्न) अतएव राक्षसों के समीप (हमें) पहुँचाओ जिससे उनके बीच विलास कर सकें। तुम बल के कारण (सहसा) काष्ठ से भी क्यों कठोर हो गये हो जिससे हमारी बातें नहीं सुनते हो। यहाँ 'आयाम' आदि में जो स्याद्यन्त शब्द हैं वे ही त्याद्यन्त—इस प्रकार (इनमें) सरूपता है॥

अथ वचनश्लेषोदाहरणम्—

आर्योऽसि तरोमाल्यः सत्योऽनतकुक्षयः स्तवावाच्यः।
सन्नाभयो युवतयः सन्मुख्यः सुनयना वन्द्यः॥ ३०॥

आगे वचन लेष का उदाहरण देते हैं—सेनारूपी आभूषण वाले, अनन्यथा वचन कभी भी घुटना न टेकने वालों के राज्य के विनाश, स्तुतियों से, क्षीणों के अभय, युवकों की श्रद्धा के स्थान, सज्जनों में अग्रगण्य, सुन्दर नीतियों वाले पुरुषों से युक्त हे आर्य तुम वन्दनीय हो॥ ३०॥ (२) (हे राजन्) तुम्हारे शत्रुओं की कृष्ण रोम पंक्तिवाली, सती कृशोदरी अधो मुखी, सुन्दर नारियों वाली, सुन्दर मुखों वाली और सुन्दर नेत्रों वाली, रमणियाँ वन्दिनी बना ली गयी हैं॥ ३०॥

आर्य इति। कश्चिदुत्साह्यते—असि त्वं वन्द्यो वन्दनीयः, यत आर्यो विशिष्टः। तथा तरो बलं माल्यमलंकरणं यस्यासौ तरोमाल्यः। सत्योऽवितथवाक्। अनतानामप्रणतानां कोर्भूमेः क्षयो नाशहेतुरनतकुक्षयः। स्तवैः स्तुतिभिरवाच्यो वक्तुमशक्यः। तथा सन्नानां क्षीणानामभयो न विद्यते भयं यस्मादिति सन्नाभयः। तथा यूनस्तरुणांस्तयतेऽभियुङ्क्त इति युवतयः। सतां साधूनां मुख्य आद्यः। तथा शोभनो नयोऽस्येति सुनयः स चासौ ना च। सुनीतिपुरुष इत्यर्थः। एष एकवचनेनैकस्य वाक्यस्यार्थः॥ अपरस्य तु—कश्चिद्राजानमाह—तव संबन्धिन्य आर्योऽरिसक्ता युवतयः

स्त्रियो वन्द्यो ग्रहानीता एवंविधाः। असिता रोमाली यासां तास्तथाभूताः। तथा सत्यः साध्व्यः। नतकुक्षयः कृशोदर्यः। अवाच्योऽधोमुख्यः। तथा सती रम्या नाभिर्यासां ताः सन्नाभयः। तथा सच्छोभनं मुखं यासां ताः सन्मुख्यः। शोभने नयने यासां ताः सुनयनाः। अत्रार्य इत्यादीनि पदानि बहुवचनान्तानीति वचनश्लेषः॥

आर्य इति। (कोई) किसी को उत्साहित कर रहा है—तुम प्रणाम कराने योग्य हो क्योंकि आर्य (श्रेष्ठ) हो। तथा (तुम) तरोमाल्य—शक्ति के आभूषण वाले हो—सत्यभाषी हो—प्रणाम न करने वालों की भूमि के विनाश हो—स्तुतियों से तुम्हारी वन्दना नहीं की जा सकती—(तुम) निर्बलों के अभय हो—युवकों में अभिनिवेश रखने वाले हो—सज्जनों में अग्रगण्य हो सुनयना (सुन्दर नीति वाले पुरुष) हो। यह एक वचन से एक वाक्य का अर्थ हुआ॥ दूसरे का भी—कोई राजा से कह रहा है—तुमसे संबन्ध रखने वाली शत्रु-रमणियाँ वन्दनीय हैं। वन्दी बनायी गयी इस प्रकार की कृष्ण रोम-पंक्तिवाली, साध्वी, कृशोदरी, निम्नमुखी, सुन्दर नाभि वाली, सुन्दर मुख वाली और सुन्दर नेत्रों वाली। आर्य आदि पद यहाँ बहुवचनान्त हैं अतएव (यहाँ) वचन-श्लेष है॥

एवं श्लेषलक्षणमभिधाय पूर्वकविलक्ष्यसंग्रहाय लक्षणशेषमाह—

भाषाश्लेषविहीनः स्पृशति प्रायोऽन्यमप्यलंकारम्।
धत्ते वैचित्र्यमयं सुतरामुपमासमुच्चययोः॥ ३१॥

इस प्रकार श्लेष के स्वरूप का व्याख्यान करके (अपने से) पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्ष्य का ग्रहण करने के लिये शेष लक्षण बताते हैं—भाषा-श्लेषसे शून्य (शब्द-श्लेष) का प्रायः (वास्तव आदि अर्थ के) अन्य अलङ्कारों के साथ सम्मिश्रण होता है। उपमा और समुच्चय में तो इसके स्पर्श से विशेष चमत्कार (उत्पन्न हो जाता है)॥ ३१॥

भाषेति। अयं पूर्वोक्तश्लेषो भाषाश्लेषरहितः प्रायो बाहुल्येनान्यमप्यलंकारमर्थविषयं व्यतिरेकादिकं स्पृशति। श्लेषस्याप्यौपम्यादिभिः सह संकरो भवतीत्यर्थः। अपिशब्दो विस्मये। प्रायोग्रहणमसाकल्यप्रतिपादनार्थम्। अन्यमलंकारं स्पृशति परं न सर्वमेवेत्यर्थः। तत्रापि सुतरामतिशयेन वैचित्र्यं रम्यत्वमयं श्लेष उपमासमुच्चययोर्धत्ते धारयति उपमासाहचर्यात्समुच्चयोऽप्यत्रौपम्यभेदो गृह्यते॥

भाषेति। भाषा-श्लेष से शून्य यह पूर्वोक्त श्लेष प्रायः व्यतिरेक आदि अर्थ के अन्य अलङ्कारों का स्पर्श करता है। अर्थात् औपम्य आदि के साथ श्लेष का

संस्कार होता है। अपि शब्द विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रायः का ग्रहण असाकल्य (कुछ ही स्थलों पर लागू होने) को घोषित करता है—तात्पर्य है कि कुछ ही अलङ्कारोंका स्पर्श करता है सब का नहीं। उन (स्पृष्ट) स्थलों में उपमा और समुच्चय में यह श्लेष विशेष चमत्कारी होता है। उपमा के साथ साहचर्य होने के कारण समुच्चय भी औपम्य का ही भेद समझा जाता है॥

नन्वत्र श्लेषवाक्यद्वये शब्दमात्रं श्लिष्टं भवति, न त्वर्थ इति साम्याभावस्ततश्च कथमुपमासमुच्चयाभ्यां स्पर्शो घटत इत्याशङ्क्याह—

स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किं तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥ ३२॥

यहाँ श्लेष के दो वाक्यों में केवल शब्द श्लिष्ट होता है, अर्थ नहीं—इस प्रकार साम्य का अभाव होता है, (फिर) उपमा और समुच्चय के साथ इसके स्पर्श की सङ्गति कैसे बैठ सकती है—इस शङ्का का उत्तर देते हैं—ये दोनों उपमा और समुच्चय स्पष्ट ही अर्थालङ्कार हैं; किन्तु शब्दमात्र साधारण धर्म का अवलम्बन करके (वे) दोनों शब्द में भी हो सकते हैं॥ ३२॥

स्फुटेति। स्फुटं सत्यमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ न कदापि स्वरूपं त्यजतः। किंतु शब्दमात्ररूपं सामान्यं साधारणं धर्ममाश्रित्य संभवतः। ताभ्यां योगो घटत इत्यर्थः। अर्थतो न सादृश्यं किं तु वाक्यद्वयसाधारणशब्दाश्रयं सादृश्यं विद्यत इति तात्पर्यार्थः॥

स्फुटेति। सत्य है; ये दोनों अर्थालङ्कार उपमा और समुच्चय कभी भी अपना स्वरूप नहीं त्यागते हैं। किन्तु केवल शब्द साम्य का आश्रय करके (शब्द में भी) हो सकत हैं। अर्थात्—(उपमा और समुच्चय) इन दोनों का (शब्द में होना) सङ्गते है। तात्पर्य यह कि यद्यपि अर्थ में सादृश्य नहीं होता है किन्तु दोनों वाक्यों में साधारण शब्दगत सादृश्य होता है॥

उदाहरणमाह—

यदनेकपयोधिभुजस्तवैव सदृशोऽस्यहीनसुरतरसः।
ननु बलिजितः कथं ते सदृशस्तदसौ सुराधिकृतः॥ ३३॥

उदाहरण देते हैं—चारों समुद्रों तक पालन करने वाली, नागराज देव के समान बलवाली, (तुम्हारी भुजा) तुम्हारे ही सदृश है। भला बलिजित (बलि के द्वारा जीती गयी, पक्षा०—बलि को जीतने वाली) तुम्हारे सदृश कैसे हो सकता है। यह तो सुराधिकृत (देवों के द्वारा अधिकृत, पक्षा०—देवों की मनःपीडा काटने वाली) है॥ ३३॥

यदिति। कश्चिदुच्यते—त्वं तवैव सदृशो नान्यस्येत्यनन्वयानामुपमाविशेषणद्वारेण साम्यमाह—कीदृशस्त्वम्। अनेकपानां द्विपानां योद्धा भुजो बाहुर्यस्यासावनेकपयोधिभुजः। तथाऽहीनः परिपूर्णः सुरतरसो निधुवनरसो यस्यासावहीनसुरतरसः। तव कीदृशस्य। अनेकांश्चतुरः पयोधीन्समुद्रान्भुनक्ति रक्षतीत्यनेकपयोधिभुक्तस्य। तथाहीनामिनो नागराजः सुरा देवास्तेषामिव तरो बलं यस्यासावहीनसुरतरास्तस्य। अत्र प्रथमानिर्दिष्टमुपमेयं षष्ठीनिर्दिष्टमुपमानमनयोस्तु न वस्तुतः किंचिदपि साम्यमस्ति, किंतु तत्प्रतिच्छायशब्दप्रयोगात्साम्यं प्रतिभासते। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। किमिति। त्वं तवैव सदृशो न त्विन्द्रस्येत्याह—नन्वित्यादि। ते तव कथमसौ सदृश इति व्यतिरेकोऽयमलंकारः। कीदृशस्य ते। बलिनः समर्थाञ्जयत्यभिभवतीति बलिजित्तस्य बलिजितः। तथा सुराणामाधीन्मनःपीडाः कृन्ततीति सुराधिकृत्तस्य सुराधिकृतः। इन्द्रस्तु कीदृशः। बलिनाम्ना दानवेन जितः पराभूतः। तथा सुरैरधिकृतो राज्ये नियोजितः। एवं त्वं सुराणामाधीञ्छिनत्सि, स तु सुरैरधिकृत इति स्फुट एव तवेन्द्रस्य च विशेषः। यत्तच्छब्दौ हेत्वर्थौ। नन्वमर्षे। यस्मात्त्वं तवैव सदृशस्तस्मात्तव कथमिन्द्रः सदृशो भवतीत्यर्थः॥

यदिति। कोई किसी से कह रहा है—'तुम तुम्हारे ही सदृश हो, किसी दूसरे के नहीं' इस प्रकार अनन्वयों (अनुपमेयों) का उपमा विशेषण के मुख से साम्य बताते हैं—तुम कैसे हो?—अनेकपयोधिभुज (हाथियों से लड़ने वाली भुजाओं वाले) और अहीनसुरतरस (परिपूर्ण संभोग शृङ्गार वाले)। तुम्हारे कैसे? (राजा के पक्ष में विशेषणों का अन्वय करते हैं) चारों समुद्रों तक पृथ्वी की रक्षा करने वाले, तथा देवों के समान पराक्रम वाले। यहाँ प्रथमा से निर्दिष्ट उपमेय है और षष्ठी से निर्दिष्ट उपमान; वस्तुतः इन दोनों में कुछ भी साम्य नहीं है किन्तु उन दोनों के समान शब्द के प्रयोग के कारण साम्य की प्रतीति होती ही है। इसी प्रकार आगे भी जोड़ लेना चाहिए। इस प्रकार क्यों। तुम तुम्हारे ही सदृश हो इन्द्र के समान नहीं—इसे बताते हैं—नन्वित्यादि। वह इन्द्र तुम्हारे समान कैसे हो सकता है—इस प्रकार यह व्यतिरेक अलंकार है। किन (विशेषणों) से युक्त तुम्हारे? बलिजित (बलवानों को जीतने वाले) और देवताओं की मनःपीडा को काटने वाले इन्द्र किन विशेषणों से युक्त है—बलिजित (बलि नामक राक्षस से पराजित) तथा सुराधिकृत (देवों के द्वारा राजकार्य में नियोजित है)। इस प्रकार तुम देवों की मनःपीडा को दूर करते हो और वह देवों के द्वारा अधिकृत है—इस प्रकार तुम्हारे और इन्द्र के बीच भेद (वैशिष्ट्य) स्पष्ट है। 'यत्' 'तत्' शब्द हेतु अर्थ में आये हैं।

'ननु' अमर्ष में आया है। क्यों कि तुम तुम्हारे ही सदृश हो अतएव इन्द्र तुम्हारे सदृश कैसे हो सकता है यह अर्थ है ॥

उपमासमुच्चयोदाहरणमाह—

वसुधामहितसुराजितनीरागमना भवांश्च वर्षाश्च ।
सुरचितवराहवपुषस्तव च हरेश्चोपमा घटते ॥ ३४ ॥

उपमा और समुच्चय का उदाहरण—

आप और वर्षा वसु-धामहित-सुराजित-नीराग-मना (धन और तेज के कारण (अपने) अनुकूल देवताओं के द्वारा अजेय राग आदि दोष से रहित चित्तवृत्ति वाले, पक्षा०—पृथ्वी पर पूजित अत्यन्त सुनहली वर्षण करने वाली) हैं। सुरचितवराहवपुषः (भली भाँति रचे गये भयङ्कररण का पोषण करने वाले, पक्षा० भलीभाँति रचे गये शूकर की काया वाले) तुम्हारी और विष्णु की ही उपमा बैठती है ॥ ३४ ॥

वसुधेति। त्वं वर्षाश्च सदृशौ। त्वं तावत्कीदृशः। वसु धनम्, धाम तेजः, ताभ्यां हितमनुकूलं सुरैर्देवैरजितमपराभूतं नीरागं रागरहितं मनश्चित्तं यस्य स तथोक्तस्त्वम्। वर्षास्तु वसुधायां भुवि महितं पूजितं सुष्ठु राजितं शोभितं नीरागमनं जलागतिर्यासु तास्तथोक्ताः। चशब्दावत्र समुच्चयार्थौ। साधारणविशेषणादौपम्यस्य सद्भावः। शुद्धाया उपमाया उदाहरणमाह—सुरचितेत्यादि। तव विष्णोश्च साम्यं घटते। कीदृशस्य तव सुष्ठु रचितं वरं श्रेष्ठमाहवं समरं पुष्णाति पुष्टिं नयतीति यस्तस्य सुरचितवराहवपुषः। हरेस्तु सुरैर्देवैश्चितं व्याप्तं वराहवपुः सूकरशरीरं यस्य स तथा तस्य। अत्रापि साधारणशब्दयोगात्साम्यम्, न त्वर्थतः॥

वसुधेति। तुम और वर्षा सदृश हो। तुम किन विशेषणों से युक्त हो? धन और तेज—इन दोनों के अनुकूल देवों से अपराजित रागशून्य मन वाले वर्षायें भी धरती पर पूजित सुन्दर जल-वर्षण वाली हैं। च शब्द यहाँ समुच्चय अर्थ में आये हैं। समान विशेषण के कारण औपम्य की सत्ता है। शुद्धा उपमा का उदाहरण देते हैं—सुरचितेत्यादि। तुम्हारा और विष्णु का साम्य सङ्गत है। किन विशेषणों से युक्त तुम्हारा—सुरचित-वराहव-पुषः (भली भाँति रचे गये भयङ्कर रण का पोषण करने वाले)। विष्णु का भी—देवों के द्वारा व्याप्त सूकर की काया वाले। यहाँ समान शब्दों के योग से ही साम्य है—अर्थ के कारण नहीं ॥

अथ श्लेषमुपसंहरन्नाह—

शब्दानुशासनमशेषमवेत्य सम्य-
गालोच्य लक्ष्यमधिगम्य च देशभाषाः ।

यत्नादधीत्य विविधानभिधानकोषा-
ञ्श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात् ॥ ३५ ॥

अब श्लेष का उपसंहार करते हुये कहते हैं—भलीभाँति निखिल व्याकरण को जानकर, लक्ष्य का परामर्श करके, देशभाषाओं को समझकर, प्रयत्नपूर्वक विविध अभिधान कोषों का अध्ययन करके कुशल महाकवि इस श्लेष की रचना करें ॥ ३५ ॥

शब्दानुशासनमिति । इदमिदं च कृत्वा ततो महाकविरिमं श्लेषं कुर्यात् । किं कृत्वा । शब्दानुशासनं व्याकरणं समग्रं सम्यग्ज्ञात्वा । तथा लक्ष्यमुदाहरणं महाकविकृतमालोच्य । तथा सूरसेन्यादिदेशभाषा विदित्वा । तथाभिधानकोषान्नाममाला अधीत्य पठित्वेति । एतच्च कृत्वा निपुणः कुशलो महाकविश्च यः स श्लेषं कुर्यादिति ॥

शब्दानुशासनमिति । यह यह करले तब महाकवि उस श्लेष की रचना करें । क्या क्या करके? व्याकरण शास्त्र को भलीभाँति जानकर तथा लक्ष्य—महाकवियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरणों का परामर्श करके—तथा सूरसेनी आदि देश भाषाओं को जानकर—तथा शब्दकोषों का अध्ययन करके—यह यह करके जो कुशल और महाकवि हो वह श्लेष की रचना करे ।

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणीसमेत-
श्चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

इस प्रकार रुद्रट-रचित काव्यालङ्कार में नमिसाधु-रचित टिप्पणी
से युक्त चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

पञ्चमोऽध्यायः

वक्रोक्त्यनुप्रासयमकश्लेषान्निरूप्य क्रमप्राप्तं चित्रं प्रतिपादयितुमाह—

भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि ।
साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ॥ १ ॥

वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष (चार शब्दालंकारों) का निरूपण क्रमानुसार चित्र अलंकार का वर्णन करते हैं—चक्र आदि विचित्र लक्षण से लोकप्रसिद्ध वर्ण (अक्षर) आदि के क्रमरूप निमित्त से स्वनाम चिह्नवाली विचित्र (चक्र) आदि वस्तुओं का जहाँ संस्थान आदि रच दिया जाता है (वहाँ) चित्र नामक अलंकार होता है ॥ १ ॥

भङ्ग्यन्तरेति । यत्र काव्ये वस्तूनां चक्रादीनां रूपाणि संस्थानानि रच्यन्ते निबध्यन्ते तच्चित्रसादृश्यादाश्चर्याद्वा चित्रं नामालंकारः । काव्ये कथं वस्तुरूपाणि रच्यन्त इति प्रश्ने विशेषणद्वारेण युक्तिमाह—भङ्ग्यन्तरेण चक्रादिविच्छित्तिलक्षणेन प्रकारेण कृतः स सकललोकप्रसिद्धः क्रमो रचनापरिपाटी येषां ते च ते वर्णाश्चाक्षराणि च ते निमित्तं कारणं येषां वस्तुरूपाणां तानि तथोक्तानि । तथा सहाङ्केन स्वनामचिह्नेन वर्तन्त इति साङ्कानि । तथा विचित्राणि चान्यानि च सर्वतोभद्रानुलोमप्रतिलोमादीनि । चकारो वस्तुरूपेषु मध्ये सर्वतोभद्रादिसमुच्चयार्थः ॥

भङ्ग्यन्तरेति । जिस काव्य में चक्र आदि वस्तुओं के रूप (संस्थान) की रचना की जाती है उसे चित्रके साथ सादृश्य होने के कारण अथवा आश्चर्य होने के कारण चित्र नामक (शब्द का) अलंकार होता है । काव्य में वस्तुओं का स्वरूप कैसे रच दिया जाता है—यह प्रश्न उठने पर विशेषणों के मुख से आपत्ति बताते हैं—भङ्ग्यन्तर से चक्र आदि की विच्छित्तिरूप विधाओंसे सफल संसार में प्रसिद्ध क्रम अर्थात् रचनाविधि वाले वर्ण एवं अक्षर रूप कारणों वाले वस्तु के संस्थान । (फिर कैसे वस्तु के संस्थान) ? अपने नाम के चिह्नों से युक्त और सर्वतोभद्र, अनुलोम, प्रतिलोम आदि अन्य विचित्र वस्तुरूप । (कारिकामें) चकार वस्तुरूपों में सर्वतोभद्र आदि के समुच्चय के लिये (आया है) ॥

सामान्यतश्चित्रलक्षणमभिधाय विशेषेणाभिधातुं तद्भेदानाह—

तच्चक्रखड्गमुसलैर्बाणासनशक्तिशूलहलैः ।
चतुरङ्गपीठविरचितरथतुरगगजादिपदपाठैः ॥ २ ॥

अनुलोमप्रतिलोमैरर्धभ्रममुरजसर्वतोभद्रैः ।
इत्यादिभिरन्यैरपि वस्तुविशेषाकृतिप्रभवैः ॥ ३ ॥
भेदैर्विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्मि नैतदलम् ।
तस्मादेतस्य मया दिङ्मात्रमुदाहृतं कवयः ॥ ४ ॥

चित्र का सामान्य लक्षण बताकर विशेष का प्रतिपादन करने के लिये उसके भेद बताते हैं—वह चक्र, खड्ग, मुसल, बाणासन, शक्ति, शूल, हल, चतुरङ्ग—फलक पर रचे गये रथ, तुरग, गज आदि पदपाठ, अनुलोम, प्रतिलोम, अर्धभ्रम, मुरज, सर्वतोभद्र आदि तथा वस्तुओं की विशेष आकृति से उत्पन्न होने वाले अन्य भेदों के किये जाने पर इसकी गणना करने में हे कवियों ! मैं (रुद्रट) समर्थ नहीं हूँ । अतएव इसका (मैंने) दिगुन्मीलनमात्र किया है ॥ २–४ ॥

तदिति । अनुलोमेति । भेदैरिति । तदेतच्चित्रं यस्मादित्यादिभिरुक्तैरन्यैरनुक्तैरपि । भेदैः कीदृशैः । वस्तुविशेषाकारात्प्रभवन्ति जायन्ते ये तैर्विभिद्यमानं भेदेन व्यवस्थाप्यमानमनन्तमसंख्यातं तत्संख्यातुं संख्यया प्रतिपादयितुं नालं न समर्थोऽस्म्यहम् । तस्मादेतस्य मया दिङ्मात्रमुदाहृतं दर्शितं हे कवयः । इत्यादिभिर्भेदैरित्युक्तं तानेव दर्शयति—तच्चक्रेत्यादि । चक्रादीनि प्रतीतानि न वरम् ।

तदिति । अनुलोमेति । भेदैरिति । यह प्रकरणगत चित्र (अलंकार) चूँकि बताये गये और न गिनाये गये भा—कैसे भेदों से (वस्तु-विशेष के आकार से जो उत्पन्न होते हैं—उनमें विभक्त किये जाने पर अनन्त (असंख्येय) होता है । अतएव उसा गणना संख्या में कराने में मैं सक्षम नहीं हूँ । अतएव हे कवियो ! (मैंने) इसकी दिशामात्र का प्रदर्शन किया है । आदि भेदों से जो कहा है उन्हीं को गिनाते हैं—तच्चक्रत्यादि ।

बाणासनं धनुः । चतुरङ्गपीठ द्यूतकारिविदितचतुरङ्गफलकस्तत्र रचितै रथतुरगगजादिपदपाठैः । पठ्यतेऽनेनेति पाठः श्लोकः । आदिग्रहणान्नरपदसंग्रहः । क्रमव्युत्क्रमाभ्यां यः सदृशः सोऽनुलोमप्रतिलोमश्लोकः । अर्धभ्रमणादर्धभ्रमः । सर्वतस्तु भ्रमणात्सर्वतोभद्रः । आदिग्रहणात्पद्मगोमूत्रिकादिसंग्रहः ।

बाणासन—धनु । चतुरङ्गपीठ—जुआ खेलनेवालों को विदित चतुरङ्गफलक; उस पर रचे गये रथ, तुरग, गज आदि पदपाठ । पाठ-जिससे पढ़ा जाय श्लोक । (कारिका में) आदि का ग्रहण नर पद का ग्रहण करने के लिये किया गया है । सीधे और उलटे पढ़ने में जो समान होता है उसे अनुलोम और प्रतिलोम श्लोक

जानना चाहिए। आधे (छन्द) में भ्रमण होने पर अर्धभ्रम होता है सभी प्रकार से भ्रमण (पाठ) होने पर सर्वतोभद्र होता है। आदि का ग्रहण (कारिका) में गोमूत्रिका आदि के संग्रह के (लिये किया गया है)॥

किं पुनस्तेषां वस्तुरूपाणां विरचने लक्षणमित्याह--

यन्नाम नाम यत्स्यात्तदाकृतिर्लक्षणं मतं तस्य।
तल्लक्ष्यमेव दृष्ट्वावधार्यमखिलं तदन्यदपि ॥ ५ ॥

वस्तुओं के उन संस्थाओं के रचने में क्या स्वरूप होता है—इसे बताते हैं—जो चित्र जिस नाम का होता है उसकी (चक्र आदि की) आकृति ही उसका लक्षण होती है। उसके लक्ष्य को ही (माघ आदि महाकवियों में) देखकर समझ लेना चाहिए। (वस्तु-रूप) लक्ष्य से भिन्न (मत्स्य बन्ध आदि) चित्रों की अपनी बुद्धि से ही योजना कर लेनी चाहिए ॥ ५ ॥

यदिति। चक्रादिकं प्रसिद्धं नाम संज्ञा यस्येति विग्रहः। तद्यन्नाम। द्वितीयस्तु नामशब्दः प्राकाश्ये। तदेवंविधं वस्तु यत्स्यात्तदाकृतिस्तदाकारस्तस्य चित्रस्य लक्षणमभिहितम्। यदनुकार्यस्य चक्रादेर्नाम संस्थानं च तदेवानुकरणस्य करणीयमित्यर्थः। तच्च चित्रलक्षणमखिलं समग्रं माघादिमहाकविरचितं लक्ष्यमुदाहरणमेव दृष्ट्वावधार्यं ज्ञेयम्। ततो वस्तुरूपादन्यदपि सर्वतोभद्रादिकं लक्ष्यमेव दृष्ट्वावधार्यम्। अथवा ततो लक्ष्योक्ताद्वस्तुरूपादन्यदपि मत्स्यबन्धादिकं स्वधियैवाभ्यूह्यम्। मार्गं दृष्ट्वान्यथापि करणं न दोषायेत्यर्थः। तेन चक्रारनेमिपद्मदलादावनियम उक्तो भवतीति स्थितमेतत्॥

यदिति। चक्र आदि प्रसिद्ध नाम जिसका है—इस प्रकार (समास) विग्रह करना चाहिए। वह (चित्र) जिस नाम का है। दूसरा नाम शब्द प्राकाश्य अर्थ में आया है। तो इस प्रकार की जो वस्तु होगी उसका आकार ही उस चित्र का लक्षण बताया गया है। तात्पर्य यह है कि अनुकार्य चक्र आदि का जो नाम (संज्ञा) और स्वरूप है वही अनुकरण का भी करना चाहिये। (अर्थात् तन्नामधारी चित्र अलंकार का भी वही नाम और स्वरूप बनाना चाहिए)। उस चित्रका समग्र लक्षण (स्वरूप) माघ आदि महाकवियों द्वारा रचे गये उदाहरणों को देखकर ही समझना चाहिए। उस वस्तुस्वरूप से भिन्न (नाम और संस्थान वाले) सर्वतोभद्र आदिको उदाहरण को ही देख कर समझना चाहिए। अथवा उस बताये जा चुके वस्तु-स्वरूप वाले (चित्र से भिन्न) मत्स्यबन्ध आदि को अपनी बुद्धि से ही समझ लेना चाहिए। मार्ग को जानकर,

तात्पर्य यह है, भिन्न बात भी करने में दोष नहीं होता है। इससे चक्रारनेमि-पद्मदल आदि में कोई नियम नहीं होता है—यह स्पष्ट है ॥

तत्राष्टभिः श्लोकैर्गर्भीकृतखङ्गादिवस्तुरूपान्तरैश्चक्रमाह—

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
सारारब्धस्तवा नित्यं तदर्तिहरणक्षमा ॥ ६ ॥
माता नतानां संघट्टः श्रियां बाधितसंभ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिजा ॥ ७ ॥

(खङ्गबन्धः, युग्मम्)

उनमें आठ श्लोकोंमें—जिनमें खङ्ग आदि वस्तु के अन्य रूपों का भी अन्तर्भाव हो जाता है—चक्रका उदाहरण देते हैं—शिव, इन्द्र, राम, तथा गणेश के द्वारा धारा प्रवाह से, जिसकी उत्कृष्ट स्तुति प्रारम्भ की गयी है इस प्रकार की और (उन) शिव की पीड़ा का सदा निवारण करने वाली—विनयावनत भक्तों की माता, संपत्ति की सङ्गमस्थली, (भक्तों को) पीड़ा को नष्ट करनेवाली, स्त्रियोंकी मर्यादारूप परम माननीया और अनादि पार्वती मेरा कल्याण करें ॥ ६–७ ॥

मारेति। मातेति। उमा गौरी शं सुखं मे मह्यं दिश्याद्देयात्। कीदृशी। आदिजा जगदादिभवा। तथा मारारिः शंभुः, शक्र इन्द्रः, रामो जामदग्न्यो दाशरथिर्वा, इभमुखो गणाधिपस्तैरासाररंहसा वेगवर्षवद्वेगेनादरावेशात्सार उत्कृष्ट आरब्धः प्रकृतः स्तवः स्तुतिर्यस्याः सा। तथा नित्यं सदा तेषां मारारिप्रभृतीनामर्तेः पीडाया हरणेऽपनयने क्षमा समर्था। तथा नतानां मातेव माता। वत्सलत्वात्। तथा संघट्टः समूहः। कासां श्रियामृद्धीनाम्। तथा बाधितो नाशितो भक्तानां संभ्रमो भयं यया सा तथाभूता। तथा मान्या पूज्या। अथ सीमा मर्यादा रामाणां स्त्रीणाम्। सर्वोत्तमेत्यर्थः। अनेन संदानितकेन[1] खङ्ग उत्पद्यते। आद्यः श्लोकः फलरूपोऽपरो मुष्टिरूपः। 'सा' शब्दः फलान्ते तैक्ष्ण्याकारी 'दिजा' इति मुष्टेरुपरि 'मा' शब्दौ तत्र साधारणौ। अस्य[2] न्यासः॥

मारेति। मातेति। पार्वती–कैसी–आदिजा संसार से पहले ही उत्पन्न मेरा कल्याण करें। (फिर कैसी गौरी)? शंकर, इन्द्र, परशुराम अथवा दशरथ

१. संदानितकमिति युग्मस्य संज्ञान्तरम्।

२. सर्वेषां बन्धानां न्यासो ग्रन्थसमाप्तौ द्रष्टव्यः।

पुत्र राम (तथा) गणेश के द्वारा जोरों से प्रारम्भ की गयी सुन्दर स्तुतिवाली तथा शंकर आदि मनःपीड़ा का निरन्तर निवारण करने में सक्षम तथा नमस्कार करने वाली की माता के समान माता (स्वभाव से) वत्सल होने के कारण तथा समुदाय-किनका समृद्धियों का, तथा भक्तों के भय को नष्ट करने वाली तथा (सब) के द्वारा पूज्य, तथा स्त्रियों की मर्यादा अर्थात् सबसे उत्तम—(इन गुणों से युक्त पार्वती मेरा कल्याण करें)। इस (दो श्लोक वाले) संदानितक से खड्ग उत्पन्न होता है। प्रथम श्लोक फलरूप है और दूसरा मूठ रूप (पकड़ने का स्थान)। 'सा' फल के नीचे तिरछे आकार 'दिजा' मूठ के ऊपर और दोनों 'मा' शब्द (प्रथम और द्वितीय श्लोक के) उन दोनों में समान है। उसका न्यास—

अथ मुसलधनुषी—

मायाविनं महाहावा रसायातं लसद्भुजा।
जातलीलायथासारवाचं महिषमावधीः॥ ८॥ मुसलम्॥
मामभीदा शरण्या मुत्सदैवारुक्प्रदा च धीः।
धीरा पवित्रा संत्रासात्रात् त्रासीष्ठा मातरारम॥ ९॥
धनुः॥ (युग्मम्)

अब मुसल और धनुर्बन्ध (का उदाहरण देते हैं)—(हे माता तुम) गर्व से आने वाले अमर्यादित बात करने वाले और कपटी महिषासुर का वध करने वाली, सुन्दर चेष्टाओं वाली, सम्पन्न विलासों वाली (जात लीला) अभय देनेवाली, सर्वदा प्रसन्न, आरोग्यदायिनी, बुद्धिस्वरूप निर्भय पवित्र मेरी रक्षा करो॥ ८–९॥

मायाविनमिति। मामिति। हे मातः, सा त्वं संत्रासाद्भयान्मां त्रासीष्ठा रक्ष। आरम व्यापारान्तरान्निवर्तस्व। पश्य मामित्यर्थः। या त्वं महिषं महिषासुरमावधीर्हतवतीति संबन्धः। कीदृशं महिषम्। मायाविनं छद्मपरम्। त्वं तु महाहावा महान्हावश्चेष्टाविशेषो यस्याः सा। रसेन दर्पेणायातं महिषम्। त्वं लसद्भुजा लसन्तौ भुजौ यस्याः। तथा जातलीला संपन्नविलासा। महिषमयथासारवाचमयथासारा मर्यादोल्लङ्घिनी वाग्यस्य। तथा त्वमभियमभयं ददासीत्यभीदा। शरणे साधुः शरण्या। मुत्प्रहृष्टा। सदैव सर्वकालमरुक्प्रदा नीरोगत्वदायिनी। चः समुच्चये। धीर्बुद्धिः। तद्धेतुत्वात्। धीरा निर्भया। पवित्रा पावनी। अत्राद्यश्लोकेन मुसलम्—मध्ये तनु पार्श्वयोः स्थूलमेकत्र प्रान्ते तीक्ष्णम्।

तत्र मध्ये 'वारसा' इत्यक्षरत्रयं साधारणमन्ते 'जा' इति। द्वितीयश्लोकेन धनुः—तत्राद्यमर्धं कुटिलं वंशभागे, द्वितीयं गुणाकारं 'मा' शब्दोऽधस्तनकोटिप्रान्ते, तदुपान्ते च मकारो द्विरावृत्तिः, 'धी' शब्दश्च शिखारूपः। न्यासः ॥

मायाविनमिति। मामिति। हे माता—! वह तुम मेरी भय से रक्षा कर—अन्य कार्यों से निवृत्त हो जा—अर्थात् मेरी ओर कृपादृष्टि करो—जिस तू ने महिषासुर की हत्या कर डाली—इस प्रकार (सा) के साथ संबन्ध है। कैसे महिष को? मायावी (कपटी)। तुम तो बड़ी बड़ी चेष्टाओं वाली हो—गर्व से आक्रमण करनेवाले महिष को। तुम लसद्भुजा। (शोभित भुजाओंवाली हो), तथा जातलीला (विलासों से संपन्न) हो। (फिर किस विशेषण से युक्त।) महिष को? मर्यादा का अतिक्रमण करनेवाली बात जिसको होती है। फिर तुम अभीदा (अभय देनेवाली)—शरण देनेवाली, प्रसन्न, सदैव आरोग्यता देनेवाली हो। 'च' पद समुच्चय अर्थ में आया है। धी, उस (बुद्धि) का हेतु होने के कारण बुद्धि का ही नाम है धीरा—अभीत। पवित्रा—पावन करने वाली। यहाँ प्रथम श्लोक से मुसल (उत्पन्न होता है)—बीच में पतला, दोनों बगल में मोटा और एक किनारे तीक्ष्ण। उसमें मध्य का 'वारसा' यह तीन अक्षर और अन्त में जा—यह साधारण (दोनों बार पढ़ा जाने वाला) है। द्वितीय श्लोक से धनु (उत्पन्न होता है)—उसका प्रथमार्ध वक्र आकार में बाँस वाले भाग में, द्वितीयार्ध डोरी के आकार का, 'मा' शब्द नीचे किनारे पर (होगा) उसके समीप का मकार दो बार पढ़ा जायगा और 'धी' शब्द शिखारूप होगा। न्यास ॥

अथ शरः—

मानिनापरुषं लोकदेवीं सद्रस सन्नम।
मनसा सादरं गत्वा सर्वदा दास्यमङ्ग ताम् ॥१०॥ शरः ॥

आगे शर (का उदाहरण देते हैं)—

हे अङ्ग! आर्द्र-हृदय! दास-भाव को प्राप्त होकर सदैव प्रयासपूर्वक हृदय से पूजा से शान्त हुये क्रोधवाली उस लोक-देवीको हृदय से प्रणाम कर ॥१०॥शर॥

माननेति। अङ्गेति कोमलामन्त्रणे। हे सद्रस सुभक्तिभरेणार्द्रहृदय, सर्वदा सदा सादरं सप्रयत्नं मनसा चेतसा तां लोकदेवीं भुवनदेवतां सन्नम सम्यक्प्रणम। दासभावं गत्वाभ्युपेत्य। माननया पूजनयाऽपगता रुट् क्रोधो यस्यास्तां माननापरुषम्। सापराधेऽपि पूजया सप्रसादामित्यर्थः। अत्र प्रथमपादेन दण्डः, द्वितीयेन फलम्, तृतीयचतुर्थाभ्यां वाजावटनी च। न्यासः ॥

माननेति। कोमल आमन्त्रण में अङ्ग आया है सुन्दर भक्ति से भार से आर्द्र-हृदय ! प्रयासपूर्वक हृदय से सदैव उस लोक की देवीको भलीभाँति प्रणाम कर। दासभाव से (उसके) सामीप्य में पहुँचकर। (कैसी देवी को) ? पूजा पाने पर जिसका क्रोध दूर हो जाता है उसको। अर्थात् पूजा से अपराध करने वाले पर भी प्रसन्न होने वाली को। इसमें प्रथम चरण से दण्ड, द्वितीय से फल और तीसरे-चौथे से दोनों पक्ष और दोनों अटनी।

अथ शूलम्—

मा मुषो राजस स्वासूंल्लोककूटेशदेवताम्।
तां शिवावाशितां सिद्ध्याध्यासितां हि स्तुतां स्तुहि ॥११॥
शूलम् ॥

आगे शूल (का उदाहरण देते हैं)—हे राजसी स्वभाववाले ! अपने प्राणों को मत हरो। शिव के द्वारा आमन्त्रित (शृगालियों के द्वारा कलकल की गयी, कार्य) सिद्धि से अधिष्ठित जगत् की वन्दनीया राजाओं की उस देवी को नमस्कार कर ॥ ११ ॥

मा मुष इति। हे राजस रजोगुणयुक्त, स्वासूनात्मप्राणान्मा मुषो मा हार्षीः। तां लोककूटानां जनसमूहानामीशा राजानस्तेषां देवतां स्तुहि नुहि। कीदृशीम्। शिवेन शंभुना वाशितामाहूतां शिवाभिर्वा वाशितां कृतकलकलाम्। सिद्ध्या कार्यसिद्ध्याध्यासितां समधिष्ठिताम्। स्तुतां जगतेति। त्रिशिखमेतेन शूलमुत्पद्यते। प्रथममर्धं दण्डभागे द्वितीयं स्वावर्तपरावर्तैः शिखासु। तत्र सर्वशिखामूले 'तां' शब्दो वारपञ्चक-मुच्चार्यते। शिखायामेकस्यां 'शिवा', द्वितीयायां 'सिद्ध्या', मध्यमायां 'स्तुहि'। न्यासः ॥

मा मुष इति। हे रजोगुण से युक्त ! अपने प्राणों का हरण मत करो। प्रजाओं के पालक राजाओं की उस देवताको नमस्कार कर। किस देवता को ? जिसका शंकर जी ने आह्वान किया है अथवा जो शृगालियों के द्वारा कलकल से युक्त है; जो सिद्धि-कार्यसिद्धि से अधिष्ठित है और जगत् की वन्दनीया है। इस (श्लोक) से तीन शिखाओं वाला शूल उत्पन्न होता है। (श्लोक का) आद्यर्ध दण्ड भाग में और द्वितीयार्ध उलटे सीधे शिखाओं में (न्यस्त हैं)। उसमें 'ताम्' शब्द सभी शिखाओं का मूलवर्ती पाँच बार पढ़ा जाता है। एक ओर की शिखा में 'शिव' दूसरी ओर 'सिद्ध्या' और मध्य में स्तुति (का न्यास होगा)। (इस प्रकार इसका) न्यास (करना चाहिये) ॥

अथ शक्त्यादीनि—

माहिषाख्ये रणेऽन्या नु सा नु नानेयमत्र हि ।
हिमातङ्कादिवामुं च कं कम्पिनमुपप्लुतम् ॥१२॥ शक्तिः॥
मातङ्गानङ्गविधिनामुना पादं तमुद्यतम् ।
तङ्गयित्वा शिरस्यस्य निपात्याहन्ति रंहसा ॥१३॥ हलम्॥
इतीक्षिता सुरैश्चक्रे या यमाममायया ।
महिषं पातु वो गौरी सायतासिसितायसा ॥ १४ ॥
रथपदम् ॥ (विशेषकम्)

आगे शक्ति आदि (का उदाहरण देते हैं)--महिषासुर की लड़ाई में दूसरी है या वही—इस प्रकार देवताओं के द्वारा विचित्र ढंग से वहाँ देखी गयी। मानों हिम को आतङ्क के कारण निन्दनीय (कम्) काँपते हुये (कम्पिनम्) मदोन्मत्त (उपप्लुत) [दर्प के कारण] गज और चाञ्चल्य के कारण) कामदेव इस साक्षात् विधि से उस लोक-प्रसिद्ध पाद (चरण) को घुमाकर इसके शिर पर वेगपूर्वक आक्षेप करके प्रहार करती है, महिषासुर को विना कपट किये यम को पहुँचाने वाली, विशाल तलवारों से ध्रुवरूप से विजय लाभ करने वाले राक्षसों का विनाश करने वाली, वह गौरी आप लोगों की रक्षा करे ॥ १२–१४ ॥

माहिषेति । मातङ्गेति । इतीति । सा गौरी वो युष्मान्पातु रक्षतु । या सुरैरित्थमीक्षिता सती महिषं यमामं यमगामिनं मृतममाययाच्छद्मना चक्रे कृतवती । किंभूता । आयतैर्दीर्घैरसिभिः सितो बद्ध आयोऽर्थागमो यैस्तान्दानवादीन्स्यति हिनस्ति या सा तथोक्ता । केक्षिता । माहिषाख्ये रणे महिषासुरसंबन्धिनि समरे । कथमीक्षिता । नानानेकप्रकारम् । तदेव नानात्वमाह—अन्या नु सान्विति । नुर्वितर्के । अत्र रण इयं देवी किमन्या स्यादुत सैव । भयानकत्वादनिश्चयः । तथैवंवादिभिः सुरैरीक्षिता यथामुं महिषं कं कुत्सितम् । कम्पिनं कम्पयुक्तम् । कुत इव हिमातङ्कादिव हिमतैरिव । तथोपप्लुतं मदोद्धतमाहन्ति मारयति । केनाहन्ति । अमुना प्रत्यक्षदृष्टेन मातङ्गानङ्गविधिना । सदर्पत्वाद्गजविधिना, सलीलत्वादनङ्गविधिना । किं कृत्वा । तं लोकप्रसिद्धं पादमुद्यतमुत्पाटितं तङ्गयित्वा भ्रामयित्वा । तदनन्तरं चास्य महिषस्य शिरसि रंहसा वेगेन निपात्य निःक्षिप्य । इत्यादि जल्पद्भिः सुरैरीक्षिता यमामं चक्र इति संबन्धः । देवतास्तुत्या चैतदत्र सूच्यते—यथा प्रायेण चित्रस्य देवतास्तुतिर्विषयो

न सरसं काव्यमिति। अत्राद्यश्लोकेन मध्यतन्वी तीक्ष्णप्रान्ता शक्तिरुत्पद्यते। तत्र 'हिमातं' इत्यक्षरत्रयं मध्ये, 'नुसा' अधः, 'कं' उपरि। तत्र 'हि' द्विरावृत्तिः, 'मातंनुकं' एते द्विरावृत्तयः। द्वितीयश्लोकेन हलम्। तत्र हलप्रविष्टेषाशल्यभागे 'तं' शब्दः, 'मा' तस्य पृष्ठे, 'नामु' फलतीक्ष्णाग्रे, 'गानङ्गविधि पादं तमुद्य' वर्णाः फलेऽनुलोमविलोमश्रेणिद्वयस्थाः, 'गयित्वा शिरस्यस्यां' इतीषायाम्, 'निपात्या' हलोर्ध्वभागे, हकारो हलोर्ध्वभागे कीलिकाशल्यमध्ये, हकारोर्ध्वे 'न्ति', हकाराग्रे 'रं', हकारपृष्ठे 'सा'। मारारिप्रमुखैरेभिरष्टभिः श्लोकैरष्टारं चक्रमुत्पद्यते। अत्र पूर्वार्धान्यष्टाराः अन्त्यार्धानि त्वेका नेमिः। 'मा' शब्दो नाभिः सर्वसाधारणः। अर्धान्त्यश्लोकान्त्याक्षराणि च। अत्र च चक्रे स्वनामाङ्कभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा—

'शतानन्दापराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्॥'

महिषेति। मातङ्गेति। इतीति। (इन विशेषणों से युक्त) वह गौरी आप लोगों की रक्षा करे—देवताओं के द्वारा इस प्रकार देखी गयी जिसने यमराज को पहुँचने वाले महिष को बिना किसी प्रकार का छल किये मार डाला; क्या होकर—वर्णन हो चुका। कहाँ देखी गयी ? महिषासुर से होनेवाली लड़ाई में। किस प्रकार देखी गयी ? अनेक प्रकार से (अनेक रूपों में)। उसी अनेकरूपता का वर्णन करते हैं—अन्या नु सा न्विति। 'नु' वितर्क के लिये आया है। यहाँ रण में यह देवी वही है अथवा कोई दूसरी है, (रूप के) भयङ्कर होने के कारण निश्चय नहीं हो रहा है। तथा इस प्रकार कहने वाले देवों के द्वारा देखी गयी, जैसे इस कुत्सित (कम्) महिष को, जो काँप रहा है—क्यों ?—मानों हिम (पाले) के भय के कारण तथा मद (गर्व) के कारण उद्धत महिष को मारती है। किस साधन से मारती है ? इस साक्षात् देखे गये मातङ्गानङ्गविधि से (गर्व होने के कारण (वह देवी) गज की गति से और चञ्चल होने के कारण कामदेव की विधि से। क्या करके (मारती है)—उस लोकप्रसिद्ध पाद (चरण) को घुमाकर फिर इस महिष के शिर पर वेगपूर्वक प्रहार करके—इस प्रकार कहने वाले देवताओं के द्वारा देखी गयी (देवी ने) (महिष को) यमलोक पहुँचा दिया—इस प्रकार सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। देवता की स्तुति से यह सूचित होता है कि प्रायः चित्र का विषय देव-स्तुति है सरस काव्य नहीं। यहाँ प्रथम श्लोक से बीच में पतली, और तिरछे प्रान्त भाग वाली शक्ति उत्पन्न होती है। उनमें 'हिमातम्' यह तीन अक्षर बीच में, 'नुसा' नीचे और 'कम्'

ऊपर होगा। उनमें 'हि' का दो बार पाठ होगा, 'मातं' 'नु' और 'कम्' भी दो बार पढ़े जायेंगे। दूसरे श्लोक से हल उत्पन्न होता है। इसमें हल में घुसे हुये इषा (हर्षि) के शल्य भाग में 'तम्' शब्द, उसके पीछे 'मा' शब्द'। फल के तीक्ष्ण अग्र भाग में 'नामु', 'गानङ्गविध' (और) 'पादं तमुद्य' वर्ण फल के अनुलोम ओर विलोम दोनों श्रेणियों में, 'गयित्वा शिरस्यस्य' इषा (हर्षि) में, 'निपात्या' हल के ऊपरी भाग में, कीलिका के शल्य के बीच हल के ऊपरी भाग में हकार, हकार के ऊपर 'न्ति', हकार के आगे 'रं' और हकार के पीछे 'सा' (अक्षर का न्यास होगा)। मारारि आदि आठ श्लोकों से आठ अरों वाला चक्र उत्पन्न होता है। इनमें पूर्वार्ध आठ अर हैं और अन्त्यार्ध एक नेमि। नाभिवर्ती मा शब्द सर्वसाधारण होगा। अर्धान्त्यश्लोक के अन्त्याक्षर भी सर्वसाधारण हैं। इन्हीं (आठ श्लोकों) में कवि ने अपने नाम का चिह्नभूत यह श्लोक भी अन्तर्भावित कर दिया है जैसे--"सास के अनुयायी, शतानन्द जिनका दूसरा नाम है (उन) भट्टवामुक के पुत्र 'रुद्रट' ने विद्वानों के इस हित को सिद्ध कर दिया ॥'

अस्यार्थः—वामुकाख्यभट्टसुतेन शतानन्द इत्यपरनाम्ना रुद्रटेन कविना साधितं निष्पादितमिदं चक्रं काव्यं वा। कीदृशेन। साम गीतिविशेषमजति प्राप्नोतीति सामाक्, तेन सामाजा। सामवेदपाठकेनेत्यर्थः। तच्च धीमतां बुद्धिमतां हितमुपकारकम्। न्यासः। तृतीयश्लोकेन रथपदानि पूर्यन्ते। रथपदन्यायेन युक्पादयोरावृत्तिनिवृत्तिभ्यां पाठः॥

इसका अर्थ है—वामुक-नामधारी ब्राह्मणपुत्र (भट्ट-सुत) शतानन्द दूसरे नाम वाले कवि रुद्रट ने इस चक्र (बन्ध) अथवा काव्य की रचना की है। (किन विशेषणों से युक्त)—सामाजा—साम (गीति-विशेष) को जानने वाले, अर्थात् सामवेद के पाठक। वह (चक्रबन्ध या काव्य) बुद्धिमानों का उपकारक है। तीसरे श्लोक से रथ के (चार) पद पूर्ण होते हैं। रथपद के न्यास से द्वितीय और चतुर्थ पाद का आवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा पाठ (रथपद-पाठ) है। (जिस प्रकार रथ के पहिये को आगे या पीछे खींचने पर गति में कोई अन्तर नहीं होता है उसी प्रकार श्लोक के द्वितीय और चतुर्थ पाद का आवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा पाठ करने पर (पादों में) कोई अन्तर नहीं होता॥

अथ तुरगपदपाठः—

सेना लीलीलीना नाली लीनाना नानालीलीली।
नालीनालीले नालीना लीलीली नानानानाली ॥ १५ ॥

आगे तुरग पद पाठ (का उदाहरण देते हैं)—(कोई) सत्यभाषी (नाली) जिसके सैनिक गाड़ियों पर सवार हैं तथा जिसके सेवक नाना प्रकार की सटी हुयी कतारों के मनुष्यों को बुलाते हैं, पंक्तियों का अनर्थ न करने वाला, अधीनस्थ प्राणियों के पालक राजाओं वाला, विविध प्रकारके मनुष्यों से युक्त, बुद्धिमान (उस) पुरुष ने आश्लिष्ट लीलाओं वाले नायकों की सेनाओं को प्रसन्न कर दिया ॥ १५ ॥

सेनेति । तत्र—सेना, लीलीलीनाः, न, आली, लीनानाः, नानालीलीली, न, आलीनाली, ईले, ना, आलीनाः, लीलीली, नानाना, अनाली इति पदानि । पदार्थस्त्वयं यथा—कश्चिद्वक्ति—अहं ना पुरुषः सेनाः पृतना ईले स्तौमि । 'ईड स्तुतौ' । वर्तमानायां ए । सेनाः स्तौम्यहमिति संबन्धः । यद्वा परोक्षायां 'इले' इति रूपम् । बहुलत्वादाम्प्रत्ययाभावः । ततः कश्चिन्ना सेना ईले । तुष्टावेत्यर्थः । कीदृशीः सेनाः । लीला विद्यते येषां लीलिनस्तौतीत्येवंशीलो लीलीली स इनः स्वामी यासां ता लीलीलीनाः । ना कीदृशः । आलमनर्थोऽसत्यं वा विद्यते यस्य स आली एवंविधो न । तथा लीनानि संबद्धान्यनांसि शकटानि शकटारूढा वा जना यस्य स लीनानाः । तथा नानाप्रकारा आल्यः पङ्क्तयो नानाल्यस्तासां लीः श्लेषस्तां लान्ति गृह्णन्ति ये ते नानालीलीलाः पुरुषा विद्यन्ते यस्य स नानालीलीली । व्यूहाश्रितनरनायक इत्यर्थः । तथा आलीनानामाश्रितानामाली अनर्थकरः आलीनाली एवंविधो न । सेवकानुकूल इत्यर्थः । कीदृशीः सेनाः । आलीना आश्लिष्टाः । ना कीदृशः । लीलिनी लीलावती सुखितत्वात्प्राणिनामिला भूर्येषां ते लीलीला नृपास्ते यस्य सन्ति स लीलीली । तथा नानाप्रकारो ना मनुष्यो यस्य स नानाना । तथा आली मूर्ख उच्यते । आलमस्यास्तीति वा न आली अनाली । प्राज्ञ इत्यर्थः । अत्र तुरगपदपरिज्ञानाय श्लोको यथा—'कशझेनागभटाय तथखेवेञराघवे । षजेथाढेपचेमेठे दोणसछलडेपडे ॥' अमुं श्लोकं 'सेनाली' इत्यादिप्रस्तुतश्लोकोपरिभागे यथाक्रमाक्षरं लिखित्वा ततः एतच्छ्लोकगतमातृकापठितकादिवर्णक्रमानुमिततुरगपदक्रमेण प्रस्तुतः श्लोक उच्चेय इति ॥

सेनेति । इसमें—सेना, लीलीलीना; न, आली, लीनानाः, नानालीलीली, न, आलीनाली, ईले, ना, आलीनाः, लीलीली, नानाना, अनाली-ये पद हैं । पदों का अर्थ इस प्रकार है—कोई कह रहा है मैं पुरुष सेनाओं की वन्दना करता हूँ । 'ईड' धातु स्तुति के अर्थ में प्रयोग की जाती है । वर्तमान काल में (एकार) है । अथवा 'इले' यह रूप परोक्ष (काल) में है । 'अम्' प्रत्यय का प्रयोग विकल्प के कारण नहीं किया गया । अर्थात् संतुष्ट किया । कैसी

सेनाओं को ? (नाना प्रकार की) लीला करने वाले नायकों वाली । मनुष्य किस प्रकार का ? नाली (असत्य भाषण न करने वाला) तथा जिसके सेवक गाड़ियों पर सवार हैं तथा जिसके पुरुष अनेक प्रकार की कतारों में सटे हुए हैं (अर्थात् जो व्यूह में लगाये गये मनुष्यों का नायक है) (फिर किस विशेषण से युक्त) पंक्तियों का अनर्थ न करने वाला अर्थात् सेवकों का हितैषी । सेनायें कैसी ? आश्लिष्ट । मनुष्य किस प्रकार का ? लीलिनी (प्राणियों के लिये सुखकरी होने के कारण लीलावती भूमि वाले राजाओं वाला) तथा विविध प्रकार के मनुष्यों वाला तथा अनाली (मूर्ख आली कहा जाता है—जो आली नहीं है वह हुआ अनाली—अर्थात् बुद्धिमान्) ।

अथ गजपद्पाठमाह—

ये नानाधीनावा धीरा नाधीवा राधीरा राजन् ।
किं नानाशं नाकं शं ते नाशङ्कन्तेऽशं ते तेजः ॥ १६ ॥

आगे गजपदपाठ का उदाहरण देते हैं—जो नानाप्रकार के मनःक्लेशों से युक्त स्वामी की रक्षा करने वाले, पराक्रमी, दुर्बुद्धि को न प्राप्त होने वाले (और) हिंसकों को नष्ट करने वाले हैं वे नानाप्रकार की इच्छाओं के पूरक (तुम्हारे भृत्य) क्या स्वर्गीय सुख की कामना करते हैं ? (अर्थात् अवश्य करते हैं) । (इसके अतिरिक्त) तुम्हारा तेज दुःख-रूप है ऐसी शङ्का नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

य इति । अत्र—ये, नानाधीनावाः, धीराः, न, अधीवाः, राधीराः, राजन् , किं, नानाशं, नाकं, शं, ते, न, आशङ्कन्ते, अशं, ते, तेजः, इति पदानि । पदार्थस्त्वेवम्—यथा कश्चिद्राज्ञः कस्यापि सेवकानभिनन्दति—हे राजन् , ये तदीयभृत्या एवंगुणयुक्तास्ते किं नाकस्येदं नाकं स्वर्गसक्तं शं शिवं सुखमाशङ्कन्ते । नञ् उत्तरत्र संबन्धः । किंशब्दकाक्वावश्यं तेषां स्वर्गसुखं भवतीत्यर्थः । कीदृशा ये । नानाविधा आधयो यस्य स नानाधिः स चासाविनश्च प्रभुस्तमवन्ति विनाशाद्रक्षन्तीति नानाधीनावाः तथा धीराः सत्त्वयुक्ताः । तथा दुष्टा धीर्बुद्धिरधीस्तां वान्ति गच्छन्त्याश्रयन्त्यधीवा एवंविधा न । तथा 'राधो हिंसायाम्' । राधिनो हिंसकास्तानीरयन्तीति राधीराः । शं कीदृशम् । नानाविधा आशाः सुखाभिलाषा यत्र तन्नानाशम् । किंच ते तव संबन्धि यत्तेजस्तदशं दुःखरूपमित्येवं नाशङ्कन्ते । प्रभुतेजोऽस्माकं नाशायेति चेतसि नैव कुर्वन्तीत्यर्थः । अत्र गजपदन्यायेन श्लोक उत्पद्यते । स च श्लोकगतप्रथमनवमद्वितीयदशमतृतीयैकादशचतुर्थद्वादशादिक्रमेण उच्चेय इति ॥

य इति। इस (श्लोक) में—ये, नानाधीनावाः, धीराः, न, अधीवाः, राधीराः, राजन् , किं, नानाशं, नाकं, शं, ते, न, आशङ्कन्ते, अशं, ते, तेजः,–ये पद हैं। पदों का अर्थ इस प्रकार है—कोई किसी राजा के सेवकों की प्रशंसा कर रहा है—हे राजन् ! जो तुम्हारे सेवक इन गुणों से युक्त हैं वे क्या स्वर्गीय सुख की कामना करते हैं। नञ् का उत्तरवर्ती वाक्य के साथ अन्वय होगा (ते तेजः अशं नाशङ्कन्ते)।

'किं' शब्द में काकु से से यह द्योतित होता है कि उन्हें अवश्य ही स्वर्गीय सुख होता है। वे किन (विशेषणों) से युक्त हैं—नानाप्रकार की मनःपीडाओं वाले स्वामियों की रक्षा करने वाले, धीर (पराक्रमी) तथा अधीवा (दुर्बुद्धि को न प्राप्त होने वाले) तथा राधीर (हिंसकों का निवारण करने वाले)। कैसे सुख की—नानाप्रकार की आशाओं से युक्त। इसके अतिरिक्त तुम्हारे तेज को अपने लिये दुःख रूप नहीं समझते हैं अर्थात् स्वामी का तेज हमारे नाश के लिये है ऐसा हृदय में नहीं करते हैं। यहाँ गजपदन्याय से श्लोक उत्पन्न होता है, उसका प्रथम और नवें, द्वितीय और दशवें, तृतीय और ग्यारहवें, चतुर्थ और बारहवें–इस क्रम से उच्चारण करना चाहिए ॥ (पूर्वार्ध में प्रथम और नवम आदि क्रम से उच्चारण करने पर जो श्लोक बनता है वह प्रथम–द्वितीय आदि अक्षरों के क्रम से पढ़े गये श्लोक के ही सदृश होता है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में भी समझना चाहिए)।

अथ प्रतिलोमानुलोमपाठं स्रग्धरावृत्तमाह—

वेदापन्ने स शक्ले रचितनिजरुगुच्छेदयत्नेऽरमेरे
देवासक्तेऽमुदक्षो बलदमनयदस्तोददुर्गासवासे।
सेवासर्गादुदस्तो दयनमदलवक्षोदमुक्ते सवादे
रेमे रत्नेऽयदच्छे गुरुजनितचिरक्लेशसन्नेऽपदावे॥१७॥

आगे स्रग्धरा वृत्त में प्रतिलोमानुलोम पाठ का उदाहरण देते हैं—

वेद-पारङ्गत (वेदापन्ने) प्रियभाषी, (शक्ले) अपनी राग-द्वेषात्मक प्रवृत्तियों की पीडा निवारण करने वाले (अरमेरे) देवप्रिय, कष्टों के दुर्गों के समान दुर्गभूत शत्रुओं को आहत करने की भूमि, दानशीलता एवं अहंकार की कणिकामात्र से अस्पृष्ट (दयनमदलवक्षोदयुक्ते) प्रमाण शास्त्र के जानने वाले, विशुद्ध-बुद्धि (अयदच्छ) गुरुसेवा के चिरश्रम से श्रान्त उपताप रहित (अपदावे) नरश्रेष्ठ में (रत्ने) ऐसा कोई जितेन्द्रिय (अमुदक्षः) शक्ति, उपशम और नीति को जानने वाला परोपकार से निवृत्त होकर संतुष्ट हो गया ॥ १७ ॥

वेदापन्न इति । स कश्चिद्गुणिप्रियो रत्ने गुणवति जने रेमे ननन्द । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते'। वेदानापन्नो वेदापन्नस्तत्र । अधीतवेद इत्यर्थः । तथा शक्ले प्रियंवदे । तथा रचितः कृतो निजाया रागद्वेषात्मिकाया रुजो बाधाया उच्छेद उन्मूलने यत्नो येन तस्मिन् चित-निजरुगुच्छेदयत्ने । तथा न रमन्ते सुजनेषु धर्मे वा ये ते अरमा दुर्जनास्तानीरयति यस्तस्मिन्नरमेरे । तथा देवेष्वासक्तो देवासक्तस्तस्मिन् देवासक्ते । देवपूजोद्यत इत्यर्थः । स कीदृशः । न मोदन्ते प्रमोदं यान्तीत्यमुन्दि अक्षाणीन्द्रियाणि यस्य सोऽमुदक्षो जितेन्द्रियः । तथा बलदमनयदः शक्त्युपशमनीतिदाता । रत्ने कीदृशे । तोदस्य व्यथाया दुर्गा इव दुर्गाः परानभिभूतास्तानप्यस्यन्ति क्षिपन्तीति तोददुर्गासास्तेषां वासे निलये । शूराणामपि शूरा यमाश्रिता इत्यर्थः । स कीदृशः । सेवायां परप्रणतौ सर्ग उत्साहस्तत उदस्तो निवृत्तः । स्वाधीन इत्यर्थः । रत्ने कीदृशे । दयनं दानं रक्षा वा तेन यो मदलवो गर्वकणिका तेन यः क्षोदः परिकत्थनं तेन मुक्ते रहिते । प्रियं कृत्वाप्यगर्वित इत्यर्थः । यद्वा अदयनेन निर्दयत्वेन मदलवेन गर्वलेशेन क्षोदेन हिंसया च मुक्ते । तथा सह वादेन वर्तते सवादस्तस्मिन् । प्रमाणशास्त्रज्ञ इत्यर्थः । तथा अयन्नगच्छन्नच्छो नैर्मल्यं यस्य तत्रायदच्छे । शुद्धिमतीत्यर्थः । तथा । गुरुभिः पूज्यैर्जनितो यश्चिरं क्लेशः शुश्रूषाश्रमस्तेनैव सन्ने श्रान्ते । न त्वन्येन । तत्र वा सन्ने सक्ते । तथा अपदान्पदभ्रष्टानवतीत्यपदावः । यदि वापगतो दाव उपतापो यस्य तस्मिन्निति । यथैवायं श्लोकः क्रमेण पठ्यते, एवं व्यतिक्रमेणापीति प्रतिलोमानुलोमः ॥

वेदापन्न इति । किसी गुणवान् के प्रेमी मनुष्य की किसी गुणी मनुष्य में आस्था हो गयी । प्रत्येक जाति में जो उत्तम होता है उसे रत्न कहते हैं । वेदों को जानने वाला वेदज्ञ–उनमें । अर्थात् वेदाध्येता । तथा प्रियभाषी में—तथा अपनी राग-द्वेषात्मक पीडा के उन्मूलन में प्रयत्न कर चुके हुये व्यक्ति में—तथा अरमा (सज्जनों या धर्म में आस्था न रखने वाले) का निवारण करने वाले–तथा देवताओं में आस्था रखने वाले । (मनुष्य में) । वह (गुणिप्रिय) कैसा है ?—अमुदक्ष (सुखों में लालसा न रखने वाली इन्द्रियों वाला—जितेन्द्रिय) तथा शक्ति, उपशम और नीति देने वाला, किस प्रकार के रत्न में (गुणी में)? तोददुर्गासवास (कष्टों के दुर्गरूपी दूसरों से अपराजित दुर्ग को आहत करने की भूमि—अर्थात् वीरों के भी वीर के आश्रय (रत्न में) । वह किस प्रकार है—सेवा के उत्साह से पराङ्मुख, अर्थात् स्वतंत्र । (फिर) कैसे रत्न में ?–

दान अथवा रक्षा के गर्व की कणिकामात्र की डींग से रहित–अर्थात् हित कर देने पर भी गर्व न करने वाला। अथवा निर्दयता, गर्व के लेश और हिंसा से शून्य। तथा सवाद में (वाद से युक्त में) अर्थात् प्रमाणशास्त्र के जानने वाले (रत्न में)। तथा अयदच्छ (स्थिर पावित्र्य से युक्त) में। अर्थात् शुद्धि से शुक्त में। तथा पूज्य-जन की सेवा से उत्पन्न चिरक्लेश से थके हुये, अन्य (क्लेश से) नहीं। अथवा उस (पूज्य-वर्ग) में आसक्त तथा अपदाव में (पद से च्युत हुये लोगों की रक्षा करने वाले में अथवा दूर हुये संताप वाले में)। जिस प्रकार यह श्लोक क्रम से पढ़ा जाता है उसी प्रकार व्यतिक्रम (उलटे क्रम) से भी– इस प्रकार यह प्रतिलोमानुलोम पाठ का उदाहरण हुआ॥

अथार्धभ्रममाह—

सरसायारिवीरालीरसनव्याध्यदेश्वरा।
सा नः पायादरं देवी याव्यायागमदध्यरि॥ १८॥

आगे अर्धभ्रम का उदाहरण देते हैं—

क्रोधपूर्वक रणक्षेत्र में उतरने वाली, शत्रुओं की पंक्तियों को मारकर भक्तों की मानसिक पीडा का निवारण करने वाली, सर्वशक्तिशालिनी वह देवी, जो शत्रुओं को दबाकर सदैव लाभ प्राप्त करने वाली है वह हमारी शीघ्र ही रक्षा करे॥ १८॥

सरसेति। सा ईश्वरा देवी गौरी नोऽस्मानरं शीघ्रं पायादव्यात्। या अगमद्गता। कथम्। अध्यरि रिपूनधिकृत्य। कीदृश्यगमत्। अव्याया विगत आयोऽर्थागमो यस्याः सा व्याया, न व्याया अव्याया। सलाभेत्यर्थः। तथा अयनमायः, सरसः सरोष आयो रणे गमनं यस्याः सा सरसाया, सा चासावरिवीराली च शत्रुसुभटपङ्क्तिस्तस्या रसनेनास्वादनेन हिंसया विशेषेण भक्तानामाधीर्मनोदुःखान्यत्ति नाशयतीति सरसायारिवीरालीरसनव्याध्यदा। यदि वा सरसाया अरिवीराल्या रसेन भावेन नव्या स्तुत्या। आध्यदा दुःखनाशिका। अर्धभ्रमणादर्धभ्रमोऽयम्। न तु सर्वतोभद्रवत्सर्वत्र भ्राम्यति। न्यासः॥

सरसेति। वह देवी गौरी हमारी शीघ्र ही रक्षा करे–जो चली गयी—किस प्रकार? शत्रुओं को दबाकर। कैसी (देवी) चली गयी?—अव्याया—(अर्थलाभ के आगमन से रहित न रहने वाली) अर्थात् लाभ पाने वाली; तथा सरसाया– (क्रोधपूर्वक रण में उतरने वाली) वह और अरिवीरालीरसनव्याध्यदा (शत्रु-सैनिकों को मार कर भक्तों की मनःपीडा को नष्ट करने वाली)। अथवा सरस

शत्रुपङ्क्तियों के रस से (भाव से) नवीन वन्दनीय । आध्यदा–दुःख नष्ट करने वाली । अर्ध भ्रमण के कारण अर्धभ्रम नामकरण हुआ है । न कि सर्वतोभद्र की तरह सर्वत्र भ्रमण करता है । इस प्रकार इसका न्यास हुआ ॥

अथ मुरजबन्धः—

सरलाबहलारम्भतरलालिबलारवा ।
वारलाबहलामन्दकरला बहलामला ॥ १९ ॥

आगे मुरजबन्ध का उदाहरण देते हैं—

(यह शरद्) दीर्घ एवं प्रभूत आरम्भ के कारण चञ्चल भ्रमरावलियों के गुञ्जार से संपन्न हंसिनियों से व्याप्त, राजाओं को उद्यम में लगाने वाली (तथा) प्रचुर आमलकी फलों वाली है ॥ १९ ॥

सरलेति । सर्वभाषाभिरमागधिकाभिः शरद्वर्णने श्लोकोऽयम् । तत्र कीदृशी शरद्वर्तते । सरलो दीर्घ आ समन्ताद्बहलेन प्रभूतेनारम्भेण तरलानां चञ्चलानामलिबलानां भ्रमरसैन्यानामारवः शब्दो यस्यां सा सरलाबहलारम्भतरलालिबलारवा । तथा वारलाभिर्हंसीभिर्बहला संतता । यदि वा वारेण परिपाट्या लावो लवनं येषां तानि तथाविधानि हलानि हलकृष्टधान्यक्षेत्राणि यस्यां सा तथाविधा । तथा करं लान्ति गृह्णन्ति ये ते करला नृपाः । अमन्दा यात्रायां सोद्यमाः करला यस्यां सा तथाविधा । तथा बहलानि प्रभूतान्यामलान्यामलकीफलानि यस्यां सा तथाविधा । यदि वा बहलमत्यर्थममला निर्मला बहलामला । अत्र मुरजत्रयमर्धमुरजौ चान्ते भवतः । न्यासः ॥

सरलेति । यह श्लोक मागधी को छोड़कर शरद्वर्णन में सभी भाषाओं में है । वह शरद् कैसी है ?—सरलाबहलारम्भतरलालिबलारवा (लम्बे एवं अत्यधिक समारोह के साथ भ्रमर-पङ्क्तियों की गुञ्जार से युक्त) तथा हंसिनियों से व्याप्त । अथवा क्रम से लुनाई किये गये हल से जुते हुये धान के खेतों वाली । तथा अमन्दकरला (करला–करग्रहण करने वाले राजा, अमन्द–उद्यमी) । तथा अत्यधिक आमलकी फलों वाली अथवा अत्यन्त निर्मल ।

अथ सर्वतोभद्रमाह—

रसा साररसा सार सायताक्ष क्षतायसा ।
सातावात तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ॥ २० ॥

आगे सर्वतो भद्र का उदाहरण देते हैं—

हे पुष्टि देने वाले (अतक्षर) उद्यमशील (अत) सुख की रक्षा करने वाले उत्तम (राजन् !) वह (मधुर आदि) सुन्दर रसों वाली, दमन कर दिये गये

चौर आदि दुष्टों वाली, पालन की जाती हुयी तुम्हारी यह पृथ्वी (राज्य) अक्षय हो ॥ २० ॥

रसेति। कश्चिद्राजानमाह--हे सार उत्कृष्ट, तव रक्षतः पालयतः सतः सा रसा पृथ्वी साररसा उत्कृष्टरसास्तु भवतु। हे आयताक्ष दीर्घलोचन, तथा सा क्षतायसा चास्तु। क्षतो नाशित आयोऽर्थागमो यैस्ते क्षतायाश्चौरादयस्तान्स्यत्यन्तं नयतीति कृत्वा। तथा सातं सुखमवतीति सातावा। श्रेयस्करीत्यर्थः। अस्त्विति सर्वत्र योज्यम्। हे अत। अतति नित्यमेवोद्यमं भजत इत्यर्थः। तथा अतासा अक्षया रसा। भवत्वित्यत्रापि योगः। तुर्नियमे। रक्षत एव, न त्ववलिप्तस्य। तथा हे अतक्षर तक्षणं तक्षस्तनूकरणं तं राति ददातीति तक्षरः, न तक्षरोऽतक्षरः। पुष्टिद इत्यर्थः। चतुर्दिशं वाच्यत्वात्सर्वतोभद्रोऽयं श्लोकः॥

रसेति। कोई राजा से कह रहा है—हे उत्तम (प्रकृति वाले) तुम्हारे पालन करते हुये पृथिवी मधुर रसों वाली हो। हे विशाल लोचन इसके अतिरिक्त वह क्षतायसा—अर्थ के आगमन को नष्ट करने वाले चोर आदि से सर्वथा शून्य—हो। तथा सातावा—सुख की रक्षा करने वाली अर्थात् श्रेयस्करी हो। हो का योग सभी वाक्यों में करना चाहिए। हे अत (निरन्तर उद्यम करने वाले)। तथा अतासा—नष्ट न होने वाली पृथ्वी। 'हो' का यहाँ भी योग है। 'तु' नियम के अर्थ में आया है। पालन करने वाले तुम्हारी न कि अवलिप्त (राग आदि में आसक्त)। चारों दिशाओं से पाठ्य होने के कारण—यह श्लोक सर्वतोभद्र है।

आदिग्रहणसंगृहीतं पद्माद्युदाहरणमाह—
(कारिका में) आदि के ग्रहण से संगृहीत पद्म आदि का उदाहरण देते हैं—

या पात्यपायपतितानवतारिताया
यातारिपावपति वाग्भुवनानि माया।
यामानिना वपतु वो वसु सा स्वगेया
यागे स्वसासुररिपोर्जयपात्यपाया॥ २१ ॥

जो देवी (वाणी स्वरूप होने के कारण) यज्ञ में अपने द्वारा ही स्तुत्य है, विष्णु की बहन है, (भक्तों के) उत्कर्ष की रक्षा करती है, (जो) विपत्तियों को पार कर गयी है, (अत्यपाया) जो आपत्ति में पड़े हुये प्राणियों की रक्षा करती है (तत्त्वतः जिसका बोध न होने के कारण) जो माया स्वरूप है वह स्वामिनी (गौरी) आठों प्रहर आप लोगों को धन प्राप्त कराये॥ २१ ॥

येति। सा इना स्वामिनी गौरी वो युष्मभ्यं यामानष्टावपि प्रहरान्नित्यं वसु धनं वपतु जनयतु। या अपायपतितानापद्गतान्प्राणिनः पाति रक्ष-

तीति। किंभूता सती। अवतारितः प्रापित आयोऽर्थागमो यया सावतारिताया। तथा याता निवृत्तारिता शत्रुभावो यस्यां सा यातारिता। निर्मत्सरेत्यर्थः। या तथा वाक् वचनरूपा सती भुवनानि जगन्त्यावपति व्याप्नोति। या च तत्त्वतो ज्ञातुमशक्यत्वान्मायेव माया। या च यागे यज्ञे स्वेनात्मनैव गेया स्तुत्या। वाग्रूपत्वात्तस्याः। तथा या चासुररिपोर्विष्णोः स्वसा भगिनी। या च जयं सर्वोत्कर्षवर्तनं भक्तानां पाति रक्षतीति जयपा। तथातिक्रान्ता अपाया अनर्था यया सात्यपाया। निरापदेत्यर्थः। इदमष्टदलं पद्ममिति पूर्वे भणन्ति तन्न सम्यग्बुध्यते। चतुर्दलं तु बुध्यते। यथा 'या' शब्दोऽत्र कर्णिका अष्टवारान्परावर्त्यते। दलानि द्वादशाक्षराणि। तत्र पार्श्ववर्तिनश्चत्वारश्चत्वारो वर्णा दलसंधिगतात्वाद् द्विरावर्त्यन्ते॥

येति। वह स्वामिनी गौरी आप लोगों को आठों प्रहर धन प्रदान कराये। जो आपत्ति में पड़े हुए प्राणियों की रक्षा करती है। क्या होकर १—अवतारिताया—अर्थ के आगम को प्राप्त होकर, यातारिता—शत्रु-भाव से वञ्चित होकर या द्वेष-शून्य होकर, तथा जो वाणी वचनरूप होकर संसार को व्याप्त करती है, जो तत्त्वतः बोध का विषय न होने के कारण माया रूप है और जो यज्ञ में अपने द्वारा ही स्तुत्य है, (उसके वाक् (वाणी) रूप होने के कारण), तथा और जो विष्णु की बहन है, जो जयपा—भक्तों की सर्वतः उन्नति की रक्षा करने वाली—है, तथा अत्यपाया—अनर्थों से रहित अर्थात् आपत्तियों से अस्पृष्ट—है। इसे पूर्ववर्ती विचारकों ने आठ दलों वाला पद्म कहा है—(किन्तु) यह बात समझ में नहीं आती है। चार दल तो समझ में आते हैं; जैसे—या शब्द इसमें कर्णिका (स्थानीय) आठ बार पढ़ा जाता है। (चारों दल) बारह-बारह अक्षर के होंगे। उसमें समीप में न्यस्त चार-चार वर्ण दलों की संधियों पर स्थित होने के कारण दो दो बार पढ़े जायेंगे॥

अथानुलोमविलोमविपर्यस्ताक्षरपाठेन श्लोकाच्छ्लोकान्तरोत्पत्तिमाह। तत्राद्यः श्लोकः—

समरणमहितोपा यास्तनामारिपाता
वनरतिसरमाया वानरा मापसारम्।
अमरततवरालीमानमासाद्य नेदू
रणमहिमतताशा धीरभावेऽसिराते॥ २२॥

आगे अनुलोम, विलोम और विपर्यस्ताक्षर पाठ से श्लोक से अन्य श्लोक की उत्पत्ति का उदाहरण देते हैं। उसमें प्रथम श्लोक—

सभी युद्धों में पूजित उपाय वालों से युक्त की हिंसा कर देने वाले, आक्रमण करने वाले और नमस्कार न करने वाले शत्रुओं का विनाश करने वाले (यास्त-नामारिपाता) मुनियों के पास जाने वाले राक्षसों को मार डालने वाले (वनर-तिसरमाया), (अपने) युद्ध की महिमा से दिशाओं को व्याप्त करने वाले वानर, देवों के द्वारा उपहार किये गये वरदानों के कारण मान को प्राप्त होकर तलवार के कारण (अपने में उत्पन्न) धैर्य में अनवरत (मापसारम्) गान करने लगे॥२२॥

समरणेति। सुग्रीवाङ्गदप्रभृतयोऽत्र वानरा वर्ण्यन्ते—वानरा नेदुः। जगदुरित्यर्थः। कीदृशाः। समौ तुल्यौ रणमहौ संग्रामोत्सवौ येषां ते समरणमहा इन्द्रजित्प्रभृतयस्ते विद्यन्ते येषां ते समरणमहिनो रावणाद-यस्तांस्तुपन्ति हिंसन्ति ये ते समरणमहितोपाः। तथा यान्ति गच्छन्तीति या अभियोगिनः, अस्तः परित्यक्तो नामो नतिर्यैस्तेऽस्तनामा, याश्च तेऽस्त-नामाश्च ते च तेऽरयश्च शत्रवश्च तान्पातयन्ति नाशयन्तीति यास्तना-मारिपाताः। यदि वा समशब्दः सर्वनामसु। ततः समरणेषु सर्वसमरेषु महितः पूजित उपायो येषां ते च तेऽस्तनामारिपाताश्चेति समासः। तथा वने रतिर्येषां ते वनरतयो मुनयस्तान्सरन्ति जिघांसयाभिगच्छन्तीति वनरतिसरा राक्षसादयस्तान्मीनन्तीति कर्मण्यणि वनरतिसरमायाः। कथं नेदुः। मापसारम्। मा प्रतिषेधे ततश्चाविद्यमानोऽपसारश्छेदो यत्र कर्मणि तन्मापसारम्। किं कृत्वा नेदुः। अमरैर्देवैस्तता विस्तारिता दत्ता या वराली वरपरम्परा तया मानं पूजां गर्वं वासाद्य प्राप्य। तथा रणम-हिम्ना युद्धमाहात्म्येन तता व्याप्ता आशा दिशो यैस्ते तथोक्ताः। कदा नेदुः। धीरभावे धैर्येऽसिना खड्गेन राते दत्ते सति॥

समरणेति। यहाँ सुग्रीव, अङ्गद आदि वानरों का वर्णन किया जा रहा है—वानरा नेदुः। अर्थात् गान करने लगे। कैसे (वानर) ?—(समरणमहितोपाः)—युद्ध में समान पराक्रम वाले मेघनाद आदि से युक्त रावण आदि की हिंसा करने वाले, (याः)—आक्रामक, (अस्तनामारिपात)—नमस्कार न करने वाले शत्रुओं का विनाश कर देने वाले। अथवा सम शब्द सर्वनाम है। इस प्रकार सभी युद्धों में पूजित उपायवाले (समरणमहितोपाया) और नमस्कार न करने वाले शत्रुओं का विनाश करने वाले (अस्तनामारिपाता)—इस प्रकार समास करना चाहिए। फिर कैसे (वानर) वन्य जीवन में अभिनिवेश रखने वाले मुनियों को मारने की इच्छा से विचरण करने वाले राक्षसों को मार डालने वाले (वनरतिसरमायाः) में कर्म (उपपद) रहते 'मीन' धातु के आगे अण् प्रत्यय आया है। मापसारम्—प्रतिषेध (मा) से शून्य क्रिया वाला। क्यों गाने

लगे ?—देवों के द्वारा दी गयी वरपरम्परा के घमण्ड में आकर। तथा (फिर कैसे वानर) युद्ध की कीर्ति से दिशाओं को व्याप्त करने वाले। कब गाया—तलवार के द्वारा धीर भाव के दिये जाने पर।

अस्माच्छ्लोकादेकाक्षरव्यवधानेन द्वयोर्द्वयोश्च विपर्ययपाठेनायं श्लोको निर्याति। यथा—

सरमणहिमतोयापास्तमानारितापा
वरनतिरसमावायानमारा परं सा।
अरमत बत रामा लीनसामाद्यदूने
रमणहितमताधीशारवे भासितेरा ॥ २३ ॥

इसी श्लोक का एक अक्षर का बीच देकर दो दो अक्षरों का विपर्यय (उलटे) पाठ करने पर यह श्लोक निकलता है। जैसे—

संताप का अपहरण करने के कारण नीहारजल रूप प्रिय के साथ रहने वाली अतएव मान रूपी शत्रु से उत्पन्न संताप से रहित तथा सुन्दर प्रणाम करने वाली, सर्वोत्कृष्ट (असमा) (प्रिय की एवं अपनी) रक्षा करने वाली, निरन्तर कामुक (अयानमारा), प्रिय के लिये हितैषिणी और अभीष्ट, सुमधुर स्वभाव वाली (लीनसामा) रमणी अत्यन्त रम गयी ॥ २३ ॥

सरमणेति। काचिन्मानिनी प्रसन्नात्र वर्ण्यते—सा,रामा युवतिरधीशारवे दयितवचसि परमतिशयेनारमत प्रीतिं कृतवती। बत विस्मये। चित्रं मानिन्यपि प्रसन्ना यत्। कीदृशी। रमणो दयितः स एव संतापापहारित्वाद्धिमतोयं नीहारजलम्, सह तेन वर्तते या सा सरमणहिमतोया। अत एवापास्तो निरस्तो मानारितापो गर्वशत्रुजनितोपतापो यया सापास्तमानारितापा। तथा वरा श्रेष्ठा नतिर्मानपरित्यागेन प्रणतिर्यस्याः सा वरनतिः। यद्वा वरे भर्तरि नतिर्यस्याः। तथा असमा सर्वोत्कृष्टा। तथा अवति रक्षत्यात्मानं प्रियं वेत्यवा। न विद्यते यानं गमनमस्येत्ययानः स्थिरो मारः कामो यस्याः सायानमारा। तथा लीनं संबद्धं साम कोमलवचनं यस्याः सा लीनसामा। प्रियभाषिणीत्यर्थः। कीदृशेऽधीशारवे। आद्यः प्रधानभूतः, दून उपतप्तो गद्गदः, आद्यश्च दूनश्च तत्राद्यदूने। रामा कीदृशी। रमणस्य प्रियस्य हिता च मता च। अनुकूलत्वादिष्टेत्यर्थः। तथा भासिता शोभिता इरा वाणी यस्याः सा भासितेरा। मधुरवागित्यर्थः। अस्माच्छ्लोकात्तथैव पूर्वश्लोको निर्याति। एवमन्येऽपि चित्रप्रकारा महाकाव्येभ्योऽवधार्याः। सर्वेषां स्वरूपदर्शनं कर्तुमशक्यमानन्त्यादिति। एतेषु यमकश्लेषचित्रोदाहरणेषु व्याख्यानान्तराण्यपि महामति-

कृतानि दृष्टानि, परमेकैकमेव चार्वित्येकैकमेव लिखितम्। यत उक्तं सुधीभिः—'व्याख्यानमनेकविधं लिङ्गमबोधस्य धूम इव वह्नेः। स्पष्टं मार्गमजानन्स्पृशत्यनेकान्पथो मुह्यन्' इति॥

सरमणेति। यहाँ किसी प्रसन्न हो गयी मानिनी (नायिका) का वर्णन किया जा रहा है—वह युवती रमणी प्रिय के वचन में अत्यन्त रम गयी। बत आश्चर्य अर्थ में आया है। आश्चर्य है कि मानिनी होकर भी प्रसन्न हो गयी। कैसी (मानिनी) संताप को दूर करने के कारण नीहारजल रूपी प्रिय के साथ वास करने वाली (सरमणहिमतोया) अतएव मानरूपी शत्रु के उपताप से रहित (अपास्तमानारितापा), तथा मान के परित्याग के कारण सुन्दर नमस्कार वाली, अथवा पति को नमस्कार करने वाली, तथा अनुपमेय तथा अपनी एवं प्रिय की रक्षा करने वाली (अवा) तथा शान्त न होने वाले काम के आवेग वाली, तथा कोमल वचन वाली एवं प्रियभाषिणी। किस प्रकार के प्रिय के वचनों में? प्रथम बार उच्चारण किये गये और गद्गद वचन में (आद्यदूने)। रमणी कैसी?—प्रिय की हितैषिणी और अभीष्ट अर्थात् अनुकूल होने के कारण-इष्ट। तथा शोभित वाणी वाली (भासितेरा) अर्थात् मधुर वचन वाली। इस श्लोक से उसी प्रकार (एक एक अक्षर का बीच देकर दो दो अक्षरों का उलटे पाठ करने से) पूर्व श्लोक (५-२२) निकलता है। इसी प्रकार चित्र (अलंकार) के अन्य प्रकारों को भी महाकाव्यों से समझ लेना चाहिए। क्योंकि (प्रकारों के) अनन्त होने के कारण सभी के स्वरूप का दर्शन कर सकना असंभव है। इन यमक, श्लेष और चित्र के उदाहरणों में बड़े बड़े पण्डितों (टीकाकारों) के द्वारा अन्य टीकायें भी की गयी मिली हैं परन्तु (उनमें) एक एक ही सुन्दर हैं इसलिये एक एक का ही (मैंने—नमि साधु) ने उपन्यास किया। क्योंकि बुद्धिमानों ने भी कहा है—'अग्नि के लिङ्ग (साधन) धूम के समान अज्ञ को अनेक प्रकार का व्याख्यान सूझता है। स्पष्ट मार्ग को न जानने वाला मोहवश अनेक रास्तों को पकड़ता है'॥

अथ य एते मात्राच्युतादयस्ते किमलंकाराः, उत नेत्याशङ्क्याह—

मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यत्क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥ २४॥

आगे जो ये मात्राच्युतक आदि हैं क्या वे अलङ्कार हैं अथवा नहीं—इस शङ्का का उत्तर देते हैं—मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, प्रहेलिका, कारकगूढ़, क्रियागूढ़ और प्रश्नोत्तरादि—यह सब अन्य खेल मात्र के उपयोग में आते हैं (अर्थात् ये अलङ्कार नहीं हैं)॥ २४॥

मात्रेति । च्युतकशब्दो गूढशब्दश्चोभयत्र संबध्यते । ततश्च मात्राच्युतकबिन्दुच्युतकप्रहेलिकाकारकगूढक्रियागूढानि प्रश्नोत्तरादि । चः समुच्चये । अन्यत्पूर्वालंकारेभ्यो व्यतिरिक्तं तत्क्रीडामात्रोपयोगम् । मात्रग्रहणेनाल्पप्रयोजनतां सूचयति । अल्पप्रयोजनत्वादेवालंकारमध्ये न संगृहीतम् । काव्येषु च दर्शनाद्वक्तव्यमिति ॥

मात्रेति । च्युतक शब्द और गूढ़ शब्द दोनों ही के साथ (मात्रा और बिन्दु तथा कारक और क्रिया के साथ) अन्वित होंगे । इस प्रकार मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, प्रहेलिका, कारकगूढ़, क्रियागूढ़, प्रश्नोत्तर आदि (पद होंगे)। च समुच्चय अर्थ में आया है । अन्यत्—अर्थात् जो पहले बताये गये अलङ्कारों से भिन्न है उसका खेलमात्र में उपयोग होता है । मात्र पद से प्रयोजन की स्वल्पता सूचित होती है । प्रयोजन के अल्प होने के ही कारण अलङ्कारों में इनकी गणना नहीं की गयी । काव्यों में उपलभ्य होने के ही कारण इनका वर्णन किया गया ॥

तल्लक्षणं यथाक्रममाह—

मात्राबिन्दुच्यवनादन्यार्थत्वेन तच्च्युते नाम ।
स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिकाव्याहतार्था च ॥ २५ ॥

प्रच्छन्नत्वाद्भवतस्तद्गूढे कारकक्रियान्तरयोः ।
प्रश्नानां च बहूनामुत्तरमेकं भवेद्यत्र ॥ २६ ॥
प्रश्नोत्तरं तदेतद्व्यस्तसमस्तादिभिर्भवेद्बहुधा ।
भेदैरनेकभाषं.................... च भिद्यते ॥ २७ ॥

क्रमशः उनके लक्षण बताते हैं—मात्रा और अनुस्वार के प्रच्छन्न होने के कारण अभिधेय के भिन्न होने पर मात्राच्युतक और विन्दुच्युतक नामक अलङ्कार होते हैं । प्रहेलिका दो प्रकार की होती है—स्पष्ट प्रच्छन्नार्था (जिसमें प्रश्न में ही उत्तर स्पष्टतः प्रच्छन्न हो) और व्याहृतार्था (जहाँ अर्थ साक्षात् कथित न हो)। कारक के प्रच्छन्न होने पर कारकगूढ़ और क्रिया के प्रच्छन्न होने पर क्रियागूढ़ चित्र होता है । जहाँ अनेक प्रश्नों का एक उत्तर होता है—उसे प्रश्नोत्तर चित्र कहते हैं (वह) व्यस्त, समस्त आदि भेदों से अनेक प्रकार का होता है तथा अनेक भाषाओं की दृष्टि से भी इसका भेद किया जाता है ॥२५-२७॥

मात्राबिन्दुच्यवनादिति । प्रच्छन्नत्वादिति । प्रश्नोत्तरमिति मात्रायाः स्वरस्य, तथा बिन्दोरनुस्वारस्य च्यवनाद्भ्रंशाद्धेतोरन्यार्थत्वेन भिन्नाभिधे-

यत्वेन तच्च्युते मात्राबिन्दुच्युते भवतो नाम। प्रहेलिका द्विधा। स्पष्टप्रच्छन्नार्था व्याहृतार्था च। तत्र स्पष्टः पदारूढत्वात्प्रच्छन्नश्च प्रश्नवाक्य एवान्तर्गतत्वेन भ्रमकारित्वादर्थो यस्याः सा तथाविधा। तथासाधारणविशेषणोपादानादेवाधिगतत्वेनाव्याहृतः। साक्षादनुक्तोऽर्थो यस्यां सा तथाभूता द्वितीया। तथा कर्त्रादिकारकाणां गूढत्वादप्रकटत्वात्कारकगूढम्। क्रियापदानां तु प्रच्छन्नत्वात्क्रियागूढम्। तथा प्रश्नोत्तरमेतद्यत्र बहूनां प्रश्नानां वचनस्यातन्त्रत्वादेकस्य द्वयोर्वैकमेवोत्तरं भवेत्। एतच्च प्रश्नोत्तरं व्यस्तसमस्तादिभिः, आदिग्रहणाद्गतप्रत्यागतैकालापकप्रतिलोमानुलोमादिभिर्भेदैर्बहुधा भवेत्। तथैकभाषत्वेनानेकभाषत्वेन च भिद्यते॥

मात्राबिन्दुच्यवनादिति। प्रच्छन्नत्वादिति। प्रश्नोत्तरमिति। मात्रा (स्वर) और अनुस्वार के अपभ्रंश होने पर अभिधेय के भिन्न होने के कारण मात्राच्युतक और बिन्दुच्युतक होते हैं। प्रहेलिका दो प्रकार की होती है—स्पष्टप्रच्छन्नार्था और व्याहृतार्था। उनमें स्पष्ट (किन्तु) पदारूढ़ होने के कारण प्रश्न वाक्य के अन्तर्गत ही भ्रम उत्पन्न करने के कारण अर्थ जिसका प्रच्छन्न होता है वह एक प्रकार की (प्रहेलिका) होती है। तथा असामान्य विशेषणों के उपादान के कारण होने वाली, जिसमें अर्थ साक्षात् कथित नहीं होता है ऐसी वह (प्रहेलिका) दूसरी ही होती है। इसी प्रकार कर्ता आदि कारकों (विभक्तियों) के स्पष्ट न होने के कारण कारकगूढ तथा क्रियापदों के प्रच्छन्न होने के कारण क्रियागूढ़ होता है। इसी प्रकार अनेक प्रश्नों का वचन के स्वाधीन होने के कारण जहाँ एक या दो का एक ही उत्तर होता है वहाँ प्रश्नोत्तर होता है। और यह प्रश्नोत्तर व्यस्त, समस्त आदि से = आदि ग्रहण से गत, प्रत्यागत, एकालापक, प्रतिलोम, अनुलोम आदि भेदों से अनेक प्रकार का होता है। इसी प्रकार एक भाषा और अनेक भाषाओं में भी (इसका) भेद किया जाता है॥

अधुनैतेषामेव यथाक्रममेकैकमुदाहरणं दिक्प्रदर्शनार्थमाह—

नियतमगम्यमदृश्यं भवति किल त्रस्यतो रणोपान्तम्।
कान्तो नयनानन्दी बालेन्दुः खे न भवति सदा॥ २८॥

अब इन्हीं का क्रमशः एक एक उदाहरण दिग्दर्शन कराने के लिये कहते हैं—डरते हुये मनुष्य के लिये रणमें अप्राप्य निश्चित वस्तु अनवलोकनीय हो जाती है। नेत्रों को आनन्द देने वाला बालचन्द्र सदैव आकाश में नहीं होता है॥ २८॥

नियतेति। त्रस्यतो बिभ्यतो नरस्य। किलेति सत्ये। रणोपान्तं समरनिकटं नियतं निश्चितमगम्यमप्राप्यमदृश्यमनवलोकनीयं भवति। इत्येकवाक्यार्थः। अत्र मात्रया ककारगतेकाररूपया च्युतयान्य एवार्थो

भवति मात्राच्युतके च सर्वत्र मात्रापगमेऽप्यकारान्तत्वावस्थितिः। उच्चारणार्थत्वादकारस्य। तत्रान्योऽर्थो यथा—कलत्रस्य दाराणां तोरणपान्तं तोरणनिकटं राजपथो नियतमगम्यमदृश्यं च भवति। कुलवधूत्वादिति। विन्दुच्युतकमाह—कान्त इत्यादि। कश्चित्कंचिदाह—एष बालेन्दुरपूर्णचन्द्रः खे वियति सदा न भवति। कान्तः कमनीयः। अत एव नयनानन्दी नयनानन्दकरः। अत्र बिन्दौ च्युतेऽर्थान्तरं भवति। इदं काचित्सखीमाह—हे बाले मुग्धे, कान्तो वल्लभो नयनानन्दी दुःखेन क्लेशेन भवति सदा। तस्मान्मैनं तिरस्कार्षीरिति शेषः। व्यञ्जनच्युतकाक्षरच्युतकेत्यादिग्रहणात्संगृहीते तदुदाहरणे अप्यनयैव दिशा द्रष्टव्ये॥

नियतेति। त्रस्यतो—डरते हुये मनुष्य को। 'किल' यह सच है—इस अर्थ में आया है। रण में पहुँच कर निश्चय ही अप्राप्य (वस्तु) दिखाई नहीं पड़ती है। यह एक वाक्य का अर्थ है। यहाँ ककारगत इकार रूप मात्रा के छोड़ देने पर दूसरा ही अर्थ हो जाता है और मात्राच्युतक में सर्वत्र मात्रा के हट जाने पर भी (अक्षर की) अकारान्त रूप में स्थिति होती है। अकार की (सत्ता) उच्चारण के लिये (होती है)। उसका दूसरा अर्थ इस प्रकार है—स्त्रियों का तोरण के समीप राजमार्ग निश्चय ही अदृश्य हो जाता है। (उनके) कुलवधू होने के कारण। बिन्दुच्युतक का उदाहरण देते हैं—कान्त इत्यादि। कोई किसी से कह रहा है—यह अपूर्ण चन्द्र आकाश में सदैव नहीं रहता है। कान्त (कमनीय) अतएव नेत्रों को आनन्द देनेवाला। यहाँ (भी) विन्दु के छोड़ देने पर दूसरा ही अर्थ होता है। कोई सखी से यह कहती है—हे मुग्धे ! नेत्रों को सुख देनेवाले प्रियतम कष्ट से ही सदा (समीप) में रहते हैं, अतएव इनका तिरस्कार मत करो—इतना शेष है। व्यञ्जनच्युतक और अक्षरच्युतक (कारिका में आये हुये) आदि पद से संगृहीत तथा उनके उदाहरण भी इसी दिशा से जान लेने चाहिए॥

अथ स्पष्टप्रच्छन्नार्थप्रहेलिकामाह—

कानि निकृत्तानि कथं कदलीवनवासिना स्वयं तेन।
कथमपि न दृश्यतेऽसावन्वक्षं हरति वसनानि॥२९॥

आगे स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिका का उदाहरण देते हैं—

कदलीवन में निवास करनेवाले स्वयं उसने किस प्रकार क्या काट डाला। (उत्तर) स्वयं उस (रावण) ने तलवार से (असिना) कदली के समान (कदलीव) आश्चर्य है (कथम्) नव शिर (नव कानि) काट डाले। यह आँखों के सामने वस्त्रों को चुरा रहा है और किसी प्रकार दिखलाई नहीं पड़ रहा है॥२९॥

कानीति। कदलीवनवासिना रम्भावनगतेन नरेण कानि निकृत्तानि कानि च्छिन्नानि। कथं केन प्रकारेणेति प्रश्ने। स्पष्टोऽपि प्रच्छन्नोऽर्थः। स चायम्—कानि शिरांसि मस्तकानि निकृत्तानि। कथम्। कदलीव रम्भेव। केन। असिना खड्गेन। कियन्ति। नव नवसंख्यानि। स्वयमात्मना। तेन दशाननेन। कथंशब्दोऽत्र विस्मये। चित्रमिदं यत्स्वयं तृणराजवदात्मनः शिरांसि च्छिन्नानीत्यर्थः। प्रश्नोत्तरात्त्वस्या अयमेव विशेषो यत्प्रश्नवाक्येनैवोत्तरदानम्। अथ व्याहृतार्थामाह—कथमपीत्यादि। असौ कश्चिदन्वक्षं प्रत्यक्षमेव वसनानि वस्त्राणि हरति। अथ च कथमपि न दृश्यते नावलोक्यते। अतः कोऽयं स्यात्। अत्रासाधारणविशेषणोपादानाद्वायुरिति गम्यते। नान्यस्य चौरादेरेवंविधा शक्तिरिति। प्रश्नोत्तराच्चास्या वायुर्वातः समीर इत्याद्यनियतशब्दत्वं विशेषः॥

कानीति। केला-वन में रहनेवाले मनुष्य ने क्या काट डाले। किस प्रकार से—यह प्रश्न है। स्पष्ट होकर भी अर्थ प्रच्छन्न (छिपा) है। वह यह है—शिर काट डाले। किस प्रकार?—केले के (खम्भे) के समान; किससे?—तलवारसे, कितने?—नव संख्या में। स्वयं ही। उस रावण ने। 'कथम्' पद यहाँ विस्मय अर्थ में आया है। यह आश्चर्य है कि उसने तृणराज के समान अपने शिर काट डाले। प्रश्नोत्तर से इसका यह भेद है कि (इसमें) प्रश्न-वाक्य से ही उत्तर (भी) दिया जाता है। आगे व्याहृतार्था (प्रहेलिका) का उदाहरण देते हैं—कथमपीत्यादि। यह कोई नेत्रों के समक्ष ही वस्त्रों को चुरा रहा है और किसी भी प्रकार दिखाई भी नहीं दे रहा है। अतः यह कौन हो सकता है। यहाँ असाधारण विशेषणों के उपादान के कारण 'वायु' (रूप अर्थ) गम्य है। चोर आदि की अन्य की इस प्रकार की सामर्थ्य नहीं हो सकती। प्रश्नोत्तर से भेद है कि यह वायु, वात, समीर आदि अनिश्चित शब्दगत होती है (प्रश्नोत्तर में शब्द उक्त होता है)॥

अथ कारकगूढमाह—

पिबतो वारि तवास्यां सरिति शरावेण पातितौ केन।
वारि शिशिरं रमण्यो रतिखेदादपुरुषस्येव॥ ३०॥

अब कारकगूढ बताते हैं—

तुम्हारे इस नदी में ढकनी (कसोरे) से जल पीते समय किसके द्वारा छोड़े गये (क्या छोड़े गये—यह कर्म गूढ है)। हे मृग (एण) बाण (शरौ) छोड़े गये। रति के कष्ट के कारण रमणियों ने अपुरुष के समान शीतल जल—(यहाँ क्रियागूढ है)। रमणियोंने प्रातः काल ही (उषसि एव) रतिखेद के कारण शीतल जल का पान किया (अपुः)॥ ३०॥

पिबत इति। कश्चित्कंचिदाह—तवास्यां सरिति नद्यां शरावेण वर्धमानकेन भाजनविशेषेण जलं पिबतः केन पातितौ। कौ पातिताविति साकाङ्क्षत्वात्कर्मात्र गूढम्। तच्चैवं प्रकटम्—हे एण मृग, तवास्यां सरिति वारि पिबतः केन शरौ बाणौ पातिताविति। अथ क्रियागूढम्—वारि शिशिरमित्यादि। वारि जलम्, शिशिरं शीतलम्, रमण्यो नार्यः, रतिखेदान्निधुवनायासादपुरुषस्येव। अत्र क्रिया गुप्ता। सा चेयम्—रमण्यो रतिखेदाद्वारि शिशिरमुषस्येव। अत्र क्रिया गुप्ता। सा चेयम्—रमण्यो रतिखेदाद्वारि शिशिरमुषस्येव प्रभात एवापुः पीतवत्यः॥

पिबत इति। कोई किसी से कह रहा है—तुम्हारे इस नदी में ढकनी (कसोरे) से जल पीते हुये किसके द्वारा गिराये गये। क्या गिराये गये—इस प्रकार (वाक्य के) साकाङ्क्ष होने के कारण यहाँ कर्म गूढ है। वह इस प्रकार स्फुट है—हे मृग ! इस नदी में जल पीते हुए तुम्हारे (ऊपर) किसने बाण छोड़ दिये। आगे क्रियागूढ का उदाहरण देते हैं—वारि शिशिरेत्यादि। वारि—जल; शिशिर—शीतल, रमणी—नारी; रति के परिश्रम के कारण अपुरुष के समान। यहाँ क्रिया गुप्त है। वह इस प्रकार है—रमणियों ने निधुवन के आयास से थककर प्रातः काल ही शीतल जल का पान किया।

अथ प्रश्नोत्तरमाह—

उद्यन्दिवसकरोऽसौ किं कुरुते कथय मे मृगायाशु।
कथयानिन्द्राय तथा किं करवाणि क्वणितुकामः॥ ३१॥
अहिणवकमलदलारुणिण माणु फुरत्तिण केण।
जाणिज्जई तरुणीअणस्स निद्धा (?) भण अहरेण॥ ३२॥

आगे प्रश्नोत्तर का उदाहरण देते हैं—

मुझ मृग से बताओ उदय होकर यह सूर्य क्या करता है ? मैं जो इन्द्र नहीं हूँ बताओ चिल्लाने की इच्छा करता हुआ क्या करूँ ? नूतन कमलपत्र के समान अरुण फुरफुराता हुआ तरुणियों का मान कैसे जाना जा सकता है ? (बताओ-निद्ध)। हे मृग दिन (अहः एण)। हे अनिन्द्र (अहरे अण) शब्द करो। ओष्ठ से (अहरेण-अधरेण-सं०)॥ ३१-३२॥

उद्यन्निति। अहिणवेति। कश्चिन्मूर्खत्वेन मृगः सन्कंचन पृच्छति—यथा मह्यं मृगाय त्वं कथय। एष दिवसकरः सूर्य उद्यन्नुदयं प्राप्नुवन्किं कुरुत इत्येकः प्रश्नः। अपरमाह—अनिन्द्रायाशक्राय मह्यं कथय निवेदय। क्वणितुकामः शब्दितुकामः सन्नहं किं करवाणि किं करोमीति द्वितीयः। उत्तरानुरोधेन चात्र मृगायेत्यनिन्द्रायेति च प्रश्नवाक्येऽभिहितम्। वक्तृ-

बहुत्वख्यापनार्थमनेकभाषत्वख्यापनार्थं तृतीयप्रश्नोऽयं प्राकृते च यथा—अहिणवेत्यादि। कश्चित्सुहृदमाह—अभिनवकमलदलारुणेन स्फुरता केन तरुणीजनस्य मानो लक्ष्य इति भण वद। निद्धेत्यामन्त्रणपदम् (?)। अत्र यथाक्रमं यथाभाषं चोत्तरमाह—अहरेणेति। तत्र—अहर्दिनम्। एण हे मृग। तथा अहरेऽनिन्द्र। अण शब्दं कुरु। तथा प्राकृतोत्तरम्—अहरेणाधरेण। ओष्ठेनेत्यर्थः। इत्युत्तरत्रयं युगपदुक्तम्। एतदनेकवक्तृकमनेकभाषं व्यस्तसमस्तं च प्रश्नोत्तरम्। एकवक्तृकं त्र्यादिभाषं च प्रश्नोत्तरजातमन्यत्र विस्तरादवगन्तव्यम्॥

उद्यन्निति। अहिणवेति। कोई मूर्खतापूर्वक मृग होकर किसी से पूछता है—जैसे—मुझ मृग से तुम बताओ—यह सूर्य उदय होकर क्या करता है—यह एक प्रश्न है। दूसरा (प्रश्न भी) बताते हैं—अशक्त मुझसे बताओ चिल्लाने की इच्छा होने पर मैं क्या करूँ। यह दूसरा प्रश्न है। उत्तर के अनुरोध (आग्रह) को ही दृष्टि में रखकर प्रश्नवाक्य में ही 'मृगाय' और 'अनिन्द्राय' कह दिये गये हैं। वक्ताओं की अनेकता और भाषाओं की अनेकता को सूचित करने के लिये यह तीसरा प्रश्न प्राकृत में है; जैसे—अहिणवेत्यादि। कोई (अपने) मित्र से कह रहा है—नूतन कमलपत्र के समान लाल फुरफुराते हुये किस वस्तु से तरुणीजन का मान जाना जा सकता है—यह बताओ। निद्धा यह आमन्त्रण (संबोधन) के लिये प्रयुक्त होता है। (सिद्ध हेमचन्द्र में निद्धा—निद्ध का संस्कृत रूप स्निग्धम् बताया है २। १०९।) अब क्रमानुसार और भाषा के अनुसार उत्तर देते हैं—अहरेणेति। उसमें—अहः—दिन। एण—हे मृग। इसी प्रकार अहरे! अनिन्द्र। अण—चिल्लाओ। प्राकृत भाषा का उत्तर इस प्रकार है—(अहरेण-सं०-अधरेण) ओष्ठ से। इस प्रकार तीन उत्तर एक साथ ही दिये गये। यह अनेक वक्ताओं वाला और अनेक भाषाओं वाला व्यस्त-समस्त प्रश्नोत्तर है। एक वक्तावाले और तीन आदि भाषावाले प्रश्नोत्तर को विस्तारपूर्वक अन्य स्थलों पर समझना चाहिए॥

अथाध्यायमुपसंहरन्नाह—

इत्थं स्थितस्यास्य दिशं निशम्य शब्दार्थवित्क्षोदितचित्रवृत्तः।
आलोच्य लक्ष्यं च महाकवीनां चित्रं विचित्रं सुकविर्विदध्यात्॥३३॥

अब अध्याय का उपसंहार करते हुये कहते हैं—

पूर्ववर्णित चित्र की इस दिशा को जानकर शब्द और अर्थ में पटु विविध (तनु-मध्य आदि) वृत्तों का परामर्श करके महाकवियों के लक्ष्य को जानकर कुशल कवि विचित्र चित्र अलंकार की रचना करे॥ ३३।

इत्थमिति। अस्य चित्रस्येत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण स्थितस्य दिशं मार्गं निशम्य श्रुत्वा तथा महाकवीनां लक्ष्यमुदाहरणं चालोच्य विमृश्य ततः सुकविश्चित्रमलंकारं चित्रं नानाविधं विदध्यात्कुर्यात्। किंविशिष्टः सन्। शब्दार्थौ वेत्ति शब्दार्थवित्। तथा क्षोदितानि पर्यालोचितानि चित्राणि नानाविधानि वृत्तानि तनुमध्यादीनि येन स तथाविधः। यतः किल न सर्वेण वृत्तेन सर्वं चित्रं कर्तुं पार्यते। तथालोच्य वीक्ष्य, लक्ष्यमुदाहरणम्, महाकवीनां सुकवीनाम्। चित्रकरणे किल लक्षणाभावाल्लक्ष्यदर्शनमेव महानुपाय इति कृत्वा॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः

पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः।

इत्थमिति। इस चित्र की इस प्रकार वर्णन की गयी दिशा को जानकर तथा महाकवियों के उदाहरण का परामर्श करके सुकवि नाना प्रकार के चित्र-अलंकारों की रचना करे। किन विशेषणों वाला (सुकवि)?—शब्द और अर्थ को जानने वाला तथा तनु, मध्य आदि विविध वृत्तों की पर्यालोचना कर चुका हुआ। क्योंकि सभी वृत्तों को (जानकर भी) कोई सभी चित्रों को पार नहीं कर सकता। तथा (फिर क्या करके सुकवि रचना करे?) महाकवियों के उदाहरण को देखकर। चित्र की रचना में लक्षण के अभावके कारण उदाहरण का साक्षात्कार ही महान उपाय है–यह जानकर (अर्थात् उदाहरणों के ही अनुकरण पर रचना की जा सकती है)॥

इस प्रकार श्री रुद्रट-विरचित काव्यालङ्कार में नमिसाधु–रचित–टिप्पणी से युक्त पाँचवा अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठोऽध्यायः ।

शब्दास्यालंकारानभिधायेदानीं तद्दोषानभिधित्सुराह—

पदवाक्यस्थो दोषो वाक्यविशेषप्रयोगनियमेन ।
यः परिहृतस्ततोऽन्यस्तदतिव्याप्तिश्च संह्रियते ॥ १ ॥

शब्द के अलङ्कारों को बताकर उवके दोषों को बताने की इच्छा से कहते हैं—

(२।८)में विशिष्ट वाक्य के प्रयोग का जो नियम बताया गया उससे पदगत और वाक्यगत दोषों का परिहार हो गया । उस (२।८) के अतिरिक्त दोषों का यहाँ विवेचन किया जा रहा है । इस लिये यहाँ पर अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए ॥ १ ॥

पदवाक्यस्थ इति । पूर्वम् 'अन्यूनाधिक–' (२।८) इत्यादिना ग्रन्थेन काव्योपयोगिनो वाक्यविशेषस्य प्रयोगे नियमेन यः पदस्थो वाक्यस्थश्च दोषः परिहृतः ततो दोषादन्योऽसमर्थाप्रतीतादिकः समिति संप्रति ह्रियते परिह्रियते । तया तस्मान्न्यूनादिकस्यासमर्थादिकस्य च दोषस्य यातिव्याप्तिरतिप्रसक्तिः सा च संह्रियते संकोच्यते । ननु पूर्वत्र वाक्यस्थ एव दोषः परिहृतो न पदस्थस्तत्कथमिहोच्यते पदवाक्यस्थ इति । सत्यम् । अन्यूनाधिकविशेषणविशिष्टैः पदैर्वाक्यस्य नियमितत्वात्पदस्थोऽपि दोषस्तेन परिहृत एवेति । तर्हि पदग्रहणमत्र न कर्तव्यमाशङ्कानिरासार्थम् । यतः कश्चिदाशङ्कयेत यथा वाक्यस्थ एव दोषस्ते परिहृतो न पदस्थ इति । तथा पदग्रहणाभावे ततोऽन्य इति । वक्ष्यमाणदोषोऽपि पदस्योक्तो न स्यादिति । पृथक्करणं तु तस्य दोषस्य महीयस्त्वख्यापनार्थम् । न्यूनाधिकादिदोषो हि नेत्रोत्पाटतुल्यः । असमर्थादिकस्तु पटलनिभः ॥

पदवाक्यस्थ इति । पहले (२।८) में 'अन्यूनाधिक'—आदि कारिका के द्वारा काव्य के उपयोग में आने वाले वाक्यविशेष के प्रयोग के नियम के द्वारा जिस पदगत और वाक्यगत दोष का परिहार किया गया उस दोष से पृथक् असमर्थ, अप्रतीत आदिका इस समय प्रसंग प्रारम्भ किया जा रहा है । अतएव न्यून आदि और असमर्थ आदि के कथन में जो अतिव्याप्ति दोष की प्रसक्ति हो रही थी वह (उनके भिन्न होने के कारण) संकुचित हो गई (दूर हो गयी)। प्रश्न उठता है कि पहले (२।८) में वाक्यगत दोष का ही परिहार किया गया है पदगत का नहीं फिर यहाँ (६।१) में 'पदवाक्यस्थ 'ऐसा क्यों कहा ? ठीक

है। अन्यून, अनधिक, विशेषणों से विशिष्ट पदों के द्वारा ही वाक्य के निर्मित होने के कारण उस (वाक्यगत) से पदगत दोष का की परिहार हो ही गया। तो पदका ग्रहण यहाँ नहीं करना चाहिए इस शङ्का का समाधान हो गया। क्यों कि कोई शङ्का कर सकता है कि तुम्हारा वाक्यगत दोष ही दूर किया गया है पदगत नहीं। इस प्रकार पदग्रहण के अभाव में (पदगत दोष) वाक्यगत दोष से भिन्न होता। आगे कहा जानेवाला दोष भी पद का (दोष कथित) न हो पाता। (वास्तव में) उस (वाक्यगत) दोष का अलग से वर्णन उसकी महत्ता द्योतित करता है। न्यून, अधिक आदि दोष नेत्र निकाल लेने के तुल्य हैं और असमर्थ आदि तो (केवल) पटल (पलक) (निकाले जाने) के तुल्य ॥

अथ तानेवान्यान्दोषानाह—

असमर्थमप्रतीतं विसंधि विपरीतकल्पनं ग्राम्यम् ।
अव्युत्पत्ति च देश्यं पदमिति सम्यग्भवेद्दुष्टम् ॥ २ ॥

आगे उन्हीं अन्य दोषों को बताते हैं—

असमर्थ, अप्रतीत, विसंधि, विपरीत कल्पना, ग्राम्य और व्युत्पत्तिशून्य देशी शब्द अवश्य ही सदोष होते हैं ॥ २ ॥

असमर्थमिति। इतिशब्दो हेतौ, स च प्रत्येकं संबध्यते। असमर्थमिति हेतोः पदं दुष्टं भवेत्। एवमप्रतीतमित्यादौ बोध्यम्। सम्यक्शब्दो नियमार्थः। अवश्यं दुष्टमित्यर्थः। चशब्दः समुच्चये। अन्यैरनुक्तं व्युत्पत्तिहितं देश्यमसमर्थादिदोषमध्ये समुच्चीयत इत्यर्थः ॥

असमर्थमिति। इतिशब्द हेतु के अर्थ में आया है और उसका (असमर्थ आदि) प्रत्येक के साथ योग होगा। असमर्थ है इस कारण से पद दुष्ट होगा। इसी प्रकार अप्रतीत आदि को भी जानना चाहिए। सम्यक्शब्द नियम के अर्थ में आया है अर्थात् अवश्य दुष्ट होगा। च शब्द समुच्चय अर्थ में आया है। अन्य (आलंकारिकों के) द्वारा न गिनाये गये व्युत्पत्ति से रहित देशी पद का असमर्थ आदि दोष में अन्तर्भाव किया जाता है।

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति पूर्वमसमर्थलक्षणमाह—

पदमिदमसमर्थं स्याद्वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम् ।
तं शक्नोति तिरोहिततत्सामर्थ्यं निमित्तेन ॥ ३ ॥

'उद्देश के अनुसार लक्षण किया जाता है' इस नियम के अनुसार पहले असमर्थ का लक्षण करते हैं—

'निर्दिष्ट अर्थ का वाचक पद उस अर्थ में अपनी सामर्थ्य किसी कारणवश खोकर उसे जब नहीं कह पाता है तो उसे असमर्थ पद कहते हैं ॥ ३ ॥

पदमिति। यत्पदं तस्य निर्दिष्टार्थस्य वाचकम्। अथ च तमेवार्थं वक्तुं न शक्नोति तदासमर्थम्। वाचकं चेत्कथं न शक्नोतीत्याह— निमित्तेन केनचिच्छब्दान्तरसंबन्धादिना तिरोहितं स्थगितं तत्रार्थे सामर्थ्यं वाचकत्वं यस्य तत्तमभिधातुं न शक्नोतीति। एतेनावाचकत्वदोषादसामर्थ्यं दोषभेद उक्तः॥

पदमिति। जो पद उस निर्दिष्ट अर्थका वाचक है फिर भी उसी अर्थ को व्यक्त नहीं कर सकता है उसे असमर्थ पद कहते हैं। वाचक है तो फिर क्यों नहीं व्यक्त कर पाता इसे बताते हैं किसी कारण से—अन्य शब्द के संसर्ग से उस अर्थ की व्यक्ति में जिसके सामर्थ्य का लोप हो गया वह उसका अभिधान नहीं कर सकता है। इस प्रकार अवाचक से असमर्थ दोष का भेद कथित हो गया॥

सामान्येनाभिधायैतदेव विशेषेणाह—

धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गतवान्।
असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थास्नौ॥ ४॥

इस प्रकार असमर्थ का सामान्य लक्षण करके उसका विशेष-विवरण दे रहे हैं—कोई धातु जब उपसर्ग के योग में किसी अन्य अर्थ का वाचक हो जाती है और अपना अर्थ नहीं दे पाती है (तब वह उपसर्गयुक्त तिङन्त पद भी असमर्थ दोष से दुष्ट हो जाता है) जैसे प्रस्थित यह पद 'स्थास्नु' पद का अर्थ देने में असमर्थ है॥ ४॥

धातुविशेष इति। धातुविशेषस्तिष्ठत्यादिरुपसर्गविशेषेण प्रादिना योगतः संबन्धाद्धेतोरर्थान्तरं गतिनिवृत्त्यादिलक्षणादन्यमर्थं गतवान्प्राप्तः सन्स्वार्थेऽसमर्थो भवति। तमर्थं वक्तुं न शक्नोतीत्यर्थः। यथा प्रस्थितशब्दः स्थास्नावर्थे। विशेषग्रहणमुभयत्र न सर्वो धातुः सर्वेणोपसर्गेण संबन्धे सत्यर्थान्तरं याति। अपि तु कश्चिदेव केनचिदेवेत्यस्यार्थस्य सूचनार्थम्। तथाहि प्रेण योगे तिष्ठत्यादिरेवार्थान्तरं याति न तु यातिप्रभृतिः। तथा तिष्ठतिरपि प्रेण योगे न त्ववादिना। आकुलनिधनादीनि कलधौतकार्तस्वरवच्छब्दान्तराण्येव। न नामोपसर्गयोग उदाहृतः॥

धातुविशेष इति। तिष्ठति आदि धातु विशेष प्र आदि किसी विशेष उपसर्ग के योग में गति, निवृत्ति आदि अपने अर्थ से भिन्न अर्थ को प्राप्त होकर अपने अर्थ में असमर्थ हो जाती है। अर्थात् उस (स्वकीय) अर्थ को नहीं दे पाती है। जैसे प्रस्थित शब्द स्थास्नु के अर्थ में। (धातु और उपसर्ग) दोनों के साथ विशेष के ग्रहण का तात्पर्य है कि सभी धातुयें सभी उपसर्गों के साथ योग

होने पर भिन्नार्थक नहीं होती हैं। अपितु कोई ही धातु किसी ही उपसर्ग के साथ यह इस अर्थ की सूचना के लिये प्रयोग किया गया है। क्यों कि प्र के योग में तिष्ठति आदि ही धातु भिन्नार्थक होती है 'याति' आदि नहीं। इसके अतिरिक्त 'तिष्ठति' भी प्र के ही योग में भिन्नार्थ होती है 'अव' आदि के योग में नहीं। 'आकुलनिधन' आदि 'कलधौत' 'कार्तस्वर' के समान भिन्न ही शब्द है। नाम के साथ उपसर्ग के योग का उदाहरण (यहाँ) नहीं दिया गया है ॥

प्रकारान्तरेणासमर्थमाह—

इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत्पठ्यते तदर्थोऽसौ ।
न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति ॥ ५ ॥

असमर्थ के दूसरे रूप का वर्णन करते हैं—

'यह धातु की असमर्थता दूसरे ही प्रकार की होती है कि जिस निर्दिष्ट अर्थ में धातु पढ़ी जाती है उसको नहीं दे पाती है, जैसे, जाने के अर्थ में पढ़ी गयी 'हन्' धातु ॥ ५ ॥

इदमिति । इदमन्यदसामर्थ्यं धातोः, यत्तदर्थोऽसौ धातुः पठ्यते न च त निर्दिष्टमर्थं वक्तुं शक्नोति । यथा 'हन् हिंसागत्योः' इति पाठेऽपि । हन्तीत्युक्ते हिनस्तीति प्रतीयते न च गच्छतीति । यमकश्लेषचित्रेषु गत्यर्थोऽपि दृश्यते । अत एवाल्पोऽयं दोषः ॥

इदमिति । धातु की असामर्थ्य यह दूसरी ही होती है कि जिस अर्थ में यह धातु पढ़ी जाती है उस निर्दिष्ट अर्थ को वह व्यक्त नहीं कर सकती है। जैसे 'हन्' धातु हिंसा और गति—दोनों अर्थों में पठित होने पर भी 'हन्ति' कहने पर 'मारता है, अर्थ की ही प्रतीति होती है, जाता है, इस अर्थ की नहीं। यमक, श्लेष और चित्र के स्थलों 'हन्' धातु का प्रयोग गत्यर्थ में भी मिलता है। अतएव असामर्थ्य का यह प्रकार स्वल्प ही दोष होता है।

पुनः प्रकारान्तरमाह—

शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यप्यसमर्थमेव रूढिबलात् ।
यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥ ६ ॥

आगे और भी प्रकार बताते हैं—

'शब्द-प्रकृति का हेतु होने पर भी आश्चर्य है कि यौगिक अर्थ देने वाला पद रूढ अर्थ में प्रसिद्ध होने के कारण यौगिक अर्थ देने में असमर्थ हो जाता है। जैसे जलभृत् पद 'मेघ' अर्थ में रूढ होने के कारण जल धारण करने वाला रूप यौगिक अर्थ वाले समुद्र रूप अर्थ में प्रवृत्ति निमित्त होने पर भी असमर्थ है ॥ ६ ॥

शब्देति । यौगिकं संबन्धजं क्वचिदर्थविशेषेऽसमर्थमेवावाचकमेव पदम् । तत्र तदर्थस्याभाव इति चेन्न । शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यपि विद्यमानेऽपि । अपिर्विस्मये । चित्रमिदमित्यर्थः । यदि शब्दप्रवृत्तिहेतुत्वं कथं तर्ह्यसमर्थत्वमित्याह—रूढिबलात्प्रसिद्धिबलात् । क्वचिदेव किंचिदेव शब्दरूपं वाचकत्वेन रूढमतस्तत्रैव प्रवर्तते नान्यत्र । एवकारोऽवधारणे । असमर्थमेव न तु समर्थम् । उदाहरणं यथा वारिधौ जलभृदिति । जलधारणक्रियालक्षणे प्रवृत्तिनिमित्ते सत्यपि जलभृच्छब्दो वारिधिं समुद्रमभिधातुमसमर्थः । मेघ एव तस्य रूढित्वादिति ॥

शब्देति । यौगिक पद किसी विशेष अर्थ देने में कहीं असमर्थ होता है । यदि यह कहें कि वहाँ उस अर्थ का अभाव होता है तो ऐसा नहीं है । शब्द-प्रवृत्ति के हेतु के होने पर (असमर्थ होता है) । 'अपि' विस्मय अर्थ में आया है । 'यह आश्चर्य है' यह अर्थ है । यदि शब्द-प्रवृत्तिका हेतु है फिर असमर्थ क्यों है—इसे बताते हैं—रूढिके कारण । कहीं ही और कोई ही शब्द वाचक रूप में रूढ होता है अतः वहीं प्रवृत्त होता है अन्यत्र नहीं । 'एव' अवधारण अर्थ में आया है । असमर्थ ही समर्थ नहीं । उदाहरण जैसे 'वारिधि' अर्थ में 'जलभृत्' । जलधारण रूप क्रिया के स्वरूप निमित्त के होने पर भी जलभृत् शब्द 'वारिधि' का अभिधान करने में असमर्थ है क्यों कि वह मेघ अर्थ में रूढ है ॥

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

निश्चीयते न यस्मिन्वस्तु विशिष्टं पदे समानेन ।
असमर्थं तच्च यथा मेघच्छविमारुरोहाश्वम् ॥ ७ ॥

और भी प्रकार बताते हैं—

जिस पद के अभीष्ट अर्थ के वाचक होने पर भी समान रूप आदि के कारण जहाँ विशिष्ट वस्तु का निश्चय नहीं हो पाता है वह भी असमर्थ पद होता जैसे घोड़े ने मेघ की कान्ति प्राप्त की मेघ के अनेक वर्ण होने के कारण अश्व के वर्ण का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

निश्चीयत इति । यस्मिन्पदे तदर्थाभिधायिन्यपि विशिष्टं वस्तु न निश्चीयते तदप्यसमर्थम् । कथं न निश्चीयत इत्याह—समानत्वात् । समानस्तुल्यो मानः परिच्छेदो विवक्षितेऽन्यत्र च वस्तुनि येन पदेन तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम् । तस्मादनेकार्थवाचकत्वादित्यर्थः । यथा मेघच्छविमारुरोहाश्वमित्युक्ते मेघानामनेकवर्णानां दर्शनान्न निश्चयः कर्तुं पार्यते । यत्र तु निश्चयस्तत्समानार्थमपि साध्वेव । यथा—'लक्ष्मीकपोलसंक्रान्त-

कान्तपत्रलतोज्ज्वलाः। दोर्द्रुमाः पान्तु वः शौरेर्घनच्छाया महाफलाः॥'
अत्र हि शौरिः कृष्णवर्ण इति॥

निश्चीयत इति। उस (निर्दिष्ट) अर्थ के वाचक होने पर भी जिस पद में विशिष्ट वस्तु का निश्चय नहीं हो पाता वह (पद) भी असमर्थ होता है। क्यों नहीं निश्चय हो पाता—इसे बताते हैं—समान होने के कारण—विवक्षित और अन्य वस्तु के मान के समान होने के कारण। अर्थात् उस (पद) के अनेक अर्थों का वाचक होने के कारण। जैसे—'घोड़ा' मेघ की कान्ति को प्राप्त हो गया—यह कहने पर मेघों के अनेक वर्णों के दिखाई पड़ने के कारण (घोड़े के वर्ण का) निश्चय नहीं होता है। जहाँ निश्चय हो जाता है वहाँ अर्थसाम्य भी साधु ही होता है। जैसे—लक्ष्मी के कपोल पर प्रतिबिम्बित कमनीय पत्र लताओं के समान उज्ज्वल, बड़े बड़े फलों वाले, मेघ कीसी कान्ति वाले कृष्ण के भुजारूपी वृक्ष आप लोगों की रक्षा करें॥' यहाँ कृष्ण का काला वर्ण (निश्चित) है॥

इदानीमस्यैवासमर्थदोषस्यातिव्याप्तिं संहर्तुमाह—

यत्पदमभिनयसहितं कुरुतेऽर्थविशेषनिश्चयं सम्यक्।
नैकमनेकार्थतया तस्य न दुष्येदसामर्थ्यम्॥ ८॥

अब इसी असमर्थ दोष की अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये कहते हैं—

'अनेकार्थक होने के कारण एक का नहीं किन्तु जो पद अभिनय के साथ विशेष अर्थ की भली भाँति निश्चित प्रतीति करा देता है उसका असामर्थ्य सदोष नहीं होता है॥ ८॥

यदिति। यत्पदं विशेषणभूतमनेकार्थतया विवक्षितविशिष्टार्थविशेषनिश्चयं सम्यक्कुरुते। किंभूतं सदभिनयसहितम्। तस्य। सामर्थ्यं 'निश्चीयते न यस्मिन्' (६।७) इत्यनेन प्राप्तं दोषाय न भवति॥

यदिति। विशेषणभूत जो पद अनेकार्थक होने के कारण विवक्षित विशिष्ट अर्थ का विशेष निश्चय भली भाँति करता है—क्या होकर—अभिनीत होकर (अभिनय के साथ)। उसका (असामर्थ्य सदोष नहीं होता है)। (अर्थात्) (६।७) 'निश्चीयते न यस्मिन्' के द्वारा उक्त असामर्थ्य दोष युक्त नहीं होता है॥

नन्वर्थस्य शब्दो वाचको न त्वभिनयः, तत्कथं तेनार्थविशेषनिश्चयः क्रियत इत्याह—

शब्दानामत्र सदानेकार्थानां प्रयुज्यमानानाम्।
निश्चीयते हि सोऽर्थः प्रकरणशब्दान्तराभिनयैः॥ ९॥

अर्थ का वाचक शब्द होता है अभिनय नहीं फिर क्यों (अभिनय से) अर्थ विशेष का निश्चय किया जाता है—(यह कहा) इसका उत्तर देते हैं—

'यहाँ काव्य में प्रयुक्त होने वाले अनेकार्थक शब्दों का वह (विवक्षित) अर्थ प्रकरण अथवा अन्य शब्द के सन्निधान से निश्चित होता है ॥ ९ ॥

शब्दानामिति । हि यस्मादत्र काव्येऽनेकार्थानां शब्दानां प्रयुज्यमानानां स विवक्षितोऽर्थः प्रकरणेन प्रस्तावेन शब्दान्तरसंनिधानेन वाभिनयेन वा निश्चीयते । तत्र प्रकरणे यथा—'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्' इत्यत्र हिमवानेव महीभृदुच्यते । शब्दान्तरेण यथा—'कोपादेकतलाघातनिपतन्मत्तदन्तिनः । हरेर्हरिणयुद्धेषु कियान्व्याक्षेपविस्तरः ॥' अत्र दन्तिहरिणशब्दसंनिधानात्सिंह एव हरिर्निश्चीयते । अभिनयने त्वर्थविशेषप्रतीतावुदाहरणं सूत्रकार एव दास्यति । यतः प्रकरणशब्दान्तरे प्रसिद्धत्वादुपमाने । अभिनयस्तु प्रस्तुतत्वादुपमेयः । तथा ताभ्यां विवक्षितार्थनिश्चयस्तथाभिनयेनापीत्यर्थः ॥

शब्दानामिति ।—क्यों कि काव्य में प्रयुक्त होने वाले अनेकार्थक शब्दों का विवक्षित अर्थ प्रकरण, अन्य शब्द की संनिधि एवं अभिनय से निश्चित किया जाता है । इनमें प्रकरण द्वारा जैसे पुत्र के भाव में भी उस सन्तति में हिमाचल की दृष्टि संतुष्ट नहीं हुयी' यहाँ (महीभृत् का अर्थ राजा और हिमाचल दोनों होने पर भी प्रकरण के कारण) हिमाचल अर्थ ही महीभृत्—से वाच्य है । अन्य शब्द के संसर्ग से जैसे—'क्रोध के कारण एक ही पञ्जे के आघात से मतवाले हाथी को गिरा देने वाले सिंह और मृग के युद्धों में दूर फेकने की क्या दूरी होगी । यहाँ दन्ति (हाथी) और हरिणके संसर्ग से सिंह ही हरि-पद से निश्चित होता है । अभिनय के द्वारा विशेष अर्थ की प्रतीति का उदाहरण सूत्रकार ही देंगे । क्यों कि प्रकरण और अन्य शब्द की संनिधि प्रसिद्ध होने के कारण उपमान हैं; अभिनय तो प्रस्तुत होने के कारण उपमेय है । जैसे उन दोनों (प्रकरण और शब्दान्तर) के द्वारा विवक्षित अर्थ का निश्चय होता है उसी प्रकार अभिनय से भी यह तात्पर्य है ।

तदेवोदाहरणमाह—

सा सुन्दर तव विरहे सुतनुरियन्मात्रलोचना सपदि ।
एतावतीमवस्थां याता दिवसैरियन्मात्रैः ॥ १० ॥

उसी का उदाहरण देते हैं—

हे सुन्दर तुम्हारे वियोग में वह सुन्दरी इतने बड़े नेत्रों वाली, इतने ही दिनों में शीघ्र ही इस अवस्था को प्राप्त हो गयी ॥ १० ॥

सेति । अत्रेयन्मात्रैतावच्छब्दौ महति स्वल्पे च वर्तेते । ततोभिनयेन विशेषप्रतीतिर्यथा—हे सुन्दर, सा सुतनुस्तव विरहे इयन्मात्रलोचना । प्रसृत्यभिनयेन विशाललोचनेति निश्चीयते । तथैतावतीमवस्थां यातेति । अत्रोर्ध्वीकृतकनिष्ठिकाङ्गुल्या कृशत्वं प्रतीयते । दिवसैरियन्मात्रैरित्यत्र-पञ्चाङ्गुलिदर्शनेन स्वल्पत्वं चेति ॥

सेति । यहाँ 'इयन्मात्र' और 'एतावत्' शब्द (क्रमशः) अत्यधिक और थोड़े अर्थों में आये हैं । तदनन्तर अभिनय से विशेष प्रतीति होती है, जैसे—हे सुन्दर ! वह सुन्दरी तुम्हारे विरह में इतने लोचनवाली थी । अभिनय से प्रतीत होता है कि विशाल नेत्रों वाली थी । तथा इस अवस्था को प्राप्त हो गयी । यहाँ ऊपर उठायी गयी कनिष्ठिका अङ्गुलि से कृशता प्रतीत होती है । इतने ही दिनों में—इस प्रकार पाँच उँगलियाँ दिखलाने से (दिनों की संख्या) स्वल्प सूचित होती है ॥

अथाप्रतीतमाह—

युक्त्या वक्ति तमर्थं न च रूढं यत्र यदभिधानतया ।
द्वेधा तदप्रतीतं संशयवदसंशयं च पदम् ॥ ११ ॥

आगे अप्रतीत का वर्णन करते हैं—

जो पद जिस अर्थ में प्रसिद्ध में नहीं है उसे जब गुण अथवा क्रिया के योग से देता है तब वह (दुष्ट) पद होता है । उसके दो भेद होते हैं—संशयवद-प्रतीत और असंशयाप्रतीत ॥ ११ ॥

युक्त्येति । तदप्रतीतं यद्युक्त्या गुणक्रियायोगेन तं तिवक्षितमर्थं वक्ति प्रतिपादयति । अथ च तत्रार्थाभिधानतया वाचकत्वेन न रूढं न प्रसिद्धं तच्चाप्रतीतं द्वेधा । कथं संशयवदसंशयं वेति ॥

युक्त्येति । जो पद युक्ति—गुण अथवा क्रिया के योग से उस अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन करता है वह अप्रतीत (पद होता है) । इसके अतिरिक्त उस अर्थ के अभिधायक रूप में वह पद न तो रूढ होता है न तो प्रसिद्ध ही । ऐसा अप्रतीत दो प्रकार का होता है । किस प्रकार—संशयवदप्रतीत और असंशयाप्रतीत ॥

तत्र संशयवद्यथा—

साधारणमपरेष्वपि गुणादि कृत्वा निमित्तमेकस्मिन् ।
यत्कृतमभिधानतयार्थे संशयवद्यथा हिमहा ॥ १२ ॥

उसमें संशयवद् जैसे—

अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होने वाले गुण आदि को निमित्त बनाकर जहाँ एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं वहाँ संशयवदप्रतीत होता है; जैसे हिमहा ॥ १२ ॥

[टि०—हिम नष्ट करने का साधारण गुण अग्नि और सूर्य दोनों में उपलभ्य है। अग्नि और सूर्य दोनों में ही इस गुण के रूढ न होने के कारण किसी एक (अग्नि या सूर्य) अर्थ में 'हिमहा' पद प्रयुक्त होने पर संशयवदप्रतीत दोष से दुष्ट होगा]।

साधारणमिति। यत्पदं गुणक्रियादिनिमित्तमुद्दिश्यान्येष्वप्यर्थेषु साधारणं सदेकस्मिन्विशिष्टेऽर्थेऽभिधानतया संज्ञात्वेन कृतं न तु विशेषणत्वेन तदनेकार्थतयैकत्र निश्चयानुत्पादनात्संशयवदप्रतीतम्। उदाहरणं यथा—हिमहेति। अत्र हिमहननलक्षणया क्रिययैतत्पदं रवौ वह्नौ च साधारणम्। अभिधानतया चैकत्रापि न रूढम्। अत एकत्र प्रयुज्यमानं संशयं कुर्वीत। अथ किमेतत् 'शब्दप्रवृत्तिहेतौ सत्यपि' (६।६) इत्यनेनासमर्थलक्षणेन न परिहृतम्। नेत्युच्यते। यतो यदेकत्र रूढमन्यत्र तु तदर्थसद्भावेऽपि न प्रयोगार्हं तत्तस्य विषयः। इह तु यत्कचिदपि न रूढं युक्त्या च तदर्थवाचकत्वं तदेकत्रार्थेऽनुचितमिति स्फुट एव भेदः। तथा 'निश्चीयते न यस्मिन्' (६।७) इत्यस्याप्ययमविषयः। यतस्तत्र विशेषणपदं संशयकारि निषेध्यम्॥

साधारणमिति। जिस पद का गुण एवं क्रिया रूप निमित्त को लक्ष्य करके अन्य अर्थों में भी साधारण होने पर एक ही विशिष्ट अर्थ में संज्ञारूप में—न कि विशेषण रूप में—प्रयोग किया जाता है उसके अनेकार्थक होने के कारण निश्चय प्रतीति न होने से संशयवदप्रतीत होता है। उदाहरण जैसे—हिमहा। यहाँ हिम नष्ट करने की क्रिया के कारण यह पद रवि (सूर्य) और अग्नि में समान रूप से प्रवृत्त होता है। अभिधायक रूप से किसी एक ही अर्थ में रूढ नहीं है अतएव (किसी) एक अर्थ में प्रयुक्त होने पर संशय उत्पन्न करता है। फिर शब्द प्रवृत्ति के हेतु के होने पर भी (६।६) के द्वारा असमर्थ दोष से दुष्ट होने के कारण क्या इसका परिहार नहीं किया गया। कहते हैं नहीं। क्यों कि असमर्थ का विषय तो वह पद है जो एक अर्थ में रूढ होता है और अन्य (दूसरे) अर्थ में प्रवृत्ति के हेतु के होने पर भी प्रयोग किये जाने के योग्य नहीं होता है। यहाँ तो जो किसी भी अर्थ में रूढ नहीं है और युक्ति के बल पर उस (एक) अर्थ का वाचक है उसका (उस) एक अर्थ में (प्रयोग) संशयोत्पादक होता है—अतएव भेद तो स्पष्ट ही है। इसी प्रकार 'निश्चीयते न यस्मिन्' (६।७) का भी यह (संशय) विषय नहीं है। क्यों कि वहाँ (६।७) में संशयोत्पादक विशेषण पद निषिद्ध है (यहाँ विशेषण पद नहीं संज्ञापद निषिद्ध है) ॥

अथासंशयमाह—

पदमपरमप्रतीतं यद्यौगिकरूढशब्दपर्यायैः ।
कल्पितमर्थे तस्मिन्यथाश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान् ॥ १३ ॥

अब अशंसय का उदाहरण देते हैं—

दूसरा यह भी पद अप्रतीत होता है जो यौगिक एवं रूढ शब्दों के पर्यायों से विवक्षित अर्थ में कल्पित होता है; जैसे (वडवावदनाग्नि अर्थ में) अश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान् (घोड़े की स्त्री के मुख की अग्नि) ॥ १३ ॥

पदमिति । अपरमिदं पदमप्रतीतं यद्यौगिकानां संबन्धजानामथ च रूढानां संज्ञात्वेन प्रसिद्धानां पर्यायैस्तस्मिन्विवक्षितेऽर्थे कल्पितमभिधानतया प्रयुक्तम् । यथा वडवामुखानलशब्दे वाच्येऽश्वयोषिन्मुखार्चिष्मानिति शब्दः । स ह्यश्विमुखसादृश्यादौर्वाग्नौ यौगिको रूढिशब्दश्च । तत्र वडवापर्यायोऽश्वयोषिदिति, अनलस्यार्चिष्मानिति । मुखशब्दः स्वरूपेण प्रयुक्तः । केचित्त्वश्वयोषिद्वदनवह्निरिति पठन्ति । एवंविधं पदं विवक्षितमर्थं निर्विकल्पमेव प्रत्याययति । केवलं न तथा रूढमिति दुष्टम् । यथा माघस्य—'तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास' । अल्पश्चायं दोषः, महाकविभिरपि प्रयुक्तत्वात् । अथ किमेतावसमर्थाप्रतीतदोषाववाचकत्वेन परिहृतौ । नेत्युच्यते । यतो यत्किंचिदपि तमर्थं नाभिधत्ते तदवाचकम् । इह तु पदमर्थाभिधायकमेव । केवलं पदान्तरसंनिधानादसामर्थ्यमरूढ्या चाप्रतीतत्वमागतमिति ॥

पदमिति । यह दूसरा ही अप्रतीत पद होता है जो यौगिक (व्युत्पत्तिपरक) एवं रूढ (संज्ञा रूप में प्रसिद्ध) शब्दों के पर्यायों के द्वारा उस विवक्षित अर्थ में कल्पित (संज्ञा रूप में प्रयुक्त) होता है । जैसे 'वडवामुखानल' शब्द के वाच्य (अभिधेय) होने पर 'अश्वयोषिन्मुखार्चिष्मान्' शब्द (का प्रयोग) । वह घोड़ी के मुख के साथ सादृश्य होने के कारण और्वाग्नि अर्थ में यौगिक और रूढ शब्द है । उसमें बडवा का पर्याय 'अश्वयोषित्' और अनल का 'अर्चिष्मान्' है । मुखशब्द अपने ही रूप में (आया) है । कुछ लोग 'अश्वयोषिद्वदनवह्नि' ऐसा पाठ मानते हैं । इस प्रकार का पद अभीष्ट अर्थ की प्रतीति विना किसी विकल्प के कराता है । केवल उस प्रकार रूढ नहीं होता—यही दोष है । जैसे माघ का 'वाडवाग्नि के ज्वाला के समान जल को भेद कर (वह द्वारका) शोभित हो रही थी ।' महाकवियों में प्रयुक्त होने के कारण यह दोष अल्प है अब क्या असमर्थ और अप्रतीत ये दोनों दोष—अवाचक से ही नहीं दूर हो गये । कहते हैं नहीं । क्यों कि जो कुछ भी उस (निर्दिष्ट अर्थ) का

अभिधान नहीं करता वह अवाचक होता है। यहाँ तो पद अर्थ का अभिधायक ही होता है। केवल अन्य पद की सन्निधि के कारण असामर्थ्य और रूढि न होने के कारण अप्रतीतत्व आ जाता है ॥

अथ विसंधिपदमाह—

यस्यादिपदेन समं संधिर्न भवेद्भवेद्विरुद्धो वा ।
तदिति विसंधि स इत्थं मन्थरया भरत आहूतः ॥ १४ ॥

आगे विसंधि का उदाहरण देते हैं—

जिस पद की अपने से पूर्व पद के साथ संधि नहीं होती अथवा (विरुद्धार्थक होने के कारण) विरुद्ध होती है उसे विसंधि कहते हैं; जैसे—'मन्थरया भरत आहूतः' ॥ १४ ॥

यस्येति । यस्य द्वितीयपदस्यादिपदेन सार्धं संधिः संधानं न भवेद्भवन्नपि विरुद्धार्थत्वाद्विरुद्धो वा भवेत्तत्पदं विसंधि । विरुद्धार्थो विशब्दः । ननूभयाश्रयत्वात्संधेः किमिति द्वितीयपदमेव विसंधि भण्यते, न त्वाद्यम् । सत्यम् । यतो द्वितीयपदे सत्येव विसंधित्वमायाति । ततस्तस्य तदुक्तम् । उभयत्रोदाहरणमाह—स इत्यादि । स भरतो मन्थरया कुब्जयेत्थमाहूत-आकारितः । स इत्थमिति, भरत आहूत इति चासंध्युदाहरणम् । मन्थरया भरत इति तु विरुद्धसंधिनिदर्शनम् । संहितापाठे सति पदभङ्गवशान्मन्थरे याभे मैथुने रत इति प्रतीपोऽर्थो गम्यते ॥

यस्येति । जिस द्वितीय पद की आदि पद के साथ संधि नहीं होती है अथवा होने पर भी विरुद्धार्थक होने के कारण विरुद्ध होती है वह पद विसंधि (होता है)। विशब्द विरुद्धार्थक (है)। तो संधि के दोनों (पदों) पर आश्रित होने के कारण द्वितीय पद ही विसंधि कहा जाता है प्रथम नहीं ? सच है—क्यों कि द्वितीय पद की सत्ता होने पर ही विसंधि का प्रश्न उठता है (अतएव द्वितीय पद ही विसंधि कहा जाता है) दोनों का उदाहरण देते हैं—स इत्यादि । मन्थराने भरत को इस प्रकार बुलाया। स इत्थमिति भरत आहूत—ये (दोनों) असंधि के उदाहरण हैं। 'मन्थरया भरत'—यह विरुद्ध संधिका उदाहरण है। एक साथ पढ़ने पर पद-भङ्ग के कारण 'मन्द मैथुन में रत' यह विरुद्ध अर्थ गम्य होता है।

नन्वेवं विसंधिपदे दूषिते सति सर्वमेव पूर्वकविलक्ष्यं दूषितं स्यादित्याशङ्क्य विशेषमाह—

तत्रासत्संधि पदं कृतमसकृदयुक्तितो भवेदुष्टम् ।
दूरं तु वर्जनीयं विरुद्धसंधि प्रयत्नेन ॥ १५ ॥

इस प्रकार विसंधि पद के दूषित होने पर पूर्व कवियों का सभी उदाहरण दूषित हो जायगा—इस शंका का समाधान करते हैं—

उक्त दोनों भेदों में बार-बार प्रयुक्त किया गया असंधि पद युक्ति न होने के कारण दुष्ट होता है। विरुद्ध संधि का तो जहाँ तक हो सके प्रयोग ही नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥

तत्रेति। तत्र द्वयोर्मध्याद्यदसंधि तदसकृत्कृतं पुनःपुनः प्रयुक्तमयुक्तितः पूर्वोत्तरपदासंश्लेषाद्दुष्टं भवति। यथा—'कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी। पातां वः शंभुशर्वाण्याविति दुःखाकुलाद्भवात् ॥' इत्यादि। विरुद्धसंधि पुनःपदं दूरमतिशयेन प्रयत्नतो वर्जनीयमेव ॥

तत्रेति। उन दोनों (असंधि और विसंधि) में जो असंधि है उसका विना युक्ति के बार बार प्रयोग (अपने) से पूर्व और पश्चात् के पदों के साथ योग न होने के कारण दुष्ट होता है। जैसे—'उगलते हुये किरणों वाले कमनीय चन्द्ररूप शिरोभूषण को धारण करने वाले शिव और पार्वती दुःखमय इस भव से आप लोगों की रक्षा करें' उदाहरण। विरुद्ध संधि पद का प्रयोग तो प्रयत्न-पूर्वक दूर ही रखना चाहिए ॥

अथ विपरीतकल्पनमाह—

पूर्वार्थप्रतिपन्थी यस्यार्थः स्पष्ट एव संभवति।
विपरीतकल्पनं तद्भवति पदमकार्यमित्रमिव ॥ १६ ॥

आगे विरुद्ध-कल्पना का उदाहरण देते हैं—

जिस पद का अर्थ अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध स्पष्ट ही संभव होता है वह पद विपरीतकल्पन होता है। जैसे, 'अकार्यमित्र' ॥ १६ ॥

पूर्वार्थेति। यस्य पदस्य पूर्वार्थप्रतिपन्थी विवक्षितार्थविरोधी स्पष्ट एवाव्याख्यात एवार्थः संभवति तद्विपरीतार्थप्रतिभासनाद्विपरीतकल्पनम्। निदर्शनमाह—अकार्यमित्रमिवेति। अत्र ह्यकार्यमकृत्रिमं मित्रमकारण-बन्धुरित्ययमर्थो विवक्षितोऽप्यकार्ये पापे मित्त्रमिति विरोध्यर्थो झगित्येव प्रतिभाति। ननु विरुद्धसंधित्वेन किं न परिहृतमेतत्। न परिहृतम्। तत्र हि पदद्वयसंधिविषयं पूर्वार्थविरोधित्वम्, इह तु संध्यभावेऽपीति ॥

पूर्वार्थेति। जिस पद का अर्थ अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध कहा गया संभव होता है, विपरीत अर्थ के आभास के उत्पादक होने के कारण वह पद विपरीत-कल्पन होता है। उदाहरण देते हैं--जैसे, 'अकार्यमित्र'। यहाँ वक्ता को 'अकार्य—अकृत्रिम (स्वाभाविक) मित्र—अकारण बन्धु' यह अर्थ अभीष्ट है। किन्तु शीघ्र ही 'अकार्य में--पाप में साथ देने वाला' इस विपरीत अर्थ की प्रतीति

होती है। प्रश्न उठता है कि विरुद्धसंधि से ही परिहार इसका क्यों नहीं हुआ? (कहते हैं) परिहार नहीं हुआ। विसंधि में दो पदों की संहिता का विषय अभीष्ट अर्थ का विरोधी होता है यहाँ संहिता न होने पर भी (विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है)

टि० ['मन्थरया भरत आहूतः' में संहिता ही विपरीत अर्थ का बोध कराती है। विपरीत कल्पना के उदाहरण में समास होने पर भी विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है। वस्तुतः विसंधि का विषय अर्थान्तरप्रतीति है और विपरीत कल्पना का विरुद्धार्थ]

अथ ग्राम्यमाह—

यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।
तद्वक्तृवस्तुविषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति ॥ १७ ॥

आगे ग्राम्य का उदाहरण देते हैं—

जो पद जिस विषय में अयोग्य होता है वह उस विषय में (प्रयुक्त होकर) ग्राम्यत्व उत्पन्न करता है। वक्ता और वस्तु के भेद वह दो प्रकार का होता है ॥ १७ ॥

यदिति। यत्पदं यत्र विषयेऽनुचितमयोग्यं तत्तत्रैव ग्राम्यमुपजायते। एतदुक्तं भवति, न स्वाभाविकं पुरुषस्येव शब्दस्य ग्राम्यत्वम्, अपि तु विषयभेदेन। तच्च ग्राम्यं वक्तृवस्तुविषयत्वेन भिद्यमानं सद् द्विधा द्विभेदं भवति। अत्र यद्वस्तुनि वक्तुमुचितं वक्तरि त्वनुचितं तद्वक्तृविषयं ग्राम्यम्। विपरीतं तु वस्तुविषयमिति ॥

यदिति। जो पद जिस स्थल पर शोभा नहीं पाता उसकी वहाँ सत्ता ग्राम्य उत्पन्न करती है। कहने का भाव यह है कि मनुष्य की भाँति शब्द का ग्राम्यत्व स्वाभाविक नहीं होता अपितु विषयभेद से ही (उसमें ग्राम्यत्व आता है)। वह ग्राम्य वक्ता और वस्तु के विषय से भेद करने पर दो प्रकार का होता है। इनमें वस्तु में जो कथन करना उचित है और वक्ता में अनुचित-वह वक्तृविषयक ग्राम्य है और (उसके) विरुद्ध वस्तु-विषयक (ग्राम्यत्व) ॥

तत्र वक्तृग्राम्यमाह—

वक्ता त्रिधा प्रकृत्या नियतं स्यादधममध्यमोत्तमया।
तत्र च कश्चित्किंचिन्नैवार्हति पदमुदाहर्तुम् ॥ १८ ॥

उनमें वक्तृग्राम्य का उदाहरण देते हैं—

'अधम, मध्यम और उत्तम प्रकृति के भेद से वक्ता तीन प्रकार के होते हैं; उनमें कोई किसी विशिष्ट पद का प्रयोग करने के लिये अपात्र होता है ॥ १८ ॥

वक्तेति। वक्ताधममध्यमोत्तमया प्रकृत्या स्वभावेन त्रिधा त्रिप्रकारो भवति। तत्राधमा हीनजातयो दासचेटादयः, मध्यमाः प्रतीहारपुरोहितसार्थवाहादयः, उत्तमा मुनिनृपतिप्रभृतयः। अथ बालयुववृद्धलक्षणादिकापि प्रकृतिः किं नोच्यते। तत्रापि हि परस्परं व्यवहाराद्यनौचित्यमस्त्येव। सत्यम्। अर्थविषयमेव तद्ग्राम्यत्वम्। तच्च तत्रैव परिहरिष्यते 'ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्' इत्यनेन। तत्र तेष्वधममध्यमोत्तमेषु वक्तृषु मध्ये कश्चिद्वक्ता किंचित्पदमुदाहर्तुं वक्तुं नैवार्हति न योग्यो भवति॥

वक्तेति। अधम, मध्यम और उत्तम प्रकृति के भेद से वक्ता तीन प्रकार के होते हैं। उनमें अधम हीन (नीच) जाति वाले दास, चेट आदि हैं, मध्यम द्वारपाल, पुरोहित, सार्थवाह आदि हैं और उत्तम मुनि, राजा आदि हैं। प्रश्न उठता है कि बाल, युवक और वृद्ध रूप प्रकृति से भेद क्यों नहीं किया जाता। उनमें भी परस्पर व्यवहार आदि में अनौचित्य पाया ही जाता है। सच है। (किन्तु) वह अर्थविषयक ही ग्राम्यत्व है उसका परिहार वहीं कर दिया जायगा। क्यों कि एक पंक्ति है, 'व्यवहार, आकृति, वेष और वाणी का अनौचित्य ही ग्राम्यत्व है। उन अधम, मध्यम और उत्तम (पात्र) वक्ताओं में कोई वक्ता किसी पद का उच्चारण करने के योग्य नहीं होता॥

तत्र दिङ्मात्रप्रदर्शनायाह—

तत्रभवन्भगवन्निति नार्हत्यधमो गरीयसो वक्तुम्।
भट्टारकेति च पुनर्नैवैतानुत्तमप्रकृतिः॥ १९॥

उसका दिग्दर्शनमात्र कराने के लिये कहते हैं—

उनमें अधम (पात्र) 'तत्र भवन्' 'भगवन्' आदि पदों से उत्तम पात्रों को नहीं संबोधित कर सकता तथा इन्हीं (उत्तम पात्रों) को उत्तमप्रकृति का पात्र (प्रयोग के योग्य होने पर भी) भट्टारक पद से नहीं बोधित कर सकता॥१९॥

तत्रभवन्निति। गरीयस उत्तमान्सुरमुनिप्रभृतींस्तत्रभवन्भगवन्शब्दवाच्यानप्यधमो वक्तैवमादिभिः शब्दैर्वक्तुं नार्हति न योग्यो भवति। वक्तृविषयं पदमिदमनुचितम्। तथैतान्गरीयसो भट्टारकशब्दयोग्यानप्यन्य उत्तमस्वभावो राजादिर्वक्तुं नार्हति। इतिशब्दौ स्वरूपनिर्देशार्थौ। चशब्दोऽनुक्तस्वामिप्रभृतिशब्दसमुच्चयार्थः। भट्टारकेति स्वामिन्नित्यादि वेत्यर्थः॥

तत्रभवन्निति। देवता, मुनि आदि 'तत्रभवन्' 'भगवन्' शब्दों के द्वारा संबोधन किये जाने के योग्य होने पर भी उत्तम पात्र (होने के कारण) अधम

वक्ता इस प्रकार के शब्दों द्वारा संबोधन करने के योग्य नहीं होता है। (अधम पात्रों के लिये) ('तत्रभवन्' भगवन्) यह वक्तृविषयक अनुचित पद हैं। इसी प्रकार भट्टारक शब्द के पात्र इन उत्तम (पात्रों) को उत्तम स्वभाव वाले राजा आदि नहीं पुकार सकते हैं। 'इति शब्द' (कारिका में) स्वरूप के निर्देशक हैं। च शब्द न गिनाये गये स्वामी आदि के समुच्चय के लिये है। तात्पर्य है 'भट्टारक' 'स्वामिन्' आदि।

इदानीं वस्तुविषयं ग्राम्यमाह—

तत्रभवन्भगवन्निति नैवार्हत्युत्तमोऽपि राजानम्।
वक्तुं नापि कथंचिन्मुनिमपि परमेश्वरेशेति ॥ २० ॥

अब वस्तुविषयक ग्राम्यत्व का उदाहरण देते हैं—इनमें उत्तम (मुनि आदि) पात्र भी राजा को 'तत्रभवन्' 'भगवन्' आदि पदों से नहीं संबोधित कर सकते हैं। उसी प्रकार उत्तम पात्र (राजा) भी मुनि को 'परमेश्वरेश' आदि पदों से नहीं संबोधित कर सकता ॥ २० ॥

तत्रभवन्निति। उत्तमो मुनिमन्त्रिप्रभृतिस्तत्रभवदादिपूजापदानि वक्तुं योग्योऽपि राजानमेभिः पूजापदैर्वक्तुं नार्हति। वस्तुविषयमेतदनौचित्यम्। राजा हि परमेश्वरादिभिः शब्दैर्वाच्यो न तु तत्रभवदादिभिरिति। तथा स एवोत्तमो राजा मुनिं तपोधनं परमेश्वरेशेत्यादिभिरामन्त्रणपदैः कदाचिदपि वक्तुं नार्हति। नियतविषया हि शब्दास्तेऽन्यत्र केलिं विना प्रयुज्यमाना अनौचित्यज्ञतां गमयेयुरिति ग्राम्यत्वं तेषाम्। आस्तां तावदधम उत्तमोऽपि नार्हतीत्यपिशब्दार्थः। दिङ्मात्रप्रदर्शनं चैतत्। विस्तरस्तु भरतादवगन्तव्यः ॥

तत्रभवन्निति। उत्तम मुनि, मन्त्री आदि (पात्र) भी 'तत्रभवत्' आदि पूजापदों के बोलने के अधिकारी होने पर भी राजा को इन पूजा-पदों से नहीं पुकार सकते हैं। यह वस्तु-विषयक अनौचित्य है। राजा 'परमेश्वर' आदि शब्दों के द्वारा पुकारा जा सकता है 'तत्रभवत्' आदि के द्वारा नहीं। इसी प्रकार वही राजा तपस्यारूपी धनवाले मुनि को 'परमेश्वर' आदि संबोधन पदों के द्वारा कभी भी नहीं पुकार सकता है। शब्दों के प्रयोग का विषय निश्चित है। अन्यत्र विना कौशल के प्रयुक्त होकर वे अनौचित्यज्ञता का ज्ञान कराते हैं—यह उनका ग्राम्यत्व है। अधम की तो बात ही छोड़िये उत्तम भी (मुनि को 'परमेश्वर' आमन्त्रणपद से) आमन्त्रित नहीं कर सकता है। यह दिग्दर्शनमात्र कराया गया। विस्तारपूर्वक भरत के नाट्यशास्त्र से समझना चाहिये।

भूयोऽपि ग्राम्यविशेषमाह—

पदमिदमनुचितमपरं सभ्यासभ्यार्थवाचि सभ्येऽर्थे ।
तद्धि प्रयुज्यमानं निदधाति मनस्यसभ्यमपि ॥ २१ ॥

आगे और भी ग्राम्यत्व का भेद बताते हैं—दूसरे वे पद अनुचित होते हैं जो शिष्ट और अश्लील दोनों प्रकार के अर्थों के वाचक होते हैं। वे शिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होनेपर भी अश्लील अर्थ का आभास कराते हैं ॥ २१ ॥

पदमिति । इदमपरं पदमनुचितं ग्राम्यं यत्सभ्यासभ्यार्थवाचकं सत्सभ्येऽर्थे प्रयुज्यमानम् । सभायां पर्षदि वक्तुं योग्यः सभ्यस्ततोऽन्योऽसभ्योऽर्थः । कुतोऽनुचितम् । हिर्यस्मादर्थे । यतस्तत्प्रयुज्यमानं सन्मनसि चेतस्यसभ्यमप्यर्थं निदधाति स्फुरयति । नन्वेवंविधस्य पदस्योभयार्थवाचकत्वादसभ्योऽपि प्रयोगो न स्यात्ततश्चास्य प्रयोगोच्छेद एवागतः । नैतत् । अदुष्टो ह्यर्थो दुष्टेन दूष्यते न तु दुष्टः साधुनेति ॥

पदमिति । यह दूसरे ही प्रकार का अनुचित पद होता है जो शिष्ट और अश्लील दोनों अर्थों का वाचक होकर भी शिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। शिष्टों की सभा में प्रयुक्त होने के योग्य सभ्य इसके अतिरिक्त असभ्य अर्थ। क्यों अनुचित होता है। हि अर्थात् क्योंकि। क्योंकि वह प्रयुक्त होकर मन में अशिष्ट अर्थ का स्फुरण करता है। फिर तो इस प्रकार के पद के दोनों ही अर्थों के वाचक होने के कारण अशिष्ट अर्थ में भी प्रयोग नहीं होगा, फिर इसके प्रयोग का अन्त ही हो जायगा। ऐसा नहीं है। अदुष्ट अर्थ दुष्टों के द्वारा दोषी ठहराया जाता है सज्जनों के द्वारा दोषी नहीं (अतएव सज्जन लोग उसका शिष्ट अर्थ में प्रयोग करेंगे ही)।

निदर्शनमाह—

वारयति सखी तस्या यथा यथा तां तथा तथा सापि ।
रोदितितरां वराकी बाष्पभरक्लिन्नगण्डमुखी ॥ २२ ॥

उदाहरण देते हैं—'उसकी सखी जैसे जैसे उसे मना करती है वैसे वैसे आँसुओं की धारा से आर्द्र कपोलों से मुखवाली वह बेचारी और भी रोती है॥२२॥

वारयतीति । तस्या नायिकायाः सखी यथा यथा तां वारयति तथा तथा सा वराकी रोदितितराम् । कीदृशी । बाष्पभरेण क्लिन्नगण्डमार्द्रकपोलं मुखं यस्याः सा तथाविधा । अत्र क्लिन्नगण्डशब्दावार्द्रकपोले सभ्येऽर्थे प्रयुक्तावपि पूययुक्तपिटकत्वलक्षणमसभ्यमप्यर्थं स्फुरयतः । यतोऽसभ्यद्वययोगाच्चात्र विशेषणविशेष्यभावे सति दुष्टतरार्थत्वम् ॥

वारयतीति। उस नायिका की सखी जैसे जैसे उसे मना करती है वैसे वैसे वह बेचारी और भी रोती है। किस प्रकार की (वह नायिका)। आँसुओं के बहाव से आर्द्र कपोलों से युक्त मुखवाली। यहाँ 'क्लिन्नगण्ड' पद आर्द्रकपोल रूप शिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी पूय से युक्त पिटारी रूप अश्लील अर्थ का आभास कराते हैं। क्योंकि यहाँ दो अशिष्ट (अर्थों) के योग के कारण विशेषण-विशेष्य भाव होने पर अर्थ और भी दुष्ट है।

अथैतदतिव्याप्तिपरिहार्थमाह—

अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद्विभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि ॥ २३ ॥

आगे इसकी अतिव्याप्ति का परिहार करने के लिये कहते हैं—ग्राम्य होने पर भी कोई पद कहीं कहीं विशिष्ट अर्थके कारण अथवा विभक्ति के कारण किसी विशिष्ट अर्थ में अनौचित्य त्याग देता है (अनौचित्य छोड़कर शिष्ट अर्थ देता है)॥२३॥

अर्थेति। ग्राम्यं यत्पदं तत्तथाविधं ग्राम्यं सदपि क्वचित्सभ्येऽर्थे उचितभावं ग्राम्यत्वं मुञ्चति। कुतोऽर्थविशेषवशाद्वा, विभक्तेर्वा। वाशब्दौ विकल्पार्थौ। विशिष्टसभ्यार्थप्रयोगाद्वा विभक्तिविशेषाद्वेत्यर्थः। अपिर्विस्मये संभावने वा। तथाशब्दः समुच्चयार्थः। पदमेतद्दोषाभावमध्ये समुच्चीयते। क्वचिच्छब्दो विरलत्वप्रतिपादनार्थः। क्वचिदेवार्थविशेषे न सर्वत्रेत्यर्थः॥

अर्थेति। जो पद ग्राम्य होता है वह ग्राम्य होकर भी किसी विशिष्ट स्थल में शिष्ट अर्थ में ग्राम्यत्व छोड़ देता है। क्यों? विशेष अर्थ के कारण या विभक्ति के कारण। 'वा' पद विकल्पार्थक है। अर्थात् किसी विशिष्ट शिष्ट अर्थ के कारण अथवा विशेष विभक्ति के कारण। 'अपि' शब्द विस्मय एवं संभावना के अर्थ में आया है। तथा शब्द समुच्चय के अर्थ में आया है। यह पद दोषाभाव के अन्तर्गत गिना जाता है (जो पद शिष्ट अर्थ में) अश्लील अर्थ छोड़ देता है। 'क्वचित्' शब्द विरलता का प्रतिपादन करता है। 'किसी विशेष अर्थ में ही सर्वत्र नहीं' यह तात्पर्य है।

निदर्शनमाह—

कथमिव वैरिगजानां मदसलिलक्लिन्नगण्डभित्तीनाम्।
दुर्वारापि घटासौ विशांपते दारिता भवता ॥ २४ ॥

उदाहरण देते हैं—'(हे राजन्!) आपने दानवारि से आर्द्र कपोलस्थलों वाले शत्रुओं के हाथियों की बड़ी कठिनाई से भिन्न की जाने योग्य इस घटा को कैसे भिन्न कर दिया ॥ २४ ॥

कथमिति। निगदसिद्धम्। यथा अत्रार्थविशेषो गजो वीररसश्च। कथं तर्हि नायिकायां बाहुल्येन दृश्यते। यथा—'धृतबिसवलये निधाय पाणौ मुखमधिरूषितपाण्डुगण्डलेखम्। नृपसुतमपरा स्मराभितापादमधुमदालसलोचनं निदध्यौ॥' कामिनीलक्षणोऽर्थविशेषोऽत्रापीति चेत्तर्हि 'वारयति सखी तस्याः' (६।२२) इति दुष्टत्वे कथमुदाहरणम्। पाण्डुशब्दसंनिधानादत्रानुप्रासत्वेन रम्यत्वाददोष इति नोत्तरम्। विनापि पाण्डुशब्दप्रयोगं दर्शनात्। 'दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः' इत्यादिषु। तस्मात्पूर्वकविलक्ष्याणां बहूनां दुष्टत्वमायाति। अत्रोच्यते—क्लिन्नशब्दसंनिधानादेव गण्डशब्दस्यासभ्यत्वं स्फुरति न त्वन्यदा। इत्येतदेव दर्शयितुमुदाहरणे तथैव प्रयुक्तवानिति। विशांपते इत्यत्र षष्ठीबहुवचनवशान्न विट्शब्देन विष्ठालक्षणोऽसभ्यार्थो मनसि निधीयते॥

कथमिति। स्पष्ट है। यहाँ विशेष अर्थ हैं (पूर्वार्ध में) गज और (उत्तरार्ध में) वीररस। फिर इस (गण्ड शब्द का प्रयोग) प्रायः नायिका में ही क्यों मिलता है। जैसे—'रुआँसे हुये पीत कपोल-कान्तिवाले मुखको कमलनाल का अङ्गद धारण किये हुये हाथ में रखकर दूसरी ने काम के संताप के कारण बिना मकरन्द के मद के ही अलसाये हुये नेत्र वाले राजकुमार को धारण कर लिया' यहाँ भी कामिनी रूप विशेष अर्थ है। फिर क्यों 'वारयति सखी तस्याः' (६।२२) को ही दोष का उदाहरण बनाया (क्योंकि वहाँ भी कामिनी ही वाच्य है)। पाण्डु शब्द के सामीप्य से अनुप्रास की रमणीयता आने के कारण दोष नहीं रहा—यह कोई उत्तर नहीं। क्योंकि पाण्डु शब्द के अभाव में भी उदाहरण मिलता ही है। जैसे—'राक्षसी के कपोलों की कान्ति के मद की लालिमा को लुप्त करने वाले' आदि। (यहाँ किस अनुप्रास के कारण दोषाभाव मानेंगे) अतएव पूर्व कवियों के बहुत से उदाहरणों में दोष आ ही जाता है। इसका उत्तर देते हैं—क्लिन्न शब्द के सामीप्य के ही कारण गण्ड शब्द की अशिष्टता आभासित होती है अन्यथा नहीं। बस, इतना ही दिखाने के लिये (६।२२,२४) दोनों उदाहरणों का प्रयोग किया। (यह रहा अर्थ विशेष का उदाहरण)। 'विशांपते' में षष्ठी बहुवचन के कारण 'विट्' शब्द से विष्ठा रूप अशिष्ट अर्थ मन में नहीं आभासित होता है।

भूयोऽपि ग्राम्यविशेषानाह—

मञ्जीरादिषु रणितप्रायान्पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन्।
मणितप्रायान्सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान्॥ २९॥

दृष्ट्वा प्रयुज्यमानानेवंप्रायांस्तथा प्रयुञ्जीत ।
अन्यत्रैतेऽनुचिताः शब्दार्थत्वे समानेऽपि ॥ २६ ॥ (युग्मम्)

और भी ग्राम्य विशेष का उदाहरण देते हैं—मञ्जीर आदि में रणित जैसे, पक्षियों में कूजित आदि, संयोग में मणित जैसे, मेघ आदि में गर्जित जैसे, और इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों को प्रयोग किये जाते हुये देखकर उसी विधि से प्रयोग करना चाहिए। अन्य विधि से (अन्यत्र) प्रयोग करने पर शब्द और अर्थ-साम्य होने पर भी अनौचित्य होगा ॥ २५–२६ ॥

मञ्जीरादिष्विति । दृष्ट्वेति । वाच्येऽर्थे तुल्येऽप्येतेष्वेतान्धातून्पूर्वकविभिः प्रयुज्यमानान्दृष्ट्वा तेष्वेव निबध्नीयात् । नान्यत्र । यतस्तल्लक्ष्यमेवान्यत्र व्यवस्थाकारि मञ्जीरं नपुरम् । आदिग्रहणाद्रशनाघण्टाभ्रमरादिसंग्रहः । रणितप्रायानिति प्रायग्रहणं सदृशार्थवृत्तिक्वणिशिञ्जिगुञ्जत्याद्यर्थम् । प्रभृतिग्रहणं वाशत्याद्यर्थम् । सुरतग्रहणं व्यापारान्तरनिवृत्त्यर्थम् । मेघादिष्वित्यत्रादिग्रहणं सिंहगजाद्यर्थम् । प्रायग्रहणं ध्वनत्याद्यर्थम् । एवंप्रायानिति ये शास्त्रेषु सामान्येन पठ्यन्ते । अथ च विशेष एव दृश्यन्ते । यथा—हेषतिरश्वेषु । भणतिः पुरुषेषु । कणतिः पीडितेषु । वातिर्वायौ । न त्वन्यत्र । नहि दृश्यते पुरुषो वातीति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । अन्यत्रैतेऽनुचिताः । मेघादिषु रणत्यादय इत्यर्थः । अपिशब्दो विस्मये । चित्रमिदं यच्छब्दार्थे समानेऽपि ग्राम्यत्वमेषां वस्तुविषयेणैव । ग्राम्यत्वेनास्मिन्दोषे परिहृते पुनर्वचनं प्रपञ्चार्थम् ॥

मञ्जीरादिष्विति । दृष्ट्वेति । वाच्यार्थ के समान होने पर भी आगे कही जाने वाली धातुओं का प्रयोग पूर्वकवियों के प्रयोगों को देखकर (जिन अर्थों में प्रयोग की गयी हैं उन्हीं अर्थों में) प्रयोग करना चाहिए । अन्य अर्थों में नहीं । क्यों कि वे ही उदाहरण दूसरे स्थलों के भी व्यवस्थापक हैं । मञ्जीर-नूपुर । (कारिका में) आदि पद से रशना, घण्टा आदि का ग्रहण होता है । 'रणितप्रायान्' में प्राय का ग्रहण 'क्वणति' 'शिञ्जति' 'गुञ्जति' आदि समान व्यापार वालों के लिये आया है। (इसी प्रकार) प्रभृति का ग्रहण 'वाशति' आदि के लिये हुआ है । सुरत का ग्रहण अन्य व्यापार के निराकरण के लिये किया गया है । 'मेघादिषु' में आदि का ग्रहण सिंह, गज आदि के लिये आया है । प्राय का ग्रहण ध्वनति आदि के लिये आया है । 'एवं प्रायान्' का तात्पर्य है कि इसी प्रकार के जो (अन्य) प्रयोग सामान्यतः शास्त्रों में पढ़े जाते हैं और विशेष में देखे जाते हैं । जैसे 'हेषति' घोड़ों में, 'भणति' पुरुषों में, 'क्वणति' पीडितों में और 'वाति' वायु में । (ये प्रयोग) अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं । 'पुरुषो

वाति' ऐसा प्रयोग नहीं मिलता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिए। अन्यत्र ये (प्रयोग) अनुचित हैं। अर्थात् जैसे मेघ आदि में 'मेघः रणति' आदि प्रयोग। अपि शब्द विस्मय अर्थ में आया है। यह आश्चर्य है कि शब्द और अर्थ के समान होने पर भी वस्तुविषयक ग्राम्यत्व इन शब्दों में आ जाता है। ग्राम्यत्व से इस दोष के परिहार के लिये पुनः कथन विस्तार मात्र होगा॥

अथ देश्यमाह—

प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देश्यस्य।
तन्मडहादि कथंचन रूढिरिति न संस्कृते रचयेत्॥ २७॥

आगे देशी पद का उदाहरण देते हैं—'जिस देशी पद की प्रकृति, प्रत्ययमूलक, व्युत्पत्ति असंभव है उस (महाराष्ट्रादि में प्रसिद्ध) मडह आदि पद की रूढि की भ्रान्ति से संस्कृत में रचना नहीं करनी चाहिए॥ २७॥

प्रकृतीति। विशिष्टदेशे भवं देश्यम्। महाराष्ट्रादिदेशप्रसिद्धम्। देशीयं पदं संस्कृते न रचयेत्। यस्य पदस्य प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्न विद्यते तच्च मडहादि। तत्र मडहडहहोरणवुंधुलमकंदोट्टएलहुक्कसयरुयअलंबकुसुमालवाणवालादिकं यथाक्रमं सूक्ष्मश्रेष्ठवस्त्रपटमण्डपपद्महरिद्राञ्जलिसुवर्णकारकुक्कुटचौरशक्रादिवाचकं कथंचिदपि नैव रचयेदित्यर्थः। ननु देश्यप्राकृतभेदत्वात्कथं संस्कृते प्रयोगप्रसङ्ग इत्याह—रूढिरिति। रूढिभ्रान्त्या न बध्नीयात्। कश्चिद्धयात्मदेशप्रसिद्धार्थं शब्दं सर्वत्रायं वाचक इति मन्यमानः प्रयुञ्जीत। 'व्युत्पत्तिर्यस्य नास्ति' इति वचनात्तु सव्युत्पत्तिकं देश्यं कदाचित्प्रयुञ्जीतेत्युक्तं भवति। यथा दूर्वायां छिन्नोद्भवाशब्दः। ताले भूमिपिशाचः। शिवे महानटः। वृक्षे परशुरुजः। समुद्रनवनीतं चन्द्रामृतयोः। जले मेघक्षीरशब्दः। एवमन्येऽपि॥

प्रकृतीति। विशिष्ट देश में प्रचलित (पद) देशी होता है। (जैसे) महाराष्ट्र आदि देश में प्रचलित। संस्कृत में देशी पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जिस पद की प्रकृति-प्रत्ययमूलक व्युत्पत्ति नहीं होती वह है मडह आदि।

प्रश्न है कि देशी प्राकृत तो (संस्कृत से) भिन्न है फिर संस्कृत में उसके (शब्दों के) प्रयोग का प्रसङ्ग ही क्या है—इसे बताते हैं—रूढिरिति। रूढि के भ्रम से रचना नहीं करनी चाहिए। शायद कोई अपने देश में प्रसिद्ध अर्थ वाले शब्द को 'यह सर्वत्र वाचक है'—यह समझकर प्रयोग न करे। 'व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य'—इस कथन का तात्पर्य है कि जिस देशी पद की व्युत्पत्ति

हो सकती है उसका तो प्रयोग कभी हो भी सकता है। जैसे, दूर्वा अर्थ में 'छिन्नोद्भवा' शब्द। ताल में 'भूमि पिशाच' शिव में 'महानट' वृक्ष में परशुरुज, चन्द्र और अमृत में समुद्र नवनीत और जल में मेघ और क्षीर शब्द। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी ढूँढ लेने चाहिए॥

अथ दोषानुपसंहर्तुमाह—

इत्थं पददोषाणां दिङ्मात्रमुदाहृतं हि सर्वेषाम्।
तस्मादनयैव दिशा ततोऽन्यदभ्यूह्यमभियुक्तैः॥ २८॥

अब दोषों का उपसंहार करने के लिये कहते हैं—'इस प्रकार सभी दोषों की दिशा का उन्मीलन मात्र किया गया। अतएव कवियों को चाहिए कि वे इसी प्रकार उपरि-वर्णित दोषों की भी उद्भावना करें॥ २८॥

इत्थमिति। इत्थमनेन पूर्वोक्तप्रकारेण पददोषाणां सर्वेषां दिगेव दिङ्मात्रं हिर्यस्मादुदाहृतं निदर्शितं तस्मादनयैव दिशान्यदपि दोषजातं स्वयमूहनीयम्॥

इत्थमिति। इस प्रकार उपरिवर्णित रीति से समस्त पद-दोषों की दिशामात्र का निदर्शन किया गया। अतएव इसी दिशा से अन्य समस्त दोषों की उद्भावना स्वयं कर लेनी चाहिए।

पूर्वमुक्तमधिकपदं वाक्यं न प्रयोक्तव्यमथ च दृश्यते क्वचिदसकृत्प्रयोगस्तदतिव्याप्तिसंहारमाह—

वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निन्दन्।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात्तत्पुनरुक्तं न दोषाय॥ २९॥

पहले कहा गया है 'अधिक-पद वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए' फिर कहीं अनेक वार प्रयोग क्यों किया जाता है—इस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये कहते हैं—

'वक्ता जब हर्ष या भय से मन के आक्षित होने के कारण प्रशंसा अथवा निन्दा करता हुआ किसी पदका अनेक वार प्रयोग करता है। तब वहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं होती॥ २९॥

वक्तेति। वक्ता प्रतिपादको हर्षभयादिभिराक्षिप्तचित्तः सन्यत्पदमेकस्मिन्नेवार्थे पुनः पुनर्वक्ति तत्पुनरुक्तत्वं दोषाय न भवति। अपि त्वलंकारायेत्यर्थः। आदिग्रहणाद्विस्मयशोकादिसंग्रहः। तथाशब्दः समुच्चये॥

वक्तेति। वक्ता प्रसन्नता एवं भय आदि के कारण चित्त के विक्षिप्त होने पर एक ही अर्थ में जब पद का असकृत् प्रयोग करता है तब पुनरुक्ति दोष नहीं

होती है। किन्तु वह वहाँ अलंकार स्वरूप ही होती है। (कारिका में) आदि के ग्रहण से विस्मय, शोक आदि का संग्रह होता है। तथा शब्द समुच्चय के अर्थ में आया है॥

निदर्शनमाह—

वद वद जितः स शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परा हते पुत्रे॥ ३०॥

उदाहरण देते हैं—बताओ! बताओ!! वह शत्रु जीत लिया गया। और तुम्हारा तुम्हारा यह कहता हुआ! आश्चर्य! आश्चर्य!! खेद है! खेद है!! इस प्रकार रोने लगा। हा! हा!! इस प्रकार पुत्र के मारे जाने पर॥ ३०॥

जय जय वैरिविदारण कुरु कुरु पादं शिरःसु शत्रूणाम्।
धिग्धिक्तमरिं यस्त्वामप्रणमन् स्वं विनाशयति॥ ३१॥

शत्रुओं का विनाश करने वाले (राजन्) विजयी हो! विजयी हो!! शत्रुओं के मस्तक पर चरण रखें!!! उस शत्रु को धिक्कार है जो आप को प्रणाम न करके अपने को नष्ट कर देता है!! ३१॥

वदेति। जयेति। अत्र वद वदेति। हर्षे। तव तवास्मीति भये। चित्रं चित्रमिति विस्मये। हा हेति शोके। जय जयेति स्तुतौ। कुरु कुर्विति त्वरायाम्। धिग्धिगिति निन्दायाम्। अन्यन्निगदसिद्धम्॥

वदेति। जयेति। यहाँ 'वद' और 'जय' शब्द भय अर्थ में आये हैं। (तथा) 'तव तवास्मि' भय में, 'चित्रं चित्रम्' विस्मय में, 'जय जय' स्तुति, 'कुरु कुरु' त्वरा और 'धिग्धिक्' निन्दा अर्थ में आये हैं। शेष स्पष्ट है॥

भूयोऽप्याह—

यत्पदमर्थेऽन्यस्मिंस्तत्पर्यायोऽथवा प्रयुज्येत।
वीप्सायां च पुनस्तन्न दुष्टमेवं प्रसिद्धं च॥ ३२॥

और भी बताते हैं—'जो पद अन्य अर्थ में पुनः प्रयुक्त होता है अथवा उसका पर्याय पुनः प्रयुक्त किया जाता है अथवा वीप्साद्योतनार्थ जहाँ कोई पद पुनरुक्त होता है वहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं होती ऐसा (महाकवियों में) प्रसिद्ध है (और लोक में भी प्रसिद्ध है)॥ ३२॥

यदिति। यत्पदमन्यमर्थमभिधातुं द्विः प्रयुज्यते तत्। तथा तस्य प्रयुक्तपदस्य पर्यायो वाचको यः प्रयुज्येत। तथा वीप्साप्रतिपादनार्थं वा यत्पुनः पदं प्रयुज्येत तत्पदं न पुनरुक्तदोषदुष्टं भवति। एवं प्रसिद्धं च। इत्येवं वीप्सातुल्यरूपेण प्रकारेण यत्कविलक्ष्येषु प्रसिद्धं तदपि पुनरुक्तं

न दोषाय। यथा कलकलरणकादिकम्। तथैव लोके प्रसिद्धत्वादिति। ननु तुल्यपदस्य तत्पर्यायपदस्य वान्यार्थत्वेन वीप्सावाचकस्य वीप्साप्रतिपादकत्वेन तदर्थत्वादेव पुनरुक्तिर्न दुष्टा तत्किमनेनेति सत्यम्। किं तु कश्चिदतिमन्दमतिः पुनः प्रयोगं दृष्ट्वा दुष्टत्वमाशङ्केतेति ॥

यदिति। जो पद भिन्न अर्थ का अभिधान करने के लिये दो बार प्रयोग किया जाता है वह, तथा उस (एक बार) प्रयुक्त पद का पर्यायवाचक जो प्रयुक्त होता है तथा वीप्सा अर्थ में जो पद दुबारा प्रयोग किया जाता है वह पुनरुक्ति दोष से दुष्ट नहीं होता है। ऐसा प्रसिद्ध भी है। इसी प्रकार वीप्सा के समान अर्थ में जो कवियों के उदाहरणों में प्रसिद्ध है वह भी पुनरुक्त दुष्ट नहीं होता। जैसे, कल-कल, रण-रणक आदि। क्यों कि ये (प्रयोग) लोक में इसी रूप में प्रसिद्ध हैं। तो समान पद के एवं उसके पर्यायवाचक पद के भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण और वीप्साद्योतक होने के कारण उसी अर्थ की पुष्टि होने से पुनरुक्ति दोष नहीं होती तो इस कथन का क्या लाभ। सत्य है। किन्तु कोई स्वल्प बुद्धि वाला दुबारा प्रयोग को देखकर शायद दोष मान बैठे इस लिये (यह प्रपञ्च कहा गया)॥

क्रमेण निदर्शनमाह—

गजरक्तरक्तकेसरभारः सिंहोऽत्र तनुशरीरोऽपि।
दिशि दिशि करिकुलभङ्गं वारंवारं खरैः कुरुते ॥ ३३ ॥

क्रमशः उदाहरण देते हैं—'हाथी के रुधिर से रञ्जित केसर के भार वाला, स्वल्पकाय भी सिंह इस वन में प्रत्येक दिशा में अपने नखों से हाथियों के झुण्डों का विदारण करता है ॥ ३३ ॥'

गजेति। प्रथमेऽत्र पादे रक्तशब्दावन्यार्थौ। एको रुधिरवाचकोऽपरस्तु रञ्जनक्रियाभिधायी। तनुशरीर इत्यत्र अनुशब्दस्तानवाभिधायी तत्पर्यायः शरीरशब्दः कायवाचकः। दिशि दिशीति वीप्सायाम्। सर्वस्यां दिशीत्यर्थः। वारंवारमिति लोकप्रसिद्धम्। अन्यदपि लोकप्रसिद्धं दृश्यते। यथा—'मानिनीजनविलोचनपातानुष्णबाष्पकलुषान्प्रतिगृह्णन्। मन्दमन्दमुदितः प्रययौ खं भीत भीत इव शीतमयूखः ॥' तथा—'ता किंपि किंपि ता कह वीअब्बो निमीलियच्छीहिम्। कडुओसहं व पिज्जइ अहरो घेरस्स तरुणीहिम् ॥' उद्भटस्तु सर्वत्रात्र पुनरुक्ताभासालंकारत्वमाचष्टे ॥

गजेति। यहाँ प्रथम चरण में दोनों रक्त शब्द भिन्नार्थक हैं—एक खून का वाचक है और दूसरा रञ्जन क्रिया का अभिधायक। 'तनुशरीर' में तनु शब्द

कृशता का वाचक है और उसका पर्याय शरीर शब्द काय का वाचक है। 'दिशि दिशि' यह प्रयोग वीप्सा अर्थ में आया है। अर्थात् 'सभी दिशाओं में' यह अर्थ है। 'वारंवारम्' लोकप्रसिद्ध ही है। और भी लोकप्रसिद्ध उदाहरण मिलते हैं। जैसे—'मानिनी नायिकाओं के नेत्र से गिरे हुये शीतल बाष्प (आँसू) से कलुष को पुनः लेकर शनैः शनैः प्रसन्न हुआ चन्द्रमा आकाश में चला गया।' अतएव किसी-किसी प्रकार, बताओ नेत्रों को बन्द किये हुये घर की तरुणियों के द्वारा कड़वी दवा के समान विश्वासपूर्वक अधर-पान कैसे किया जाता है॥ प्रथम उदाहरण में मन्द-मन्द और दूसरे में किंपि-किंपि पद आवृत्त हुये हैं। उद्भट ने यहाँ सर्वत्र पुनरुक्तवदाभास अलंकार माना है॥

प्रकारान्तरमाह—

यच्च प्रतिपत्ता वा न प्रतिपद्येत वस्तु सकृदुक्तम्।
तत्र पदं वाक्यं वा पुनरुक्तं नैव दोषाय॥ ३४॥

अन्य प्रकार बताते हैं—जहाँ प्रतिपत्ता एक बार कही गयी वस्तु को न समझ सके वहाँ दुबारा प्रयोग किया गया पद अथवा वाक्य पुनरुक्त दोष से दुष्ट नहीं होता॥ ३४॥

यदिति। यद्वस्तु सकृदेकवारमुक्तं सत्प्रतिपत्ता। वाशब्दोऽवधारणे। प्रतिपत्तैव न प्रतिपद्येत तत्र वस्तुनि वाच्ये पदं वाक्यं वा नैव दोषाय। चः समुच्चये। तच्च पदं निर्दोषपदमध्ये समुच्चीयत इत्यर्थः॥

यदिति। जो वस्तु एक बार कथित होकर—प्रतिपत्ता (बोद्धा)—वा शब्द अवधारण अर्थ में आया है—बोद्धा ही न समझ सके उस वस्तु के (बोद्धा को समझाने के लिये) वाच्य होने पर पुनरुक्त पद या वाक्य दुष्ट नहीं होता। (च) समुच्चय अर्थ में आया है। उस (पुनरुक्त) पद की गणना अदुष्ट पदों में की जाती है॥

उदाहरणमाह—

किं चिन्तयसि सखे त्वं वच्मि त्वामस्मि पश्य पश्येदम्।
ननु किं न पश्यसीदृक्पश्य सखे सुन्दरं स्त्रैणम्॥ ३५॥

उदाहरण देते हैं—हे मित्र! तुम क्या सोच रहे हो? तुमसे मैं कह रहा हूँ। यह मैं हूँ। देखो! देखो इसे!! अरे, क्यों नहीं देखते हो? स्त्रियों के इस सुन्दर झुण्ड को देखो तो॥ ३५॥

किमिति। कश्चिन्मित्रमाह—हे सखे, इदमीदृक्सुन्दरं रम्यं स्त्रैणं स्त्रीसमूहं पश्येति। तेन त्वन्यगतचित्तत्वान्न श्रुतमतः स पुनराह—किं

चिन्तयसीत्यादि । अत्र पश्य पश्येति पदपौनरुक्त्यं नन्वित्यादि तु वाक्य-पौनरुक्त्यम् । ननुरभिमुखीकरणे ॥

किमिति । कोई मित्र से कह रहा है—इस सुन्दर स्त्री जन को देखो । किसी अन्य वस्तु पर ध्यान होने के कारण उसने फिर कहा—किं चिन्तयसीत्यादि । यहाँ 'पश्य पश्य' पद पुनरुक्ति का उदाहरण है और ननु इत्यादि वाक्य-पुनरुक्ति का । ननु (अपनी ओर) ध्यान दिलाने के अर्थ में आया है ।

भूयोऽप्याह—

अन्याभिधेयमपि सत्प्रयुज्यते यत्पदं प्रशंसार्थम् ।
तस्य न दोषाय स्यादाधिक्यं पौनरुक्त्यं वा ॥ ३६ ॥

और भी कहते हैं—जिस पद का वाच्यार्थ दूसरा होता है वह जब सुन्दर अर्थ देने के लिये प्रयुक्त किया जाता है तो उसका आधिक्य या पुनरुक्ति दोष नहीं होता ॥ ३६ ॥

अन्येति । प्रशंसालक्षणादर्थादन्यदभिधेयं वाच्यं यस्य पदस्य तदित्थं-भूतमपि सत्प्रशंसार्थं प्रयुज्यते यतस्तस्याधिक्यं पौनरुक्त्यं वा दोषाय न भवति । अन्याभिधेयस्य हि प्रस्तुतार्थानुपयोगिनः प्रयोगे सत्याधिक्यं स्यात् । पदान्तरेणैवोक्ततदर्थस्य तु पौनरुक्त्यं स्यात् । ननु यद्यन्याभिधेयं कथं प्रशंसार्थं प्रयोगः, प्रयोगश्चेन्नान्याभिधेयमिति । सत्यम् । अन्याभिधे-यस्यापि प्रशंसार्थगमकतास्तीति । यथा मुनिशार्दूलः, कर्णतालः, केशपाशः, नृपपुंगवः, गोनागः, अश्वकुञ्जरः । तथा चूतवृक्षः, मलयाचलः, इत्यादिषु शार्दूलादिशब्दानां व्याघ्रादिवाचित्वेनान्याभिधेयत्वेऽपि, वृक्षादीनां तु पदान्तरोक्तार्थत्वेऽपि प्रशंसार्थगमकत्वेन न दुष्टतेति ॥

अन्येति । प्रशंसारूप अर्थ से भिन्न अभिधेय (वाच्य) जिस पद का होता है इस प्रकार का भी पद जब प्रशंसा अर्थ में प्रयोग किया जाता है तब उसकी अधिकता या पुनरुक्ति सदोष नहीं होती । भिन्न वाच्य वाले प्रस्तुत अर्थ के लिये अनुपयोगी (पद) का प्रयोग होने पर आधिक्य होगा । अन्य पद से उस (पद) के अर्थ के कथित होने पर पुनरुक्ति होगी । प्रश्न उठता है कि यदि (उस पद का) वाच्य अन्य ही है तो प्रशंसा के लिये उसका प्रयोग कैसे होगा और यदि प्रयोग होगा ही तो अभिधेय (वाच्य) भिन्न नहीं होगा । सत्य है । भिन्न अभिधेय वाले शब्द में भी प्रशंसा अर्थ की प्रतीतिबोधकता होती ही है । जैसे 'मुनिशार्दूल' कर्णताल, केशपाश, नृपपुंगव, गोनाग (और) अश्व-कुञ्जर (यहाँ शार्दूल आदि व्याघ्ररूप अर्थ के वाचक होकर मुनि आदि के साथ प्रयुक्त होकर प्रशंसा अर्थ देते हैं) ।

इसी प्रकार चूतवृक्ष, मलयाचल आदि में। शार्दूल आदि शब्दों की व्याघ्र आदि की वाचकता होने पर अभिधेय (वाच्य) के भिन्न होने पर भी, वृक्ष आदि अन्य (चूत आदि) के द्वारा अर्थ के कथित होने पर भी प्रशंसा अर्थ की प्रतीति कराने के कारण सदोष नहीं हैं॥

निदर्शनमाह—

नासीरोद्धतधूलीधवलितसकलारिकेशहस्तस्य।
अविलङ्घ्योऽयं महिमा तव मेरुमहीधरस्येव॥ ३७॥

उदाहरण देते हैं—'सेना से उड़ी हुयी धूल से धूसरित किये हुये सभी शत्रुओं के केशकलापों वाले मेरु पर्वत के समान आपकी यह महिमा अलङ्घनीय है'॥ ३७॥

नासीरेति। नासीरं सैन्यं तदुत्खातधूल्या धवलिताः सकलारीणां केशहस्ताः केशकलापा येन तस्य तवाविलङ्घनीयो महिमा। कस्येव। मेरुमहीधरस्येव मेरुपर्वतस्य यथा। अत्र हस्तशब्दस्य पाणिवाचकस्यान्यार्थस्यापि नाधिक्यम्। महीधरशब्दस्य च मेरुपदान्तरेण गतार्थस्य न पौनरुक्त्यम्। प्रशंसार्थत्वादिति॥

नासीरेति। सेना से उड़ी हुयी धूल से समस्त शत्रुमण्डल के केशकलाप को धूसरित करने वाले तुम्हारी अलङ्घनीय महिमा है। किसकी जैसी। मेरुपर्वत जैसी। यहाँ 'हाथ' के वाचक भिन्न अर्थ वाले हस्त शब्द में (दोष) आधिक्य नहीं है। (तथा) महीधर शब्द के मेरुपद से ही अर्थ कथित होने पर भी पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि (दोनों पद) प्रशंसार्थक हैं॥

परस्परं संबद्धपदं वाक्यं प्रयुञ्जीतेति यदभ्यधायि तदतिव्याप्तिं संजिहीर्षुराह—

यस्मिन्ननेकमर्थं स्वयमेवालोचयेत्तदर्थानि।
जल्पन्पदानि तेषामसंगतिर्नैव दोषाय॥ ३८॥

एक दूसरे से सबद्ध पद वाले वाक्य का प्रयोग करना चाहिए—यह जो कहा है उस अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये कहते हैं—

'जिस (वाक्य) में अनेकार्थक पदों को बोलता हुआ (वक्ता) स्वयं ही अनेक अर्थों का परामर्श करता है उन (वाक्य और पदों) की असंगति सदोष नहीं मानी जाती है॥ ३८॥

यस्मिन्निति। यस्मिन्वाक्ये वक्तानेकार्थवाचकानि पदानि जल्पन्स्वयमेवानेकमर्थमालोचयति तेषां तद्वाक्यपदानामसंगतिर्नैव दोषाय। विव-

क्षावशेन हि शब्दाः प्रयुज्यन्ते। वक्ता चेत्स्वयं विलक्षणमनेकमर्थं वक्तुकामोऽन्योन्यमसंबद्धानि पदानि ब्रूते तत्किमसांगत्यम्। असंबद्धत्वाच्च दोषाशङ्का चेति स्वयंग्रहणात्परेण यत्र प्रतिपाद्यस्तत्रासंगतिर्दुष्टैव। यथा—'आषाढी कार्तिकी माघी वचा हिङ्गु हरीतकी। पश्यतैतन्महच्चित्रमायुर्मर्माणि कृन्तति'॥

यस्मिन्निति। जिस वाक्य में वक्ता अनेकार्थ वाचक पदों को बोलता हुआ स्वयं ही अनेक अर्थों की आलोचना करता है उन वाक्य और पदों की असंगति सदोष नहीं मानी जाती है। क्योंकि (वहाँ) शब्दों का प्रयोग विवक्षा के अधीन किया जाता है। यदि वक्ता ही अनेक अर्थों को बोलने की इच्छा से परस्पर असंबद्ध पद बोलता है तो भला क्या असंगति होगी। और असंबद्ध होने के कारण जहाँ (दोष की) आशङ्का हो और (इस प्रकार का) वक्ता जहाँ स्वयं परामर्श करे एवं दूसरा (दोष) की उद्भावना करे वहाँ असंगति सदोष ही होती है। जैसे--आषाढ की पूर्णिमा, कार्तिक की पूर्णिमा, माघ की पूर्णिमा, बचा (मृत्युसूचक पक्षी) हींग और हर्रे--देखो यह आश्चर्य है। आयु मर्म का भेदन करती है। (यहाँ वक्ता स्वयं दोष की उद्भावना करता है दूसरों के मत से भी यहाँ असंगति स्फुट है)।

उदाहरणमाह—

कुसुमभरः सुतरूणामहो नु मलयानिलस्य सेव्यत्वम्।
सुमनोहरः प्रदेशो रूपमहो सुन्दरं तस्याः॥ ३९॥

उदाहरण देते हैं—सुन्दर वृक्षों की पुष्पसमृद्धि! मलय-पवन क्या ही सेवनीय है!! स्थान कितना रमणीक है!!! आह उसका रूप क्या ही सुन्दर है॥३९॥

कुसुमभर इति। एतत्कश्चित्कामी मलयोद्याने तरुणीं दृष्ट्वा स्वयमेव पर्यालोचयति। तन्निगदसिद्धम्॥

कुसुमभर इति। इसे कोई कामी मलयवन में युवती को देखकर स्वयं ही अनुभव करता है। वह स्पष्ट ही है॥

इदानीं वाक्यदोषमाह—

वाक्यं भवति तु दुष्टं संकीर्णं गर्भितं गतार्थं च।
यत्पुनरनलंकारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम्॥ ४०॥

अब वाक्य दोष बताते हैं—संकीर्ण, गर्भित और गतार्थ (इन) दोषों से वाक्य दुष्ट होता है। तथा जिस वाक्य में कोई अलङ्कार नहीं होता एवं दोष नहीं होता उसे मध्यम वाक्य कहते हैं॥ ४०॥

वाक्यमिति। तुः पुनरर्थे। वाक्यं पुनः संकीर्णगर्भितगतार्थरूपं दुष्टं भवति। ननु वाक्यस्य पदात्मकत्वात्पदद्वारेणैव तद्दोष उक्त इति किं पुनरुच्यते। सत्यम्। किं तु सन्ति तादृशानि वाक्यानि येषु पददोषाभावेऽपि वाक्यस्य दुष्टता भवति। यथा—'गौरीक्षणं भूधरजाहिनाथः पत्त्रं तृतीयं दयितोपनीतम्। यस्याम्बरं द्वादशलोचनाख्यः काष्ठासुतः पातु सदाशिवो वः॥' कुसुमभर इत्यादौ वाक्यार्थानामसंगतिरिह तु वाक्यानामिति विशेषः। ननूपादेयत्वादलंकारनिर्देश एव न्याय्यः, ततोऽन्यत्सर्वमनुपादेयमिति सेत्स्यति, किं संकीर्णादिलक्षणोक्तिप्रयासेनेत्यत आह—यत्पुनरित्यादि। यदलंकारशून्यं निर्दोषं च तन्मध्यमवाक्यम्। एतदुक्तं भवति—यदि हेयोपादेयपक्षद्वयमेव स्यात्तदालंकारनिर्देश एव। यावता तृतीयं मध्यमपि वाक्यं विद्यत एवेति सर्वमेव वक्तव्यम्॥

वाक्यमिति। तु पुनः अर्थ में आया है। फिर वाक्य संकीर्ण, गर्भित और गतार्थ दोष से दुष्ट होता है। प्रश्न उठता है कि वाक्य के पदों के ही द्वारा विरचित होने के कारण पद के ही द्वारा वाक्य के दोष का भी कथन हो गया फिर इस दुबारा कथन से क्या? सत्य है। किन्तु ऐसे भी वाक्य हैं जिनमें पद-दोष का अभाव होने पर भी वाक्य दुष्ट होता है। जैसे—

'कुसुमभर' आदि में वाक्यार्थों में असंगति है और यहाँ वाक्यों में—यह दोनों में भेद है। प्रश्न उठता है कि उपादेय होने के कारण अलङ्कार का ही वर्णन उचित उसके अतिरिक्त सब कुछ अनुपादेय है अतएव अनपेक्षित है। इस संकीर्ण आदि के लक्षण के कथन करने के प्रयास से क्या? इसका उत्तर देते हैं—जो अलंकार से रहित और दोष से मुक्त वाक्य होता है वह मध्यम-कोटि का होता है तात्पर्य यह हुआ कि यदि उपादेय और अनुपादेय दोनों ही पक्ष होंगे तभी अलंकार का निर्देश होगा। चूँकि तृतीय कोटि का मध्यम वाक्य भी होता है अतएव सबका वर्णन अपेक्षित है॥

अथ संकीर्णलक्षणमाह—

वाक्येन यस्य साकं वाक्यस्य पदानि सन्ति मिश्राणि।
तत्संकीर्णं गमयेदनर्थमर्थं न वा गमयेत्॥ ४१॥

अब संकीर्ण का वर्णन करते हैं—'जिस वाक्य के पद अन्य वाक्य के साथ मिले रहते हैं, उसे संकीर्ण वाक्य जानना चाहिए। उससे या तो अनर्थ का बोध होता है या अर्थ का बोध ही नहीं होता'॥ ४१॥

वाक्येनेति । यस्य वाक्यस्य वाक्यान्तरेण सह मिश्राणि पदानि भवन्ति तत्संकीर्णं नाम । किमित्येतावता तस्य दुष्टत्वमत आह--गमयेदनर्थम् । यतः करणाद्विवक्षितमर्थं वा न गमयेत्ततस्तद्दुष्टमित्यर्थः ॥

वाक्येनेति । जिस वाक्य के पद अन्य वाक्य के साथ मिश्रित होते हैं उसे संकीर्ण कहते हैं । क्या इतने से ही वह सदोष हो जाता है, इसके उत्तर में कहते हैं (क्योंकि) वह अनर्थ की प्रतीति कराता है । चूँकि वह विवक्षित अर्थ की ही प्रतीति नहीं कराता अतएव दुष्ट होता है--यह अर्थ है ॥

उदाहरणमाह—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणैनम् ।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥ ४२ ॥

उदाहरण देते हैं--'चरणों पर पड़े हुये, गुणशील प्रियतम को क्यों नहीं देख रही हो--इन्हें हृदय से लगाओ । मन के अन्धकाररूप इस क्रोध को त्याग दो ॥ ४२ ॥'

किमिति । काचित्सखी मानिनीं वक्ति—किमिति । कस्मात्पादगतं हृदयनाथं प्रियं बहुगुणं न पश्यसि । ननु मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च त्यज । एनं च प्रियं कण्ठे गृहाण । इत्येवंविधो वाक्योऽत्र विवक्षितः । पदानां तु मिश्रत्वाद् दुष्टोऽर्थो गम्यते । यथा—पादपतितं कोपं कस्मान्न पश्यसि । एनं च कोपं बहुगुणं गृहाण । मनसो हृदयाच्च तमोरूपं हृदयनाथं वल्लभं मुञ्च त्यजेति ॥

किमिति । कोई सखी मानिनी से कह रही है--किमिति । पैरों पर पड़े हुये गुणवान् प्रियतम को क्यों नहीं देख रही हो । मन के अन्धकाररूप क्रोध को त्याग दो--इन प्रियको हृदय से लगाओ—इस प्रकार का वाक्य यहाँ (वक्ता को) अभीष्ट है । पदों के मिले होने के कारण दोषपूर्ण अर्थ का बोध होता है । जैसे—पैरों पर पड़े हुये क्रोध को क्यों नहीं देख रही हो । इस गुणवान् क्रोध को ग्रहण करो । अन्धकाररूप प्रियतम को हृदय से त्याग दो ॥

गर्भितमाह—

यस्य प्रविशेदन्तर्वाक्यं वाक्यस्य संगतार्थतया ।
तद्गर्भितमिति गमयेन्निजमर्थं कष्टकल्पनया ॥ ४३ ॥

गर्भित का उदाहरण देते हैं—'जिस वाक्य में अर्थ की सङ्गति के कारण दूसरा वाक्य प्रवेश कर जाता है उसे गर्भित वाक्य जानना चाहिए । (वह) अपने अर्थ की प्रतीति बड़ी कठिनाई से कराता है ॥ ४३ ॥'

यस्येति। यस्य वाक्यस्यान्यद्वाक्यं समृद्धार्थत्वेनान्तर्मध्ये प्रविशेत्तद्गर्भितं नाम। का तस्य दुष्टतेत्याह—गमयेन्निजमर्थमभिधेयं कष्टकल्पनया क्लेशेनेति॥

यस्येति। जिस वाक्य में अर्थ की समृद्धि के कारण दूसरा वाक्य प्रविष्ट होता है उसे गर्भित वाक्य कहते हैं। उसमें दोष क्या होता है—इसे बताते हैं—'अपने वाच्य का बोध बड़ी कठिनाई से कराता है॥'

निदर्शनमाह—

योग्यो यस्ते पुत्रः सोऽयं दशवदन लक्ष्मणेन मया।
रक्षैनं मृत्युमुखं प्रसह्य लघु नीयते विवशः॥ ४४॥

उदाहरण देते हैं—हे रावण! जो तुम्हारा योग्य पुत्र है वह बलात् मुझ लक्ष्मण के द्वारा परवश बनाकर शीघ्र ही काल के मुख में ले जाया जा रहा है। इसकी रक्षा करो॥ ४४॥

योग्य इति। अङ्गदमुखेन लक्ष्मणो रावणमाह—हे दशवदन, योग्यो यस्ते तव पुत्रः सोऽयं मया लक्ष्मणेन प्रसह्य हठान्मृत्युमुखं विवशः परवशः संल्लघु शीघ्रं नीयते तस्माद्रक्षैनम्। अत्र रक्षैनमिति गर्भवाक्यं यावन्मध्यान्नोद्धृत्य पृथक् कृतं तावन्मूलवाक्यं कष्टकल्पनयार्थं गमयति॥

योग्य इति। अङ्गद के द्वारा लक्ष्मण रावण से कहलवा रहे हैं—हे रावण! जो तुम्हारा वीर पुत्र है वह अब मुझ लक्ष्मण के द्वारा बलात् परवश बनाकर शीघ्र काल के मुख में ले जाया जा रहा है। अतः इसकी रक्षा करो। यहाँ 'रक्षैनम्' यह बीच का वाक्य जब तक बीच से निकाल कर पृथक् नहीं कर दिया जाता तब तक मुख्य वाक्य (अपना अर्थ) बड़े कष्ट से दे पाता है॥

गतार्थमाह—

यस्यार्थः सामर्थ्यादन्यार्थैरेव गम्यते वाक्यैः।
तदिति प्रबन्धविषयं गतार्थमेतत्ततो विद्यात्॥ ४५॥

गतार्थ का उपन्यास करते हैं—'जिस (वाक्य) का अर्थ अन्य अर्थ वाले वाक्यों के परामर्श से ही प्रतीत होता है उसे गतार्थ (वाक्य) जानना चाहिए। इसके उदाहरण प्रबन्ध हैं अतएव इसे वहीं से जानना चाहिए॥४५॥'

यस्येति। यस्य वाक्यस्यार्थोऽभिधेयं प्रयोजनं वान्याभिधेयैर्वाक्यैर्गम्यते। एवकारो भिन्नक्रमे। गम्यत एवेत्येवं द्रष्टव्यम्। कथं गम्यते सामर्थ्यात्। अन्यार्थानामपि तदर्थाभिधानशक्तियुक्तत्वादित्यर्थः। तदित्येवंप्रकारं वाक्यं गताथम्। अथ कथमत्र नोदाहृतमित्याह—तदेतत्प्रबन्ध-

विषयं विपुलग्रन्थगोचरमतस्ततः प्रबन्धादेव विद्याज्जानीयात्। नान्यथाख्यातुं शक्यत इति। प्रबन्धे दृश्यते यथा किरातार्जुनीयकाव्ये हिमाचलवर्णने–'मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः। दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः॥' इत्यनेन श्लोकेन मणयोऽप्सरस उद्यानानि च सन्त्यतः सेव्योऽयं पर्वत इति प्रतिपाद्यते। एतच्चान्यास्वार्थैर्वाक्यान्तरैरेव कथितम्। तद्यथा–'रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुवः। विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः॥' 'दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः। पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः॥'

यस्येति। जिस वाक्य का अर्थ (अभिधेय या प्रयोजन) अन्य (भिन्न) अभिधेय वाले वाक्यों से प्रतीत होता है--एव भिन्न स्थान पर आया है—'गम्यत एव'--इस प्रकार अन्वय करना चाहिए। कैसे प्रतीत होता है?—'भिन्नार्थक होने पर भी उस (विवक्षित) अर्थ के अभिधान करने की सामर्थ्य होने के कारण'—यह अर्थ है—तो इस प्रकार का वाक्य गतार्थ होता है। फिर उसका उदाहरण यहाँ क्यों नहीं दिया--इसके उत्तर में कहते हैं—यह विशालकाय ग्रन्थों में ही मिलता है अतएव इसे वहीं से जानना चाहिए। इसका और विधियों से व्याख्यान नहीं हो सकता। प्रबन्ध में ही दिखलाया जाता है जैसे किरातार्जुनीय काव्य में हिमालय के वर्णन में 'मणियों के किरण-पटलरूपी वस्त्र से प्रकाशमान, सुर-बालाओं के द्वारा सेवित लता-मण्डपों वाली, उन्नत शिलाओं के मध्य में बाहरी द्वारों वाली, पुर के समान खिले हुये पुष्पोद्यान वाली भूमियों को धारण करते हुये (हिमालय को देखा)॥' इस श्लोक से '(यहाँ) मणि, अप्सरायें और उद्यान हैं अतएव यह पर्वत सेवनीय है'—यह प्रतिपादित होता है। यही बात भिन्न अभिधेय वाले वाक्यों से कही गयी है—वह जैसे—'रत्नों के विना पर्वतमालाओं को न धारण करने वाले, लतामण्डप के विना कन्दर-प्रदेश को न धारण करने वाले, किनारे पर विना कमलों के सरित् रूप वधुओं को न धारण करने तथा फूलों के विना वृक्षों को न धारण करने वाले (पर्वत को देखा)॥ देवाङ्गनाओं की (पंक्ति) पैरों के लाख के रंग के साथ लाल वर्ण की हो रही है। अथवा देवाङ्गनाओं के चरणों की लाक्षा के राग के समान राग वाली, गिरे हुये शिरोभूषणों वाली, पीड़ा का हरण करने वाली, फूलों से व्याप्त शय्यायें विशेष संभोग का आशंसा के साथ प्रतिपादन कर रही हैं॥'

अत्र यदेतन्मध्यमं वाक्यमुक्तमेतत्कविना किं कर्त्तव्यमुत नेत्याह—

पुष्टार्थालंकारं मध्यममपि सादरं रचयेत् ।
गामभ्याजेति यथा यत्किंचिदतोऽन्यथा तद्धि ॥ ४६ ॥

यहाँ जो मध्यम वाक्य का वर्णन किया उससे कवि का कोई प्रयोजन है अथवा नहीं इसे बताते हैं—

'हृदयावर्जक पुष्ट अर्थ ही जिस में अलंकार हो ऐसे मध्यम वाक्य की भी बड़े आदर से रचना करनी चाहिए। अपुष्टार्थ वाक्य 'गामभ्याज' की तरह अधिक उपादेय नहीं होता है ॥ ४६ ॥

पुष्टेति । मध्यममपि वाक्यं सादरं रचयेत् । किमविशेषेण नेत्याह—पुष्टो हृदयावर्जकोऽर्थ एवालंकारो यस्य तत्तथाभूतम् । एतदुक्तं भवति—यद्यपि वक्रोक्त्यादयोऽलंकारा न सन्ति तथापि तद्विवक्षितोऽर्थः सरस उत्कृष्टो वा विधेयः । यथा—'भ्रूभेदो गुणितश्चिरं नयनयोरभ्यस्तमामीलनं रोद्धुं शिक्षितमादरेण हसितं मौनेऽभियोगः कृतः । धैर्यं कर्तुमपि स्थिरीकृतमिदं चेतः कथंचिन्मया बद्धो मानपरिग्रहे परिकरः सिद्धिस्तु दैवे स्थिता ॥' अपिशब्दो मध्यवाक्यस्यादुष्टवाक्यमध्ये समुच्चयार्थः । अन्यालंकारविरहात्तत्र कस्यचिदनादरः स्यादिति सादरग्रहणम् । अथ किमित्यपुष्टार्थं मध्यं नाद्रियत इत्याह—यत्किञ्चिदित्यादि । हि यस्मादतः पुष्टार्थालंकाराद्यदन्यथान्यादृशमपुष्टार्थं तद्य त्किंचित् । नात्यादरणीयमित्यर्थः । किमिव । यथा—गामभ्याजेति । 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यत्र न शब्दार्थदोषो नापि कश्चिदलंकारो न चैतत्पुष्टार्थमतोऽत्र नादरो नाप्यनादरः । विषयस्त्वस्य कथासंधिसंहारौ । यथा—'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीम्' इत्यादि । यथा च–'इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे' इत्यादि ॥

पुष्टेति । मध्यम वाक्य की भी आदरपूर्वक रचना करनी चाहिए । क्या विना किसी भेद के ? कहते हैं नहीं । पुष्ट एवं हृदय को आवर्जित करने वाला अर्थ ही जिसमें अलंकार है—(केवल) ऐसे वाक्य की ही (रचना करनी चाहिए) । कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि वक्रोक्ति आदि अलंकार (वहाँ) नहीं रहेंगे तथापि उस (वाक्य) के विवक्षित अर्थ को सरस एवं उत्कृष्ट बनाना चाहिए । जैसे,—'नेत्रों की भ्रूभङ्गिमा देर तक बढ़ायी, बन्द रखने का अभ्यास किया, बड़े प्रयास से हंसी रोकना सीखी, मूक रहने में अभिनिवेश किया, धैर्य धारण करने के लिये इस चित्त को भी स्थिर कर लिया, (इस प्रकार) मान धारण करने के लिये मैंने किसी प्रकार कमर कस ली । सिद्धि तो भाग्य के ही

अधीन है ॥' निर्दोष वाक्यों के बीच समुच्चय के लिये 'अपि' शब्द आया है। अन्य अलंकारों के अभाव में वहाँ किसी का आदर नहीं होगा—इसलिये (कारिका में) सादर का ग्रहण किया गया। फिर क्या अपुष्टा मध्यवार्थक्य ग्राह्य नहीं होता—इसे कहते हैं—यत्किंचिदित्यादि। क्योंकि पुष्टार्थतारूप अलंकार से भिन्न जो अपुष्टार्थता होती है—वह यत्किंचित् होती है। अर्थात् अत्यधिक आदरणीय नहीं होती। कैसे ?—जैसे—'गामभ्याजेति'। (कोई कहता है) 'देवदत्त ! सफेद गाय को डण्डे से बाहर निकाल दो'—यहाँ न कोई शब्द एवं अर्थ में दोष है, न कोई अलंकार है और न यह पुष्टार्थ ही है (अतएव) इसमें (किसी का) न तो आदर ही होता है और न तो अनादर ही। इस (मध्यम वाक्य) का विषय कथा की संधि और संहार है। जैसे, संपदाओं ने कुरुराज की (प्रजा) पालन की·······। और जैसे—'देवों से ऐसा कह कर ब्रह्मा तिरोहित हो गये'—आदि ॥

अथ सर्वेषामेव शब्ददोषाणां विषयविशेषे साधुत्वं दर्शयितुमाह—

अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतो गच्छन् ।
न भवति दुष्टमतादृग्विपरीतक्लिष्टवर्णं च ॥ ४७ ॥

आगे शब्दगत सभी दोषों की विशेष-स्थल पर साधुता दिखलाने के लिये कहते हैं—

'असमर्थादि दोषों से दुष्ट परिपूर्ण वाक्य या पद जहाँ स्वरूपतः अनुकरण मात्र प्रयोजन से प्रयुक्त होता है वह सदोष नहीं होता। इसी प्रकार दुष्ट क्रम और क्लिष्ट वर्ण होने पर भी सदोष नहीं होता ॥ ४७ ॥'

अनुकरणेति। असमर्थादिदोषैर्दुष्टमपि पदं वाक्यं वाविकलं परिपूर्णं स्वरूपतोऽनुक्रियमाणं दोषाय न भवति। अर्थभेदेन शब्दान्तरत्वादिति भावः। अनुचिकीर्षया प्रयुक्तमथ च प्रतिपादनायासमर्थं तदविकलग्रहणेन दुष्टमिति दर्श्यते। तथा तादृशा भिन्नस्वरूपत्वादसदृशा विपरीता दुष्टक्रमाः क्लिष्टा लुप्ता वर्णा यस्य तत्तथाविधम्। तदपि पदं न दोषाय। यथा विकटनितम्बायाः पतिमनुकुर्वाणा सखी प्राह—'काले माषं सस्ये मासं वदति शकासं यश्च सकाशम्। उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा ॥' इत्यादि ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
षष्ठोऽध्यायः समाप्तः।

अनुकरणेति। (यदि कोई) अविकल रूप से किसी पद या वाक्य का अनुकरण करे तो वह असमर्थ आदि दोषों से दुष्ट होने पर भी सदोष नहीं माना जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रयोजन के भिन्न होने से (अर्थभेदेन)

शब्द भी अन्य होता है। (कारिका में) अविकल के ग्रहण का तात्पर्य यह है कि अनुकरण करने की इच्छा से प्रयोग किये जाने पर (अनुकरण का) प्रतिपादन करने में असमर्थ होकर दुष्ट हो जाता है। तथा (अनुकरण करने के लिये प्रयोग किये गये) भिन्न स्वरूप होने के कारण असदृश, दुष्ट क्रम एवं लुप्तवर्ण वाले पद भी दुष्ट नहीं होते हैं। जैसे विकटनितम्बा के पति का अनुकरण करती हुई सखी कह रही है--"काले माषमादि"। 'समय में उड़द और धान्य में महीना, शमीप बोलता है जो समीप है। ऊँट में लूटता है रं या षम्। उसे विकटनितम्बा (गुरुतर श्रोणीतट वाली) समर्पित कर दी गयी।

इस प्रकार नमिसाधु रचित टिप्पणी के सहित श्री रुद्रट रचित
काव्यालंकार का छठा अध्याय समाप्त हुआ।



सप्तमोऽध्यायः

शब्दार्थौ काव्यमित्युक्तम्। तत्र शब्दलक्षणप्रभेदालंकारदोषा अभिहिताः। इदानीमर्थस्य तान्विवक्षुराह—

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ॥ १ ॥

(पहले) 'शब्दार्थौ काव्यम्'—शब्द और अर्थ काव्य हैं—यह कहा गया है। उनमें शब्द के अलंकार और दोष का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। अब अर्थ के उन (अलंकार और दोषों) को वर्णन करने की इच्छा से कहते हैं—'फिर अर्थ जिसका अभिधा से युक्त वाचक शब्द (उस अभिधेय में) प्रवृत्त होता है उस (अर्थ) के द्रव्या, गुण, क्रिया और जाति—ये चार भेद होते हैं ॥ १ ॥'

अर्थ इति। पुनःशब्दो लक्षणविभागार्थः। वर्णसमुदायात्मकः शब्दः। अभिहितोऽर्थः पुनः। स यस्य वाचकोऽभिधायकः शब्दः प्रवर्तते। इत्यनेन त्वर्थस्य शब्दवाच्यत्वाभिधानेन शब्दार्थयोर्भिन्नत्वं वाच्यवाचकभावश्च दर्शितो भवति। श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो हि शब्दः। तदन्येन्द्रियग्राह्यस्त्वर्थः शब्दे चोच्चारिते सत्यर्थः प्रतीयत इति। तथा शब्दार्थौ काव्यमित्युक्तम्, अतश्चक्षुर्निकोचमूर्धकम्पाङ्गुलिदर्शनादिप्रतिपादितार्थस्य काव्यत्वनिवृत्त्यर्थं प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्द इत्युक्तम्। वाचकस्यापि वाच्यसिद्ध्यर्थं विशेषणमाह—अभिधा प्रतीतिः सा विद्यते यस्य स तथा। ध्वनौ हि प्रतीयमानार्थसंभव इति। प्रतीतिश्च यस्य यो विद्यमानस्तेन यः सन्सोऽर्थः। यस्तु न विद्यते तत्र प्रतीत्यभावान्नासावर्थ इत्युक्तं भवति। लक्षणमभिधाय प्रभेदानाह—तस्येत्यादि। इति परिसमाप्त्यर्थः। तस्यार्थस्यतावत एव द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणाश्चत्वारः प्रभेदाः॥

अर्थ इति। (कारिका में) 'पुनः' शब्द (अर्थ के) लक्षण को अलग करने के लिये आया है। शब्द वर्णों का समुदाय स्वरूप होता है। फिर अर्थ की व्याख्या तो की गयी है—वह है जिसमें वाचक शब्द प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अर्थ के शब्द के द्वारा वाच्य होने का कथन होने पर 'शब्द और अर्थ पृथक् पृथक् हैं और उनमें वाच्य वाचक भाव है' यह स्पष्ट हो जाता है। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से (कान से) ग्राह्य होता है और अर्थ उससे भिन्न इन्द्रिय (मन) से ग्राह्य होता है। शब्द का उच्चारण हो जाने के बाद अर्थ का बोध

होता है। शब्द और अर्थ (दोनों मिलकर ही) काव्य हैं अतएव नेत्रों के संकेत, शिर के हिलाने और उँगली के दिखाने से प्रतिपादित अर्थ के काव्य होने के निराकरण के लिये 'जो वाचक शब्द (उस अर्थ में) प्रवृत्त होता है (वह काव्य होता है) ऐसा (कारिका में) कथन किया गया। वाच्य (अभिधेयार्थ) की सिद्धि के लिये वाचक का भी विशेषण देते हैं—प्रतीति से युक्त (अभिधावान् वाचकः) ध्वनि (के स्थल) में प्रतीयमान ही अर्थ सम्भव होता है। प्रतीति से जो युक्त होता है वही अर्थ होता है, जिसमें प्रतीति नहीं होती वह अर्थ ही नहीं हो सकता। स्वरूप को बताकर उसके भेद बताते हैं–(कारिका में) इतिपद परिसमाप्ति द्योतित करने के लिये प्रयोग किया है—उस अर्थ के द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति—केवल चार ही भेद होते हैं॥

तेषां च यथोद्देशं लक्षणं वाच्यमिति कृत्वा द्रव्यस्य तावदाह—

जातिक्रियागुणानां पृथगाधारोऽत्र मूर्तिमद्द्रव्यम्।
दिक्कालाकाशादि तु नीरूपमविक्रियं भवति॥ २॥

उन (द्रव्य आदि) का नाम ग्रहण के अनुसार लक्षण बताना चाहिए—इसके अनुसार सर्वप्रथम द्रव्य का लक्षण करते हैं—

'(इन पूर्वोक्त चार भेदों में) जाति, क्रिया और गुण में से प्रत्येक का आश्रय मूर्तिमान् द्रव्य होता है। दिक्, काल और आकाश आदि अरूप और चेष्टाशून्य होते हैं॥ २॥'

जातीति। अत्रैतेषु मध्ये द्रव्यं मूर्तिमदिन्द्रियग्राह्यमुच्यते। गुणस्य द्रव्यत्वनिवृत्त्यर्थमाह—पृथक्प्रत्येकं जातिगुणक्रियाणामाधार आश्रयः। जात्यादयो हि न कदाचिदपि द्रव्यं विना भवन्तीति। पृथग्ग्रहणं तु केवलानामपि जात्यादीनामाधारत्वे द्रव्यत्वप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा हि समुदितानामेव य आधारस्तदेव द्रव्यं स्यात्। ततश्च निष्क्रियत्वात्पाषाणादीनां द्रव्यत्वं न स्यात्। मूर्तिमदिति वचनाद्दिगादीनां द्रव्यत्वं न स्यात्। अथ चेष्यतेऽत आह—दिक्कालेत्यादि। तुः पूर्वस्माद्विशेषे। मूर्तं द्रव्यमुच्यते। दिक्कालाकाशात्ममनांसि पुनर्नीरूपाण्यपि द्रव्यमित्यर्थः। तत्र नीरूपत्वादविक्रियं भवति। मूर्तिमत्पुनः सविकारमेव॥

जातीति। इन (चार) भेदों में (चक्षु आदि) इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य मूर्तिमान् (पदार्थ) द्रव्य कहा जाता है। गुण का द्रव्य से निराकरण करने के लिये कहते हैं—(द्रव्य) जाति, गुण और क्रिया में से प्रत्येक का आश्रय होता है। जाति आदि की द्रव्य के बिना कभी सत्ता ही नहीं हो सकती है। (कारिका में) पृथक् का ग्रहण यह ज्ञान कराने के लिये किया गया है कि द्रव्य

जाति आदि में किसी एक का भी आधार हो सकता है। अन्यथा तीनों का (जाति, गुण, और क्रिया का) ही आधार होने पर द्रव्य होता। ऐसा करने पर पत्थर आदि क्रिया से शून्य होने के कारण द्रव्य न बन पाते। (कारिका में द्रव्य को) मूर्तिमान् मानने के कारण 'दिग्' आदि भी द्रव्य के अन्तर्गत नहीं आयेंगे अतः (आगे) कहना पड़ा—दिक्कालेत्यादि। तु पद पहले से वैशिष्ट्य द्योतित करने के लिये आया है। दिशा, काल, आकाश, आत्मा और मन, (यद्यपि) द्रव्य मूर्तिमान् (अतएव सरूप) होता है, अरूप होकर भी द्रव्य हैं—यह अर्थ है। ये अरूप होने के कारण निष्क्रिय होते हैं। जो मूर्तिमान् होता है वह तो सक्रिय ही होगा॥

अथ द्रव्यभेदानाह—

नित्यानित्यचराचरसचेतनाचेतनैर्बहुभिः।
भेदैर्विभिन्नमेतद् द्विधा द्विधा भूरिशो भवति॥ ३॥

आगे द्रव्य के भेद बताते हैं—

'नित्य-अनित्य, चर-अचर, सचेतन-अचेतन आदि अनेक भेदों से दो दो भागों में विभक्त यह (द्रव्य) अनन्त प्रकार का होता है॥ ३॥'

नित्येति। एतद्द्रव्यं नित्यानित्यादिभिर्भेदैर्बहुभिर्द्विधा द्विधा विभिन्नं सद्भूरिशोऽनेकशो भवति। आदिग्रहणात्सवचनावचनव्यक्ताव्यक्तस्थूलसूक्ष्मनक्तंचरदिवाचरस्थलजजलजप्रभृतयो भेदा गृह्यन्ते। बहुग्रहणमानन्त्यप्रतिपादनार्थम्। न च वाच्यं चराचरयोः सचेतनाचेतनयोश्च न विशेष इति। वृक्षादयो ह्यचरा अपि सचेतनाः॥

नित्येति। यह द्रव्य नित्य-अनित्य आदि अनेक दृष्टियों से दो दो वर्गों में विभक्त करने पर अनन्त प्रकार का होता है। आदि ग्रहण का तात्पर्य यह है कि भाषण करने वाले और मूक, स्पष्ट और अस्पष्ट, स्थूल और सूक्ष्म, रात में विचरण करने वाले और दिन में विचरण करने वाले, और स्थल पर उत्पन्न होने वाले और जल में उत्पन्न होने वाले आदि। बहु का ग्रहण आनन्त्य का प्रतिपादन करने के लिये किया गया है। यह कहना ठीक नहीं है कि चर-अचर, और सचेतन-अचेतन में भेद नहीं है (क्योंकि) वृक्ष आदि अचर होकर भी सचेतन हैं॥

अथ गुणः—

द्रव्यादपृथग्भूतो भवति गुणः सततमिन्द्रियग्राह्यः।
सहजाहार्यावस्थिकभावविशेषादयं त्रेधा॥ ४॥

अब गुण (का प्रतिपादन करते हैं)—

'सदैव प्रत्यक्ष के योग्य द्रव्य के ही आश्रित गुण होता है । वह सहज, आहार्य और अवस्था विशेष के आश्रित होने के कारण—तीन प्रकार का होता है ॥४॥'

द्रव्यादिति । द्रव्यादपृथग्भूतो द्रव्यसमवायी गुणो भवति । जातिक्रिययोर्द्रव्यस्थत्वाद् गुणत्वं स्यादित्याह—सततमिन्द्रियग्राह्यः सर्वदैव प्रत्यक्षगम्यः । नानुमेय इत्यर्थः । जातिक्रिये तु न प्रत्यक्षगम्ये । गुणं च केचिदुत्पाद्यसहजत्वेन द्विधेति ब्रुवते तन्निरासार्थमाह—सहजेत्यादि । तत्र सहजो गुणो यथा—क्षत्रिये शौर्यम् । काके काष्र्ण्यम् । आहार्यो यथा—शास्त्राभ्यासात्पाण्डित्यम् । पटे रागः । आवस्थिको यथा—फलानां लौहित्यम् । केशानां शौक्ल्यम् ॥

द्रव्यादिति । द्रव्य से अपृथक् द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहने वाला गुण होता है । (इस प्रकार तो) जाति और क्रिया भी गुण होंगे क्योंकि (वे) भी द्रव्य में ही रहते हैं—इस शङ्का का उत्तर देते हैं—(गुण) सदैव (चक्षु आदि) इन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष का विषय होता है । (वह) अनुमान से नहीं जाना जाता (यह) अर्थ है । जाति और क्रिया प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जाने जाते । कुछ लोग गुण को सहज और उत्पाद्य के भेद से दो ही प्रकार का मानते हैं, उसका खण्डन करने के लिये कहते हैं—सहज आदि । उनमें सहज गुण जैसे क्षत्रिय में शूरता, कौवे में कालापन । आहार्य जैसे शास्त्रों के अभ्यास से पाण्डित्य, वस्त्र में रङ्ग । आवस्थिक जैसे—फलों की लालिमा, केशों की श्वेतिमा (आदि) ।

अथ क्रिया—

नित्यं क्रियानुमेया द्रव्यविकारेण भवति धात्वर्थः ।
कारकसाध्या द्वेधा सकर्मिकाकर्मिका चेति ॥ ५ ॥

अब क्रिया (बताते हैं)—

'धात्वर्थ क्रिया होती है; द्रव्य (तण्डुलादि) के पकने आदि विकारों से उसका ज्ञान होता है । (कर्तृ, कर्म आदि) कारकों से निष्पाद्य (उसके) सकर्मक और अकर्मक दो भेद होते हैं ॥ ५ ॥'

नित्यमिति । धात्वर्थः क्रिया भवति । 'क्रियाभावो धातुः' इति वचनात् । सा तु न प्रत्यक्षा । किं तु द्रव्यस्य तण्डुलादेर्विकारेण वैक्लेदादिनानुमेया । गमनादिका तु देशान्तरप्राप्त्यादिनेति । सा च कारकैः कर्तृकर्मादिभिः साध्या निष्पाद्या यदुक्तम्–सर्वकारकनिर्वर्त्या कर्तृकर्मद्वयाश्रया । आख्यातशब्दनिर्देश्या धात्वर्थः केवलं क्रिया ॥' सापि सकर्मिकाकर्मिका-

त्वभेदेन द्वेधा। आद्या ग्रामं गच्छतीत्यादिका। द्वितीया आस्ते शेते इत्यादिका। नियतानियतकर्मिकात्वसमुच्चयार्थश्चशब्दः। तत्राद्या कटं करोतीति। द्वितीया वहति भारम्, वहति नदी॥

नित्यमिति। 'क्रिया का भाव ही धातु है'—इस कथन के अनुसार धात्वर्थ ही क्रिया होती है। वह प्रत्यक्ष नहीं होती। किन्तु वह द्रव्य चावल आदि के भीगने आदि विकारों के द्वारा अनुमान से जानी जा सकती है। गमन आदि (क्रिया भी गन्ता के) अन्य स्थान पर पहुँच जाने आदि से (जानी जाती है)। और वह (क्रिया) कर्ता, कर्म आदि कारकों के द्वारा साध्य होती है जैसा कि कहा भी गया है—सभी कारकों (सभी विभक्तियों) के द्वारा पूर्ण की जाने वाली कर्ता और कर्म का आश्रय लेने वाली 'आख्यात' शब्द से निर्दिष्ट की जाने वाली धातु का अर्थमात्र ही क्रिया होता है॥' वह भी सकर्मक और अकर्मक के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रथम (सकर्मक) जैसे 'गाँव जाता है' आदि। दूसरी (अकर्मक) जैसे 'होता है' 'सोता है' आदि। (कारिका में) च शब्द नियत कर्म वाली और अनियत कर्म वाली का समुच्चय करने के लिये आया है। उनमें नियत कर्म वाली क्रिया जैसे 'चटाई बनाता है'। अनियत कर्म वाली जैसे 'भार ढोता है' 'नदी बहती है' आदि। (यहाँ 'वहति' क्रिया प्रथम उदाहरण में सकर्मक है और द्वितीय में अकर्मक। अतएव कर्म के नियत (निश्चित) न होने के कारण वह अनियत कर्म वाली क्रिया है)॥

अथ जातिः—

भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः॥ ६॥

अब जाति (बताते हैं)—

'पृथक् पृथक् काया वाले अनेक द्रव्यों में गुण और क्रिया के पृथक् होने पर भी जिस कारण से एकाकार बुद्धि उत्पन्न होती है उसे जाति कहते हैं॥ ६॥'

भिन्नेति। बहुषु द्रव्येषु यतो यद्वशादेकाकारा समाना बुद्धिर्भवति सा जातिर्भवेदिति। कदाचित्समानगुणक्रियायोगात्सा बुद्धिर्भवेदित्याह—भिन्नेत्यादि। भिन्नौ विलक्षणौ क्रियागुणौ येषु तेष्वपि। कदाचिदत्यन्तमवयवसादृश्याद्वा सा स्यादित्याह—चित्रगात्रेष्विति। चित्रं नानारूपं काणकृशकुब्जादिकं गात्रं येषां तेषु। सा च जातिस्त्रिष्वपि द्रव्यक्रियागुणेषु समवेतेति त्र्याश्रया॥

भिन्नेति। अनेक द्रव्यों में जिसके कारण समान बुद्धि होती है वह जाति होती है। शायद वह (समान) बुद्धि समान गुण और क्रिया के कारण होती हो इस शङ्का का उत्तर देते हैं—भिन्नेत्यादि। पृथक् पृथक् गुण और क्रिया वाले (द्रव्यों) में भी (वह समान बुद्धि होती है)। कदाचित् अङ्गों के अत्यन्त सदृश होने के कारण वह होती हो—इसे बताते हैं—चित्रगात्रेष्विति। नाना प्रकार के काने, दुबले और कुबड़े आदि शरीर वालों में भी (वह समान—एकाकार बुद्धि होती है)। वह जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य में समवेत होने के कारण तीनों के आश्रित होती है।

अथासामेव द्रव्यगुणक्रियाजातीनामन्यथात्वनियममाह—

सर्वः स्वं स्वं रूपं धत्तेऽर्थो देशकालनियमं च।
तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिरसात्॥ ७॥

आगे इन्हीं द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के नियम का उल्लङ्घन होने का वर्णन करते हैं—'सभी अर्थ अपने अपने स्वरूप और देश तथा काल के नियम को धारण करते हैं। रसावेश के कारण विना किसी हेतु के उनकी निराधार योजना नहीं करनी चाहिए॥ ७॥

सर्व इति। सर्वोऽर्थो द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणः स्वं स्वमात्मीयं स्वभावं देशकालनियमं च धत्ते। नियते क्वापि देशे काले च नियताकारश्चार्थो भवतीत्यर्थः। ततः किमित्याह—तं चेत्यादि। चशब्दो हेतौ। खल्ववधारणे। ततः कारणात्तमर्थमन्यथा नैव बध्नीयादित्यर्थः। तत्र ये नित्या भावास्तेषां वर्तमानेन निर्देशो न्याय्यः। अतीतानां तु भूतेन। अनागतानां भविष्यत्कालेन। एवं चराचरसचेतनाचेतनादिषु द्रष्टव्यम्। देशकालनियमश्च यथा—हिमवति हिमस्य सदा सद्भावोऽन्यत्र तु शीतकाले। एवमन्यदपि। निष्कारणग्रहणं कारणसद्भावेऽन्यथात्वस्यादुष्टत्वख्यापनार्थम्। यथा शुकसारिकादीनां व्यक्तवचनत्वे मनुष्यप्रयत्नः कारणमिति। कुतः पुनर्निष्कारणस्यान्यथाभिधानप्रसङ्ग इत्याह—अतिरसादिति। अतिरसहृतहृदयानां हि प्रायशो मर्यादोल्लङ्घनमपि भवति। एतदुक्तम्—'गणयन्ति नापशब्दं न वृत्तभङ्गं क्षयं न वार्थस्य। रसिकत्वेनाकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च'॥

सर्व इति। द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप सभी अर्थ अपने अपने स्वभाव और देशकाल के नियम को धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि कहीं भी अर्थ निश्चित देश और काल में निश्चित आकार का होता है। तो फिर क्या करना चाहिए—इसे बताते हैं—तं चेत्यादि। च शब्द हेतु के अर्थ में आया है।

खलु अवधारण अर्थ में आया है। इस कारण से अर्थ का उपन्यास अन्यथा (स्वभाव और देश-काल के विपरीत) नहीं करना चाहिए। उनमें जो नित्य भाव (अर्थ) हैं उनका वर्तमान काल से निर्देश करना उचित होता है। अतीत काल के (भावों का) भूतकाल से और अनागत (भावों) का भविष्य काल से निर्देश करना चाहिए। इसी प्रकार चराचर और सचेतनाचेतन (भावों) में भी नियम रखना चाहिए। देश-काल का नियम जैसे हिमालय पर हिम का सदैव सद्भाव होता है, अन्य स्थलों पर केवल शीतकाल में ही। इसी प्रकार और भी (जानना चाहिए)। निष्कारण पद के ग्रहण का अर्थ है कि कारण वश (अर्थ का) अन्यथा उपन्यास करना सदोष नहीं होता है जैसे तोता-मैना के स्पष्ट वक्ता होने में मनुष्य द्वारा किया गया प्रयत्न कारण होता है। फिर अकारण ही (अर्थ के) अन्यथा उपन्यास करने की चर्चा कैसे उठी-इसे बताते हैं—अतिरसादिति। रस के आतिशय्य के कारण हृदय के आकर्षित होने पर प्रायः मर्यादा-उल्लङ्घन हो जाता है। यह कहा गया है—वेश्याओं के पति और कुकवि रसिकता (कामावेश पक्षा०—श्रृङ्गारादि रसों के आतिशय्य) के कारण न तो अपशब्द (गाली पक्षा०--दुष्ट पद) न तो वृत्तभङ्ग (आचार का खण्डन, पक्षा०—छन्दोदोष) और न तो अर्थ के क्षय (प्रयोजन के विनाश, पक्षा०—अभिधेय की क्षति) की ही परवाह करते हैं॥

यद्यन्यथात्वं निवार्यते तर्हि कथं दिगाकाशादिष्वमूर्तेषु मूर्तधर्माः कविभिर्वर्ण्यन्ते। यथा निर्मला दिशः। निर्मलं नभ इति। तथा विचेतनेषु सचेतनधर्मा इत्याह—

सुकविपरम्परया चिरमविगीततयान्यथा निबद्धं यत्।
वस्तु तदन्यादृशमपि बध्नीयात्तत्प्रसिद्ध्यैव॥ ८॥

यदि अन्यथात्व को मना ही कर रहे हैं तो दिशा, आकाश आदि अमूर्त (द्रव्यों) में कवियों ने मूर्तधर्मों का वर्णन क्यों किया ? जैसे निर्मल दिशायें। निर्मल आकाश। तथा जड़ पदार्थों में चेतन धर्म--इसका उत्तर देते हैं—

'महाकवियों ने चिरकाल से जिस अर्थ की निराधार योजना की है, उस अर्थ (वस्तु) की निराधार होने पर भी केवल प्रसिद्धि होने के कारण योजना करनी चाहिए॥ ८॥'

सुकवीति। पूर्वसुकवीनां परम्परया समूहेन चिरं बहुपूर्वकालेऽविगीततयाविगानेन निर्दोषतयेति यावत्। यद्वस्त्वन्यथा निबद्धं तदन्यादृशमपि तत्प्रसिद्ध्यैव बध्नीयात्। न त्वात्मबलेन। महाकविप्रसिद्धिरेवात्र प्रमाणमित्यर्थः॥

सुकवीति। पूर्ववर्ती महाकवियों के द्वारा (जिस अर्थ का) चिरकाल तक गान किया गया है—जिस वस्तु का अन्यथा उपन्यास (कथन) किया गया है उसका वर्णन प्रसिद्धि के कारण ही अन्य रूप में करना चाहिए। अपने नियम से (किसी वस्तु का अन्यथा वर्णन) नहीं किया जा सकता। महाकवियों की प्रसिद्धि ही इस विषय में प्रमाण है—यह भाव है॥

सप्रभेदमर्थमभिधाय सांप्रतं तदलंकारानाह—

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥ ९॥

भेदों के साथ अर्थ का वर्णन करके अब उसके अलंकारों का वर्णन करते हैं—

'वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष अर्थ के अलंकार हैं। अन्य सभी (अर्थ के अलंकार) इन्हीं में से किसी के भेद होते हैं॥ ९॥'

अर्थस्येति। उक्तलक्षणस्यार्थस्य वास्तवादयश्चत्वारोऽलंकारा भवन्ति। चतुर्भिः प्रकारैरसौ भूष्यत इत्यर्थः। नन्वन्येऽपि रूपकादयोऽलंकाराः सन्ति तत्किमिति चत्वार एवोक्ता इत्याह—एषामेवेत्यादि। तुर्हेतौ। एषामेव सामान्यभूतानां चतुर्णां ते भेदा यतस्ततो मूलभेदत्वेन नोक्ता इत्यर्थः॥

अर्थस्येति। ऊपर बताये गये स्वरूप वाले अर्थ के वास्तव आदि चार अलंकार होते हैं। तात्पर्य यह है कि यह (अर्थ) चार प्रकार से अलंकृत होता है। प्रश्न है कि रूपक आदि अन्य अलंकार भी होते हैं फिर चार ही भेद क्यों बताये गये इसका उत्तर देते हैं—एषामेवेत्यादि। तु हेतु अर्थ में आया है। इन्हीं सामान्य चार अलंकारों के वे (रूपक आदि) भेद होते हैं अतएव उनकी मूल भेद रूप में गणना नहीं करायी गयी॥

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति वास्तवलक्षणमाह—

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम्॥ १०॥

नाम-ग्रहण के अनुसार स्वरूपकथन होना चाहिये इसलिये (सर्वप्रथम) वास्तव का स्वरूप बताते हैं—

'जो वस्तु के स्वरूप का कथन किया जाता है उसे वास्तव समझना चाहिए। यह (वास्तव) पुष्टार्थ, विवक्षित अर्थ के अविपरीत, निरुपम, अनधिक और अश्लिष्ट होता है॥ १०॥'

वास्तवमिति । यद्वस्तुस्वरूपकथनं क्रियते तद्वास्तवमिति ज्ञेयम् । वस्तुन इदं वास्तवमिति कृत्वा । इतिशब्दोऽर्थनिर्देशे । वास्तवशब्दवाच्यः सोऽर्थः इत्यर्थः । पुष्टार्थग्रहणमपुष्टार्थनिवृत्त्यर्थम् । तेन 'गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणान्यत्ति मुखेन सः । मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोमयम् ॥' अस्य वास्तवत्वं न भवति । अविपरीतग्रहणं विवक्षितविपरीतार्थस्य वास्तवत्वनिवृत्त्यर्थम् । यथा—'दन्तान्निर्दलयद्रसां च जडयत्तालु द्विधा स्फोटयन्नाड्यः संघटयद्गलद्गलबिलादान्त्राणि संकोचयत् । इत्थं निर्मलकर्करीस्थमसहप्रालेयवाताहतं नाधन्याः प्रचुरं पिबन्त्यनुदिनं प्रोन्मुक्तधारं पयः ॥' अत्र हि पयसः शीतलत्वमाह्लादकत्वं च विवक्षितम् । तद्वैपरीत्यं च प्रतीयते । निरुपमादि ग्रहणं त्वनुवादमात्रम् । न तूपमातिशयश्लेषाणां वास्तवत्वनिवृत्तये । पृथगुपादानादेव तेषामन्यत्वसिद्धेः ॥

वास्तवमिति । जो वस्तु के स्वरूप का कथन किया जाता है उसे वास्तव जानना चाहिए । वस्तु का जो है वह है वास्तव (वस्तुगत) । इति शब्द अर्थ के निर्देश में आया है । तात्पर्य है—वास्तव शब्द के द्वारा वाच्य वह अर्थ । अपुष्टार्थ का निराकरण करने के लिये (कारिका में) पुष्टार्थ का ग्रहण किया गया । इससे 'गाय का पुत्र बलवान् बैल मुख से घास खाता है, शिश्न से मूत्रत्याग करता है और अपान से गोबर का त्याग करता है' (यह पुष्टार्थ न होने के कारण) वास्तव नहीं होता है । विवक्षित अर्थ के विपरीत अर्थ को वास्तव से दूर रखने के लिये अविपरीत का ग्रहण किया गया जैसे—'दाँतों को रगड़ाते हुये, जिह्वा को स्थगित करते हुये, नाड़ियों की संघटना करते हुये, गले के छिद्र से नीचे पड़ते ही आँतों को संकुचित कर देने वाले, प्रलयकालीन वायु से आहत 'छूटी हुयी धार वाले कर्करी (सछिद्र घट) के निर्मल जल को इस प्रकार अभागे नहीं पीते हैं' ॥ यहाँ (वक्ता को) जल की शीतलता और आह्लादकता विवक्षित है । (यहाँ) उसका वैपरीत्य ही प्रतीत हो रहा है । 'निरुपमम्' का ग्रहण अनुवाद मात्र के लिये किया गया है, उपमा, अतिशय और श्लेष को वास्तव से भिन्न बताने के लिये नहीं । उनका पृथक् वर्णन करने से ही उनका पार्थक्य सिद्ध है ॥

अथ वास्तवप्रभेदानाह—

तस्य सहोक्तिसमुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः ।
विषमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ॥ ११ ॥
हेतुः कारणमाला व्यतिरेकोऽन्योन्यमुत्तरं सारम् ।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः ॥१२॥ (युग्मम्)

आगे वास्तव के भेद गिनाते हैं—

'उस (वास्तव) के सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली—ये तेइस भेद होते हैं ॥ ११-१२ ॥'

तस्य वास्तवस्य वक्ष्यमाणलक्षणाः सहोक्त्यादयस्त्रयोविंशतिरिमे भेदा भवन्ति ॥

उस वास्तव के आगे बताये गये लक्षणों वाले सहोक्ति आदि ये तेइस भेद होते हैं।

सांप्रतमेषां परिपाट्या लक्षणमाह—तत्र सहोक्तिः—

भवति यथारूपोऽर्थः कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम् ।
उक्तिस्तस्य समाना तेन समं या सहोक्तिः सा ॥ १३ ॥

अब इनका क्रमशः लक्षण बताते हैं—उनमें सहोक्ति—

'अपने सदृश दूसरे अर्थ को घटित करता हुआ जो अर्थ (वस्तु) जिस रूप में होता है उस दूसरे अर्थ के समान इसका कथन जहाँ होता है वहाँ सहोक्ति नामक अलंकार होता है ॥ १३ ॥'

भवतीति । योऽर्थः कर्तृभूतः प्रधानं यथारूपो यादृगात्मा यद्गुणयुक्तो भवति । कथं भवति—अपरमन्यमर्थं कर्मलक्षणमप्रधानं तथाभूतम् । तथाशब्दः प्रकारे । तथाप्रकारमात्मगुणसदृशं कुर्वन्नेवेति । एवकारोऽन्यकालनिवृत्त्यर्थः । कुर्वन्नेव भवति । न तु भूत्वा करोति, कृत्वा भवतीत्यर्थः । अतस्तस्य कुर्वतोऽर्थस्य तेन कार्येणार्थेन समं समाना तुल्या योक्तिः सा सह सार्धमुक्तिः सहोक्तिः । हेतुहेतुमद्भावोऽत्र सहार्थः । एकवचनमिहातन्त्रम् । तेन बहूनामप्यर्थानां सहोक्तिर्भवतीति ॥

भवतीति । जो अर्थ प्रधान होकर जिस स्वरूप का—जिन गुणों से युक्त—होता है—कैसे होता है ?—अप्रधान अन्य अर्थ के सदृश होकर । तथा शब्द प्रकार अर्थ में आया है। अर्थात् (अप्रधान अर्थ को) अपने गुणों के सदृश बनाता हुआ । एवकार (वर्तमान) के अतिरिक्त अन्य काल का निराकरण करने के लिये प्रयुक्त हुआ है । (अपने गुणों के सदृश) बनाता हुआ ही होता है, न कि स्वयं होकर फिर (अप्रधान को अपने) सदृश बनाता है करके होता है यह तात्पर्य है । अतः उस करने वाले अर्थ की उस किये जाने वाले (कार्य) अर्थ के साथ जो उक्ति होती है उसे (सहन उक्ति) सहोक्ति कहते हैं। यहाँ सह का अर्थ हेतु-हेतुमद्भाव है। एकवचन का प्रयोग शिथिल है। अतएव अनेक अर्थों की (भी) सहोक्ति होती है ॥

निदर्शनमाह—

कष्टं सखे क्व यामः सकलजगन्मन्मथेन सह तस्याः ।
प्रतिदिनमुपैति वृद्धिं कुचकलशनितम्बभित्तिभरः ॥ १४ ॥

उदाहरण देते हैं—

'खेद है मित्र ! हम लोग कहाँ जायँ । क्योंकि उस तरुणी के स्तन और नितम्ब संपूर्ण संसार के मन को मथने वाले कामदेव के साथ प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं ॥ १४ ॥'

कष्टमिति । कश्चिद्विरही मित्त्रमिदमाह—हे सखे, कष्टं क्व व्रजामः । यतस्तस्यास्तरुण्याः स्तनकलशभरो नितम्बभित्तिभरश्चानुदिनं सकलस्य जगतो यो मन्मथस्तेन सह वृद्धिमुपैति । तां प्रति कामो वर्धत इत्यर्थः । अत्र प्रधानभूतः कुचकलशनितम्बभित्तिभरो वृद्धिगुणयुक्तोऽपरमर्थं मन्मथाख्यं वृद्धियुक्तं करोतीति । ततस्तस्य तथा कुर्वतः सहोक्तिरिति लक्षणयोजना ॥

कष्टमिति । कोई विरही (अपने) मित्र से यह कह रहा है—हे मित्र ! खेद है कहाँ जाँय । क्योंकि उस तरुणी के कुचयुग्म का और नितम्ब की भित्ति का भार सकल संसार के कामदेव के साथ प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं अर्थात् उसके प्रति (मेरा) काम बढ़ता जा रहा है । यहाँ प्रधानभूत वृद्धि गुण से युक्त कुचयुग्म और नितम्ब की भित्ति का भार मन्मथ नामधारी अप्रधान अर्थ को वृद्धि गुण से युक्त बनाते हैं । इस प्रकार वृद्धि गुण से युक्त बनाते हुये उस (भार) का कथन सहोक्ति (अलंकार) है—इस प्रकार लक्षण घटाना चाहिए ॥

अस्या एव प्रकारान्तरमाह—

यो वा येन क्रियते तथैव भवता च तेन तस्यापि ।
अभिमानं यत्क्रियते समानधन्या सहोक्तिः सा ॥ १५ ॥

इसी के अन्य प्रकार को बताते हैं—

'जो (अर्थ-वस्तु) जिसके द्वारा की जाती है उसी (की जाने वाली अर्थ वस्तु) के समान धर्म से युक्त होते हुये अर्थ-वस्तु के साथ उस (की जाने वाली अर्थ वस्तु) का जो अभिधान किया जाता है वह दूसरे प्रकार की सहोक्ति होती है ॥ १५ ॥'

य इति । योऽर्थः कर्मभूतो येन कर्तृभूतेन क्रियते तस्य कर्मभूतस्य तेन कर्तृभूतेनार्थेन । कीदृशेन । तथैव तादृशधर्मयुक्तेन भवता । सहाभिधानं यत्क्रियते सान्या सहोक्तिः । वाशब्दः प्रकारार्थः । प्रकारान्तरेण सहोक्तिरित्यर्थः ॥

य इति। कर्मभूत जिस अर्थ का—जो कर्मभूत जिस कर्तृभूत अर्थ के साथ जो उसी धर्म से युक्त होता है—उसी के साथ कथन होने पर (पहले बतायी गयी सहोक्ति से) भिन्न प्रकार की सहोक्ति होती है। वा शब्द प्रकार के अर्थ में आया है। 'अन्य प्रकार की सहोक्ति होती है' यह तात्पर्य है॥

उदाहरणमाह—

भवदपराधैः सार्धं संतापो वर्धतेतरां तस्याः।
क्षयमेति सा वराकी स्नेहेन समं त्वदीयेन॥ १६॥

उदाहरण देते हैं—

'तुम्हारे अपराधों के साथ उसका संताप बढ़ता ही जा रहा है। वह बेचारी तुम्हारे स्नेह के साथ क्षीण होती जा रही है॥ १६॥'

भवदिति। कस्याश्चिन्मानिन्याः सखी नायकमन्यचित्तमिदमाह—तस्यास्त्वत्कान्तायाः संतापस्त्वदीयापराधैः सहातीव वर्धते। अत एव सा वराकी त्वदीयेन स्नेहेन सार्धं क्षयं गच्छति, अत्र संतापस्य वराकीक्षयस्य च शब्देन प्राधान्यम्। अपराधस्नेहयोस्तु तत्कारणयोरप्राधान्यम्। अत एव तृतीया। तत्त्वतस्तु भवदपराधा वर्धन्ते तस्याः संतापेन सह। भवत्स्नेहश्च क्षीयते तया सहेति। यदा त्वेवमुच्यते तदा पूर्वैव सहोक्तिरिति। पूर्वस्यां कर्तुः प्राधान्यं क्रियमाणस्य गुणभावः। इह तु क्रियमाणस्य प्राधान्यं कुर्वतस्त्वप्राधान्यमिति भेदः॥

भवदिति। किसी मानिनी की सखी दूसरी ओर ध्यान दिये हुये नायक से यह कह रही है—तुम्हारी उस प्रिया का संताप तुम्हारे अपराधों के साथ अत्यन्त बढ़ता ही जा रहा है। अतएव बेचारी तुम्हारे स्नेह के साथ क्षीण होती जा रही है (जैसे-जैसे उसके प्रति तुम्हारा स्नेह क्षीण होता जा रहा है वैसे-वैसे वह भी क्षीण होती जा रही है)। यहाँ 'संताप' और 'वराकीक्षय' शब्द के कारण प्रधान हैं। उन (संताप) के कारण अपराध (और) (बेचारी के क्षीण होने के) कारण स्नेह गौण अतएव (उनमें) तृतीया है। सच तो यह है कि तुम्हारे अपराध उस (नायिका) के संताप के साथ बढ़ रहे हैं और तुम्हारा स्नेह (प्रेम) उसके साथ क्षीण हो रहा है। जब इस प्रकार का कथन होगा तो प्रथम प्रकार की ही सहोक्ति होगी। प्रथम प्रकार की सहोक्ति में कर्ता प्रधान होता है और कार्य गौण; यहाँ कार्य प्रधान और कर्ता गौण—यह दोनों का भेद है॥

प्रकारान्तरमाह—

अन्योन्यं निरपेक्षौ यावर्थावेककालमेकविधौ।
भवतस्तत्कथनं यत्सापि सहोक्तिः किलेत्यपरे॥ १७॥

(सहोक्ति का) दूसरा प्रकार बताते हैं—

'परस्पर निरपेक्ष एक ही प्रकार की, एक ही काल में जो दो क्रियायें होती हैं—उनका जो कथन होता है वह भी सहोक्ति का अन्य प्रकार होता है—ऐसा कुछ लोगों का मत है ॥ १७ ॥'

अन्योन्यमिति। यावर्थौ पूर्वोक्तसहार्थाभावात्परस्परं निरपेक्षावेकविधौ समानधर्मयुक्तौ तुल्यकालं भवतस्तयोर्यत्सह कथनं सापि किल सहोक्ति-रित्यपरे केचित्। किलशब्दोऽत्रारुचौ। अरुचिश्चोक्तसहार्थाभावादिति ॥

अन्योन्यमिति। पहले बताये गये सह अर्थ के अभाव के कारण जिन दो अर्थों की परस्पर एक ही काल में एक ही धर्म वाली निरपेक्ष क्रियायें होती हैं उन दोनों का जो कथन होता है वह भी कुछ लोगों के विचार में सहोक्ति है। किल शब्द के द्वारा (उसे सहोक्ति मानने में रुद्रट की) अरुचि सूचित होती है उसका कारण पूर्ववर्णित सहार्थ (एक साथ अभिधान) का अभाव है ॥

निदर्शनमाह—

कुमुददलैः सह संप्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि।
सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति ॥ १८ ॥

उदाहरण देते हैं—

'अब कुमुद के पत्रों के साथ चक्रवाक के जोड़े बिछुड़ रहे हैं। स्त्रियों का मान भी कमलों के साथ संकुचित हो रहा है ॥ १८ ॥'

कुमुददलैरिति। प्रदोषवर्णनमेतत्सुगममेव। अत्र न कुमुददलैश्चक्र-वाकाणां तैर्वा तेषां विघटना क्रियते। अपि तु कालेन। तथा न कमलै-र्मानस्य मानेन वा तेषां संकोचो जन्यते। अपि तु रात्र्या, शशिना वा। औपम्यं न विवक्षितम् ॥

कुमुददलैरिति। गोधूली का यह वर्णन स्फुट ही है। यहाँ न तो कुमुद के पत्र ही चकई-चकवे को वियुक्त करते हैं और न तो वे (चकई-चकवे ही) उन (कुमुद पत्रों) को वियुक्त करते हैं। अपितु (यह वियोग) समय ही करता है। इसी प्रकार न तो कमल के द्वारा मान का और न तो मान के द्वारा कमलों का ही संकोच होता है अपितु रात और चन्द्रमा के द्वारा। (यहाँ वक्ता को) औपम्य नहीं विवक्षित है (अतएव इसमें वास्तव में कोई सन्देह नहीं करना चाहिए) ॥

अथ समुच्चयमाह—

यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात्सुखावहाद्येव।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः ॥ १९ ॥

अब समुच्चय का लक्षण करते हैं—

'जहाँ एक ही आधार में अनेक वस्तु अत्यन्त सुखावह आदि हों उसे समुच्चय अलंकार जानना चाहिए। इसके अतिरिक्त (भी) सत् और असत् के योग में यह समुच्चय तीन प्रकार का होता है (सद्योग, असद्योग और सदसद्योग) ॥ १९ ॥'

यत्रेति। यत्र समुच्चये एकत्राधारेऽनेकं वस्तु द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणं परमुत्कृष्टं शोभनत्वेन वा स्यात्स समुच्चयः। तथा सुखावहाद्येवेति। सुखमावहत्युत्पादयतीति सुखावहम्। आदिग्रहणाद्दुःखावहादिपरिग्रहः। एवशब्दः समुच्चये। सुखावहादि च यत्रानेकं द्रव्यादि स्यात्सोऽपि समुच्चय इत्यर्थः। तथा त्रेधान्यः सदसतोर्योगः। त्रेधा त्रिविधः, अन्यः प्रकारान्तरेण समुच्चयः। कीदृशः। सदसतोर्योग इति। सतोः सुन्दरयोर्योग इत्येकः। असतोरसुन्दरयोर्योग इति द्वितीयः। सदसतोः सुन्दरासुन्दरयोर्योगस्तृतीयः। अत्र च सदसतां योग इति बहुवचनेन निर्देशे न्याय्ये द्विवचननिर्देशो द्वयोरेव सतोरसतोः सदसतोर्वा समुच्चयो नान्यथा इति ख्यापनार्थः॥

यत्रेति। जहाँ एक ही आधार में द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप अनेक वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सुन्दर हों उसे समुच्चय अलंकार कहते हैं। तथा सुखावह आदि होने पर ही (समुच्चय) होता है। सुखावह—सुख देने वाली (बाला)। आदि के ग्रहण से दुःखावह आदि का भी (ग्रहण होता है)। एव शब्द समुच्चय के अर्थ में आया है। 'जहाँ अनेक द्रव्य आदि सुखावह आदि हों वह भी समुच्चय होता है' यह अर्थ है। इसके अतिरिक्त सत् और असत् के योग में होने वाला तीन प्रकार का समुच्चय होता है। वह तीन प्रकार का समुच्चय भिन्न प्रकार का होता है। कैसे होता है?—सत्-असत् के योग में। पहला सुन्दर (वस्तुओं) के योग में, दूसरा असुन्दर (वस्तुओं) के योग में और तीसरा सुन्दर-असुन्दर (वस्तुओं) के योग में। यहाँ 'सुन्दर-असुन्दर (वस्तुओं के योग में') इस प्रकार बहुवचन के प्रयोग के प्रशस्य होने पर भी द्विवचन का प्रयोग 'दो सुन्दर (वस्तुओं), दो असुन्दर (वस्तुओं) और एक सुन्दर और एक असुन्दर (वस्तु) के योग में ही समुच्चय होगा'—यह द्योतित करने के लिये है॥

एतदुदाहरणानि क्रमेणाह—

दुर्गं त्रिकूटं परिखा पयोनिधिः प्रभुर्दशास्यः सुभटाश्च राक्षसाः।
नरोऽभियोक्ता सचिवैः प्लवंगमैः किमत्र वो हास्यपदे महद्भयम्॥२०॥

क्रमशः इनके उदाहरण देते हैं—

'किला त्रिकूट है, खाई समुद्र, स्वामी रावण और सैनिक राक्षस; आक्रमण करने वाला मनुष्य, फिर वानर जिसके मन्त्री हैं। इस हास्यास्पद युद्ध में आप लोगों को किससे भय है ॥ २० ॥'

दुर्गमिति। निगदसिद्धमेव। अत्रैकं वस्त्वत्रशब्दवाच्यम्। अनेकं तु त्रिकूटदुर्गादिकम्। शोभनत्वेनोत्कृष्टं यथा—'उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्' इत्यादि। अशोभनत्वेन यथा—'क्लीबो विरूपो मूर्खश्च मर्महा मत्सरान्वितः। चित्रं तथापि न धनी दुर्भगः खलु मानवः ॥' इति। गुणाद्युत्कर्षोदाहरणानि स्वयमूह्यानि ॥

दुर्गमिति। सुस्पष्ट है। यहाँ अत्रशब्द के द्वारा वाच्य एक वस्तु (आधार) है। त्रिकूट, दुर्ग आदि अनेक (वस्तु सुखावह आदि) हैं। शोभा के कारण उत्कृष्ट (वस्तु का) उदाहरण जैसे—'उमा (पार्वती) वधू हैं, आप दाता हैं (और) यह हम लोग याचक (हैं)' आदि। अशोभनीय का उदाहरण जैसे—'नपुंसक, कुरूप, मूर्ख, अप्रिय, द्वेषी, आपत्तियों से घिरा होकर भी आश्चर्य है कि—(यह) मनुष्य धनवान् नहीं है।' गुण आदि के उत्कर्ष के उदाहरणों को स्वयं सोच लेना चाहिए ॥

सुखावहाद्युदाहरणान्याह—

सुखमिदमेतावदिह स्फारस्फुरदिन्दुमण्डला रजनी।
सौधतलं काव्यकथा सुहृदः स्निग्धा विदग्धाश्च ॥ २१ ॥

सुखावह आदि का उदाहरण देते हैं—

'अत्यन्त चमकती हुयी चन्द्रमण्डल वाली रात, प्रासाद-पृष्ठ, काव्य-चर्चा, स्नेही और कुशल मित्र—यह सब तो इस लोक में सुख है ॥ २१ ॥'

सुखमिति। एष सुखावहद्रव्यसमुच्चयः। आधारोऽत्रेहशब्दवाच्यः। वस्तूनि सितरजनीप्रभृतीनि ॥

यह सुखावह द्रव्य के समुच्चय (का उदाहरण है)। यहाँ आधार अत्र शब्द के द्वारा वाच्य है। वस्तु चाँदनी रात आदि हैं ॥

तरलत्वममालिन्यं पक्ष्मलतामायतिं सुमाधुर्यम्।
आधास्यन्नस्त्रत्वं मदनस्तव नयनयोः कुरुते ॥ २२ ॥

'अस्त्र को उठाते ही कामदेव तुम्हारे दोनों नेत्रों में चाञ्चल्य, अमालिन्य, पक्ष्मलता, विस्तार और माधुर्य को उत्पन्न कर देता है ॥ २२ ॥'

तरलत्वमिति । कामस्त्वदीयनयनयोरस्त्रत्वं करिष्यंस्तरलत्वादीनि कुरुत इति तात्पर्यार्थः । एष गुणसमुच्चयः । तरलत्वादिगुणानां सुखावहानां नयनाधारे समुच्चितत्वादिति ॥

तरलत्वमिति । तात्पर्य है कि कामदेव तुम्हारे दोनों नेत्रों को अस्त्र बनाकर सुखद चाञ्चल्य आदि गुण के नेत्र रूपी आधार में समुच्चय होने के कारण यह गुण समुच्चय है ॥

प्रस्फुरयन्नधरोष्ठं गात्रं रोमाञ्चयन्गिरः स्खलयन् ।
मण्डयति रहसि तरुणीः कुसुमशरस्तरलयन्नयने ॥ २३ ॥

'अधरोष्ठ (नीचे के ओठ) को कँपाते हुये, शरीर को रोमाञ्चित करते हुये, दोनों नेत्रों को चञ्चल बनाकर वाणी को अस्फुट करके कामदेव तरुणियों को एकान्त में अलङ्कृत कर देता है ॥ २३ ॥'

प्रस्फुरयन्निति । एष क्रियासमुच्चयः । तरुणीष्वाधारेषु स्फुरणादिक्रियाणां समुच्चितत्वादिति । द्रव्यादीनां तूद्देशो वस्तुग्रहणेन कृतः । जातिसमुच्चयस्तु न संभवति । नह्येकत्रानेका जातिर्विद्यते । दुःखावह इत्याद्युदाहरणानि तु 'राज्यभ्रंशो वने वासो दूरे माता पिता मृतः । एकैकमपि तद्दुःखं यदब्धिमपि शोषयेत् ॥' इत्यादीनि द्रष्टव्यानि ॥

प्रस्फुरयन्निति । यह क्रिया-समुच्चय है। क्योंकि तरूणी रूपी आधार स्फुरण आदि क्रियाओं का समुच्चय हुआ है । द्रव्य आदि का नामसंकीर्तन वस्तु के ग्रहण से कर दिया गया । जाति समुच्चय संभव ही नहीं है । एक आधार में अनेक जातियाँ नहीं हो सकतीं । दुःखावह आदि का भी उदाहरण—'राज्य नष्ट हो गया, वन में निवास मिला, माता दूर है और पिता दिवङ्गत है—(इनमेंसे) एक-एक भी ऐसा दुःख है जो सागर को भी सुखा सकता है ।' इत्यादि देखना चाहिये ॥

अथ सतोर्योगः—

सामोदे मधु कुसुमे जननयनानन्दने सुधा चन्द्रे ।
क्वचिदपि रूपवति गुणा जगति सुनीतं विधातुरिदम् ॥ २४ ॥

अब सद्योग (समुच्चय का उदाहरण देते हैं)—

'संसार में सुगन्धित पुष्प में पराग, लोगों के नेत्रों को आनन्द देने वाले चन्द्र में अमृत और रूपवानों में कहीं-कहीं गुण जो उपलब्ध होता है—वह विधाता का सुकृत है ॥ २४ ॥'

सामोद इति। स्रष्टुरिदं सुनीतं सुकृतं भद्रकं यत्सामोदकुसुमादिषु मध्वादीनां सतां योगः कृत इत्यर्थः ॥

सामोद इति। यह विधाता का सुकृत है जो उसने सुगन्धित पुष्प आदि में पराग आदि सुन्दर वस्तुओं का संयोग कर दिया है।

अथासतोर्योगः—

आलिङ्गिताः करीरैः शम्यस्तप्तोषपांसुनिचयेन ।
मरुतोऽतिखरा ग्रीष्मे किमतोऽन्यदभद्रमस्तु मरौ ॥ २५ ॥

अब असुन्दर वस्तुओं के योग (का उदाहरण देते हैं)—'मरुस्थल में बबूल करीलों से मिश्रित होते हैं और ग्रीष्म में जलती हुयी धूलि पटल के कारण वायु अत्यन्त प्रचण्ड होता है—भला इससे अधिक कष्ट क्या हो सकता है ॥२५॥'

आलिङ्गिता इति। ग्रीष्मकाले मरुदेशे यत्करीरैःशमीवृक्षा मिश्रीभूताः। तथा तप्तानामूषपांसूनां चयैर्मिश्राः प्रचण्डा वायवः। किमतोऽन्यदपरम-भद्रमशिवम्। इत्यसतोर्योगः ॥

आलिङ्गिता इति। ग्रीष्म ऋतु में मरुस्थल जो करीलों से शमी (बबूल के वृक्ष) उलझे होते हैं तथा जलती हुयी धूलि पटल के संसर्ग से वायु प्रचण्ड होता है भला इससे अधिक क्या कष्ट हो सकता है। यह दो असुन्दर वस्तुओं (करील और शमी और वायु और तप्तधूलिपटल) के योग का उदाहरण है ॥

अथ सदसतोर्योगः—

कमलवनेषु तुषारो रूपविलासादिशालिनीषु जरा ।
रमणीष्वपि दुश्चरितं धातुर्लक्ष्मीश्च नीचेषु ॥ २६ ॥

अब एक सुन्दर और एक असुन्दर वस्तु के योग का उदाहरण देते हैं—'कमल वनों पर पाला, रूप, विलास आदि से सम्पन्न सुन्दरियों में (बुढ़ापा), रमणियों में दुराचार और नीचों में विधाता की लक्ष्मी— ॥ २६ ॥'

कमलेति। सुगममेव योजनम् ॥

कमलेति। योजना सुस्पष्ट है ॥

प्रकारान्तरमाह—

व्यधिकरणे वा यस्मिन्गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन् ।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात्तदन्योऽसौ ॥ २७ ॥

अन्य प्रकार बताते हैं—

'एक ही देश में, एक ही काल में, जहाँ गुण अथवा क्रिया भिन्न आधारों में होती है—वहाँ दूसरे प्रकार का समुच्चय अलंकार होता है ॥ २७ ॥'

व्यधिकरण इति । वाशब्द एवशब्दार्थे भिन्नक्रमः । ततश्च यस्मिन्समुच्चये गुणक्रिये भिन्नाधिकरणे एकस्मिन्देशे समकालमुपजायेते असौ समुच्चयस्तदन्यः । ततः पूर्वसमुच्चयादपर इत्यर्थः । गुणक्रिये एव व्यधिकरणे इत्यवधारणं तु गुणक्रियाधिकरणयोर्वस्तुनोर्देशाधिकरणमेकमेवेति कृत्वा ॥

व्यधिकरण इति । वा शब्द एव शब्द के अर्थ में भिन्न क्रम से आया है । इस प्रकार (अन्वय करने पर) 'जिस समुच्चय में गुण और क्रिया भिन्न आधारों में एक ही देश और एक ही काल में घटती है वह समुच्चय पूर्व (समुच्चय) से भिन्न होता है ।' (यह अर्थ होगा) । 'गुण और क्रिया ही भिन्न आधार में होंगे' इसका अर्थ यह हुआ कि गुण और क्रिया के आधारभूत वस्तु का देश एक ही होगा ॥

निदर्शनमाह—

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च ।
प्रखलमुखानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि॥२८॥

उदाहरण देते हैं—'हे राजन् ! तुम्हारी सेना शत्रुओं के सभी समूहों को पराजित कर शीघ्र ही विमल यश वाली हो गयी और दुष्टों के वे मुख मलिन हो गये ॥ २८ ॥'

विदलितेति । अत्र नैर्मल्यगुणस्य बलमाधारो मालिन्यस्य तु खलमुखानीति । चशब्दावेककालत्वसूचनार्थौ । एवं गुणसमुच्चयः ॥

विदलितेति । यहाँ निर्मलता रूप गुण का आधार बल है और मलिनता का दुष्टों के मुख । चशब्द समकालिकता सूचित करते हैं । यह रहा गुणसमुच्चय ॥

क्रियासमुच्चयस्तु यथा—

दैवादहमत्र तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥ २९ ॥

क्रियासमुच्चय भी जैसे—

'दुर्भाग्य से मैं उस चञ्चल विशाल नेत्रों वाली से वियुक्त हूँ और निरन्तर घुमड़ते हुये बादलों वाली यह (वर्षा) ऋतु आ पहुँची ॥ २९ ॥'

दैवादिति । अत्र वियोगक्रिया वियोगिनि स्थिता, समुपागमनक्रिया तु वर्षाकाले ॥

दैवादिति । यहाँ वियोग क्रिया का आधार वियोगी है और आगमन क्रिया का वर्षा ऋतु ।

अथ जातिः—

संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥ ३० ॥

अत्र जाति (का लक्षण करते हैं)—

'जिस पदार्थ का संस्थान, अवस्थान क्रिया आदि जिस स्वरूप का होता है लोक में रूढ उसका उसी स्वरूप में कथन जाति अलङ्कार कहलाता है॥ ३० ॥'

संस्थानेति। यस्य पदार्थस्य यत्संस्थानादि यादृशं भवति तस्य यदनन्यथा तेनैव प्रकारेण कथनं सा जातिरिति योगः। यच्छब्दस्तु सर्वनामत्वात्सामान्येन सर्वसंग्रहार्थः। विशेषरूपतया हि तत्संस्थानादि कथयितुमानन्त्यान्न शक्यते। अनुक्तं तर्हि कथं कविना ज्ञातव्यमित्याह—लोके चिरप्रसिद्धमिति। यद्यपि पुराणादिषु किंचिदुक्तं तथापि लोकरूढिवशात्सम्यक्तदवगम इति। तत्र संस्थानं स्वाभाविकं रूपम्। यथा—'एतत्पूतनचक्रमक्रमकृतग्रासार्धमुक्तैर्वृकानुत्पुष्णत्परितो नृमांसविघसैराघर्घरं क्रन्दतः। खर्जूरद्रुमदघ्नजङ्घमसितत्वग्बद्धविष्वक्ततस्नायुग्रन्थिघनास्थिपञ्जरजरत्कङ्कालमालोक्यते॥' इत्यादि। अवस्थास्थानं स्थानकादि। यथा—

संस्थानेति। 'जिस पदार्थ का जो स्वरूप होता है उसका उसी रूप में कथन जाति कहलाता है'—यह संबन्ध है। सर्वनाम होने के कारण सामान्यतः यत् शब्द 'सर्वशब्द' का ग्राहक है। अनन्त होने के कारण उस संस्थान आदि का विशेष वर्णन करना असम्भव है। विना उपदेश किये कवि उसे कैसे जानेंगे, इसे बताते हैं (वह संस्थान आदि) लोक में चिरकाल से प्रसिद्ध है। यद्यपि पुराण आदि में (उनका) कुछ वर्णन मिलता है तथापि लोक की रूढि से ही उसका भली भाँति ज्ञान हो सकता है। उनमें संस्थान (स्वाभाविक रूप का वर्णन) जैसे—(माधव के मुख से भवभूति श्मशान का वर्णन करते हैं)—'एक साथ ही कवल ग्रहण करने के कारण (तथा मात्रा में अधिक होने के कारण) आधे पृथ्वी पर गिर गये मनुष्य के उच्छिष्ट मांस से घर्घर ध्वनि करने वाले भेड़ियों का पोषण करने वाला, खजूर के पेड़ के तने के समान जाँघवाला, काले चमड़े से बंधा हुआ तथा सर्वत्र फैली हुयी शिराओं से निविड अस्थि पञ्जर से युक्त जीर्ण कङ्काल वाला यह पिशाचों का समुदाय दिखायी पड़ रहा है॥' अवस्थान—स्थान आदि। जैसे—

'स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्। ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥' इत्यादि। क्रियाव्यापारो यथा—'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति। मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां दददपि गिरमन्तर्बुद्ध्यते नो

मनुष्यः ।।' इत्यादि । आदिग्रहणाद्विभववेषादिकं च द्रष्टव्यम् । यथा—'वल्लीवल्कपिनद्धधूसरशिराः स्कन्धे दधद्दण्डकं ग्रीवालम्बितमृन्मणिः परिकुथत्कौपीनवासाः कृशः । एकः कोऽपि पटच्चरं चरणयोर्बद्ध्वाध्वगः श्रान्तवानायातः क्रमुकत्वचा विरचितां भिक्षापुटीमुद्वहन् ।। इत्यादि ।

दक्षिण प्रान्त में मुष्टि को लगाये हुये, झुके हुये कन्धे वाले, कुछ कुछ टेढे किये हुये बायें चरण वाले, धनुष को मण्डलाकार बनाये हुये अपने पुत्र को प्रहार करने के लिये तैयार देखा ।। आदि । क्रिया व्यापार का उदाहरण—'जँभाई लेते हुये एक पहर बिता कर किसी के द्वारा 'जागो' इस प्रकार जोर से पुकारा गया भी मनुष्य बार बार सर्वथा शून्य अस्पष्ट वर्ण वाली बात करता हुआ भी नहीं जागता है ।।' इत्यादि । आदि के ग्रहण से वैभव, वेष आदि सूचित होता है ।। जैसे—'लता की छाल को धारण करने से धूसरित शिरवाला, कन्धे पर लाठी रखे हुये, कथरी के रेशमी वस्त्र को धारण किये हुये, कृश अकेला कोई दोनों पैरों में चिथड़ा लपेटे हुये थका हुआ राही सोपाड़ी की छाल से बनायी गयी भीख की पुटकी को ढोता हुआ आ गया ।।' इत्यादि ।।

अथ वास्तवस्य जातेश्च को विशेषः, यो वृक्षस्य धवस्य च । वास्तवं हि वस्तुस्वरूपकथनम्, तच्च सर्वेष्वपि तद्भेदेषु सहोक्त्यादिषु स्थितम् । जातिस्त्वनुभवं जनयति । यत्र परस्थं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिवैतीति स्थितम् ।।

वास्तव और जाति में क्या भेद है ? जो वृक्ष और धव में । वास्तव वस्तु के स्वरूप के कथन को कहते हैं—वह सहोक्ति आदि उसके सभी भेदों में पाया जाता है । जाति अनुभव उत्पन्न करती है । जहाँ दूसरे का स्वरूप वर्णन किया जाता हुआ अपना अनुभूत सा होता है—इस प्रकार भेद निश्चित है ।।

अथैतद्विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ।। ३१ ।।

इसका विशेष वर्णन करने के लिये कहते हैं—

'बालक, मुग्ध, युवती, कातर, पक्षी और घबड़ाये हुये नीच पात्रों की काल और अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं का वर्णन होने पर वह अधिक चमत्कार उत्पन्न करती है ।। ३१ ।।'

शिश्विति । सा जातिः शिशुप्रभृतीनां याः कालोचिता अवस्थोचिताश्च चेष्टाः क्रियास्तास्वतिशयतो रम्या भवति ।।

शिश्विति। शिशु आदि की कालोचित और अवस्थोचित जो चेष्टायें होती हैं उन (के वर्णन) में वह जातिविशेष सुन्दर होती है ॥

तत्र शिशूनां यथा—

धूलीधूसरतनवो राज्यस्थितिरचनकल्पितैकनृपाः ।

कृतमुखवाद्यविकाराः क्रीडन्ति सुनिर्भरं डिम्भाः ॥ ३२ ॥

उनमें शिशुओं की जैसे—

'धूलि से शरीर को धूसरित बनाये हुये, राज्य की स्थिति रचने के कारण, कल्प-लोक के अकेले राजा, मुख से बाजे का काम लेने वाले बालक खूब खेलते हैं ॥ ३२ ॥'

धूलीति। एषा शिशूनामवस्थोचिता चेष्टा। कालोचिता तु स्वयं द्रष्टव्या॥

धूलीति। यह शिशुओं की अवस्थोचित चेष्टा है। कालोचित चेष्टा स्वयं समझ लेनी चाहिये ॥

मुग्धयुवतीनां यथा—

हरति सुचिरं गाढाश्लेषे यदङ्गकमाकुला
स्थगयति तथा यत्पाणिभ्यां मुखं परिचुम्बने ।
यदतिबहुशः पृष्टा किंचिद्ब्रवीत्यपरिस्फुटं
रमयतितरां तेनैवासौ मनोऽभिनवा वधूः ॥ ३३ ॥

मुग्धा युवतियों की (चेष्टा) जैसे—'व्याकुल होकर प्रगाढ़ आलिङ्गन में जो अङ्गों को देर तक चुराती रहती है, जो (नायक के) चुम्बन करते समय दोनों हाथों से उसके मुख को रोकती है और जो अनेक बार पूछने पर कुछ-कुछ अस्फुट रूप में बोलती है उसी से वह नववधू मन को और भी आनन्दित करती है ॥ ३३ ॥'

हरतीति। एषा मुग्धयुवतीनामवस्थोचिता चेष्टा। मुग्धग्रहणं मुग्धयुवतीनामेव जातिसौन्दर्यं न प्रौढानां चेष्टास्विति ज्ञापनार्थमिति। कातराद्युदाहरणानि ग्रन्थान्तराद्द्रष्टव्यानि। 'नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपामन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः। त्रस्यद्भिः सहसा निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥' एषा कातरचेष्टा। तिरश्चां यथा— 'उत्खाय दर्पचलितेन सहैव रज्ज्वा कीलं प्रयत्नपरमानवदुर्ग्रहेण। आकुल्यकारि कटकस्तुरगेण तूर्णमश्वेति विद्रुतमनुद्रवतान्यमश्वम् ॥' अतर्कितोपनतभयसुखदुःखकुतूहलादिहृतचित्तानां संभ्रान्तानां यथा—

'प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव । उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥' इत्यादि । हीनपात्राणां यथा—

हरतीति । यह मुग्धा नायिकाओं की अवस्था के अनुरूप चेष्टा (का वर्णन) है । मुग्ध शब्द का ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि मुग्धा नायिकाओं की (चेष्टा के वर्णन में ही) जाति विशेष सुन्दर होगी, प्रौढ़ाओं के नहीं (जाति अलंकार को अन्य आलंकारिकों ने स्वभावोक्ति नाम से लक्षित किया है) कातर आदि (की चेष्टाओं के वर्णन) का उदाहरण अन्य ग्रन्थों से देखना चाहिये । 'मनुष्यों में गणना न होने के कारण लज्जा को छोड़कर नपुंसक भाग गये, यह बौना डर के कारण कञ्चुकी के कञ्चुक में प्रवेश कर रहा है । किरातों ने भी डर के कारण सहसा अपने नाम के ही अनुरूप किया, कुब्जायें (कुबड़ियाँ) नीचता के कारण अपने देख लिये जाने के भय के कारण धीरे धीरे छिपी जा रही हैं ।' रत्नावली नाटिका । यह कातर की चेष्टा है ।

हीनपात्रों की जैसे—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोफभूयांसि मांसान्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा । आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्कादङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥' एवमन्यदपि द्रष्टव्यमिति ॥

'पहिले खाल को उखाड़ उखाड़कर कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों में ऊँचे उभरे हुये प्रचुर मात्रा में प्राप्त अत्यन्त दुर्गन्ध वाले सड़े हुये मांस को खा लेने के पश्चात् (आश्चर्य पूर्वक) चारों ओर देखता हुआ और दाँत निकाले हुये, भूखा, दरिद्र, प्रेत गोद में रखे हुये मुर्दे की हड्डी के भीतर लगे और गड्ढों में स्थित (क्रव्य) कच्चे मांस को भी धीरे धीरे खा रहा है ॥' इसी प्रकार और उदाहरण भी जान लेना चाहिये ॥

अथ यथासंख्यमाह—

निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा ययैव परिपाट्या ।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तयैव तत्स्याद्यथासंख्यम् ॥ ३४ ॥

यथासंख्य (का लक्षण करते हैं)—

'जिसमें अनेक अर्थों का जिस क्रम से निर्देश किया गया पुनः उसी क्रम से यदि वे (अर्थ) निर्दिष्ट किये जाँय तो वह यथासंख्य अलंकार होगा ॥३४॥'

निर्दिश्यन्त इति । यत्र विविधा नानारूपा अर्था ययैव परिपाट्या येनैव क्रमेण पूर्वं निर्दिश्यन्ते पुनरपि तयैव परिपाट्या तत्प्रतिबद्धास्तेषु पूर्वनिर्दिष्टेषु विशेष्यस्य विशेषणभावेन प्रतिबद्धास्तदनुयायिनो निर्दिश्यन्ते तद्यथासंख्यं स्यात् । अर्था इति बहुवचनस्यातन्त्रत्वाद्द्वयोरपि यथासंख्यं भवति । ययैव परिपाट्येति परिपाटी कवेः क्रमविवक्षा गृह्यते ॥

निर्दिश्यन्त इति। जहाँ विविध अर्थ जिस क्रम से पहले निर्दिष्ट होते हैं, दुबारा भी (जब) उसी क्रम से रचे जाते हैं, उन पूर्वनिर्दिष्ट (अर्थों) में विशेष्य के विशेषण भाव से रचे जाने के कारण पूर्व अर्थ के क्रम का अनुसरण करने वाले निर्दिष्ट होते हैं वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है। 'अर्था' इस बहुवचन के प्रयोग के शिथिल होने के कारण दो (अर्थों) का भी यथासंख्य होता है। 'यथैव परिपाट्या' में परिपाटी से कवि के क्रम की विवक्षा का ग्रहण होता है॥

अथैतस्यैव विशेषार्थमाह—

तद्‌द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषूद्दिष्टेषु जायते रम्यम्।
यत्तेषु तथैव ततो द्वयोस्तु बहुशोऽपि बध्नीयात्॥ ३५॥

इस (यथासंख्य) का ही विशेष वर्णन करते हैं—

'वह (यथासंख्य) अनेक निर्दिष्ट अर्थों में दो या तीन विशेषण रखने पर (अधिक) सुन्दर होता है। अतएव उन निर्दिष्ट अर्थों में दो या तीन विशेषण ही रखना चाहिये। दो ही (निर्दिष्ट अर्थ रखने) पर अनेक विशेषणों का भी उपन्यास हो सकता है॥ ३५॥'

तदिति। तद्यथासंख्यं बहुषूद्दिष्टेषु प्रधानार्थेषु यद्यस्माद्‌द्विगुणं त्रिगुणं वा रम्यं जायते, तस्माद्धेतोस्तेषूद्दिष्टेषु तथैव द्विस्त्रिर्वा बध्नीयात्, नान्यथा। द्वयोः पुनरुद्दिष्टयोर्बहुशोऽपि बध्नीयात्। सुखावहत्वादिति॥

तदिति। वह यथासंख्य अनेक उद्दिष्ट मुख्य अर्थों में दो या तीन गुण (विशेषण) होने पर अधिक रमणीय होता है। अतएव उन निर्दिष्ट अर्थों में दो या तीन ही गुण रचने चाहिये। अन्यथा नहीं। (केवल) दो प्रधान अर्थों के निर्दिष्ट होने पर अनेक गुणों का भी उपन्यास करना चाहिये क्योंकि (ऐसा करना) सुखावह होता है॥

तत्र त्रिगुणोदाहरणमाह—

कज्जलहिमकनकरुचः सुपर्णवृषहंसवाहनाः शं वः।
जलनिधिगिरिपद्मस्था हरिहरचतुराननाः ददतु॥ ३६॥

उनमें त्रिगुण का उदाहरण बताते हैं—

'विष्णु, शिव और ब्रह्मा, जिनकी कान्ति काजल, बर्फ और सोने की सी है, जिनकी सवारियाँ गरुड, बैल और हंस हैं तथा जो सागर, पर्वत और कमल पर निवास करते हैं, आप लोगों का कल्याण करें॥ ३६॥'

कज्जलेति। अत्र हरिहरब्रह्माणस्त्रय उद्देशिनः। त्रिविशेषणयोगाच्च त्रैगुण्यम्॥

कज्जलेति। यहाँ विष्णु, शिव और ब्रह्मा—तीन प्रधान अर्थ हैं। तीन विशेषणों के योग से इसका त्रैगुण्य सिद्ध है॥

द्वयोर्बहुगुणोदाहरणमाह—

दुग्धोदधिशैलस्थौ सुपर्णवृषवाहनौ घनेन्दुरुची।
मधुमकरध्वजमथनौ पातां वः शार्ङ्गशूलधरौ॥ ३७॥

दो (प्रधान अर्थों) के अनेक गुणों का उदाहरण देते हैं—

'क्षीरसागर और पर्वत पर निवास करने वाले, गरुड और बैल की सवारियों वाले, मेघ और चन्द्रमा की कान्ति वाले, (तथा) मधु कैटभ और कामदेव को नष्ट करने वाले विष्णु और शिव आप लोगों की रक्षा करें॥ ३७॥'

दुग्धेति। अत्र मधुमथनमकरध्वजमथनौ द्वावुद्देशिनौ, चत्वारि तद्विशेषणानीति॥

दुग्धेति। यहाँ मधु कैटभ को नष्ट करने वाले और कामदेव को नष्ट करने वाले दो प्रधान अर्थ हैं। (तथा) उसके चार-चार विशेषण हैं॥

अथ भावः—

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥ ३८॥

भाव (का लक्षण करते हैं)—

'जिसका विकार जिस अनियत कारण से उत्पन्न होता हुआ उसके (कार्य-कारण संबन्ध रूप) अभिप्राय का तथा उस (कार्य कारण संबन्ध रूप) प्रतिबन्ध को बोध कराये वह भाव नामक अलंकार होता है॥ ३८॥'

यस्येति। यस्य विकारवतो येनाप्रतिबद्धेनानैकान्तिकेन हेतुना विकारः कार्यं प्रभवन्नुत्पाद्यमानस्तस्य विकारवतः संबन्धिनमभिप्रायं प्रतिपत्तुर्गमयति, तथा स एव विकारस्तयोर्विकारहेतुविकारयोः प्रतिबन्धं च कार्यकरणभावं गमयति, असावेवंरूपो भावनामालंकारो भण्यते। भवत्यस्मादभिप्रायनिश्चय इति कृत्वा। ननु विरुद्धमिदम्। अप्रतिबद्धश्चेत्कथं हेतुरथ हेतुः कथमप्रतिबद्धो नाम। अपि च योऽप्रतिबद्धेन हेतुना जन्यते स कुतस्तत्प्रतिबन्धं गमयति, विद्यते चेत्प्रतिबन्धो न तर्ह्यप्रतिबद्धो हेतुरिति। सत्यमेतत्। किं तु महाकविलक्ष्यमेवंविधं दृश्यतेऽनुभूयते च। न च दृष्टे किंचिदनुपपन्नं नाम॥

यस्येति। जिस विकारवान् का—जिस अनियत कारण के द्वारा कार्य को उत्पन्न करता हुआ बोद्धा को उस विकारवान् से संबद्ध अभिप्राय का बोध कराता

है तथा वही विकार विकार के कारण और विकार में कार्य कारण भाव रूप संबन्ध का बोध कराता है उसे भाव नामक अलंकार कहते हैं। (भाव का अर्थ बताते हैं)--इससे अभिप्राय का निश्चय होता है (अतएव इसे भाव कहते हैं)। शङ्का उठती है कि यह तो विरुद्ध बात हुयी—यदि अनियत होगा तो हेतु कैसे होगा और यदि हेतु होगा तो फिर अनियत कैसे होगा ? और भी, जो अनियत कारण से उत्पन्न होता है वह अपने कारण का कैसे बोध कराता है ? यदि कार्य-कारण भाव रूप संबन्ध होता ही है तो कारण अनियत नहीं होगा। सत्य है। किन्तु महाकवियों का उदाहरण इसी प्रकार का मिलता है तथा अनुभव भी किया जाता है। और दृष्ट वस्तु (ऊपर कही गयी बात) कुछ असंगत नहीं है।

निदर्शनमाह—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३९॥

उदाहरण देते हैं—

'गाँव के युवक को हाथ में बेंत की नूतन मञ्जरी लिये देखकर युवती के मुख की कान्ति अत्यन्त मलिन हो गयी ॥ ३९ ॥'

ग्रामेति । कस्याश्चित्तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरं ग्रामतरुणं पश्यन्त्या मुखमालिन्यमभवदित्यर्थः । वञ्जुलो वृक्षविशेषः । अत्र विकारो मुखमालिन्यं तस्य हेतुर्वञ्जुलमञ्जरीदर्शनं तच्चाप्रतिबद्धम् । सर्वदा तद्दर्शने तदभावादिति। तच्च मालिन्यं तरुण्या भावं प्रतिपत्तुः प्रकाशयति। नूनमनया तस्य तरुणस्य वञ्जुलगहने संकेतोऽकारि, कर्मान्तरव्यासङ्गाच्च न तत्र संप्राप्ता, तं च मञ्जर्या गतप्रत्यागतं विज्ञाय सुखाद्वञ्चितास्मीति खिन्ना संपन्ना। मुखमालिन्यं चास्य मञ्जरीसनाथकरत्वस्य प्रतिबन्धं गमयति। अन्यथा कथं तद्दर्शनेन तदुत्पद्यते ॥

ग्रामेति। 'बेंत की नूतन मञ्जरी से युक्त गाँव के युवक का हाथ देखकर किसी तरुणी का मुख मलिन हो गया'— यह अर्थ है। वञ्जुल विशेष वृक्ष का नाम है। यहाँ पर मुख की मलिनता रूप विकार (कार्य) तथा उसका कारण बेंत की मञ्जरी का दिखाई पड़ना अप्रतिबद्ध (अनियत) है। क्योंकि मञ्जरी के दिखाई पड़ने पर सदैव वही विकार नहीं होता। वही मलिनता बोद्धा को (युवक के प्रति) तरुणी के राग को प्रकाशित करता है। निश्चय ही इस (युवती ने) उस युवक को वञ्जुल वन में संकेत स्थल दिया था। (किन्तु) किसी अन्य कार्य के बाधक हो जाने के कारण वहाँ न पहुँच पायी। मञ्जरी के द्वारा उस (युवक) को वहाँ जाकर लौट आया हुआ जानकर सुख से मैं वञ्चित

हो गयी यह समझ कर खिन्न हो गयी। मुख की मलिनता उसके मञ्जरी से युक्त हाथ के होने में कार्य-कारण भाव का बोध कराती है अन्यथा उस (मञ्जरी) के ही देखने पर वह (मुख की मलिनता) कैसे उत्पन्न होती ॥

प्रकारान्तरमाह--

अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥ ४० ॥

(भाव का) अन्य प्रकार बताते हैं--

'(पदों के) उस वाच्य अर्थ को प्रकट करता हुआ, उससे भिन्न समस्त गुण-दोष (विधि-निषेध) वाला वाक्य जहाँ दूसरे अर्थ का बोध कराता है वहाँ भाव अलंकार का दूसरा भेद होता है ॥ ४० ॥'

अभिधेयमिति । यद्वाक्यं कर्तृ, तदेव पदारूढमेवाभिधेयं वाच्यमभिदधानं प्रतिपादयत्सदर्थान्तरं वक्त्रभिप्रायरूपं गमयति सोऽपरोऽन्यो भावभेदः । कीदृशमर्थान्तरम् । तेन पदारूढेनार्थेनासदृशा विलक्षणा गुणदोषा विधिप्रतिषेधादयो यस्य तत्तथोक्तम् । एतेन चान्योक्तिसमासोक्त्योर्भावत्वं निषिद्धम् । तत्र हीतिवृत्तसादृश्यं वर्तते । औपम्यभेदात्तयोरिति ॥

अभिधेयमिति । जो वाक्य कर्ता (मुख्य) होता है, पदों पर ही आश्रित वही (अपने) वाच्य अर्थ को प्रकट करता हुआ वक्ता के अभिप्राय रूप अन्य अर्थ की जहाँ प्रतीति कराता है वह भाव (अलंकार) का अन्य प्रकार (पूर्व से भिन्न) होता है। कैसा होता है वह अर्थान्तर ?—पदों के द्वारा लभ्य उस (मुख्य) अर्थ से विलक्षण विधि-निषेध वाला। इससे अन्योक्ति और समासोक्ति के भाव होने का निराकरण कर दिया गया। औपम्य के भेद होने के कारण उन दोनों में इतिवृत्त (घटना-वस्तु) की समानता होती है ॥

निदर्शनमाह—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह-
मस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥ ४१ ॥

उदाहरण देते हैं—

'जो अबला मैं एकाकिनी (अकेली) और युवती हूँ और घर का स्वामी बाहर चला गया है क्या इसीलिये यहाँ इस घर में वास (ठहरने के लिये) माँग रहे हो ? हे मूर्ख पथिक, यह बेचारी मेरी सास अन्धी और बहरी है ॥४१॥'

एकाकिनीति । तरुणपथिकस्य वासं याचमानस्य काचित्साभिलाषा योषिदिदं प्रकटप्रतिषेधार्थं वाक्यमाह । एतेन चोक्तपदार्थेन विलक्षणो वासानुमतिविधिलक्षणो भावोऽवगम्यते ॥

एकाकिनीति । व्यक्तनिषेध रूप इस वाक्य को वास माँगते हुये युवक पथिक से (उसके प्रति) आसक्त कोई युवती इसे कह रही है । इस कहे गये पदों के अर्थों से विलक्षण वास देने की अनुमति रूप विधि का भाव प्रतीत हो रहा है ॥

अथ पर्यायः—

वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य ।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्यायः ॥ ४२ ॥

पर्याय का लक्षण करते हैं—

'जहाँ विवक्षित वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ, उस (वाच्य) वस्तु के असमान जो वस्तु होती है, जो (उसका) कारण या कार्य नहीं होती, उसका जो कथन होता है उसे पर्याय कहते हैं ॥ ४२ ॥'

वस्त्विति । यद्वस्तु विवक्षितस्य मनोगतस्य वस्तुनः प्रतिपादनसमर्थं तस्य कथनं यत्स पर्यायोऽलंकारः । समासोक्त्यन्योक्त्योः पर्यायत्वनिवृत्त्यर्थमाह—असदृशं तस्य । तस्य वाच्यस्य वस्तुनोऽसदृशमतुल्यम् । भावसूक्ष्मयोः पर्यायोक्तनिवृत्त्यर्थमाह–अजनकमजन्यं वेति । अयमर्थः— प्रथमभावे विकारलक्षणेन कार्येण विकारवतोऽभिप्रायो यथा गम्यते तथा स्वजनकेन सह प्रतिबन्धश्चेति गमकस्य जन्यतास्ति । द्वितीयभावसूक्ष्मयोस्तु वस्त्वन्तरप्रतीतिजननाज्जनकतेति तेषां व्यवच्छेदकमिदं विशेषणद्वयम् । इह तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादकं वस्तु न तथाभूतम् । वाच्यवाचकभावशून्यमित्यर्थः । द्वितीयभावे हि वक्तुरभिप्रायरूपमर्थान्तरं वाक्येन गम्यते । सूक्ष्मे तु युक्तिमदर्थोऽपि शब्दोऽर्थान्तरमुपपत्तिमद्गमयति । इह तु स एवार्थः पर्यायेणोच्यते । न त्वभिप्रायरूपार्थान्तरप्रतीतिरिति ॥

वस्त्विति । जो वस्तु मनोगत वस्तु के प्रतिपादन करने में समर्थ होती है उसके वर्णन में पर्याय अलंकार होता है । समासोक्ति और अन्योक्ति को पर्याय से अलग करने के लिये कहते हैं—असदृशं तस्य । (उसका कथन) उस वाच्य वस्तु के असमान होगा (समासोक्ति और अन्योक्ति के औपम्यमूलक होने के कारण उनमें साम्य वाच्य होता है) । भाव और सूक्ष्म को पर्याय से अलग करने के लिये कहते हैं—अजनकमजन्यं वेति । अर्थ इस प्रकार है— प्रथम भाव में विकाररूप कार्य से विकारवान् का जिस प्रकार अभिप्राय प्रतीत

होता उसी प्रकार अपने उत्पादक के साथ कार्यकारणभाव भी—इस प्रकार गमक (कार्य) की जन्यता (कारण से उत्पत्ति) होती है भाव के दूसरे प्रकार और सूक्ष्म में भी अन्य (वाच्य से भिन्न) वस्तु की प्रतीति उत्पन्न होने के कारण जनकता (प्रतीत्युत्पादन की क्षमता) होती है--इसलिये उन (भाव आदि) से पर्याय को अलग करने के दोनों विशेषणों (अजनक और अजन्य) का ग्रहण किया गया। यहाँ (पर्याय के स्थल में) मनोगत वस्तु की प्रतिपादक वस्तु वैसी (कार्य या कारण) नहीं होती अर्थात् वाच्य-वाचक भाव से रहित होती है। भाव के दूसरे प्रकार में वक्ता का अभिप्राय रूप भिन्न अर्थ वाक्य के द्वारा ही जाना जाता है। सूक्ष्म में युक्तियुक्त अर्थ वाला भी शब्द उपपत्ति से युक्त अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। यहाँ वही अर्थ पर्याय से (विशेष-विधि से) कहा जाता है—यहाँ (वक्ता के) अभिप्राय रूप अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती ॥

उदाहरणमाह—

राजञ्जहासि निद्रां रिपुबन्दीनिबिडनिगडशब्देन ।
तेनैव यदन्तरितः स कलकलो वन्दिवृन्दस्य ॥ ४३ ॥

उदाहरण देते हैं--

'हे राजन्! बन्दी शत्रुओं की घनी बेड़ियों के शब्द से निद्रा छोड़ते हो। उसी से जो मिश्रित होता है वह चारण समुदाय की अस्फुट मधुर ध्वनि है ॥४३॥'

राजन्निति। राज्ञश्चाटुवचनमिदम्। अत्र बन्दीनिगडरवेण निद्रामोक्षकथनं यद्वस्तु तस्य तावन्मात्रमेव न तात्पर्यमपि तु त्वया रिपूञ्जित्वा तन्नार्यो हृता इति निखिलरिपुविजयः पर्यायेण प्रतिपाद्यते ॥

राजन्निति। यह राजा की चाटुकारिता है। यहाँ वन्दी की बेड़ी की आवाज नींद छूटने की उक्तिरूप जो वस्तु है उसका केवल उतने में ही तात्पर्य नहीं है अपितु पर्याय के द्वारा शत्रुओं को जीतकर उनकी नारियों को भी हर लिया—इस प्रकार सकल शत्रुमण्डल पर विजय का प्रतिपादन होता है ॥

प्रकारान्तरमाह—

यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात् ।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियेत वान्यः स पर्यायः ॥ ४४ ॥

अन्य प्रकार बताते हैं—

'जहाँ एक वस्तु अनेक आधारों अथवा अनेक वस्तु एक ही आधार में सुख आदि स्वरूप की हों अथवा की जाँय वहाँ पर्याय का दूसरा भेद होता है ॥४४॥'

यत्रेति। अनेकस्मिन्नाधारे क्रमेणैकं वस्तु यत्र स्वयमेव स्यात्स पर्यायः। अथवैकस्मिन्नाधारेऽनेकं यत्र स्यात्सोऽपि पर्यायः। कीदृशमेकमनेकं वा

वस्त्वित्याह—सुखादिप्रकृति । सुखदुःखादिस्वरूपमित्यर्थः । स्यादिति कर्तृनिर्देशात्कर्मण्यप्राप्तं पर्यायत्वमाह—क्रियेत वेति । तदेवं चतुर्विधः पर्यायः ॥

यत्रेति । अनेक आधारों में क्रमशः एक वस्तु जब स्वयमेव होती है तो वह पर्याय अलंकार होता है । अथवा एक आधार में अनेक वस्तु जहाँ हों वह भी पर्याय होता है । किस प्रकार की एक या अनेक वस्तु हो—इसे बताते हैं—सुखादिप्रकृति । अर्थात् सुखद, दुःखद आदि । 'स्यात्' इस 'कर्तरि प्रयोग' के कारण 'कर्मणि' लक्षण के घटित न होने कारण (पर्याय के दो ही प्रकार के होने के कारण) कहते हैं—क्रियेत वेति । (अर्थात् स्वयं हों अथवा किसी के द्वारा की जाँय—) इस प्रकार पर्याय (एक आधार) अनेक आधार 'कर्तरि' और कर्मणि प्रयोग के भेद से) चार प्रकार का होता है ॥

उदाहरणमाह—

कमलेषु विकासोऽभूदुदयति भानावुपेत्य कुमुदेभ्यः ।
नभसोऽपससार तमो बभूव तस्मिन्नथालोकः ॥ ४५ ॥

उदाहरण देते हैं—

'सूर्योदय होने पर कुमुदों को छोड़कर कमलों में विकास हुआ । आकाश से अन्धकार दूर हो गया और उसमें प्रकाश फैल गया ॥ ४५ ॥'

कमलेष्विति । अत्रैको विकासोऽनेकस्मिन्वस्तुनि कुमुदकमलाख्ये क्रमेण भवति । तथैकस्मिन्नभसि तमः प्रकाशश्च । अनेकवस्तु सुखरूपम् । एते कर्तर्युदाहरणे ॥

कमलेष्विति । यहाँ एक ही विकास अनेक वस्तु कमल और कुमुद नामधारी (आधारों) में क्रमशः (दिन और रात में) होता है; उसी प्रकार एक ही आकाश (आधार) में (अनेक वस्तु) अन्धकार और प्रकाश (क्रमशः रात और दिन में होते हैं) । (यहाँ) अनेक वस्तुयें सुखरूप हैं । ये दोनों कर्तृवाच्य के उदाहरण हैं ॥

कर्मण्याह—

आच्छिद्य रिपोर्लक्ष्मीः कृता त्वया देव भृत्यभवनेषु ।
दत्तं भयं द्विषद्भ्यः पुनरभयं याचमानेभ्यः ॥ ४६ ॥

कर्मवाच्य में (उदाहरण) देते हैं—

'हे देव ! शत्रुओं की लक्ष्मी को काटकर आप ने अपने सेवकों के घर में डाल दिया तथा (शत्रुओं में) द्वेष करने पर भय और याचना करने पर अभय उत्पन्न कर दिया ॥ ४६ ॥'

आच्छिद्येति। अत्रैका लक्ष्मीरनेकत्र रिपुषु भृत्येषु च कृता। तथैकस्मिन्द्विषल्लक्षणे वस्तुनि भयाभये च दुःखसुखरूपे क्रमेण दत्ते। पूर्वत्र पर्यायशब्दस्य शब्दान्तरेण कथनमर्थः। इह तु परिपाटी॥

आच्छिद्येति। यहाँ अकेली लक्ष्मी अनेक स्थानों में—शत्रुओं और सेवकों में कर दी गयी। इसी प्रकार दुःख और सुखरूप भय और अभय एक ही शत्रुरूप आधार में क्रमशः भय और अभय दिये गये। पहले उदाहरण में 'अन्य शब्द के द्वारा कथन' पर्याय शब्द का अर्थ है और इस उदाहरण में क्रम॥

अथ विषममाह—

विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि संबन्धम्।
यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्क्य तत्सत्त्वे॥ ४७॥

अब विषम का लक्षण करते हैं—

'जहाँ दो पदार्थों के बीच संबन्ध के अभाव में भी दूसरों के मत में उस संबन्ध को मान कर वक्ता उस संबन्ध का खण्डन करता है वहाँ विषम अलंकार होता है॥ ४७॥'

विषम इति। असावलंकारो विषम इति प्रथितो विषमनामा प्रसिद्धो यत्रार्थयोः संबन्धं घटनां वक्ता प्रतिपादको विघटयति। कीदृशं संबन्धम्। असन्तमविद्यमानम्। ननु यद्यसम्बन्धस्तर्हि स्वयं विघटित एव किमस्य विघटनीयमित्याह—तस्य सत्त्वे सद्भावे परमतं पराभिप्रायमाशङ्क्य। परमतेन सन्तं कृत्वेत्यर्थः॥

विषम इति। जहाँ वक्ता दो अर्थों के बीच संबन्ध का खण्डन करता है वह अलंकार विषम नाम से प्रसिद्ध है। किस प्रकार के संबन्ध का? अविद्यमान (जो वस्तुतः दोनों अर्थों के बीच होता ही नहीं)। प्रश्न उठता है कि यदि संबन्ध है ही नहीं तो (वह) स्वयं खण्डित है, उसके खण्डन करने की क्या आवश्यकता—इसका उत्तर देते हैं—उस (संबन्ध) के सद्भाव में दूसरों के मत की आशङ्का करके अर्थात् प्रतिपक्षी के मत में विद्यमान मानकर (उसका खण्डन करता है)॥

उदाहरणमाह—

यो यस्य नैव विषयो न स तं कुर्यादहो बलात्कारः।
सततं खलेषु भवतां क्व खलाः क्व च सज्जनस्तुतयः॥४८॥

उदाहरण देते हैं—

'जो जिस वस्तु के लिये पात्र नहीं है उसे उसका पात्र नहीं बनाना चाहिए। खेद है कि आप लोगों का दुष्टों में यह निरन्तर पक्षपात है, कहाँ तो दुष्ट और कहाँ सज्जनों की प्रशंसा॥ ४८॥'

य इति। केनचित्कस्यचिदग्रे उक्तममुना खलेनासौ सज्जनः स्तुत इति। स त्वसहमानस्तमाह—अहो भवतां खलेषु दुर्जनविषये बलात्कारः पक्षपातः। यतस्तदनुकूलं ब्रूथ। कस्मात्ते तत्स्तुतिं न कुर्वन्तीत्याह—यस्य खलस्य यो न विषयः सज्जनस्तवादिः स तं नैव कुर्यात्। किमिति खलानां शिष्टस्तवादिर्न विषय इत्याह—क्व खलाः क्व च सज्जनस्तुतय इति। अत्र खलस्तुत्योरसन्नेव संबन्धः परमते सत्त्वाशङ्कया विघटितः। इदं चात्रोदाहरणम्—'निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः' इत्यादि॥

य इति। किसी ने किसी के सामने कहा, 'इस दुष्ट ने इस सज्जन की प्रशंसा की है।' (इस बात के) असह्य होने के कारण उसने उत्तर दिया—'खेद है ! आप लोगों का दुष्टों में पक्षपात। अतएव उस (दुष्ट) के लिये अनुरूप बात करो। क्यों वे (दुष्ट) उस सज्जन की स्तुति नहीं करते हैं—इसे बताते हैं—सज्जनप्रशंसा आदि जिस दुष्ट के विषय नहीं है वह उसे नहीं करता। शिष्टों की प्रशंसा दुष्टों का विषय क्यों नहीं है—इसका उत्तर देते हैं—'कहाँ तो दुष्ट और कहाँ सज्जन की प्रशंसा आदि।' यहाँ दुष्ट और प्रशंसा में अविद्यमान संबन्ध को प्रतिपक्षी के मत से आशङ्का करके खण्डन किया गया है। और यहाँ यह उदाहरण, 'कहाँ तो अज्ञान से आच्छन्न क्षुद्र प्राणी और कहाँ स्वभाव से ही अगम्य पृथ्वीपतियों का चरित्र।'

प्रकारान्तरमाह—

अभिधीयते सतो वा संबन्धस्यार्थयोरनौचित्यम्।
यत्र स विषमोऽन्योऽयं यत्रासंभाव्यभावो वा॥ ४९॥

अन्य प्रकार बताते हैं—

'जहाँ दो वस्तुओं के विद्यमान संबन्ध के अनौचित्य अथवा असंभव की सत्ता का अभिधान किया जाता है वहाँ दूसरे प्रकार का विषम अलंकार होता है॥ ४९॥'

अभिधीयत इति। यत्रार्थयोर्विद्यमानस्य संबन्धस्य केवलमनौचित्यमुच्यते सोऽन्योऽयं विषमाख्योऽलंकारः। अथवा यत्रासंभाव्यस्य भावः सत्ताभिधीयते सोऽपि विषमः। अनुचितार्थोऽत्र विषमशब्दः॥

अभिधीयत इति। जहाँ दो अर्थों के बीच विद्यमान संबन्ध का केवल अनौचित्य कहा जाता है वह पहले से भिन्न विषम नामक अलंकार होता है। अथवा जहाँ असंभव के भाव—सत्ता—का कथन होता है वह भी विषम (नामक) अलंकार होता है। विषम शब्द यहाँ अनुचित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है॥

उदाहरणमाह—

रूपं क्व मधुरमेतत्क्व चेदमस्याः सुदारुणं व्यसनम् ।
इति चिन्तयन्ति पथिकास्तव वैरिवधूं वने दृष्ट्वा ॥ ५० ॥

उदाहरण देते हैं—

'कहाँ तो यह सुन्दर रूप और कहाँ इसका अत्यन्त कठोर कष्ट, तुम्हारी शत्रु-रमणी को वन में देखकर हे राजन् ! पथिक इस प्रकार से सोचा करते हैं ॥५०॥'

रूपमिति । अत्र रूपव्यसनयोरर्थयोरेकत्र रिपुस्त्रियां विद्यमानयोरनौचित्यम् । यत्र हि रूपं न तत्र व्यसनम् । यदाह—'अलभ्यशोकाभिभवेऽयमाकृतिः' इति । अथवासंभाव्यस्य रूपस्यातिव्यसनस्य च भावोऽत्र कथ्यत इति साधारणमेकमुदाहरणम् ॥

रूपमिति । यहाँ एक स्थल रिपुरमणी में विद्यमान सौन्दर्य और व्यसन दो अर्थों का अनौचित्य है, जहाँ रूप होता है वहाँ व्यसन नहीं होता । जैसा कहा गया है—'शोक के अभिभव (आक्रमण) से अस्पृष्ट यह (सुन्दर) आकृति ।' अथवा असंभव रूप और दारुण व्यसन की सत्ता का यहाँ कथन किया गया है—इस प्रकार एक साधारण उदाहरण (दे दिया) ॥

भूयोऽपि भेदान्तराण्याह—

तदिति चतुर्धा विषमं यत्राण्वपि नैव गुर्वपि च कार्यात् ।
कार्यं कुर्यात्कर्ता हीनोऽपि ततोऽधिकोऽपि न वा ॥ ५१ ॥

और भी भेद बताते हैं—

'(एक अन्य प्रकार का) विषम अलंकार चार प्रकार का होता है—जहाँ कर्ता स्वल्प कार्य भी न करे (१), जहाँ (कर्ता) गुरु कार्य कर डाले (२), जहाँ अशक्त होने पर भी (कर्ता) कार्य कर डाले (३) और जहाँ अधिक होने पर भी (कर्ता) कार्य न करे (४) ॥ ५१ ॥'

तदिति । तद्विषममिति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण चतुर्धा चतुष्प्रकारम् । कथमित्याह—यत्र कुतश्चित्कार्याद्धेतोरण्वपि स्वल्पमपि कार्यं कर्ता नैव कुर्यादित्येकः प्रकारः । गुर्वपि कुर्यादिति द्वितीयः । अत्र च हीनाधिकत्वं कर्ता नापेक्षते । तथा हीनोऽशक्तोऽपि कर्ता तत्कार्यं कुर्यादिति तृतीयः । तथाधिकोऽपि न वा नैव कुर्यादिति चतुर्थः । अत्र कार्ययोरणुत्वगुरुत्वापेक्षा न कर्तव्या । कार्यादिति च सर्वेषु योज्यम् । अन्यत्र वैषम्यनिरासार्थम् । अपिशब्दा विस्मयार्थाः । चशब्दः समुच्चये पूर्वापेक्षः । अत्रानौचित्यमशक्यकर्तृत्वं च विषमशब्दार्थः । विषममिति नपुंसकनिर्देशो विषमालंकारयुक्तकाव्यापेक्षयेति ॥

तदिति। आगे बताये जाने वाले प्रकारों से वह (पूर्व से भिन्न) विषम चार प्रकार का होता है। कैसे? इसे बताते हैं—जहाँ कहीं कारण वश कर्ता थोड़ा भी कार्य नहीं करता है—यह एक प्रकार है। गुरु (अधिक) भी (कार्य) कर डाले—वह दूसरा प्रकार हुआ। तथा अशक्त होकर भी कर्ता उस कार्य को करे—यह तीसरा प्रकार है। तथा अधिक होकर भी (कार्य) न करे—यह चौथा प्रकार है। यहाँ (तृतीय और चतुर्थ प्रकार में) कार्य की स्वल्पता और अधिकता की परवाह नहीं की जाती। 'कार्यात्' का अन्वय सभी (चारों) प्रकारों में होगा। 'अपिशब्द' विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं। च शब्द समुच्चय अर्थ में पूर्व (अणु) की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है। यहाँ विषम शब्द का अर्थ अनौचित्य और अशक्यकर्तृत्व (कार्य करने की अक्षमता) है। 'विषमम्' पद में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग विषम अलंकार से युक्त काव्य की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है। (अर्थात् 'विषमं काव्यम्' को दृष्टि में रखकर प्रयोग किया गया है)।

एतदुदाहरणानि चत्वार्यार्याद्वयेनाह—

त्वद्भृत्यावयवानपि सोढुं समरे क्षमा न ते क्षुद्राः।
असिधारापथपतितं त्वं तु निहन्या महेन्द्रमपि ॥ ५२ ॥
त्वं तावदास्स्व दूरे भृत्यावयवोऽपि ते निहन्त्यहितान्।
का गणना तैः समरे सोढुं शक्रोऽपि न सहस्त्वाम् ॥ ५३ ॥

इसके चार उदाहरण दो आर्याओं में देते हैं—'वे क्षुद्र रण में तुम्हारे सेवकों के अवयव को भी सह सकने में असमर्थ हैं। आप तो तलवार की धार पर पड़े इन्द्र को भी मार सकते हैं ॥ ५२ ॥'

'आप तो दूर ही रहे, आपके शत्रुओं को तो थोड़े से भृत्य ही मार डालेंगे। भला रण में उनकी क्या गणना की जाय; इन्द्र भी तुम्हें सहने में अक्षम है ॥५३॥'

त्वदिति। त्वमिति। अत्राणुत्वख्यापनार्थोऽवयवशब्दः। ततोऽण्वपि भृत्यावयवसहनलक्षणं कार्यं रिपवः कर्तुमशक्ताः। नृपभयाशङ्कनात्कार्याद्धेतोः। तथा गुर्वपि शक्रहननं कार्यात्सत्त्वान्नृपेण क्रियते। तथा हीनोऽपि भृत्यावयवो रिपुवधं कार्यं तेजस्विनृपसंपर्कात्कीर्त्याशया वा करोति। तथाधिकोऽपि शक्रः कर्ता राजसहनलक्षणं तद्भयात्कार्यान्न करोति ॥

त्वदिति। त्वमिति। यहां अवयव शब्द स्वल्पता द्योतित करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। फिर सेवकों के अवयव को सहने करने रूप स्वल्प कार्य को भी शत्रु करने में असमर्थ हैं। (कारण बताते हैं) राजा से भय होने के कारण।

तथा राजा के पराक्रमरूप हेतु इन्द्रवधरूप बड़ा कार्य भी कर लिया जाता है। तथा क्षुद्र होने पर भी सेवकों का अवयव शत्रुवधरूप कार्य तेजस्वी राजा के संसर्ग से अथवा कीर्ति की कामना से कर डालता है। इसी प्रकार अधिक हो कर भी इन्द्र राजा के पराक्रमसहनरूप कार्य को उस (राजा) से भय होने के कारण नहीं कर पाता है ॥

भूयोऽप्याह—

यत्र क्रियाविपत्तेर्न भवेदेव क्रियाफलं तावत् ।
कर्तुरनर्थश्च भवेत्तदपरमभिधीयते विषमम् ॥ ५४ ॥

और भी बताते हैं—'जहाँ कर्म के नाश से न केवल कर्ता का क्रियाफल ही नष्ट होता है अपितु उलटे अनर्थ आ पड़ता है वहाँ दूसरे प्रकार का विषम अलंकार होता है ॥ ५४ ॥'

यत्रेति । यत्र क्रियाविपत्तेः कर्मनाशाद्धेतोर्न केवलं तावत्कर्तुः क्रियाफलं न भवेद्यावतानर्थश्च भवेत्तदपरमन्यद्विषममभिधीयते । दारुणार्थश्चात्र विषमशब्दः । यथा—'विषममिदं वनम्' इति ॥

यत्रेति । जहाँ कर्म के नाश से न केवल कर्ता को क्रिया का फल नहीं मिलता है अपितु उलटे अनर्थ भी आ पड़ता है वहां पूर्व से भिन्न विषम (अलंकार) होता है । यहाँ विषम शब्द कठोरता का वाचक है । जैसे—'यह वन विषम है ।'

निदर्शनमाह—

उत्कण्ठा परितापो रणरणकं जागरस्तनोस्तनुता ।
फलमिदमहो मयाप्तं सुखाय मृगलोचनां दृष्ट्वा ॥ ५५ ॥

उदाहरण देते हैं—'उत्कण्ठा, संताप, उत्सुकता, निरन्तर जागरण और शरीर की कृशता–उस मृगनयना को देखकर, हाय, मैंने सुख के लिये यह फल प्राप्त किये ॥ ५५ ॥'

उत्कण्ठेति । अत्र सुखाय मृगलोचनां स्त्रियं दृष्ट्वा न केवलं सुखं न प्राप्तं यावदनर्थ उत्कण्ठादिकः प्राप्तः । क्रियाविपत्तिरत्र दर्शनच्छेदः ॥

उत्कठेति । यहाँ सुख के लिये मृग के समान नेत्र वाली स्त्री को देखकर न केवल सुख नहीं प्राप्त हुआ उलटे उत्कण्ठा आदि अनर्थ भी आ पड़े । क्रियाविपत्ति (कर्म का नाश) यहाँ दर्शन की बाधा है ॥

अथानुमानमाह—

वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य ।
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम् ॥ ५६ ॥

अब अनुमान का लक्षण करते हैं—'जिस अलंकार में साध्य परोक्ष का पहले उपन्यास करके उसके पश्चात् उसके साधक (हेतु) का उपन्यास तथा इसके विपरीत (अर्थात् साधक का पहले उपन्यास करके फिर साध्य का उपन्यास) होता है उसे अनुमान अलंकार कहते हैं ॥ ५६ ॥'

वस्त्विति। साध्यं परोक्षं वस्तु यत्र प्रथममुपन्यस्य पुनस्तस्य साधकं हेतुं कविरुपन्यस्येत्तदनुमानमलंकारः। तथापि विपरीतं चेति पूर्वं साधकोपन्यासः पश्चात्साध्यनिर्देशो यत्र तच्चानुमानम्। वास्तवलक्षणेनैवापुष्टार्थस्य परिहृतत्वादग्निरत्र धूमादित्यलंकारत्वं न भवति। साधकमिति जातावेकवचनम्। तेन द्वयोर्बहुषु च साधकेषु भवति। यथा—'स्पष्टाक्षरमिदं यत्नान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः। अल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका ॥' साधकग्रहणादेव वस्तुनः साध्यत्वे लब्धे साध्यग्रहणमवस्तुत्वेन सिद्धस्याभावस्यापि वस्तुत्वप्रतिपत्त्यर्थम्। यत्साध्यं तद्भावरूपमभावरूपं वा भवत्विति क्त्वाप्रत्ययेनैव पुनः शब्दार्थे लब्धे साध्यसाधकयोश्च विलक्षणत्वादन्यत्वे सिद्धे पुनरन्यपदग्रहणं बहूनां साधकानामुपन्यासे सत्यनुमानोज्ज्वलत्वख्यापनार्थम्। साधकमुपन्यस्येत्पुनश्चान्यदुपन्यस्येदिति शब्दशक्त्यैव वा भूयस्ताप्रतीतिः ॥

वस्त्विति। जहाँ परोक्ष साध्य वस्तु का पहले उपन्यास करके फिर उसके साधक हेतु का कवि उपन्यास करे वहाँ वह अनुमान अलंकार होगा। इसके विपरीत भी अर्थात् पहले साधक का उपन्यास, फिर साध्य का निर्देश जहाँ हो वह अनुमान होगा। वास्तव के स्वरूप से ही अपुष्टार्थ का खण्डन हो जाने के कारण, 'धूम के कारण यहाँ अग्नि होगी'—यह अलंकार नहीं होगा। 'साधकम्' में एकवचन का प्रयोग जात्यर्थ में किया गया है। अतएव दो और दो से अधिक साधकों में अनुमान होता है। जैसे—'प्रयत्न करने के कारण सुव्यक्त वर्ण वाला, स्त्रीस्वभाव के कारण मधुर (और) अङ्गों के लाघव के कारण अकर्णकटु यह मानों सारिका (मैना) का उच्चारण है ॥' साधक के ग्रहण से वस्तु का साध्य होना सिद्ध होने पर भी साध्य का ग्रहण अवस्तु (वस्तु स्वरूप से भिन्न) रूप में सिद्ध अभाव का वस्तुरूप में बोध कराने के लिये किया गया है। जो साध्य होगा वह चाहे भावरूप हो या अभावरूप, इस प्रकार क्त्वा प्रत्यय से ही पुनः शब्द के अर्थ के सिद्ध होने पर साध्य और साधक के विलक्षण होने के कारण लौकिक साध्य-साधक से भिन्न सिद्ध हो जाने पर भी दुबारा 'अन्य' पद का ग्रहण अनेक साधकों (हेतुओं) की सत्ता में अनुमान की चारुता द्योतित करने के लिये की गयी है। साधक का उपन्यास करे फिर अन्य का उपन्यास करे इस प्रकार शब्द शक्ति से ही आनन्त्य की प्रतीति होती है ॥

उदाहरणमाह—

सावज्ञमागमिष्यन्नूनं पतितोऽसि पादयोस्तस्याः ।
कथमन्यथा ललाटे यावकरसतिलकपङ्क्तिरियम् ॥ ५७ ॥

उदाहरण देते हैं—'बड़े तिरस्कारपूर्वक आकर निश्चय ही तुम उसके दोनों चरणों में पड़े हो नहीं तो तुम्हारे ललाट पर यह महावर की तिलकपंक्ति कैसे होती ॥ ५७ ॥'

सावज्ञमिति । अत्र पादपतनं साध्यमुपन्यस्य ललाटगतयावकरसतिलकपङ्क्तिः साधकमुपन्यस्तम् ॥

सावज्ञमिति । यहां पादपतन रूप साध्य का (पहले) उपन्यास करके (उसके पश्चात्) भाल पर लगी हुयी महावर की तिलकपंक्तिरूप साधक का उपन्यास किया गया है ॥

तथा—

वचनमुपचारगर्भं दूरादुद्गमनमासनं सकलम् ।
इदमद्य मयि तथा ते यथासि नूनं प्रिये कुपिता ॥ ५८ ॥

फिर—'स्नेहपूर्वक आलाप, दूर से देखकर ही उठ खड़ा होना, बैठना, यह सब हे प्रिये, मेरे लिये आज तेरे ऐसे हो रहे हैं जैसे तू मेरे ऊपर क्रुद्ध है ॥ ५८ ॥

वचनमिति । अत्र वचनादीनि पूर्वं साधकान्युपन्यस्तानि पश्चात्कुपितत्वं साध्यमिति वैपरीत्यम् ॥

वचनमिति । यहाँ वचन आदि साधकों का पहले उपन्यास किया गया है तथा क्रुद्ध होना आदि साध्य का बाद में—इस प्रकार (पहले से) विरुद्ध उदाहरण है ॥

यथा भेदान्तराण्याह—

यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति ।
भावीति वा तथान्यत् कथ्येत तदन्यदनुमानम् ॥ ५९ ॥

आगे अन्य भेद बताते हैं—'जहाँ बलवत्तर कारण को देखकर अघटित कार्य के घट जाने अथवा भविष्य में घटित होने का कथन किया जाता है वह पूर्व से भिन्न अनुमान अलङ्कार होता है ॥ ५९ ॥'

यत्रेति । यत्रालंकारे बलवत्तरकारणदर्शनेनान्यदिति कार्यमभूतमेवानुत्पन्नमेव भूतत्वेन भावित्वेन वा कथ्येत तत्तथेति पूर्ववद्यथापूर्वं साध्यमुपन्यस्य साधकोपन्यासः साधकं चोपन्यस्य साध्योपन्यास इत्येवं चतुर्धा तदन्यत्पूर्वोक्तादपरमनुमानम् ॥

यत्रेति । जिस अलंकार में बलवत्तर कारण के दृष्टिगत होने के कारण अभूतपूर्व कार्य को उत्पन्न अथवा उत्पन्न होने वाला बताया जाता है वह उसी प्रकार से—सर्वप्रथम साध्य का उपन्यास करके साधक का उपन्यास और साधक का उपन्यास करके साध्य का उपन्यास करने से—पूर्व अनुमान से भिन्न यह चार प्रकार का अन्य अनुमान होता है ॥

उदाहरणान्याह—

अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः ।
अयमायातः कालो हन्त मृताः पथिकगेहिन्यः ॥ ६० ॥

उदाहरण देते हैं—'निरन्तर घुमड़ते हुए बादलों से युक्त, कुटज, अर्जुन और कदम्ब से सुगन्धित वन-वायु वाली यह (वर्षा) ऋतु आ गयी, बेचारी पथिकों की युवतियाँ मर गयीं ॥ ६० ॥'

अविरलेति । अत्रादौ बलवतः कालस्य साधकस्योपन्यासः पश्चात्साध्यस्य मरणस्य भाविनोऽपि मृता इति भूतत्वेन निर्देशः ॥

अविरलेति । यहाँ प्रारम्भ में बलवान् कालरूप साधक का बाद में होने वाले मरणरूप साध्य का—'मर गयी' इस प्रकार भूतकाल में निर्देश है ॥

तथा—

दिष्ट्या न मृतोऽस्मि सखे नूनमिदानीं प्रिया प्रसन्ना मे ।
ननु भगवानयमुदितस्त्रिभुवनमानन्दयन्निन्दुः ॥ ६१ ॥

और—'हे सखे ! सौभाग्यवश मैं मरा नहीं, इस समय मेरी प्रिया अत्यन्त प्रसन्न है और ये भगवान् चन्द्रमा भी तीनों लोकों को सुख देते हुए उदित हो गये हैं ॥ ६१ ॥'

दिष्ट्येति । अत्र प्रियाप्रसादस्य साध्यस्य भाविनो भूतत्वेनादावुपन्यासः पश्चाच्चन्द्रोदयस्य बलवतः साधनस्येति भूतोदाहरणम् ॥

दिष्ट्येति । यहाँ प्रारंभ में प्रिया के भावी प्रसादरूप साध्य का निर्देश किया बाद में चन्द्र के उदयरूप बलवान् हेतु का—इस प्रकार (यह) भूतकाल का उदाहरण है ॥

भाविन्याह—

यास्यन्ति यथा तूर्णं विकसितकमलोज्ज्वलादमी सरसः ।
हंसा यथैवमेतां मलिनयति घनावली ककुभम् ॥ ६२ ॥

अब (अभूतपूर्व कार्य के) उत्पन्न होने की संभावना के (दो) उदाहरण देते हैं—'जैसे ही इस दिशा को मेघ-मण्डल मलिन करेंगे वैसे ही खिले हुये कमलों से उज्ज्वल इस सरोवर से हंस शीघ्र ही प्रस्थान कर देंगे ॥ ६२ ॥'

यास्यन्तीति । अत्र हंसगमनस्य साध्यस्यादौ भावित्वेन निर्देशः पश्चात्साधनस्य बलवतो घनावलीलक्षणस्येति ॥

यास्यन्तीति । यहाँ प्रारम्भ में हंस प्रस्थान रूप साध्य का भावीरूप में निर्देश किया गया है और मेघमण्डल रूप बलवान् हेतु का बाद में ॥

तथा—

वहति यथा मलयमरुद्यथा च हरितीभवन्ति विपिनानि ।
प्रियसखि तथेह न चिरादेष्यति तव वल्लभो नूनम् ॥६३ ॥

और—'जिस प्रकार यह मलय पवन बह रहा है और वन हरे भरे हो रहे हैं, हे प्रिय सखि ! इससे तुम्हारे प्रिय शीघ्र ही यहाँ अवश्य आयेंगे ॥ ६३ ॥'

वहतीति । अथ पूर्वं बलवतो मलयवातादिकस्य साधकस्य निर्देशः । पश्चाद्वल्लभागमनस्य साध्यस्य भावित्वेनेति ॥

वहतीति । यहाँ प्रारंभ में बलवान् मलय-पवन आदि हेतु का निर्देश है बाद में प्रिय के आगमन रूप साध्य का भावी रूप में ॥

अथ दीपकम्—

यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति ।
तद्वत्कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ॥ ६४ ॥

अब दीपक (का लक्षण करते हैं)—'जहाँ अनेक वाक्यों का एक ही क्रियापद अथवा कारक पद होता है वहाँ (क्रिया-दीपक और कारक-दीपक) भेद से दीपक अलंकार दो प्रकार का होता है ॥ ६४ ॥'

यत्रेति । यत्रानेकेषां वाक्यार्थानामेकं क्रियापदं भवति तद्वत्कर्त्रादिकारकपदं वा तदित्यमुना प्रकारेण दीपकं द्वेधा । क्रियादीपकं कारकदीपकं चेत्यर्थः ॥

यत्रेति । जहाँ अनेक वाक्यार्थों का एक क्रियापद उसी प्रकार कर्ता आदि अथवा कारकपद होता है—वहाँ इस प्रकार दीपक दो प्रकार का होता है—क्रिया-दीपक और कारक-दीपक ॥

अथास्यान्वर्थभेदान्दर्शयितुमाह—

आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति ।
वाक्यार्थानिति भूयस्त्रिधैतदेवं भवेत्षोढा ॥ ६५ ॥

अब इसके अन्वर्थ (नाम वाले) भेदों को दिखलाने के लिये कहते हैं—

'वाक्य के मध्य, आदि और अन्त में विद्यमान वह (क्रिया अथवा कारक) पद वाक्यार्थों को प्रकाशित करता है । इस प्रकार प्रत्येक के तीन-तीन भेद होने से दीपक अलंकार छ प्रकार का होता है ॥ ६५ ॥'

आदाविति । तदिति द्विविधं दीपकं पद्यादिलक्षणवाक्यस्यादौ मध्येऽन्ते वावस्थितं वाक्यार्थान्दीपयति प्रकाशयतीत्यन्वर्थबलादादिदीपकं मध्यदीपकमन्तदीपकं चेति त्रिविधम् । एवं चैतत्षोढा षड्विधं भवेदिति ॥

आदाविति । फिर दो भेदों वाला दीपक पद्य आदि रूप वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में बैठकर वाक्यार्थों को प्रकाशित करता है । इस प्रकार अर्थ के अनुसार ही तीन प्रकार का आदि दीपक, मध्य दीपक और अन्त दीपक होता है । इस प्रकार यह (दोनों भेदों के तीन-तीन प्रकार होने से) छ प्रकार का होता है ॥

तदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

कान्ता ददाति मदनं मदनः संतापमसममनुपशमम् ।
संतापो मरणमहो तथापि शरणं नृणां सैव ॥ ६६ ॥

क्रमशः उन (छ भेदों) का उदाहरण देते हैं—

'कान्ता काम उत्पन्न करती है, काम अनिवारणीय अतुल संताप (और) संताप मरण । खेद है ! कि तब भी पुरुषों की शरण वह (कान्ता) ही है ॥६६॥'

कान्तेति । इदमादिक्रियादीपकम् ॥

कान्तेति । यह आदि क्रिया-दीपक है ॥

तारुण्यमाशु मदनं मदनः कुरुते विलासविस्तारम् ।
स च रमणीषु प्रभवञ्जनहृदयावर्जनं बलवत् ॥ ६७ ॥

'यौवन शीघ्र ही काम उत्पन्न करता है, काम विलास का विस्तार और वह (विलास-विस्तार) रमणियों में उत्पन्न होकर लोक का अत्यन्त हृदयावर्जन ॥६७॥'

तारुण्यमिति । इदं मध्यक्रियादीपकम् ॥

तारुण्यमिति । यह मध्य क्रिया-दीपक है ॥

नवयौवनमङ्गेषु प्रियसङ्गमनोरथो हि हृदयेषु ।
अथ चेष्टासु विकारः प्रभवति रम्यः कुमारीणाम् ॥ ६८ ॥

'अङ्गों में नव यौवन, हृदय में प्रिय के सहवास की अभिलाषा, तदनन्तर अविवाहिताओं की चेष्टाओं में मधुर विकार उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥'

नवेति । इदमन्तक्रियादीपकम् ॥

नवेति । यह अन्त क्रिया-दीपक है ॥

निद्रापहरति जागरमुपशमयति मदनदहनसंतापम् ।
जनयति कान्तासंगमसुखं च कोऽन्यस्ततो बन्धुः ॥ ६९ ॥

'नीद जागरण को दूर करती है, कामाग्नि के संताप को शान्त करती है, और

प्रिया के साथ सहवास का सुख उत्पन्न करती है। भला इसके अलावा दूसरा कौन बन्धु है ॥ ६९ ॥'

निद्रेति। इदमादिकर्तृदीपकम् ॥

निद्रेति। यह आदि कर्तृ-दीपक है ॥

स्रंसयति गात्रमखिलं ग्लपयति चेतो निकाममनुरागः।
जनमसुलभं प्रति सखे प्राणानपि मङ्क्षु मुष्णाति ॥ ७० ॥

'अनुराग सारे शरीर को शिथिल बना देता है; हृदय को सर्वथा सुखा देता है (यही नहीं) हे मित्र ! दुर्लभ जन के बहाने प्राणों को भी शीघ्र चुरा लेता है ॥ ७० ॥'

स्रंसयतीति। इदं मध्यकर्तृदीपकम् ॥

स्रंसयतीति। यह मध्य कर्तृ-दीपक है ॥

दूरादुत्कण्ठन्ते दयितानां संनिधौ तु लज्जन्ते।
त्रस्यन्ति वेपमानाः शयने नवपरिणया वध्वः ॥ ७१ ॥

'नव विवाहिता वधुयें दूर से उत्कण्ठित होती हैं, प्रिय के समीप में लजाती हैं और शय्या पर काँपती हुयी जाती हैं ॥ ७१ ॥'

दूरादिति। इदमन्तकर्तृदीपकम्। एवं कर्मादिषु कारकेषूदाहरणानि द्रष्टव्यानि। अस्य च दीपकस्य प्रायोऽलंकारान्तरैः समावेश इष्यते। तथा ह्याद्ययोरुदाहरणयोः कारणमालायाः सद्भावः। तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु वास्तवसमुच्चयस्य। षष्ठे जातेः ॥

दूरादिति। यह अन्त क्रिया-दीपक है। इसी प्रकार कर्म आदि के उदाहरण जानना चाहिए। इस दीपक का प्रायः अन्य अलंकारों के साथ समावेश इष्ट होता है। जैसे प्रथम दो उदाहरणों में कारणमाला, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम में वास्तव समुच्चय का (वास्तवमूलक समुच्चय का) और छठे में जाति का सद्भाव है ॥

अथ परिकरः—

साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत।
द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति ॥ ७२ ॥

अब परिकर (का लक्षण करते हैं)—'जहाँ वस्तु सप्रयोजन विशेषणों से विशिष्ट हो द्रव्य आदि के भेद भिन्न वह परिकर (द्रव्य, गुण, क्रिया और जातिरूप से) चार प्रकार का होता है ॥ ७२ ॥'

सेति। यद्द्रव्यगुणक्रियाजातिलक्षणं चतुर्विधं वस्तु साभिप्रायैर्विशेषणैः सम्यग्विशिष्येत स इत्यमुना प्रकारेण चतुष्प्रकारः परिकरालंकारो भवति। साभिप्रायग्रहणं वस्तुस्वरूपमात्राभिधानकल्पितानां विशेषणानां निरासार्थम्। यथा—'न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।' इत्यत्र भूर्जत्वचां कुञ्जरबिन्दुशोणा इति विशेषणं वस्तुस्वरूपमात्राख्यापकमिति। सम्यग्ग्रहणं तु कविविवक्षिताभिप्रायाप्रत्यायकविशेषणानां निवृत्त्यर्थम्। तस्य भवन्ति द्रव्यमित्याद्यर्थचातुर्विध्याभिधानादेव तत्त्वावगमे सति द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विध इति यत्कृतं तत्कैश्चित्क्रियाया अवस्तुत्वमुक्तं त्रिविधश्च परिकरोऽभ्यधायि तन्मतनिरासार्थमिति॥

सेति। जो द्रव्य, गुण, क्रिया और जातिरूप चार प्रकार की वस्तु सप्रयोजन विशेषणों से भलीभांति विशिष्ट होती है वह इस प्रकार से चार प्रकार का परिकर अलंकार होता है। साभिप्राय का ग्रहण वस्तु के स्वरूपमात्र का कथन करने के लिये प्रयोय किये गये विशेषणों का बहिष्कार करने के लिये किया गया है। जैसे—'हाथी के रक्त की बूँद के समान भूर्ज (वृक्ष) की छालों पर जहाँ धातु (सोने) के द्रव से अक्षरों का न्यास किया गया है।'–में भूर्ज (के) छाल का विशेष 'कुञ्जरविन्दुशोण' केवल स्वरूप का प्रतिपादक है। 'सम्यक्' का ग्रहण कवि के अभीष्ट अभिप्राय के अबोधक विशेषणों का निराकरण करने के लिये किया गया है। द्रव्य आदि अर्थ के चतुर्विध होने का कथन हो जाने पर ही तत्त्व की प्रतीति हो जाने से द्रव्य आदि के भेद से वह चार प्रकार का होता है ऐसा जो (सूत्रकार ने) कहा है वह जिन लोगों ने क्रिया को वस्तु रूप न मानकर तीन ही प्रकार का परिकर माना है वह उनके मत के खण्डन के लिये॥

तदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

उचितपरिणामरम्यं स्वादु सुगन्धि स्वयं करे पतितम्।
फलमुत्सृज्य तदानीं ताम्यसि मुग्धे मुधेदानीम्॥ ७३॥

क्रमशः उसके उदाहरण देते हैं—'समुचित परिपाक के कारण रमणीक, स्वादिष्ट, सुगन्धित और स्वयं ही हाथ में प्राप्त हुये फल को उस समय त्याग कर हे मुग्धे! अब व्यर्थ खिन्न हो रही हो॥ ७३॥'

उचितेति। काचित्सखीमाह—हे मुग्धे स्वल्पप्रज्ञे, एवंविधं फलं तदानीमुत्सृज्येदानीं मुधैव वृथैव ताम्यसि खिद्यस इत्यर्थः। अत्र फलवस्तुनो विशेषणानि साभिप्रायाणि। अयं चाभिप्रायः—योग्यपरिपाकसुन्दरता सुस्वादुरसता सौगन्ध्यं स्वयं हस्तपतनं चैकैकमपरित्यागकारणम्।

त्वया त्वेतत्सकलगुणयुतं फलं त्यजन्त्या स्वयं जानन्त्यैव महाननुतापोऽङ्गीकृत एव। तत्किमिदानीं खेदेनेति। अथवात्रेदमुदाहरणम्—'कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयभवनादीपनो योऽभिमानी, कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः। राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथय न तु रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः॥'

इदं द्रव्योदाहरणम्॥

उचितेति। कोई सखी से कहती है—हे मुग्धे! इस प्रकार के फल को उस समय त्याग कर अब व्यर्थ खिन्न हो रही हो। यहाँ फलवस्तु के विशेषण सप्रयोजन हैं। अभिप्राय इस प्रकार है—समुचित परिपाक के कारण सुन्दरता (अतएव) रसनिर्भरता, सुगन्धि और स्वयं हाथ में पड़ना—यह एक एक (गुण) भी (अकेला गुण भी) अपरित्याग का कारण है। फिर तुमने इन समस्त गुणों से युक्त फल को त्याग कर स्वयं जान बूझ कर ही महान् कष्ट स्वीकार ही कर लिया है। तो इस समय खेद करने से क्या। अथवा यहाँ यह उदाहरण—'जुआ में कपटों को करने वाला, लाह निर्मित भवन को जलाने वाला, जो अहंकारी द्रौपदी के केश के उत्तरीय को उघारने में कुशल है, पाण्डव जिसके दास हैं, दुःशासन आदि का राजा सौ छोटे भाइयों वाले कर्ण का मित्र वह दुर्योधन कहाँ है; हम दोनों (उससे) क्रोध से मिलने नहीं आये हैं॥' यह द्रव्य का उदाहरण है॥

कार्येषु विघ्नितेच्छं विहितमहीयोऽपराधसंवरणम्।
अस्माकमधन्यानामार्जवमपि दुर्लभं जातम्॥ ७४॥

'संभोगों में इच्छा की अपघातक, गुरुजनों के अपराध का आच्छादन हे सखि! सरलता भी भाग्यहत हम लोगों के लिये दुर्लभ हो गयी॥ ७४॥'

कार्येष्विति। मानिनी नायकमिदमाह। अत्रार्जवं गुणस्तद्विशेषणान्यन्यानि साभिप्रायाणि। तथा ह्यार्जवे सति मुग्धतया यदेव कार्येषु सुरतेषु युष्मदादिरिच्छति तदेव क्रियते। तथा महीयसां गुरूणामपराधानां संवरणमाच्छादनं भवति। तच्चार्जवमस्माकमधन्यानां दुष्प्रापं जातम्। अयमभिप्रायः—नाहमृज्वी येनैतानार्जवगुणान्मयि संभाव्य मां प्रसादयसीति॥

कार्येष्विति। मानिनी नायक से यह कहती है—यहाँ आर्जव गुण है और उसके अन्य विशेषण सप्रयोजन हैं। सरलता होने पर अज्ञता के कारण जो कुछ तुम लोग चाहते हो वही किया जाता है तथा गुरुजन के अपराध का आच्छादन होता है (अज्ञता के कारण उनके अपराधों का ज्ञान नहीं होता) वह सरलता भी हम अभागिनियों के लिये दुर्लभ हो गयी। यह अभिप्राय है—मैं

सरल नहीं हूँ जो इन सरलता के गुणों की मुझ में संभावना करके मुझे प्रसन्न कर रहे हो ॥

क्रियापरिकरस्तु—

सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसंकटक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥ ७५ ॥

क्रिया-परिकर भी—'निरन्तर अशान्त मन, हजारों दुःखों के संकटों से खिन्न, जय की इच्छा वाला यह राजा बिना किसी में विश्वास किये नींद को त्याग कर जी रहा है ॥ ७५ ॥'

सततमिति । अत्र जीवतीति क्रिया । तद्विशेषणान्यनिर्वृतमानसमित्यादीनि । तेषामभिप्रायो राज्यगर्हादिकः । एवंविधं राज्ञो जीवनं गर्हितमित्यर्थः ॥

सततमिति । यहाँ जी रहा है यह क्रिया है । उसके विशेषण हैं–अशान्तमनस्कता आदि । उनका अभिप्राय राज्य की निन्दा आदि है । इस प्रकार का राजा का जीवन निन्दनीय है––यह अर्थ है ॥

अथ जातिपरिकरमाह—

अत्यन्तमसहनानामुरुशक्तीनामनिघ्नवृत्तीनाम् ।
एकं सकले जगति स्पृहणीयं जन्म केसरिणाम् ॥ ७६ ॥

अब जातिपरिकर (का लक्षण) बताते हैं—

'सदा किसी का बर्दाश्त न करने वाले, अत्यन्त पराक्रमी, स्वच्छन्द आचरण करने वाले केवल सिंह का ही जन्म सारे संसार में स्पृहणीय है ॥ ७६ ॥'

अत्यन्तमिति । अत्र केसरिणामिति सिंहजातिः । तद्विशेषणान्यसहनानामित्यादीनि । अभिप्रायस्तु तैः सिंहानां महत्त्वप्रतिपादनमेव । कथमन्यथा तज्जन्मनि स्पृहा भवेत् । अथवात्रैवमुदाहरणम्—'कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः क्षुधा क्षामो वृद्धः पिठरककपालार्दितगलः। व्रणैः पूतिक्लिन्नैः कृमिकुलचितः स्वापबहुलः शुनीमन्वेति श्वा तमपि मदयत्येव मदनः ॥'

अत्यन्तमिति । यहाँ 'केसरिणाम्'—में सिंह जाति है। उसके विशेषण हैं—असहनशीलता आदि । उन (विशेषणों) का अभिप्राय सिंहों के महत्त्व का प्रतिपादन है । अन्यथा उसकी जन्म में स्पृहा कैसे होती । अथवा यहाँ यह उदाहरण—'कमजोर, काना, गञ्जा, बहरा, कटी पूँछ वाला, भूख के कारण संत्रस्त, बूढ़ा, पात्र के कपाल से टूटे हुये गले वाला, पेवर से भरे हुये घावों

के कारण कीटाणुओं से व्याप्त, निरन्तर निद्रा वाला कुत्ता भी कुतिया के पीछे दौड़ता है। काम उसे भी मतवाला बना देता है ॥'

अथ परिवृत्तिः—

युगपद्दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत्।
क्वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः ॥ ७७ ॥

अब परिवृत्ति का लक्षण करते हैं—

'दो वस्तुओं में परस्पर जहाँ दान और ग्रहण एक साथ कराया जाता है अथवा प्रसिद्धि के कारण उपचरित होता है वहाँ परिवृत्ति अलङ्कार होता है।७७।'

युगपदिति। यदन्योन्यं परस्परं वस्तुनोर्युगपत्समकालं दानादाने त्यागग्रहणे क्रियेते सेत्यमुना प्रकारेण परिवृत्तिर्नामालंकारो भवति। अथवा क्वचिदसती दानादाने यदुपचर्येते सा परिवृत्तिः। कथमसत उपचार इत्याह—प्रसिद्धितः। प्रसिद्धया हि न किंचिदपि विरुध्यते। अन्यथा गगनादीनामपि मूर्तधर्मवर्णनमयुक्तं स्यादिति भावः ॥

युगपदिति। जहाँ दो वस्तुओं का समकाल में ही दान और ग्रहण परस्पर किया जाता है वहाँ इस प्रकार से (वर्णन होने पर) परिवृत्ति नामक अलंकार होता है। अथवा कहीं-कहीं अविद्यमान भी त्याग और ग्रहण का जहाँ उपचार (लाक्षणिक रूप कथन) होता है वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है। असत् का (अविद्यमान का) उपचार कैसे होता है—इसका उत्तर देते हैं,—प्रसिद्धि के कारण। प्रसिद्धि प्राप्त कुछ भी विरुद्ध नहीं होता। अन्यथा आकाश आदि में भी मूर्त धर्म का वर्णन अनुचित हो जाय यह तात्पर्य है ॥

उदाहरणे द्वाभ्यामार्यार्धाभ्यामाह—

दत्त्वा दर्शनमेते मत्प्राणा वरतनु त्वया क्रीताः।
किं त्वपहरसि मनो यद्ददासि रणरणकमेतदसत् ॥ ७८ ॥

दोनों उदाहरण आर्या के दो अर्धांशों से देते हैं—

'हे सुन्दराङ्गि! तूने दर्शन देकर मेरे इन प्राणों को खरीद लिया। किन्तु मन को जो चुरा रही हो (उसके बदले) यह व्यर्थ (असत्) उत्कण्ठा दे रही हो ॥ ७८ ॥'

दत्त्वेति। कश्चिद्व्यसनी वक्ति। इदमत्र दर्शनसमकालमेव प्राणक्रयस्तथा चित्तहरणसमकालमेव हृदयोत्कलिकादानमुपचरितम् ॥

दत्त्वेति। (इसे) कोई व्यसनी कह रहा है। यहाँ दर्शन देने के क्षण में ही प्राण खरीद लिया गया तथा चित्त हरने के क्षण में ही हृदय को उत्कण्ठा देने का उपचार किया गया ॥

अथ परिसंख्या—

पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम् ।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या ॥ ७९ ॥

परिसंख्या (का लक्षण करते हैं)—

'किसी आधार में विद्यमान साधारण गुण आदि पूछे जाने पर या बिना पूछे गये ही जहाँ बताये जाते हैं और अन्यत्र उन (गुण आदि) का अभाव प्रतीत होता है वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है ॥ ७९ ॥'

पृष्टमिति । यद्गुणादि गुणक्रियाजातिलक्षणं वस्तु क्वचिन्नियतैकवस्तुन्याधारे विद्यमानं कथ्यते । कीदृशम् । सत्तुल्यं साधारणम् । अन्यत्रापि विद्यमानं सदित्यर्थः । यद्येवं कस्मात्क्वचित्कथ्यत इत्याह—अन्यत्र वस्त्वन्तरे तस्याभावः प्रतीयते । कथने कृते सति तच्च क्वचित्पृष्टं कथ्यते क्वचिदपृष्टमिति द्विधा । पृष्टग्रहणं वाक्ये प्रश्नस्योपादानार्थम् । सेत्यमुना प्रकारेण परिसंख्या भण्यते ॥

पृष्टमिति । गुण, क्रिया और जाति रूप वस्तु जब एक आधार में विद्यमान बताये जाते हैं—कैसे गुण आदि ?—साधारण अर्थात् (जिस आधार में सत् बताये जा रहे हैं उसके अतिरिक्त) अन्य आधार में भी विद्यमान । यदि ऐसा है तो क्यों हो एक ही आधार में कहा जाता है—इसे बताते हैं—'अन्य आधार उस (गुण आदि) का अभाव प्रतीत होता है । कथन होने पर, वह गुण क्रिया जाति रूप वस्तु कहीं तो प्रश्न होने पर कही जाती है और कहीं विना प्रश्न के ही । इस प्रकार (प्रश्नपूर्विका और अप्रश्नपूर्विका के भेद से परिसंख्या) दो प्रकार की होती है । (सूत्रकार ने कारिका में) पृष्ट शब्द का ग्रहण वाक्य में प्रश्न के भी उपादान के लिये किया है । उक्त विधि से इस परिसंख्या का लक्षण किया गया ।

उदाहरणानि यथा—

किं सुखमपारतन्त्र्यं किं धनमविनाशि निर्मला विद्या ।
किं कार्यं संतोषो विप्रस्य महेच्छता राज्ञाम् ॥ ८० ॥

उदाहरण जैसे—

'(पृष्टपूर्विका परिसंख्या) सुख क्या है ? स्वच्छन्दता । अनश्वर धन क्या है ? निर्मल विद्या । क्या करना चाहिए ? ब्राह्मण को संतोष और राजा को यश की इच्छा ॥ ८० ॥'

किमिति । अत्र सुखो गुणं धनं त्वविनाशित्वगुणयुक्तं पृष्टम् । तथा किं कार्यमित्यत्र द्विजनृपकर्तृका क्रिया पृष्टा । तेषां चान्यत्र सत्त्वेऽप्यपा-

रतन्त्ये विद्यायां संतोषे महेच्छतायां च सद्भावः कथितः। अन्यत्र तदभाव एव प्रतीयते। अपारतन्त्र्यमेव सुखमित्याद्यवधारणप्रतीतेरिति। जातौ तु के ब्राह्मणा येषां सत्यमित्यादि द्रष्टव्यम्॥

किमिति। यहाँ गुणरूप सुख और अनश्वरता गुणयुक्त धन पूछे गये हैं। इसी प्रकार 'क्या करना चाहिये'—में ब्राह्मण और राजारूप कर्ता की क्रिया पूछी गयी है। उन (सुख, धन और कार्य) के अन्यत्र (स्त्री, कल्पतरु, तप और विजय आदि में) सद्भाव होने पर भी अपरतन्त्रता, विद्या, संतोष और यश की इच्छा में सद्भाव कहा गया है। अन्यत्र (स्त्री आदि में) उनका अभाव प्रतीत होता है। क्योंकि अपरतन्त्रता ही सुख है—इस प्रकार अवधारण की प्रतीति होती है। (जातिरूप वस्तु के अपृष्ट होने के कारण टीकाकार जाति का भी उदाहरण देता है)—जाति में भी—'कौन ब्राह्मण हैं ? जिनके पास सत्य है।' आदि उदाहरण समझना चाहिये। (यहाँ तप, ब्रह्मचर्य आदि में ब्राह्मणत्व होने पर भी उसका अभाव प्रतीत होता है)॥

अपृष्टोदाहरणमाह—

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति॥ ८१॥

अपृष्टपूर्विका का उदाहरण देते हैं—

'(हे सुन्दरि !) कुटिलता तुम्हारे सुन्दर केश में, लालिमा हाथ, पैर और ओष्ठपत्र में, कठोरता दोनों स्तनों में और चञ्चलता दोनों नेत्रों में ही बसती है॥ ८१॥'

कौटिल्यमिति। इदं कौटिल्यादिषु गुणेषूदाहरणम्। द्रव्यक्रियाजातिषु तु स्वयं द्रष्टव्यानि। लक्षणयोजना च कर्तव्येति॥

कौटिल्यमिति। यह कौटिल्य आदि गुणों का उदाहरण है। द्रव्य, क्रिया और जाति का उदाहरण स्वयं ढूंढ़ लेना चाहिए और लक्षण भी घटा लेना चाहिए॥

अथ हेतुः—

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद्यत्र।
सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः॥ ८२॥

हेतु (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ कार्य के साथ कारण का कथन अभेद रूप से उपन्यस्त होता है वहाँ अन्य अलङ्कारों से विलक्षण हेतु नामक अलङ्कार होता है॥ ८२॥'

हेत्विति । हेतुमता कार्येण सह हेतोः कारणस्य यत्राभिधानमभेदकृद्भेदेन भवेत्स हेतुर्नामालंकारः । अन्येभ्योऽलंकारेभ्यः पृथग्भूतो विलक्षणः । अत्र चालंकारग्रहणमन्येभ्यः पृथग्भूत इति च परमतनिरासार्थम् । तथा हि नाम हेतुसूक्ष्मलेशानामलंकारत्वं नेष्टम् । एषां चालंकारत्वं विद्यते । वाक्यार्थालंकरणान्न चान्यत्रान्तर्भावः शक्यते कर्तुमिति ॥

हेत्विति । कार्य के साथ जहाँ कारण का कथन अभेदरूप से होता है वहाँ हेतु नामक अलंकार होता है । (यह हेतु) अन्य अलंकारों से विलक्षण होता है । यहाँ (कारिका में) अलंकार और 'अन्येभ्यः पृथग्भूतः' का ग्रहण (दण्डी आदि) दूसरे आलंकारिकों का खण्डन करने के लिये है (जो हेतु को अलंकार ही नहीं मानते) क्योंकि (उन्हें) हेतु, सूक्ष्म और लेश अलङ्कार रूप में अभीष्ट नहीं हैं । (वस्तुतः) इनमें अलङ्कारता है । वाक्यार्थों को अलंकृत करने के कारण अन्य (किसी अलङ्कार में) अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है ॥

उदाहरणमाह—

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः ।
रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥ ८३ ॥

उदाहरण देते हैं—'निरन्तर विकसित होते हुये कमलों वाला, गुञ्जार करते हुये मत्त भ्रमरों वाला, कोयलों के कारण आनन्द देने वाला, लोगों को उत्कण्ठित करने वाला इस रमणीक वसन्त ऋतु का आगमन हो रहा है ॥ ८३ ॥'

अविरलेति । अविरलानां कमलानां विकासहेतुत्वाद्वसन्तकाल एव तथोच्यते । एवं सकलालिमदश्चेत्यादावपि द्रष्टव्यम् । न त्वविरलानां कमलानां विकासो यत्रेत्यादि बहुव्रीहिः कर्तव्यः । तदा त्वभेदो न स्यात् । उदाहरणदिगियम् । इदं तूदाहरणं यथा—'आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया । वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम्' ॥

अविरलेति । सघन कमलों के खिलने का हेतु होने के कारण वसन्त ऋतु ही ऐसी कही जाती है । इसी प्रकार 'सकलालिमद' आदि में भी जानना चाहिए । सघन कमलों का विकास है जिसमें—इस प्रकार से बहुव्रीहि समास नहीं करना चाहिए क्योंकि तब अभेद नहीं होगा । यह उदाहरण की दिशा है । यह भी उदाहरण जैसे—'आयु ही घी है, नदी ही पुण्य है, भय ही चोर है, सुख ही प्रिया है, बैर ही जुआ है, गुरु ही ज्ञान है और ब्राह्मण की पूजा ही श्रेय है ॥'

[टिप्पणी—कर्मधारय समास करने पर अनुवाद इस प्रकार होगा—सघन कमलों का विकास, मतवाले भ्रमरों का मद, कोयल का आनन्द—लोक को उत्कण्ठित करने वाला यह समय आ रहा है ।]

अथ कारणमाला—

कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम् ।
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीदं सर्वमेवेति ॥ ८४ ॥

अब कारणमाला (का लक्षण करते हैं) 'जहाँ पूर्व-पूर्व कार्य उत्तरोत्तर कारण बनता जाय वहाँ कारणमाला अलंकार होता है ॥ ८४ ॥'

कारणेति। सेयं कविप्रसिद्धा कारणमाला यस्यामर्थानां मध्याद्यथापूर्वं यो यः पूर्वः स स उत्तरेषामर्थानां कारणभावं याति। कथं याति? पूर्वस्मादर्थादिदमुत्तरोत्तरार्थजातं सर्वमेव भवतीत्यमुना प्रकारेणेति ॥

कारणेति। जिसमें अर्थों के बीच से जो-जो पूर्व अर्थ होता है वह-वह उत्तरोत्तर अर्थों का कारण बन जाता है उसमें कवियों में प्रसिद्ध यह कारणमाला अलंकार होता है। कैसे कारण बन जाता है? पूर्व अर्थ से ही यह उत्तरोत्तर सभी अर्थ उत्पन्न होता है। इस प्रकार से (कारण बन जाता है) ॥

उदाहरणमाह—

विनयेन भवति गुणवान्गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः ।
अभिगम्यतेऽनुरक्तः ससहायो युज्यते लक्ष्म्या ॥ ८५ ॥

उदाहरण देते हैं—'विनय से मनुष्य गुणवान होता है, गुणी में लोग श्रद्धा रखते हैं, (श्रद्धा-पात्र) के पास सभी जाते हैं, वह सहायकों से युक्त होता है, सहायकों से युक्त होने के बाद लक्ष्मी से युक्त होता है ॥ ८५ ॥'

विनयेनेति। अत्र पूर्वः पूर्वो विनयादिरुत्तरोत्तरस्य गुणवत्त्वादेर्निमित्तम् ॥

विनयेनेति। यहाँ पूर्व-पूर्व विनय आदि उत्तरोत्तर गुणवत्ता आदि के निमित्त हैं ॥

अथ व्यतिरेकः—

यो गुण उपमेये स्यात्तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः ॥ ८६ ॥

व्यतिरेक (का लक्षण करते हैं)—

'जो गुण उपमेय में हो और उसके विरुद्ध उपमान में दोष हो तो अकेले (केवल दोष या केवल गुण) और साथ-साथ (गुण और दोष दोनों) न्यस्त होकर वे दोनों (गुण और दोष) व्यतिरेक को तीन प्रकार का बनाते हैं ॥ ८६ ॥'

य इति। उपमेये यो गुणः स्यादुपमाने च तस्य गुणस्य प्रतिपन्थी विरुद्धो यो दोषस्तौ गुणदोषौ व्यतिरेकमलंकारं त्रिधा त्रिविधं कुरुतः। कथमित्याह—व्यस्तसमस्तन्यस्ताविति। तत्र गुण एवोपमेये न्यस्यते न तूपमाने दोष इत्येकः प्रकारः। तथोपमाने दोषो न्यस्यते, न तूपमेये गुण इति द्वितीयः। एवं व्यस्तभेदौ द्वौ। तथोपमेये गुणोऽपि न्यस्यते, उपमाने च दोषोऽपीति समस्तन्यासे एक एव प्रकार इति त्रैविध्यम्। गुणश्चात्र हृदयावर्जकार्थविशेषो गृह्यते, न तु द्रव्यगुणक्रियाजातिषु प्रसिद्धः। दोषोऽपि चोक्तगुणविपक्ष एव। न चात्रौपम्यालंकारभेदत्वमाशंकनीयम्। सादृश्याभावात्। उपमानोपमेयपदोपादानं तु व्यतिरेकसिद्ध्यर्थम्। नह्यन्यथा संघटते गुणिनः सदोषेण सहौपम्यविघटनं व्यतिरेक इति कृत्वा॥

य इति। उपमेय में जो गुण हो और उपमान में उस गुण का प्रतिगामी दोष वे दोनों गुण-दोष व्यतिरेक अलंकार को तीन प्रकार का बनाते हैं। कैसे? इसे बताते हैं—अकेले-अकेले और दोनों एक साथ कथित होकर। उनमें जहाँ उपमेय में गुण का ही कथन हो उपमान में दोष का नहीं वह एक प्रकार होता है। तथा जहाँ उपमान में दोष का कथन होता है उपमेय में गुण का नहीं वहाँ दूसरा प्रकार होता है। इस प्रकार (गुण और दोष में से) एक का कथन होने पर दो प्रकार का व्यतिरेक होता है। तथा उपमेय में गुण और उपमान में दोष (दोनों का) एक साथ न्यास (कथन) होने पर (न्यस्तभेद) एक प्रकार का होता है—इस प्रकार व्यतिरेक का त्रैविध्य सिद्ध है। गुण से यहाँ हृदयावर्जक विशेष अर्थ का ग्रहण होता है, द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति में प्रसिद्ध गुण का नहीं। दोष भी उक्त गुण का विरोधी (अर्थात् हृदय में वैरस्योत्पादक अर्थविशेष) होता है। (उपमान और उपमेय में) सादृश्य का अभाव होने के कारण इसे औपम्यमूलक अलंकार बनाने की शङ्का नहीं करनी चाहिए। उपमान और उपमेय पदों का ग्रहण व्यतिरेक की सिद्धि के लिये किया गया है। नहीं तो व्यतिरेक इस संज्ञा से गुणी का दोषवान् के साथ औपम्य खण्डित ही न होता॥

तदुदाहरणान्याह—

सकलङ्केन जडेन च साम्यं दोषाकरेण कीदृक्के।
अभुजंगः समनयनः कथमुपमेयो हरेणासि॥ ८७॥

उस (व्यतिरेक) के उदाहरण देते हैं—

'भला कलङ्की और जड चन्द्रमा से तुम्हारी समता कैसे हो सकती है। अभुजङ्ग (अकुटिल) और समनेत्र वाले तुम्हारी उपमा शङ्कर से कैसे दी जा सकती है॥ ८७॥'

सकलङ्केनेति। सकलङ्केत्यार्याधर्म् । अत्रोपमाने दोषन्यास उपमेये गुणवत्ता प्रतीयते । अभुजंग इत्याद्युत्तरार्धम् । अत्रोपमाने सदोषत्वं गम्यते ॥

सकलङ्केनेति । सकलङ्क आदि आर्या का अर्धांश है । इसमें उपमान में दोष का कथन है और उपमेय में गुणवत्ता प्रतीत होती है। अभुजङ्ग से आर्या का उत्तरार्ध है। इसमें (उपमेय में गुणवत्ता का कथन है और) उपमान में सदोषत्व गम्य है ॥

तरलं लोचनयुगलं कुवलयमचलं किमेतयोः साम्यम् ।
विमलं मलिनेन मुखं शशिना कथमेतदुपमेयम् ॥ ८८ ॥

'नेत्र युगल चञ्चल हैं नीलकमल अचल है (भला) इन दोनों में साम्य क्या है ? क्या विमल मुख मलिन चन्द्रमा का उपमेय हो सकता है ॥ ८८ ॥'

तरलमिति । अत्रोपमेये गुण उपमाने दोषश्च न्यस्त इति समस्तो भेदः ॥

तरलमिति । यहाँ उपमेय में गुण और उपमान में दोष का कथन होने से समस्त का भेद है ॥

भेदान्तरमाह—

यो गुण उपमाने वा तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमेये ।
भवतो यत्र समस्तौ स व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु ॥ ८९ ॥

अन्य भेद बताते हैं—

'जो गुण उपमान में है उसका विपक्षी दोष उपमेय में। जहाँ वे (गुण और दोष) दोनों ही उक्त हों वहाँ व्यतिरेक अलंकार का अन्य भेद होता है ॥ ८९ ॥'

य इति । सोऽयं व्यतिरेकोऽन्यः पूर्वविलक्षणः, यत्रोपमाने गुणस्य न्यास उपमेये च दोषस्य तौ समस्तौ न्यसनीयौ। व्यस्तयोरपि केचिदिच्छन्ति । यथा—'अभ्यर्णवर्ति दाह्यं वस्तु तदानीं विदह्याग्निः । शाम्यति यस्तेन कथं समो ननु स्यात्प्रियाविरहः ॥' तथा—'स्वदन्नेव तदात्वेऽपि बाधितोऽपि न शाम्यति । यः स दासेरकः क्षुद्रक्ष्वेडतुल्यः किमुच्यते ॥' तदेतद्युक्तम् । पूर्वेणैव सिद्धत्वात् । सर्वोऽप्यात्मीयधर्मोत्कर्षो गुणः । स चात्रोपमेये विद्यत इति ॥

य इति । यह वह व्यतिरेक पूर्व से भिन्न होता है—जिसमें उपमान में गुण का न्यास और उपमेय में दोष का—दोनों का एक साथ न्यास (समस्त न्यास)

करना चाहिये। कुछ लोग केवल गुण या दोष के न्यास में भी (व्यतिरेक) मानते हैं—'जलाने योग निकटस्थ वस्तु को जो अग्नि एक क्षण में जलाकर शान्त हो जाता है उसके साथ प्रिय के वियोग की तुलना कैसे हो सकती है (क्योंकि यह सदैव जलाता रहता है)। इसी प्रकार 'स्वाद लेते हुये उस समय भी बाधित होकर भी जो शूद्र शान्त नहीं होता है (वह) हीन दुष्ट क्या कहा जाय ॥' तो यह युक्त है। वह तो पहले से ही सिद्ध है। अपने धर्म का सब प्रकार का उत्कर्ष गुण है और वह यह उपमेय में विद्यमान ही है॥

उदाहरणमाह—

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥ ९० ॥

उदाहरण देते हैं—'सचमुच बार-बार क्षीण होकर भी चन्द्रमा पुनः पुनः बढ़ता है। हे सुन्दरी! रहने दो, प्रसन्न हो जाओ। कभी न लौटने वाला यौवन बीता जा रहा है॥ ९०॥'

क्षीण इति। अत्र शश्युपमानं क्षीणोऽपि वृद्धिगुणयुक्तो निर्दिष्टः। यौवनं तूपमेयं क्षयदोषयुक्तमिति॥

क्षीण इति। यहाँ उपमान चन्द्र को क्षीणता से युक्त होने पर वृद्धिरूप गुण से युक्त बताया गया है तथा उपमेय यौवन में क्षय दोष की सत्ता कही गयी है। (इस प्रकार यहाँ पूर्व प्रकार, जिसमें उपमेय में गुण और उपमान में दोष न्यास बताया गया था, से विरुद्ध व्यतिरेक अलंकार होता है)॥

अथान्योन्यमाह—

यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम् ॥ ९१ ॥

अन्योन्य का लक्षण करते हैं—

'जहाँ दो पदार्थों में परस्पर एक ही कर्ता आदि भाव क्रिया के द्वारा किसी विशिष्ट धर्म का पोषण करें वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है॥ ९१॥'

यत्रेति। यत्राभिधेययोः पदार्थयोः परस्परमन्योन्यं क्रियया हेतुभूतयैको निर्विलक्षणः कारकभावः कर्त्रादिकारकत्वं संजायेत। कीदृशः। स्फारितः परिपोषितस्तत्त्वविशेषो विशिष्टधर्मो येन स तथाभूतः। तदन्योन्यमलंकारः। परस्परग्रहणं 'सिंहः प्रसेनमवधीत्सिंहो जाम्बवता हतः' इत्यन्योन्यनिवृत्त्यर्थम्। एकग्रहणं तु 'कृष्णद्वैपायनं पार्थः सिषेवे शिष्यवत्ततः। असावध्यापयत्तं तु विद्यां योगसमन्विताम्॥' इत्येतन्निवृत्त्यर्थम्॥

यत्रेति। जहाँ दो अभिधेय पदार्थों में परस्पर क्रिया का एक ही कर्ता आदि कारक होता है (वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है)। कैसा (कारक) ? विशिष्ट धर्म का परिपोषक। वह अन्योन्य (अलंकार) होता है। (कारिका में)--'सिंह ने प्रसेन को मार डाला, जाम्बवान् ने सिंह को मार डाला' को (अन्योन्य से) अलग करने के लिये परस्पर का ग्रहण किया गया है। (इस उदाहरण में क्रिया के एक होने पर क्रिया के कारक पारस्पर्य न होने के कारण भिन्न हैं। एक का ग्रहण भी 'अर्जुन ने व्यास की शिष्य के समान सेवा की। इन्होंने उसे योगसमन्वित विद्या पढ़ाई'--इसका निराकरण करने के लिये किया गया है॥

उदाहरणमाह—

रूपं यौवनलक्ष्म्या यौवनमपि रूपसंपदस्तस्याः।
अन्योन्यमलंकरणं विभाति शरदिन्दुसुन्दर्याः॥ ९२॥

उदाहरण देते हैं—'शरच्चन्द्र के समान सुन्दरी उसकी रूप सम्पत्ति यौवन-लक्ष्मी की और (उसका) यौवन भी रूप सम्पत्ति का--एक दूसरे के अलंकार प्रतीत होते हैं॥ ९२॥'

रूपमिति। अत्र रूपयौवनयोरलंकरणक्रिययैकः कारकभावः कर्तृत्व-लक्षणः। तेन च रूपस्य दीर्घनयनत्वादिको विशेषः स्फारितः। यौवन-स्यापि वपुर्विभागश्चतुरस्रशोभादिकत्वविशेषः स्फारितः॥

रूपमिति। यहाँ रूप और यौवन का अलंकार क्रिया के द्वारा कर्तारूप एक कारक भाव (निष्पन्न हुआ है)। उसके द्वारा रूप में विशाल नेत्र आदि का पुष्टीकरण हुआ है। यौवन का भी शरीरगत चतुर्दिशाओं में शोभित होने का पुष्टीकरण हुआ है॥

अथोत्तरम्—

उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र॥ ९३॥

उत्तर (अलंकार का लक्षण करते हैं)—

'उत्तरवाक्य को सुनकर जहाँ पूर्व बातों की उद्भावना की जाती है वहाँ उत्तर (अलंकार) होता है। प्रश्न (वाक्य) से उत्तर (की उद्भावना) होने पर भी (उत्तर) अलंकार होता है॥ ९३॥'

उत्तरेति। उत्तरवचनानि श्रुत्वा यत्र पूर्ववचनानि निश्चीयन्ते तदुत्त-रम्। तथा प्रश्नाच्चोत्तरं यत्र स्यात्तदप्युत्तरम्। इति द्विधेदम्। अस्य चाद्यो-त्तरभेदस्यानुमानस्य चायं विशेषो यत्तत्र सामान्येन हेतुहेतुमद्भावः

साध्यते। अत्र तु न हेतुहेतुमद्भावो वाक्ये निबध्यते। किं तु श्रोता श्रुत्वोत्तरवचनानि तदनुसारेण पूर्ववचनानि निश्चिनोतीति॥

उत्तरेति। उत्तर (बाद) की बातों को सुनकर जहाँ पूर्व की बातें निश्चित की जाती हैं वहाँ उत्तर अलंकार होता है। इसी प्रकार प्रश्न से जहाँ उत्तर की बात का (निश्चय किया जाता है) वह भी उत्तर अलंकार होता है। इस प्रकार यह दो प्रकार का होता है। इस उत्तर और अनुमान में यह भेद है कि उस (अनुमान) में सामान्यतः कारण-कार्यभाव दिखलाया जाता है और यहाँ वाक्य में कारण-कार्यभाव नहीं दिखलाया जाता। अपितु श्रोता उत्तर वचन को सुनकर पूर्व वचनों का निश्चय कर लेता है॥

उदाहरणम्—

भण मानमन्यथा मे भ्रुकुटिं मौनं विधातुमहमसहा।
शक्नोमि तस्य पुरतः सखि न खलु पराङ्मुखीभवितुम्॥९४॥

उदाहरण—

'हे सखि! मुझसे मान का उपदेश करो; नहीं तो भ्रुकुटि को मौन रखने में मैं असमर्थ रहूँगी। निश्चय ही उसके साथ विमुख नहीं हो सकती हूँ॥ ९४॥'

भणेति। अत्रास्मान्नायिकोक्तादुत्तरात्सखीवचनान्युच्चीयन्ते। नूनमस्याः सखीभिरुक्तं यथा सापराधस्य प्रियस्य भ्रुकुटिमौनपराङ्मुखीभावान्कुरुष्वेति॥

भणेति। यह नायिका के उक्त उत्तर से (उसके) सखी के वचनों का चयन होता है। निश्चय ही सखियों ने उससे कहा होगा कि अपराध करने पर भौंहों को मौन करके प्रिय के विरुद्ध भावों को बना लो॥

द्वितीयोदाहरणमाह—

किं स्वर्गादधिकसुखं बन्धुसुहृत्पण्डितैः समं लक्ष्मीः।
सौराज्यमदुर्भिक्षं सत्काव्यरसामृतास्वादः॥ ९५॥

दूसरा उदाहरण देते हैं—

'स्वर्ग से अधिक सुख क्या है? भाइयों, मित्रों और बुधों के साथ लक्ष्मी, सुन्दर राज्य, अदुर्भिक्ष (और) सरस काव्य के रसामृत का आस्वाद॥ ९५॥'

किमिति। इति प्रश्नादुत्तरम्। अथास्य परिसंख्यायाश्चायं विशेषो यत्तत्र नियमप्रतीतिरेतदेवात्रैव वेति। इह तु प्रश्नादुत्तरमात्रम्, न तु नियमप्रतीतिः॥

किमिति। यह प्रश्न से उत्तर (के निश्चय किये जाने का उदाहरण है)। इसका और परिसंख्या का भेद इस प्रकार है—कि उस (परिसंख्या) में नियम

की प्रतीति होती है जैसे इतना ही, केवल यहीं आदि। यहाँ (उत्तर में) तो प्रश्न से केवल उत्तर की प्रतीति होती है नियम की नहीं॥

अथ सारम्—

यत्र यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम्॥ ९६॥

सार (का लक्षण करते हैं)—

'जो-जो समुदाय हैं उनके एक-एक देश को क्रमशः जहाँ चरम सीमा तक अत्यन्त गुणवान् निश्चित किया जाता है वहाँ सार (अलंकार) होता है॥ ९६॥'

यत्रेति। यो यः समुदायो यथासमुदायम्, यो य एकदेशो यथैकदेशमित्यव्ययीभावः। यथासमुदायाद्यथैकदेशं क्रमेण निर्धार्यते पृथक्क्रियते। कथम्, परावधि। परमुत्कृष्टतममेकदेशमवधिं कृत्वा। निर्धारणं च गुणक्रियाजातिभिः संभवति। अत आह—गुणवदिति। गुणवत्त्वेन, न तु क्रियाजातिभ्याम्। क्रमेणेति चाक्रमनिवृत्त्यर्थम्। तेनेह सारत्वं न भवति। यथा—'नदीषु गङ्गा नगरीषु काञ्ची पुष्पेषु जाती रमणीषु रम्भा। सदोत्तमत्वं पुरुषेषु विष्णुरैरावणो गच्छति वारणेषु॥' नह्यत्र शृङ्खलाकटकवन्निर्धारणम्। कस्तर्ह्येषोऽलंकारः सारभास इत्युच्यते। सर्वत्र हि संपूर्णलक्षणाभावे आभासत्वं कविभिर्व्यवस्थापितम्। निरतिशयग्रहणमतिशयालंकारत्वनिवृत्त्यर्थम्। अन्यरूपत्वात्तस्य। सारत्वमुत्कर्षस्तत्र चातिशयालंकाराशङ्केति। अथवाप्याक्षेपिकगुणवत्त्वनिवृत्त्यर्थमिति॥

यत्रेति। जो-जो समुदाय हैं (यथासमुदायम्), जो-जो एकदेश है (यथैकदेशम्)—इस प्रकार अव्ययीभाव (समास है)। समुदाय के अनुसार एक-एक देश क्रमशः पृथक् किये जाते हैं। कैसे—चरम सीमा तक—एक देश को अत्यन्त उत्कृष्ट सिद्ध कर के। निर्धारण भी गुण, क्रिया और जाति के द्वारा हो सकता है। अतएव कहते हैं गुणवदिति। गुणवान् रूप में ही (निर्धारण) (किया जाता है) जाति और क्रिया के द्वारा नहीं। (कारिका में) क्रम का ग्रहण अक्रम का निराकरण करने के लिये किया गया है। अतएव (अक्रम होने के कारण ही) यहां सार नहीं होगा—जैसे—'नदियों में गङ्गा, नगरियों में काञ्ची, फूलों में जाती (चमेली), स्त्रियों में रम्भा, पुरुषों में विष्णु (और) हाथियों में ऐरावत सदैव उत्तमता को प्राप्त होते हैं॥' यहाँ पर शृङ्खलाकटक के समान निर्धारण नहीं हुआ है। फिर यह कौन सा अलंकार है? साराभास—कहा जाता है। सर्वत्र संपूर्ण लक्षण का अभाव होने पर कवियों ने आभास की स्थापना की है। निरतिशय का ग्रहण अतिशय अलंकार से भिन्न बताने के लिये

किया गया है। अतिशय अलंकार का स्वरूप (इससे) भिन्न होता है। सारत्व ही उत्कर्ष है और वहाँ अतिशयालंकार की आशङ्का हो सकती है। अथवा आक्षिप्त गुणवत्ता का निराकरण करने के लिये (निरतिशय का ग्रहण किया गया है)।

उदाहरणम्—

राज्ये सारं वसुधा वसुंधरायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥ ९७ ॥

उदाहरण—

'राज्य का उत्कर्ष है पृथ्वी, पृथ्वी का पुरी, पुरी का सौध, सौध का तल्प और तल्प (शय्या) की सर्वस्वभूता सुन्दरी रमणी ॥ ९७ ॥'

राज्य इति। अत्र सप्ताङ्गराज्यसमुदायाद्वसुधाख्यैकदेशस्य, ततोऽपि पुरस्येत्यादिगुणवत्त्वेन निर्धारणम् ॥

राज्य इति। यहाँ सात अङ्गों वाले राज्यरूप समुदाय का पृथ्वीरूप एकदेश को, उसके भी पुर आदि को गुणवान् रूप में निर्धारित किया गया है ॥

अथ सूक्ष्मम्—

यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसंबद्धम् ।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्संजायते सूक्ष्मम् ॥ ९८ ॥

सूक्ष्म (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ शब्द अपने अर्थ से संबद्ध अयुक्त, किन्तु उपपत्तियुक्त अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है ॥ ९८ ॥'

यत्रेति। प्रतिपाद्येऽर्थे यस्य युक्तिर्न विद्यतेऽसावयुक्तिमदर्थः शब्दो यत्रात्मीयार्थसंबद्धमर्थान्तरं गमयति प्रत्यापयति तत्सूक्ष्मम्। ननु यस्य निजार्थेऽपि युक्तिर्नास्ति तस्य कुतस्तत्संबन्धे स्यादित्याह—उपपत्तिमदिति। इतिर्हेतौ। यतोऽर्थान्तरे तत्संबद्धे घटना विद्यते। अत एव सूक्ष्मावगमकारणात्सूक्ष्ममिति नाम ॥

यत्रेति। जिस शब्द की प्रतिपाद्य अर्थ में संगति नहीं बैठती वह होता है अयुक्तिमदर्थ शब्द—वह (शब्द) अपने अर्थ से संबद्ध जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है वहाँ सूक्ष्म (अलंकार) होता है। प्रश्न उठता है कि जिस (शब्द) की अपने अर्थ में भी युक्ति नहीं है उसकी अपने संबद्ध अर्थ में कैसे होगी—इसे बताते हैं—उपपत्तिमदिति। इति हेतु के अर्थ में आया है। उसकी अपने संबद्ध अर्थ में संगति होती है। अतएव सूक्ष्म (वस्तु) का बोधक होने के कारण सूक्ष्म–यह नाम पड़ा है ॥

उदाहरणमाह—

आदौ पश्यति बुद्धिर्व्यवसायोऽकालहीनमारभते ।
धैर्यं व्यूढमहाभरमुत्साहः साधयत्यर्थम् ॥ ९९ ॥

उदाहरण देते हैं—

'प्रारम्भ में बुद्धि देखती है, समय के अनुरूप (अकाल से हीन) व्यवसाय प्रारंभ होता है। धैर्य प्रभूत भार ढोता है (और) उत्साह प्रयोजन को सिद्ध करता है ॥ ९९ ॥'

आदाविति । व्यवसायः कर्मण्युद्योगः धैर्यमसंमोहः । उत्साहः शक्तिः । अत्र पुनर्बुद्धेर्दर्शनम् , व्यवसायस्यारम्भः, धैर्यस्य भरवहनम् , उत्साहस्य च साधनमचेतनत्वान्न घटते । इत्येते शब्दा यथोक्तेऽर्थेऽनुपपन्नाः करणभावो ह्येषां घटते, न कर्तृत्वम् । बुद्ध्यादिसंबद्धे तु देवदत्तादौ सर्वमुपपद्यत इति कृत्वा । यदा बुद्धिमानर्थं पश्यति तदा बुद्धिः पश्यतीत्याद्युच्यत इति ॥

आदाविति । व्यवसाय—कर्म में उद्योग । धैर्य—मोह का अभाव । उत्साह—शक्ति । यहाँ फिर अचेतन होने के कारण बुद्धि का देखना, व्यवसाय का आरंभ करना, धैर्य का भार ढोना और उत्साह का सिद्ध करना संगत नहीं है। इस प्रकार ये शब्द अपने अर्थ में युक्तियुक्त नहीं हैं। करणभाव ही इनका संगत है कर्तृत्व नहीं । बुद्धि आदि से युक्त देवदत्त आदि यह सब (क्रिया) संभव है। जब बुद्धिमान् देखता है तब बुद्धि देखती है—ऐसा (लोक में) व्यवहार होता है ॥

अथ लेशः—

दोषीभावो यस्मिन्गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः ।
अभिधीयते तथाविधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात् ॥१००॥

लेश (का लक्षण करते है)—

'जहाँ गुण के दोष हो जाने अथवा दोष के गुण हो जाने का कथन होता है (वहाँ) उस प्रकार के कर्म का निमित्त लेश अलंकार होता है ॥ १०० ॥'

दोषीभाव इति । यस्मिन्गुणस्य दोषभावो दोषस्य च गुणभावो विधीयते । कीदृशः । तथाविधं गुणस्य दोषीकरणं दोषस्य गुणीकरणं वा कर्म निमित्तं यस्य स तथोक्तः । वाशब्द एकयोगेऽपि लेशत्वख्यापनार्थः । अन्यथा यत्रोभययोगस्तत्रैव स्यादिति ॥

दोषीभाव इति । जहाँ गुण का दोषभाव अथवा दोष का गुणभाव किया जाता है—किस प्रकार ? —इस प्रकार के गुण के दोष और दोष के गुण करने

का निमित्त, वह (लेश) अलंकार होता है। (कारिका में) वा पद का ग्रहण एक के योग में भी लेश की सत्ता बताता है अन्यथा जहाँ दोनों का योग होता केवल वहीं (लेश) होता ॥

उदाहरणमाह—

अन्यैव यौवनश्रीस्तस्याः सा कापि दैवहतिकायाः ।
मथ्नाति यया यूनां मनांसि दूरं समाकृष्य ॥ १०१ ॥

उदाहरण देते हैं--

'भाग्य से मारी गयी उस बेचारी की यौवन-लक्ष्मी कोई अलौकिक ही है जिसके द्वारा तरुणों के मन को दूर से खींचकर मथ देती है ॥ १०१ ॥'

अन्येति । अत्र यौवनस्य गुणस्यापि युवचेतोमथनाद्दोषीभावः ॥

अन्येति । यहाँ यौवन गुण होकर भी युवकों के चित्त को मथने के कारण दोष हो गया है ॥

अथ दोषस्य गुणभावोदाहरणमाह—

हृदयं सदैव येषामनभिज्ञं गुणवियोगदुःखस्य ।
धन्यास्ते गुणहीना विदग्धगोष्ठीरसापेताः ॥ १०२ ॥

अब दोष के गुण होने का उदाहरण देते हैं—

'गुण-शून्यता के दुःख से जिनका हृदय सदैव से अपरिचित है विदग्धों की गोष्ठी के आनन्द से अपरिचित वे निर्गुण धन्य हैं ॥ १०२ ॥'

हृदयमिति । सुगममेव ॥

हृदयमिति । सरल ही है ॥

अथावसरः—

अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते ।
अर्थस्य तदभिधानप्रसङ्गतो यत्र सोऽवसरः ॥ १०३ ॥

अवसर (का लक्षण करते हैं)—

'कथन के प्रसङ्ग में अर्थ को अन्य अर्थ से उत्कृष्ट अथवा सरस बनाने के लिये जो उपलक्षण किया जाता है उसे अवसर अलङ्कार कहते हैं ॥ १०३ ॥'

अर्थान्तरमिति । तत्रार्थस्य न्यूनस्य यदुत्कृष्टमुदात्तं सश्रृङ्गारादिकं वार्थान्तरमुपलक्षणं क्रियते सोऽवसरालंकारः । किमर्थं क्रियत इत्याह— तस्योत्कृष्टत्वादेरभिधानप्रसङ्गेन । उत्कृष्टत्वं सरसत्वं वा न्यूनस्याभिधातुमित्यर्थः ॥

अर्थान्तरमिति । उनमें न्यून अर्थ को जहाँ उदात्त एवं श्रृंगार आदि से युक्त अन्य अर्थ का उपलक्षक बनाया जाता है वहाँ अवसर अलंकार होता है। क्यों (उपलक्षण) किया जाता है इसे बताते हैं—'उस उत्कृष्टत्व आदि के कथन के प्रसङ्ग से'। अर्थात्—न्यून अर्थ की उत्कृष्टता अथवा सरसता का अभिधान करने के लिये ॥

उदाहरणम्—

तदिदमरण्यं यस्मिन्दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन्बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥ १०४ ॥

उदाहरण—

'यह वही वन है जिसमें दशरथ की आज्ञा पालन करने के व्यसनी राम ने निवास करके राक्षसों का वध किया था ॥ १०४ ॥'

तदिति । अत्र साक्षाद्रामवासस्तत्कृतश्च राक्षसक्षय उत्कृष्टो वनस्योत्कृष्टत्वख्यापनायोपलक्षणत्वेन कृतः ॥

तदिति । यहाँ वन की उत्कृष्टता द्योतित करने के लिये साक्षात् राम के वास और उनके द्वारा किये गये राक्षस-वध को उपलक्षण रूप में वर्णन किया गया है ॥

द्वितीयोदाहरणमाह—

सा सिप्रा नाम नदी यस्यां मङ्क्षूर्मयो विशीर्यन्ते ।
मज्जन्मालवललनाकुचकुम्भास्फालनव्यसनात् ॥ १०५ ॥

दूसरा उदाहरण देते हैं—

'वह सिप्रा नाम की नदी है जिसमें स्नान करती हुयी मालव रमणियों के स्तन-युग्म से आहत होने के व्यसन से शीघ्र ही लहरें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं ॥१०५॥'

सेति । अत्र मालवतरुणीलक्षणं सश्रृङ्गारं वस्तु सरसत्वाभिधानायोपलक्षणं सिप्रायाः कृतम् ॥

सेति । यहाँ मालव तरुणी रूप श्रृङ्गारयुक्त वस्तु सरसतापादन के लिये सिप्रा का उपलक्षण बना दी गयी ।

अथ मीलितम्—

तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि ।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ॥ १०६ ॥

अब मीलित (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ प्रसन्नता क्रोध आदि अन्य वस्तु के द्वारा स्वाभाविक अथवा औपाधिक समान चिह्न से तिरस्कृत कर दिये जाते हैं वहाँ मीलित अलङ्कार होता है ॥ १०६ ॥'

तदिति। तन्मीलितमित्यलंकारः, यत्र हर्षकोपभयाद्यमपरेण वस्तुना हर्षादितुल्यचिह्नेन स्वाभाविकेन कृत्रिमेण वा तिरस्क्रियते। अपिर्विस्मये। इतिः प्रकारे॥

तदिति। जहाँ हर्ष, क्रोध, भय आदि हर्ष आदि समान चिह्न वाली अन्य स्वाभाविक अथवा कृत्रिम वस्तु के द्वारा तिरस्कृत कर दिये जाते हैं वहाँ मीलित नामक अलंकार होता है। अपि शब्द विस्मय के अर्थ में आया है। इति प्रकार के अर्थ में आया है॥

उदाहरणम्—

तिर्यक्प्रेक्षणतरले सुस्निग्धे च स्वभावतस्तस्याः।
अनुरागो नयनयुगे सन्नपि केनोपलक्ष्येत ॥ १०७ ॥

उदाहरण—

'तिरछे देखने के कारण चञ्चल स्वभाव से ही अत्यन्त स्निग्ध दोनों नेत्रों में अनुराग होता हुआ भी भला कैसे जाना जा सकता है॥ १०७॥'

तिर्यगिति। अत्र नयनयुगस्य स्वाभाविकतिर्यक्प्रेक्षणादियुक्तस्य यादृशी चेष्टा तादृश्येवानुरागयुक्तस्येत्यसौ नित्येन तेनापह्नूयते॥

तिर्यगिति। यहाँ स्वाभाविक तिरछी चितवन आदि से युक्त दोनों नेत्रों की जैसी चेष्टा होती है वैसी ही अनुराग से युक्त की। अतएव यह (अनुराग) नित्य उस (नेत्र युगल) से छिपा लिया जाता है॥

मदिरामदभरपाटलकपोलतललोचनेषु वदनेषु।
कोपो मनस्विनीनां न लक्ष्यते कामिभिः प्रभवन् ॥१०८॥

'मदिरामद के भार से गुलाबी वर्ण के कपोलतल और नेत्रों से युक्त मुखों में मनस्विनी स्त्रियों का क्रोध उत्पन्न होकर भी भला कैसे जाना जा सकता है॥ १०८॥'

मदिरेति। अत्र कोपसदृशचिह्नेन मदिरामदेनागन्तुकेन कोपस्तिरस्क्रियते॥

मदिरेति। यहाँ कोप के सदृश चिह्न वाले औपाधिक मदिरामद के द्वारा कोप (क्रोध) छिपा लिया जाता है॥

अथैकावली—

एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम् ॥ १०९ ॥

अब एकावली (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ उत्तर-उत्तर अर्थ के विशेषणों से युक्त अर्थ-राशि की क्रमशः स्थापना अथवा निषेध होता है उसे एकावली अलङ्कार कहते हैं ॥ ॥ १०९ ॥'

एकेति । सेयमेकावलीनामालंकारो यत्रार्थानां परम्परा यथालाभमाधीयते न्यस्यते । कीदृशी सा । यो य उत्तरोऽर्थः स स पूर्वस्य विशेषणं यस्यां सा तथाविधा । एतेन समुच्चयस्यैकावलीत्वं निषिद्धम् । कथं यथोत्तरविशेषणा, कथं वाधीयत इत्याह—स्थित्यपोहाभ्यामिति । स्थितिर्विधिरपोहो-व्यवच्छेदस्ताभ्यामिति ॥

एकेति । जहाँ अर्थों की राशि लाभ के अनुसार न्यस्त होती है वहाँ एकावली नामक अलंकार होता है। कैसी होती है वह (एकावली) ?--जो-जो बाद का अर्थ होता है वह-वह पूर्व का विशेषण होता है। इस प्रकार समुच्चय के विषय में एकावली की शङ्का नहीं हो सकती। किस प्रकार उत्तरोत्तर विशेषणों वाली अथवा कैसे न्यस्त होती है इसे बताते हैं—विधि और अपोह (निषेध) के द्वारा ॥

यथाक्रममुदाहरणे—

सलिलं विकासिकमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि ।
मधु लीनालिकुलाकुलमलिकुलमपि मधुररणितमिह ॥११०॥

क्रमशः दोनों उदाहरण देते हैं—

'यहाँ जल विकसित कमलों से युक्त, कमल सुरभित पराग से समृद्ध, पराग अन्दर प्रविष्ट हुये भ्रमरों वाला और भ्रमर भी मधुर गुञ्जार से युक्त (हैं) ॥ ११० ॥'

सलिलमिति । अत्र सलिलाद्यर्थपरम्परा यथोत्तरकमलादिविशेषणा यथालाभं विधिमुखेन निर्दिष्टा ॥

सलिलमिति । यहाँ सलिल आदि अर्थों की परम्परा उत्तरोत्तर कमल आदि विशेषणों से युक्त विधि रूप से निर्दिष्ट की गयी है ॥

नाकुसुमस्तरुरस्मिन्नुद्याने नामधूनि कुसुमानि ।
नालीनालिकुलं मधु नामधुरक्वाणमलिवलयम् ॥ १११ ॥

(आरोह रूप एकवली का दूसरा भेद)—

'इस उद्यान में ऐसा कोई वृक्ष नहीं जिसमें फूल न हों, ऐसा कोई फूल नहीं जिसमें पराग न हो, ऐसा पराग नहीं जिसमें भ्रमर न लिपटे हों, ऐसा कोई भ्रमर नहीं जो मधुर गुञ्जार न करता हो ॥ १११ ॥'

नेति । अत्र निषेधरूपेण तर्वादिकार्यपरम्परा यथोत्तरकुसुमादिविशेषणा निहितेति ॥

नेति । यहाँ निषेध रूप से तरु आदि कार्य-परम्परा उत्तरोत्तर कुसुम आदि विशेषणों से युक्त है ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

इस प्रकार रुद्रट-रचित काव्यालंकार में नामिसाधु-रचित टिप्पण से युक्त
सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।



अष्टमोऽध्यायः

वास्तवं सप्रभेदमाख्यायेदानीमौपम्यमाह—

सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ॥ १ ॥

भेदों के साथ वास्तव का व्याख्यान करके आगे औपम्य की चर्चा करते हैं—

'वस्तु उस (अप्रकृत वस्तु) के समान है' इस प्रकार यथातथ भलीभाँति प्रतिपादन करने के लिए वक्ता जिसमें (प्रकृत वस्तु के समान) अप्रकृत वस्तु का उपन्यास करे उसे औपम्य करते हैं ॥ १ ॥'

सम्यगिति । यत्र प्रस्तुतं वस्तु स्वरूपविशेषेण सम्यगनन्यथा प्रतिपादयितुं वस्त्वन्तरमप्रस्तुतं वक्ताभिदध्यात्तदौपम्यं नामालंकारः । ननु वस्त्वन्तरोक्त्या कथं वस्तुस्वरूपं विशेषतः प्रतिपाद्यत इत्याह—तत्समानमिति । इति हेतौ । यतो वस्त्वन्तरं प्रकृतवस्तुसदृशमतस्तेन तत्सम्यक्प्रतिपाद्यते । 'सर्वः स्वं स्वं रूपम्' (७।७) इत्यादिना सम्यक्त्वे लब्धे सम्यग्ग्रहणं विशिष्टसम्यक्त्वार्थम् । अभिदध्यादिति । कर्तृपदेनैव वक्तरि लब्धे वक्तृग्रहणं रक्तविरक्तमध्यस्थादिवक्तृविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् । तेन यो यादृशो वक्ता येन स्वरूपेण वक्तुमिच्छति तादृशमेव वस्त्वन्तरमभिदध्यात्तदौपम्यम् । रक्तो यथा—'अमृतस्येव कुण्डानि सुखानामिव राशयः । रतेरिव निधानानि योषितः केन निर्मिताः ॥' इत्यादि । विरक्तो यथा—'एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति । तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥' इत्यादि । मध्यस्थस्तु स्वरूपमात्रं वक्ति यथा—'दर्शनादेव नटवद्धरन्ति हृदयं स्त्रियः । सुविश्वस्तेऽप्यविश्वस्ता भवन्ति च चरा इव ॥' यत्रोपमानोपमेयभावः श्रौतः प्रातीतिको वा तदौपम्यमिति तात्पर्यम् । तेन संशयादयोऽप्येतद्भेदा एवेति ॥

सम्यगिति । जहाँ वक्ता प्रकृत वस्तु का स्वरूपतः प्रतिपादन करने के लिये अप्रकृत वस्तु का उपन्यास करे वहाँ औपम्य नामक अलंकार होता है । फिर अप्रकृत वस्तु के कथन से वस्तु के स्वरूप का विशेष प्रतिपादन कैसे हो जाता है इसे बताते हैं—तत्समानमिति । इति हेतु के अर्थ में आया है । अप्रकृत

वस्तु प्रकृत वस्तु के सदृश होती है अतएव उस (अप्रकृत वस्तु) के कथन द्वारा वह प्रकृत वस्तु भली भाँति प्रतिपादित हो जाती है। 'सभी अर्थ अपने-अपने स्वरूप (और अपने-अपने देश-काल के नियम को धारण करते हैं) आदि (७।७) के द्वारा ही सम्यक् का अर्थ गत हो जाने पर पुनः सम्यक् का ग्रहण 'विशिष्ट सम्यक्' के लिये किया गया है। अभिधान करे। कर्तृवाच्य में (क्रिया) पद के प्रयोग के द्वारा कर्ता के अर्थ के आक्षिप्त हो जाने पर (कारिका में) वक्ता पद का ग्रहण रक्त, विरक्त और मध्यस्थ आदि वक्ता-विशेष की प्रतिपत्ति के लिये है। अतएव जिस कोटि का वक्ता जिस रूप में बात कहना चाहता है उसी प्रकार की अन्य वस्तु का कथन करे तो वह औपम्य होता है। रक्त (वक्ता) का उदाहरण—'अमृत की कुण्ड-सी, सुखों की राशि सी और रति की निधान-सी इन युवतियों की रचना किसने की ॥' विरक्त (वक्ता) का उदाहरण जैसे—'ये अपने प्रयोजन के वश हँसती हैं और रोती हैं, पुरुष से विश्वास करवाती हैं और (स्वयं) विश्वास नहीं करती हैं। अतएव कुलीन और शीलवान् पुरुष को श्मशान भूमि में पड़े हुये फूल के समान वेश्याओं को त्याग देना चाहिए ॥' मध्यस्थ (वक्ता) स्वरूप मात्र का वर्णन करता है—'स्त्रियाँ दर्शनमात्र से नट के समान हृदय को चुरा लेती हैं और चरों (खोपिया) के समान सुविश्वस्त में भी विश्वास नहीं करती हैं ॥' तात्पर्य यह है कि जहाँ उपमानोपमेय भाव श्रौत अथवा प्रातीतिक होता है वहाँ औपम्य होता है। अतएव संशय आदि भी इसके भेद ही हैं ॥

सामान्यमभिधाय तद्भेदानाह—

उपमोत्प्रेक्षारूपकमपह्नुतिः संशयः समासोक्तिः ।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ॥ २ ।
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेपप्रत्यनीकदृष्टान्ताः ।
पूर्वसहोक्तिसमुच्चयसाम्यस्मरणानि तद्भेदाः ॥ ३ ॥

सामान्य का कथन करके उसके भेद बताते हैं—

उस (औपम्य) के (इक्कीस) भेद हैं—(१) उपमा, (२) उत्प्रेक्षा, (३) रूपक, (४) अपह्नुति, (५) संशय, (६) समासोक्ति, (७) मत, (८) उत्तर, (९) अन्योक्ति, (१०) प्रतीप, (११) अर्थान्तरन्यास, (१२) उभय न्यास, (१३) भ्रान्तिमान्, (१४) आक्षेप, (१५) प्रत्यनीक, (१६) दृष्टान्त, (१७) पूर्व, (१८) सहोक्ति, (१९) समुच्चय, (२०) साम्य और (२१) स्मरण ॥ २। ३ ॥

उपमेति । उभयेति । तस्यौपम्यस्योपमादय एते एकविंशतिर्भेदाः ॥

उपमेति। उभयेति। उस औपम्य के उपमा आदि ये इक्कीस भेद होते हैं॥

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति पूर्वमुपमालक्षणमाह—

उभयोः समानमेकं गुणादि सिद्धं भवेद्यथैकत्र।
अर्थेऽन्यत्र तथा तत्साध्यत इति सोपमा त्रेधा॥ ४॥

नाम संकीर्तन के ही अनुसार लक्षण करना चाहिए—इस नियम के अनुसार सर्वप्रथम उपमा का लक्षण करते हैं—

'दोनों (उपमान और उपमेय) में समान एक गुण, संस्थान आदि जिस प्रकार उपमान में प्रतीत हैं उसी प्रकार उपमेय में यदि विद्यमान बताये जाँय तो इस प्रकार की वह उपमा (वाक्य, समास और प्रत्यय के भेद से) तीन प्रकार की होती है॥ ४॥'

उभयोरिति। उभयोः प्रस्तावादुपमानोपमेययोः समानं साधारणमेकमद्वितीयं गुणादि गुणसंस्थानादि यथा येन प्रकारेणैकत्रोपमाने सिद्धं प्रतीतम्, तथा तेनैव प्रकारेणान्यत्रार्थ उपमेये साध्यत इत्येवं प्रकारोपमा सा च त्रेधा—वाक्योपमा, समासोपमा, प्रत्ययोपमेति। अभिधानस्य मानभेदेनेत्यत्र चैकत्रेति सामान्योक्तावपि 'प्रसिद्धमुपमानम्' इति न्यायादुपमानं लभ्यते॥

उभयोरिति। दोनों में अर्थात् प्रसंगप्राप्त उपमान और उपमेय में समान गुण, संस्थान आदि की जिस प्रकार उपमान में सिद्धि एवं प्रतीति होती है उसी प्रकार से उपमेय में सिद्ध होने पर उपमा होती है। वह (उपमा) तीन प्रकार की होती है—(१) वाक्योपमा, (२) समासोपमा और (३) प्रत्ययोपमा। कथन के मान के भिन्न होने पर भी यहाँ (कारिका में) 'एकत्र' यह सामान्य कथन होने पर भी 'उपमान प्रसिद्ध होता है' इस न्यास से (एकत्र का) उपमान अर्थ ही लिया जाता है॥

अथैतद्भेदत्रयमाह—

वाक्योपमात्र षोढा तत्र त्वेका प्रयुज्यते यत्र।
उपमानमिवादीनामेकं सामान्यमुपमेयम्॥ ५॥

अब इस (उपमा) के तीनों भेद बताते हैं—

'इन (वाक्योपमा, समासोपमा और प्रत्ययोपमा) में वाक्योपमा ६ प्रकार की होती है। उनमें एक तो वहाँ होती है जहाँ उपमान, इवादि में से कोई एकवाचक पद, साधारण धर्म और उपमेय (ये चारों) कथित हों॥ ५॥'

वाक्येति। अत्रोपमायां वाक्योपमा तावत्षट्प्रकारेति। एतच्च ब्रुवता वाक्योपमा प्रथमेत्युक्तं भवति। तेन पृथगुद्देशाभावो न दोषाय। तत्र

तासु षट्सु मध्यादियमेका प्रथमा, यस्यामुपमानः प्रयुज्यते । तथैवादीनामिववत्सदृशयथातुल्यनिभादीनां साम्यवाचकानां मध्यादेकम् । तथा सामान्यमुपमानोपमेययोः साधारणधर्माभिधायकं पदम् । तथोपमेयमिति चतुष्टयम् । तुशब्दो लक्षणान्तरेभ्योऽस्य विशेषणार्थः । ननु यदीवादीनामेकमेव प्रयुज्यते कथं तर्हि 'दिने दिने सा परिवर्धमाना' इत्यादिष्वनेकेषां प्रयोगः । सत्यम् । औपम्यानामनेकत्वात् । अत्र ह्यनेकं कारकमुपमानोपमेयतया निर्दिष्टम् । यथा—'ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् । शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन्रसानिव ॥' अत्रेवादीनामपि बहूनां प्रयोगो न्याय्यः । एवं हि परिपूर्णमौपम्यं भवति । यत्र तु बहूनामप्यौपम्य एक एवेवादिः प्रयुज्यते तत्र गतार्थत्वादप्रयोगो बोद्धव्यः । यथा—'सा भूधराणामधिपेन तस्याम्' इत्यादौ । अत्र हि नीताविव मेनायाम्, उत्साहगुणेनेव नगेन, संपदिव पार्वती जनितेति व्याख्यानम् । इत्यलं विस्तरेण ॥

वाक्येति । यह उपमा (के भेदों) में वाक्योपमा ६ प्रकार की होती है । इस प्रकार वर्णन करने के क्रम से वाक्योपमा प्रथम (भेद) है—यह कहने की अपेक्षा नहीं । अतएव अलग से नाम ग्रहण न करने में यहाँ कोई दोष नहीं है । (वाक्योपमा के) इन ६ भेदों में वह प्रथम है जिसमें उपमान का प्रयोग किया जाता है तथा साम्यवाचक इव आदि में से एक का (प्रयोग किया जाता है) तथा उपमान और उपमेय के साधारण धर्म का वाचक एक पद (होता है) तथा उपमेय (होता है)—इस प्रकार उपमा के चारों अङ्ग होते हैं । तु शब्द यहाँ अन्य लक्षणों की अपेक्षा इसका वैशिष्ट्य द्योतित करने के लिये आया है । प्रश्न है कि यदि इव आदि (अनेक वाचक पदों) में से एक का ही प्रयोग किया जाता है तो 'दिने दिने सा परिवर्धमाना' (प्रतिदिन वह बढ़ती हुयी) आदि पद्य में (इवादि वाचक पदों में) से अनेक (पदों) का प्रयोग क्यों हुआ है । सत्य है । (किन्तु वहाँ) औपम्य अनेक हैं । इस उदाहरण में अनेक कारक उपमान और उपमेय रूप में निर्दिष्ट हैं जैसे—यदनन्तर रघु ने सूर्य के समान प्राची दिशा में प्रस्थान किया मानों वे अस्त्रों से रस के समान बाणों के द्वारा उदीच्यों (उत्तरापथ वालों) का उद्धार कर रहे हों । यहाँ अनेक इव आदि (वाचक पदों का) प्रयोग संगत है । इसी प्रकार औपम्य परिपूर्ण होता है । जहाँ अनेक औपम्य केवल इव आदि का प्रयोग होता है वहाँ अप्रयोग को गतार्थ समझना चाहिए । उदाहरण—'सा भूधरणामधिपेन तस्याम्' आदि । यहाँ नीति में मेना के समान, उत्साह गुण के समान, पर्वत के द्वारा संपत्ति के समान पार्वती उत्पन्न हुयी—यह व्याख्यान है ॥ आगे विस्तार व्यर्थ है ॥

उदाहरणमाह—

कमलमिव चारुवदनं मृणालमिव कोमलं भुजायुगलम् ।
अलिमालेव सुनीला तवैव मदिरेक्षण कबरी ॥ ६ ॥

उदाहरण देते हैं—

'हे मदिरेक्षणे ! कमल के समान सुन्दर मुख, मृणाल के समान कोमल दोनों भुजायें, भ्रमरपंक्ति के समान अत्यन्त नील केश-कलाप तुम्हारे ही हैं ॥६॥

कमलमिति । अत्र कश्चित्कामी मुखादिकं वस्तु सम्यक्स्वरूपतः कमलादिगतचारुत्वादियुक्तं प्रतिपादयितुं वस्त्वन्तरं कमलादिकं तत्समानत्वात्प्रयुक्तवानित्यौपम्यम् । तथोभयोः कमलमुखयोः समानमेकं चारुत्वं यथैकत्र कमले सिद्धं तथोपमेये मुखे साध्यत इत्युपमालक्षणम् । तथा कमलमुपमानम्, इवशब्दः, चार्विति सामान्यम्, वदनमुपमेयम्, इति चतुष्टयं समस्तमिति वाक्योपमालक्षणम् । एवमन्यत्रापि लक्षणयोजना कर्तव्या ॥

कमलमिति । यहाँ कोई कामी मुख आदि वस्तु को भलीभाँति कमल आदि की चारुता से युक्त बताने के लिये उन (मुख आदि) के समान होने के कारण कमल आदि अन्य वस्तु का प्रयोग कर रहा है—इस प्रकार यहाँ औपम्य है । तथा दोनों कमल और मुख में—एक साधारण धर्म चारुत्व जिस प्रकार कमल में सिद्ध है उसी प्रकार उपमेय मुख में सिद्ध किया जा रहा है—इस प्रकार (इसमें) उपमा का लक्षण (घटित होता है) । तथा कमल उपमान, इव शब्द (वाचक) 'चारु' साधारण धर्म, मुख उपमेय है—इस प्रकार चारों अङ्ग पूर्ण हैं । अतएव (यहाँ) वाक्योपमा का लक्षण घटित हो रहा है । इसी प्रकार अन्यत्र भी लक्षण-योजना कर लेनी चाहिए ॥

अथ द्वितीयामाह—

इयमन्या सामान्यं यत्रेवादिप्रयोगसामर्थ्यात् ।
गम्येत सुप्रसिद्धं तद्वाचिपदाप्रयोगेऽपि ॥ ७ ॥

अब दूसरी (वाक्योपमा) का उदाहरण देते हैं—

'जहाँ अपने वाचक पद के प्रयुक्त न होने पर (साधारण धर्म के वाचक) इवादि पदों के प्रयोग के बल से अति प्रसिद्ध साधारण धर्म आक्षिप्त हो वहाँ दूसरी वाक्योपमा होती है ॥ ७ ॥'

इयमिति । इयमन्या द्वितीया वाक्योपमा, यस्यां सामान्यं साधारणो धर्मस्तद्वाचिपदाप्रयोगेऽपि गम्यते । नन्वप्रयुक्तस्य पदस्य कथमर्थो गम्यत इत्याह—इवादिप्रयोगसामर्थ्यात् । इवादयो हि कस्य सादृश्यप्रतिपादनाय

प्रयुज्यन्ते। यदि च प्रयुक्तैरपि तैरसौ न गम्यते तदानर्थकस्तेषां प्रयोगः स्यात्। यद्येवमुच्छेद एव सामान्यपदप्रयोगस्येत्याह--सुप्रसिद्धमिति। लोकप्रसिद्धमेव गम्यते नान्यदिति॥

जहाँ साधारण धर्म अपने वाचक पद के प्रयुक्त न होने पर भी गम्य होता है वह पूर्व से भिन्न दूसरी वाक्योपमा होती है॥ प्रश्न उठता है कि बिना प्रयोग के पद का अर्थ कैसे गम्य होता है--इसे बताते हैं--इवादिप्रयोगसामर्थ्यात्। इव आदि (वाचक पद) किसके सादृश्य के प्रतिपादन के लिए प्रयोग किये जाते हैं? यदि उनके प्रयुक्त होने पर भी यह (सादृश्य) गम्य न हो तब तो उनका प्रयोग ही व्यर्थ होगा। (फिर जब साधारण धर्म इवादि के प्रयोग से ही गम्य हो जाता है) तब तो साधारण धर्म के वाचक पद के प्रयोग का उन्मूलन हो जायगा'--इस शङ्का का उत्तर देते हैं—सुप्रसिद्धमिति। लोक में प्रसिद्ध ही साधारण धर्म गम्य होता है दूसरा (अप्रसिद्ध) नहीं (अतएव सामान्य पद का प्रयोग होगा ही)॥

उदाहरणमाह--

शशिमण्डलमिव वदनं मृणालमिव भुजलतायुगलमेतत्।
करिकुम्भाविव च कुचौ रम्भागर्भाविवोरू ते॥ ८॥

उदाहरण देते हैं--

'चन्द्र-मण्डल के समान मुख, मृणाल के समान दोनों भुजाएँ, हाथी के गण्डस्थल के समान स्तन और केले के खम्भे के समान तुम्हारी दोनों जङ्घायें हैं॥ ८॥

शशीति। अत्र यथाक्रमं चारुत्वकोमलत्वोत्तुङ्गत्वगौरत्वान्यनुक्तान्यपि प्रसिद्धत्वात्प्रतीयन्ते॥

शशीति। यहाँ क्रमशः चारुत्व, कोमलत्व, उत्तुङ्गत्व और गौरत्व आदि कथित न होने पर भी प्रसिद्ध होने के कारण प्रतीत हो रहे हैं॥

तृतीयामाह--

वस्त्वन्तरमस्त्यनयोर्न सममिति परस्परस्य यत्र भवेत्।
उभयोरुपमानत्वं सक्रममुभयोपमा सान्या॥ ९॥

तीसरी (वाक्योपमा का लक्षण) करते हैं—

'इन दोनों (उपमान और उपमेय) के समान दूसरी वस्तु नहीं है—इस प्रकार जहाँ दोनों क्रमशः एक दूसरे के उपमान रूप में उपन्यस्त हों उसे तीसरी उपमेयोपमा जाननी चाहिए॥ ९॥'

वस्त्वन्तरमिति । अनयोर्वस्तुनोर्वस्त्वन्तरं समं तुल्यं नास्तीत्यतः कारणाद्यस्यामुभयोरुपमानोपमेययोः क्रमेण परस्परमुपमानत्वं स्यात्सोभयोपमा । अन्या पूर्वविलक्षणा । इयमपि सामान्यस्य प्रयोगाप्रयोगाभ्यां द्विविधा ॥

वस्त्वन्तरमिति । 'इन दोनों वस्तुओं के समान दूसरी कोई अन्य वस्तु नहीं है' अतएव दोनों उपमान और उपमेय क्रमशः जिसमें एक दूसरे के उपमान हों वह उभयोपमा होती है । अन्य अर्थात् पहले बतायी गयी उपमा से विलक्षण। यह भी साधारण धर्म के प्रयोग होने और न होने की दृष्टि से दो प्रकार की होती है ॥

प्रयोगोदाहरणं स्वयमाह—

शशिमण्डलमिव विमलं वदनं ते मुखमिवेन्दुबिम्बमपि ।
कुमुदमिव स्मितमेतत्स्मितमिव कुमुदं च धवलमिदम्॥१०॥

प्रयोग का उदाहरण स्वयं देते हैं--

'तुम्हारा मुख चन्द्रमण्डल के समान निर्मल है, चन्द्रमंडल भी मुख के समान निर्मल है, यह मुस्क्यान कुमुद के समान धवल है और यह कुमुद भी मुस्क्यान की तरह धवल है ॥ १० ॥

शशिमण्डलमिति । अप्रयोगे तु यथा—'खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशाङ्क इव हंसः । कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥' इति ॥

शशिमंडलमिति । (यह साधारण धर्म के प्रयोग का उदाहरण था) उसके न प्रयोग होने का उदाहरण देते हैं—'आकाश के समान जल, जल के समान आकाश, हंस के समान चन्द्रमा का चन्द्रमा के समान हंस, कुमुद के आकार के तारक (और) ताराओं के आकार के कुमुद हैं ॥

चतुर्थीमाह—

सा स्यादनन्वयाख्या यत्रैकं वस्त्वनन्यसदृशमिति ।
स्वस्य स्वयमेव भवेदुपमानं चोपमेयं च ॥ ११ ॥

चौथी उपमा का उदाहरण देते हैं--

'जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु के समान न हो (तथा वह) स्वयं ही अपना उपमान और उपमेय दोनों हो उसे अनन्वयोपमा कहते हैं ॥ ११ ॥'

सेति । न विद्यतेऽन्वयो वस्त्वन्तरानुगमो यस्यामित्यनन्वयसंज्ञा सोपमा, यस्यामेकमेव वस्तु स्वयमेवोपमानमुपमेयं चात्मन एव भवेत् । कस्मात् , अनन्यसदृशमिति हेतोः । ननु यद्यन्यस्यात्रानुगमाभावस्तत्कथ-

मौपम्यलक्षणमुपमालक्षणं वा घटते। नैष दोषः। यतोऽनन्यसमत्वं लक्षणं वस्तुनः सम्यक्स्वरूपं च यदा युगपद्विवक्षति वक्ता तदा सम्यक्स्वरूपप्रतिपादनं वस्त्वन्तराभिधानं विना न घटते। तदभिधाने चानन्यसमत्वं दुर्घटमिति कृत्वैकमेव वस्तूपमानोपमेयरूपतया विभिद्य वक्ति। अतः सामान्यमौपम्यलक्षणमुपमालक्षणं चास्ति। वस्त्वन्तरानन्वयश्चेत्यनन्वयोपमालक्षणम्॥

सेति। जिस वस्तु के अन्वय (द्वितीयसब्रह्मचारि) एवं दूसरी वस्तु के साथ सादृश्य का अभाव होता है (उस वस्तु के वर्णन में) अनन्वय नाम वाली उपमा होती है। जिसमें एक ही वस्तु स्वयं ही अपना उपमान और उपमेय होती है। कारण बताते हैं—क्यों कि उसके सदृश वस्तु का अभाव होता है। प्रश्न है कि यदि दूसरी वस्तु के अनुगम (सादृश्य) का अभाव है तो औपम्य का या उपमा का लक्षण (उसमें) कैसे लागू होता है? यह कोई दोष नहीं। वक्ता जब वस्तु के अनन्यसदृशत्व और सम्यक् स्वरूप का एक साथ प्रतिपादन करना चाहता है। तब विना अन्य वस्तु का कथन किये हुये सम्यक् स्वरूप का प्रतिपादन हो ही नहीं पाता है। उस (विवक्षित) वस्तु के वर्णन में अनन्यसदृशत्व संगत ही नहीं हो पाता अतएव एक (उसी) ही वस्तु को अलग उपमान और उपमेय बनाकर वर्णन करता है। अतः (उस विवक्षित वस्तु के वर्णन में) साधारण धर्म, औपम्य का लक्षण और उपमा का लक्षण बैठ जाता है। दूसरी वस्तु के साथ अनन्वय (अन्वय का अभाव) होने के कारण (उक्त विधि से ही) अनन्वयोपमा का लक्षण (घटित किया गया)॥

सुश्लिष्टमुदाहरणमाह—

आनन्दसुदरमिदं त्वमिव त्वं सरसि नागनासोरु।
इयमियमिव तव च तनुः स्फारस्फुरदुरुरुचिप्रसरा॥१२॥

सुश्लिष्ट उदाहरण देते हैं—

'हे हाथी के सूड़ के समान जंघों वाली यह क्या ही सुन्दर है कि तुम तुम्हारे ही समान चल रही हो। अत्यन्त स्फुरित होती हुयी विस्तीर्ण कान्ति-प्रसर वाली यह तुम्हारा शरीर भी तुम्हारे ही समान है॥ १२॥'

आनन्देति। हे करिकरोरु, त्वमिव त्वं सरसि गच्छसीत्याद्यन्वयः॥

आनन्देति। हे हाथी के सूड़ के समान जंघों वाली! 'तुम तृम्हारे ही समान चल रही हो'—आदि प्रकार से अन्वय करना चाहिए॥

पञ्चमीमाह—

सा कल्पितोपमाख्या यैरुपमेयं विशेषणैर्युक्तम् ।
तावद्भिस्तादृग्भिः स्यादुपमानं तथा यत्र ॥ १३ ॥

पाँचवीं (वाक्योपमा) बताते हैं —

'वह कल्पितोपमा होती है यदि जिन (जितने और जिस प्रकार) के विशेषणों से युक्त उपमेय हो उन (उतने और उसी प्रकार) के विशेषणों से उपमान भी युक्त हो ॥ १३ ॥'

सेति । यैर्यादृशैर्यत्संख्यैश्च विशेषणैर्युक्तमुपमेयम्, तादृग्भिरेव तत्संख्यैश्चोपमानमपि युक्तं यस्यां सा कल्पितोपमाख्या । कल्पिता चासावुपमा च तथाविधाख्या संज्ञा यस्या इति। विशेषणैरित्यतन्त्रम् । तेनैकस्य द्वयोश्च संग्रहः । किं तु बहुभिरौज्ज्वल्यं भवति ॥

सेति । जिसमें जिस प्रकार के जितने जिन विशेषणों से उपमेय युक्त हो उसी प्रकार के और उतने से ही उपमान भी युक्त हो तो वह कल्पितोपमा होती है। वह कल्पित है और उपमा है—ऐसा जिसका नाम है वह हुयी कल्पितोपमा। 'विशेषणैः' में बहुवचन का प्रयोग स्वच्छन्द है अतएव (उससे) एक और दो विशेषण का भी ग्रहण हो जाता है । किन्तु अनेक विशेषणों के योग में और भी चमत्कार आता है ॥

उदाहरणम्—

मुखमापूर्णकपोलं मृगमदलिखितार्धपत्त्रलेखं ते ।
भाति लसत्सकलकलं स्फुटलाञ्छनमिन्दुबिम्बमिव ॥१४॥

उदाहरण—

'तुम्हारा परिपूर्ण कपोल और कस्तूरी विरचित ऊर्धपत्र लेखाओं वाला मुख षोडश कलाओं से युक्त और प्रकृत कलङ्क वाले चन्द्रबिम्ब के समान शोभित होता है ॥ १४ ॥'

मुखमिति । अत्र मुखमुपमेयं परिपूर्णकपोलं मृगमदलिखितार्धपत्त्रलेखमिति विशेषणद्वयोपेतम् । शशिबिम्बमुपमानमपि स्फुरत्षोडशकलं स्फुटकलङ्कं चेति ॥

मुखमिति । यहाँ उपमेय मुख 'परिपूर्ण कपोल वाला' और 'कस्तूरी विरचित अर्धपत्र-लेखाओं वाला' इन दो विशेषणों से युक्त है । उपमान चन्द्रबिम्ब भी 'स्फुरण करती हुयी षोडश कलाओं वाला' और 'प्रकट कलङ्क वाला' (इन दो विशेषणों से युक्त है) ॥

षष्ठीमाह—

अनुपममेतद्वस्त्वित्युपमानं तद्विशेषणं चासत् ।
संभाव्य सयद्यर्थं या क्रियते सोपमोत्पाद्या ॥ १५ ॥

छठवीं (वाक्योपमा) बताते हैं—

'इस वस्तु का कोई उपमान हो ही नहीं सकता'—इस प्रकार भी असंभव उपमान और उसके विशेषण को यदि आदि जोड़कर जहाँ संभव बताया जाता है वहाँ उत्पाद्योपमा होती है ॥ १५ ॥

अनुपममिति । उत्पाद्यत इत्युत्पाद्या । उत्पाद्या नामोपमा सा, या क्रियते । किं कृत्वा । उपमानमुपमानविशेषणं च संभाव्य संभवि कृत्वा । कुतः । अनुपममुपमानविकलमेतद्वस्त्विति कारणात् । कीदृशम् । उपमानमसदविद्यमानम् । असतः कथं संभव इत्याह—सयद्यर्थं यदिचेदादिशब्दसहितमित्यर्थः । उपलक्षणं च सयद्यर्थशब्दः । यस्मादभूतपूर्वासंभवादिप्रयोगेऽपि भवति । यथा माघस्य—'मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः । भेजेऽभितः पातुकसिद्धसिन्धोरभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः ॥' इत्यादि ॥

अनुपममिति । (जो कवि द्वारा) उत्पन्न की जाती है उसे उत्पाद्या कहते हैं । जो (कवि द्वारा) उत्पन्न की जाती है वह उत्पाद्या नाम वाली उपमा होती है । क्या करके ? उपमान और उसके विशेषण को संभव बना कर क्यों (संभव बनाकर) । क्यों कि वह (विवक्षित वस्तु) अनुपम (उपमान से रहित) होती है । किस प्रकार (की वस्तु) ? जिसका मान (उपमान) नहीं है । असत् का संभव कैसे होता है—उसे बताते हैं—'यदि' 'चेत्' आदि शब्दों के योग में (असत् का संभव होता है ।) सयद्यर्थ शब्द उपलक्षण है । जिसके कारण अभूतपूर्व एवं असंभव वस्तु (यदि) आदि के प्रयोग में संभव होती है । जैसे माघ का (यह उदाहरण)—'मृणालतन्तु के समान निर्मल चलते हुये दोनों चामरों के बीच विराजमान वे श्रीकृष्ण दोनों ओर से गिरने वाली आकाश-गङ्गा वाले समुद्र की अभूतपूर्व कान्ति को धारण कर रहे थे ॥

उदाहरणम्—

कुमुददलदीधितीनां त्वक्संभूय च्यवेत यदि ताभ्यः ।
इदमुपमीयेत तया सुतनोरस्याः स्तनावरणम् ॥ १६ ॥

उदाहरण—

'कुमुदपत्रों की किरणों में यदि त्वक् उत्पन्न होकर उनसे टपके तो उससे इस सुन्दराङ्गी के इस स्तनावरण की उपमा दी जाय ॥ १६ ॥'

कुमुदेति। अत्र कुमुददलदीधितित्वमुपमानम्, तद्विशेषणं च्यवनं च द्वयमपि सयद्यर्थं संभावितम्। तथा—'सुवृत्तमुक्ताफलजालचित्रितं भवेद्-खण्डं यदि चन्द्रमण्डलम्। श्रमाम्बुबिन्दूत्कराजितं ततो मुखं रतावित्युपमीयते प्रिये॥' 'ततो मुखं तेन तवोपमीयते' इति वा पाठः। अत्र पूर्णचन्द्रमण्डलस्य सुवृत्तमुक्ताफलजालचित्रितत्वं विशेषणमेव संभावितमिति॥

कुमुदेति। यहाँ कुमुदपत्रों का किरण होना उपमान है। उसका विशेषण (त्वक्) और च्यवन दोनों संभावित हैं। इसी प्रकार—'हे प्रिये! यदि पूर्ण चन्द्रमण्डल बड़े-बड़े मोती के दानों से चित्रित हो तब (उससे) संभोग काल में परिश्रम के कारण निकले हुये पसीने की बूँदों से सुशोभित मुख की उपमा दी जाय॥' अथवा 'तब उससे तुम्हारे मुख की उपमा दी जाय' यह भी पाठ है। यहाँ बड़े-बड़े मोती के दानों से चित्रित होना रूप विशेषण ही पूर्णचन्द्र-मण्डल का संभावित है॥

एवं वाक्योपमां षड्विधामभिधायेदानीं समासोपमामाह—

सामान्यपदेन समं यत्र समस्येत तूपमानपदम्।
अन्तर्भूतेवार्था सात्र समासोपमा प्रथमा॥ १७॥

इस प्रकार छ भेदों वाली वाक्योपमा का वर्णन करके अब समासोपमा का वर्णन करते हैं—

'साधारण धर्म के साथ उपमान पद जहाँ समस्त होता है ऐसी अन्तर्भूत औपम्य वाली समासोपमा प्रथम प्रकार की होती है॥ १७॥'

सामान्येति। उपमानपदं चन्द्रकमलादिकं सामान्यपदेन सुन्दरशब्दादिना यत्र समस्येत सा समासोपमासु मध्ये प्रथमा। तुर्विशेषे। विशेषस्तु वाक्योपमातः समासकृत एव। यद्युपमा कथमिवादिपदं न श्रूयत इत्याह—अन्तर्भूत इवार्थ औपम्यं यस्याः सा तथोक्ता॥

सामान्येति। उपमान पद चन्द्र, कमल आदि साधारण धर्म के वाचक पद सुन्दर शब्द आदि के साथ जहाँ समस्त हो वह समासोपमा के भेदों में प्रथम (समासोपमा) होती है। 'तु 'विशेष' के अर्थ में आया है। वाक्योपमा से यह विशेष समास द्वारा कृत ही है। यदि उपमा है तो क्यों इवादि पद नहीं सुनाई पड़ते हैं' इसे बताते हैं—वहाँ इवादि का अर्थ अन्तर्भूत होता है (अर्थात् औपम्य अन्तर्भूत होता है)।

उदाहरणम्—

मुखमिन्दुसुन्दरमिदं बिसकिसलयकोमले भुजालतिके।
जघनस्थली च सुन्दरि तव शैलशिलाविशालेयम्॥१८॥

उदाहरण—

हे सुन्दरि ! यह तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है, दोनों भुजायें मृणाल एवं किसलय के समान कोमल हैं और यह जघनस्थली पर्वत की शिला के समान विशाल है ॥ १८ ॥'

मुखमिति । अत्रेन्दुरिव सुन्दरमित्यादिविग्रहः ॥

मुखमिति । यहाँ 'चन्द्र के समान सुन्दर' इत्यादि रूप से विग्रह करना चाहिए ॥

प्रकारान्तरमाह—

पदमिदमन्यपदार्थे समस्यतेऽथोपमेयवचनेन ।
यस्यां तु सा द्वितीया सर्वसमासेति संपूर्णा ॥ १९ ॥

और भी प्रकार बताते हैं—

साधारण धर्म और उपमान उपमेय पद के साथ जिसमें बहुव्रीहि समास में समस्त हों वहाँ सभी पदों के समस्त होने के कारण संपूर्ण समासोपमा होती है ॥ १९ ॥'

पदमिति । इदं पूर्वोक्तं सामान्योपमानसमासपदमथानन्तरमुपमेयवचनेनान्यपदार्थे यत्र समस्यते सा सर्वपदसमासात्संपूर्णा समासोपमा द्वितीया ॥

पदमिति । यह पहले बतायी गयी साधारण धर्म और उपमान पद में समस्त पद (वाली उपमा) तदनन्तर उपमेय पद के साथ (जब) अन्य पद के अर्थ में समस्त होती है (तब) सभी पदों में समास होने के कारण (वह) दूसरी संपूर्ण समासोपमा होती है ।

उदाहरणम्—

शरदिन्दुसुन्दरमुखी कुवलयदलदीर्घलोचना सा मे ।
दहति मनः कथमनिशं रम्भागर्भाभिरामोरूः ॥ २० ॥

उदाहरण—

'शरच्चन्द्र के समान सुन्दर मुख वाली, नील कमल के समान विशाल नेत्रों वाली, कदली के खम्भों के समान सुन्दर जङ्घाओं वाली वह मेरे हृदय को निरन्तर कैसे जलाती रहती है ॥ २० ॥'

शरदिति । अत्र शरदिन्दुशब्दसुन्दरशब्दयोः पूर्ववत्समासं कृत्वा ततो मुखेनोपमेयेन सह नायिकायामन्यपदार्थे समासः ॥

शरदिति । यह शरदिन्दुशब्द और सुन्दर शब्द (उपमान और साधारण धर्म) में पहले (प्रथम समासोपमा) की भाँति समास कर के तदनन्तर (उन दोनों

शब्दों को) उपमेय मुख के साथ नायिका रूप अन्यपद के अर्थ में समस्त किया गया है।

भूयः प्रकारान्तरमाह—

उपमानपदेन समं यत्र समस्येत चोपमेयपदम् ।
अन्यपदार्थे सोदितसामान्येवाभिधेयान्या ॥ २१ ॥

और भी प्रकार बताते हैं—

'उपमान पद के साथ उपमेय पद जहाँ समस्त होता है अन्य पदार्थ में प्रयुक्त वह उक्त साधारण धर्म वाली सी भिन्न समासोपमा होती है ॥ २१ ॥'

उपमानेति । उपमानपदेन सह यत्रोपमेयपदमन्यपदार्थेन सह समस्यते सान्या समासोपमा । चः पुनरर्थे भिन्नक्रमः । सा पुनः समासेनोक्तौ सामान्यमिवार्थश्च यस्यां सा तथोक्ता ॥

उपमानेति । उपमान पद के साथ उपमेय पद जहाँ अन्य पद के अर्थ में समस्त होता है वहाँ पूर्व से विलक्षण समासोपमा होती है। 'च' पद पुनः अर्थ में भिन्न क्रम से आया है। फिर उसमें संक्षेप में कथन में साधारण धर्म के समान अर्थ आ जाता है ॥

उदाहरणम्—

नवविकसितकमलकरे कुवलयदललोचने सितांशुमुखि ।
दहसि मनो यत्तत्किं रम्भागर्भोरु युक्तं ते ॥ २२ ॥

उदाहरण—

'नूतन विकसित कमल के समान हाथों वाली, नील कमल के पत्तों के समान नेत्रों वाली, कदली के खम्भों के समानजाँघों वाली चन्द्रमुखि! जो तुम मेरे हृदय को संताप देती हो क्या यह तुम्हें शोभा देता है ॥ २२ ॥'

नवेति । अत्र नवविकसितकमलमिव रम्यौ करौ यस्या इति बहुव्रीहिः ॥

नवेति । यहाँ नूतन विकसित कमल के समान रमणीक हाथ हैं—जिसके इस प्रकार बहुव्रीहि समास करना चाहिए ।

अथ प्रत्ययोपमामाह—

उपमानात्सामान्ये प्रत्ययमुत्पाद्य या प्रयुज्येत ।
सा प्रत्ययोपमा स्यादन्तर्भूतेवशब्दार्था ॥ २३ ॥

आगे प्रत्ययोपमा का लक्षण करते हैं—

'उपमान पद से साधारण धर्म की प्रतीति करा कर इव शब्द के अर्थ का जिसमें अन्तर्भाव होता है, ऐसी उपमा जो प्रयोग की जाती है उसे प्रत्ययोपमा कहते हैं ॥ २३ ॥'

उपमानादिति। उपमानादुपमानपदादन्यतो वा धात्वादिकात्प्रत्ययं सामान्येन साधारणधर्मविषय उत्पाद्य या प्रयुज्यते सा प्रत्ययोपमा। सा च प्रत्ययान्तशब्देऽन्तर्भूतेवशब्दा॥

उपमानादिति। उपमान एवं उपमान पद अथवा धातु में जहाँ प्रत्यय जोड़ कर साधारण धर्म की प्रतीति करायी जाती है वह प्रत्ययोपमा होती है। उसमें प्रत्यय से अन्त होने वाले शब्द में इव शब्द अन्तर्भूत होता है।

उदाहरणम्—

पद्मायते मुखं ते नयनयुगं कुवलयायते यदिदम्।
कुमुदायते तथा स्मितमेवं शरदेव सुतनु त्वम्॥ २४॥

उदाहरण—

'जो यह तुम्हारा मुख कमल हो रहा है, तुम्हारे दोनों नेत्र नील कमल हो रहे हैं और स्मित (मुस्क्यान) कुमुद हो रहा है इससे हे सुन्दराङ्गि! तुम साक्षात् शरद् ही हो रही हो॥ २४॥'

पद्मायत इति। पद्ममिवाचरतीत्यादि वाक्यम्। एवं धातोः प्रत्यये उष्ट्रक्रोशीत्यादि द्रष्टव्यमिति॥

पद्मायत इति। 'कमल के समान आचरण कर रहा है' आदि वाक्य है। इसी प्रकार धातु से प्रत्यय के योग में उष्ट्रक्रोशी (ऊँट की तरह चिल्लाने वाली) आदि उदाहरण जानना चाहिए।

एवमुपमात्रयमभिधायेदानीमेतद्भेदान्सामान्येनाह—

मालोपमेति सेयं यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम्।
उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः॥ २५॥

इस प्रकार उपमा के तीनों भेदों का वर्णन करके इसके भेदों का सामान्य विवरण देते हैं—

'जहाँ अनेक साधारण धर्मों वाली एक वस्तु की उपमा एक एक साधारण धर्म वाले अनेक उपमानों से ही जाय वहाँ मालोपमा अलङ्कार होता है॥२५॥'

मालोपमेति। यत्रैकमुपमेयं वस्त्वनेकसामान्यमनेकधर्मकमेकसामान्यैरेकैकधर्मयुक्तैरनेकैरुपमानैरुपमीयते सेयमित्यमुना प्रकारेण मालोपमा। अथायं कोऽलंकारः—गायन्ति किंनरगणाः सह किंनरीभिरुत्तुङ्गशृङ्गकुहरेषु हिमाचलस्य। क्षीरेन्दुकुन्ददलशङ्खमृणालनालनीहारहारहरहाससितं यशस्ते॥'. मालोपमैवेत्याहुः। यत एकत्वेऽपि शौक्ल्यस्यानेकसामान्यं विद्यत एव। तस्यानेकरूपत्वादन्यादृशमेव हि तच्छङ्खेऽन्यादृशं चन्द्रादौ तच्च सर्वं यशसि विद्यत इति। केचित्तु मालोपमाभास इत्याहुः॥

मालोपमेति । जहाँ अनेक साधारण धर्मों वाली एक उपमेय वस्तु की एक एक धर्म से युक्त अनेक उपमानों से दी जाती है वहाँ मालोपमा होती है । फिर इस स्थल पर कौन अलङ्कार होगा--'हिमालय की ऊँची शिखरों की कन्दराओं में किन्नरियों के साथ किन्नरगण गान कर रहे हैं । तुम्हारा यश दूध, चन्द्र, कुन्दपत्र, शङ्ख, मृणाल तन्तु, पाले के हार एवं शिव के हास (हंसी) के समान श्वेत है ॥' (यहाँ भी) मालोपमा ही मानते हैं । क्योंकि शुक्लिमा (उपमेय वस्तु) के होने पर भी अनेक साधारण धर्म विद्यमान ही हैं। उस (शुक्लिमा) के अनेक रूप होने के कारण वह शङ्ख में और ही प्रकार की होती है और चन्द्र आदि में और ही प्रकार की—वह सब यश में मिलता ही है । कुछ लोगों के मत में यहाँ मालोपमाभास है ॥

उदाहरणम्—

श्यामालतेव तन्वी चन्द्रकलेवातिनिर्मला सा मे ।
हंसीव कलालापा चैतन्यं हरति निद्रेव ॥ २६ ॥

उदाहरण—

'श्यामा लता के समान कृशाङ्गी, ज्योत्स्ना के समान स्वच्छ, हँसी के समान मधुर आलाप करने वाली, निद्रा के समान वह मेरी चेतना को चुरा रही है ॥२६॥'

श्यामालतेति । अत्रोपमेया कान्ता तनुत्वाद्यनेकधर्मयुक्ता । श्यामालतादीन्येकैकधर्मयुक्तान्युपमानानि । एषा वाक्योपमा । अन्ये त्विमे—नवश्यामालतातन्वी शरच्चन्द्रांशुसप्रभा । मत्तहंसीकलालापा कस्य सा न हरेन्मनः ॥' समासोपमेयम् । 'शरच्चन्द्रायसे मूर्तौ त्वं कृतान्तायसे युधि । दाने कर्णायसे राजन्सुनीतौ भास्करायसे ॥' प्रत्ययोपमेयम् ॥

श्यामालतेति । यहाँ उपमेय कान्ता कृशता आदि अनेक धर्मों से युक्त है । तथा श्यामालता आदि एक एक धर्मों से युक्त उपमान हैं । यह वाक्योपमा है । अन्य दोनों उदाहरण—'नूतन श्यामालता के समान कृश, शरच्चन्द्र के किरणों के समान कान्ति वाली, मत्त हँसी के समान मधुर आलाप वाली वह किसका मन नहीं हरलेती—यह समासोपमा है । 'आकार में शरच्चन्द्र का अनुकरण करते हो' रण में यम के समान आचरण करते हो, दान में कर्ण बन जाते हो (और) हे राजन् ! सुन्दर नीति में भास्कर हो जाते हो ॥

भेदान्तरमाह—

अर्थानामौपम्ये यत्र बहूनां भवेद्यथापूर्वम् ।
उपमानमुत्तरेषां सेयं रशनोपमेत्यन्या ॥ २७ ॥

अन्य भेद बताते हैं—

'जहाँ अनेक उपमेय और उपमान रूप अर्थों में सादृश्य होने पर पूर्व पूर्व के अर्थ उत्तरोत्तर उपमान होते जाँय वहाँ रशनोपमा अलङ्कार होता है ॥ २७ ॥'

अर्थानामिति। अत्रार्थानामुपमानोपमेयानां बहूनां सादृश्ये सति तेषामेव मध्याद्यथापूर्वं यो यः पूर्वः स स उत्तरेषामुपमानं भवेत्सेयं रशनासादृश्याद्रशनोपमेत्यन्या। यथा रशनायां परस्परमाभरणानां शृङ्खलाकटकवत्संबन्ध एवमिहार्थानामिति पूर्ववत् ॥

अर्थानामिति। जहाँ उपमान और उपमेय रूप अनेक अर्थों में सादृश्य होने पर उन्हीं में से पूर्व-पूर्व अर्थ उत्तरोत्तर उपमान हो जाय वह रशना (कटिसूत्री) के साथ सादृश्य होने के कारण पूर्व से विलक्षण रशनोपमा होती है। जिस प्रकार रशना में आभरणों के बीच परस्पर डोरी और कटक का सा सम्बन्ध होता है उसी प्रकार यहाँ अर्थों का।

उदाहरणम्—

नभ इव विमलं सलिलं सलिलमिवानन्दकारि शशिबिम्बम्।
शशिबिम्बमिव लसद्द्युति तरुणीवदनं शरत्कुरुते ॥ २८ ॥

उदाहरण—

'शरद्, आकाश के समान निर्मल जल, निर्मल जल के समान आनन्द देने वाला चन्द्रबिम्ब, चन्द्रबिम्ब के समान चमकती हुयी कान्ति वाला युवती का मुख बना देती है ॥ २८ ॥'

नभ इति। अत्र गगनादिरर्थः पूर्व उत्तरेषां सलिलादीनामुपमानम्। एषा वाक्यरशनोपमा। अन्ये त्विमे—'शरत्प्रसन्नेन्दुसुकान्ति ते मुखं मुखश्रि लीलाम्बुजमम्बुजारुणौ। करौ करश्रीरवतंसपल्लवो वरानने पल्लवलोहितोऽधरः ॥' समासरशनोपमेयम्।

नभ इति। यहाँ पूर्ववर्ती गगन आदि अर्थ उत्तरवर्ती सलिल आदि का उपमान है। यह वाक्य-रशनोपमा है। अन्य दोनों (उदाहरण)—'तेरा मुख शरद् के स्वच्छ चन्द्र के समान सुन्दर कान्ति वाला है, मुख की श्री क्रीडाकमल के समान, हाथ दोनों कमल के समान लोहित, हाथ की शोभा आभरण-पल्लव के सदृश एवं सुन्दर मुख में अधर पल्लव के समान लोहित है—समासरशनोपमा (का उदाहरण देते हैं)।

'चन्द्रायते शुक्लरुचाद्य हंसो हंसायते चारुगतेव कान्ता। कान्तायते तस्य मुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥' प्रत्ययरशनोपमेयम् ॥

'सुन्दर कान्ति के कारण आज हंस चन्द्रमा हो रहा है, सुन्दर गमन के कारण कान्ता हंस हो रही है, उसका जल मुख से कान्ता का अनुकरण कर रहा है।

और स्वच्छता के कारण आकाश वारि (जल) हो रहा है।' यह प्रत्ययोपमा है॥

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

क्रियतेऽर्थयोस्तथा या तदवयवानां तथैकदेशानाम् ।
परमन्या ते भवतः समस्तविषयैकदेशिन्यौ ॥ २९ ॥

और भी भेद बताते हैं—

'जहाँ उपमेय और उपमान तथा उनके अवयवों की जो उपमा दी जाती है अथवा केवल अवयवों में ही उपमा दी जाती है वह क्रमशः समस्तविषया और एकदेशिनी उपमा भिन्न प्रकार की होती है॥ २९॥

क्रियत इति। अर्थयोरुपमानोपमेययोरवयविनोस्तदवयवानां च सहजाहार्योभयरूपाणां या क्रियते, न त्ववयविनोः, एषान्या एकदेशविषया। इति द्वितीयः प्रकारः॥

क्रियत इति। उपमान और उपमेय अवयवी अर्थों की तथा सहज और आहार्य दोनों प्रकार के अवयवों की, अवयवियों की नहीं, (उपमा) दी जाती है वह पूर्व से विलक्षण एकदेशविषया उपमा होती है। यह दूसरा प्रकार है॥

उदाहरणम्—

अलिवलयैरलकैरिव कुसुमस्तबकैः स्तनैरिव वसन्ते ।
भान्ति लता ललना इव पाणिभिरिव किसलयैः सपदि॥३०॥

उदाहरण—

'वसन्त ऋतु में लतायें भ्रमरावलियों से केशकलापों के सदृश, पुष्पगुच्छों से कुचों के सदृश और पल्लवों से हाथों के सदृश प्रतीत होने के कारण रमणियों के समान शोभित हो रही हैं॥ ३० ॥'

अलिवलयैरिति। अत्र लता ललना अवयविन्योऽलिवलयादयश्चावयवाः सर्व एवोपमिताः। इत्येषा समस्तविषया॥

अलिवलयैरिति। यहाँ लता और ललना अवयवी हैं और अलिवलय आदि अवयव। सभी उपमित हैं। अतएव यह समस्तविषया है।

कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते ।
अलिवलयैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्यः ॥३१॥

'कमलिनियाँ कमलपत्रों से अधरोंवाली, केसर से दाँतोंवाली, भ्रमर-पंक्तियों से केशोंवाली और कमलों से मुखोंवाली प्रतीत होती हैं॥ ३१ ॥'

कमलदलैरिति । अत्रावयवानामेव कमलदलादीनामौपम्यं न त्ववयविन्या नलिन्याः प्रतीयते । [वास्या] इत्येषैकदेशविषया । द्विविधापि वाक्योपमेयम् । अन्ये त्विमे—'मृणालिकाकोमलबाहुयुग्मा सरोजपत्त्रारुणपाणिपादा। सरोजिनीचारुतनुर्विभाति प्रियालिनीलोज्ज्वलकुन्तलासौ ॥' तथा—'पद्मचारुमुखी भाति पद्मपत्त्रायतेक्षणा । दशनैः केसराकारैरलिनीलशिरोरुहा ॥' समासोपमेयं द्विधा । 'लतायसेऽतितन्वी त्वमोष्ठस्ते पल्लवायते । सितपुष्पायते हासो भृङ्गायन्ते शिरोरुहाः॥' 'मुखेन पद्मकल्पेन भाति सा हंसगामिनी । दोर्भ्यां मृणालकल्पाभ्यामलिनीलैः शिरोरुहैः ॥'

प्रत्ययोपमेयं द्विधा ॥

कमलदलैरिति । यहाँ कमलपत्र आदि अवयवों का ही औपम्य प्रतीत होता है, अवयविनी नलिनी का नहीं। अतएव यह एकदेशविषया उपमा है। यह दोनों ही उदाहरण (८।३०, ८।३१) वाक्योपमा के रहे। अन्य दोनों (के उदाहरण)—'मृणालिका के समान कोमल दोनों भुजाओं वाली, कमलपत्र के समान अरुण हाथ-पैरवाली, कमलिनी के समान सुन्दर शरीर और भ्रमर के समान नीलोज्ज्वल केशोंवाली यह प्रिया शोभित हो रही है ॥' तथा—'केसर के आकारवाले दाँतों से भ्रमर के समान नील केशों वाली, कमलपत्र के समान विशाल नेत्रों वाली, कमल के समान सुन्दर मुख वाली शोभित हो रही है ॥' यह (समस्तविषया और एकदेशिनी) समासोपमा के (क्रमशः) दो उदाहरण हुये। 'अत्यन्त कृशाङ्गी तुम लता हो रही हो, तुम्हारा ओष्ठ पल्लव हो रहा है, हँसी श्वेत पुष्प हो रही है (और) केश भ्रमर हो रहे हैं ॥' यह दोनों प्रकार की प्रत्ययोपमा (समस्तविषया और एकदेशिनी) के उदाहरण हैं ॥

अथोत्प्रेक्षा—

अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम् ।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

उत्प्रेक्षा (का लक्षण करते हैं)—

'सिद्ध है उपमान की सत्ता जहाँ इस प्रकार अत्यधिक सारूप्य के कारण अभेद की कल्पना करके उपमान के जो गुण आदि नहीं हो सकते हैं जब उनका भी उस (उपमान) में आरोप किया जाता है तो वह उत्प्रेक्षालङ्कार होता है ॥ ३२ ॥'

अतिसारूप्यादिति । उपमानोपमेययोरतिसादृश्याद्धेतोरैक्यमभेदं विधाय । कीदृशं तत् । सिद्ध उपमानस्यैव, न तूपमेयस्य, सद्भावः सत्त्वं यत्र तत्तथाविधम् । अनन्तरं च तस्मिन्नुपमाने तस्योपमानस्य ये गुण-

क्रिये न संभवतस्ते समारोप्येते यत्र सा। इत्यमुना प्रकारेणोत्प्रेक्षा भण्यते। चशब्दोऽतद्गुणाद्यनध्यारोपितस्यापि समुच्चयार्थः। येन सिद्धोपमानसद्भावे तयोरभेदमात्रेऽप्युत्प्रेक्षा दृश्यते। यथा—'तं वदन्तमिति विष्टरश्रवाः श्रावयन्नथ समस्तभूभृतः। व्याजहार दशनांशुमण्डलव्याजहारशबलं दधद्वपुः॥' इत्यादि॥

अतिसारूप्यादिति। अत्यन्त सादृश्य के कारण उपमान और उपमेय में अभेद की रचना करके—कैसे अभेद की?—जिसमें उपमान की ही न कि उपमेय की सत्ता सिद्ध है। बाद में जो गुण और क्रिया उस उपमान के नहीं हो सकते हैं उनका उस उपमान में आरोप किया जाता है—इस प्रकार की शिल्प वाली वह उत्प्रेक्षा कही जाती है। (कारिका में) 'च' शब्द आरोपित न किये गये भी उपमान में अप्राप्य गुण आदि के समुच्चय के लिये है। जिससे उपमान की सत्ता सिद्ध हो जाने पर उन दोनों (उपमान और उपमेय) के अभेद मात्र में भी उत्प्रेक्षा मिल जाती है। जैसे—'इस प्रकार बोलने वाले उनको सुनाते हुये, दाँतों की किरण-पटल के बहाने हार के समान चितकबरे शरीर को धारण करने वाले विष्णु ने समस्त राजाओं से कहा॥ आदि॥

उदाहरणम्—

चम्पकतरुशिखरमिदं कुसुमसमूहच्छलेन मदनशिखी।
अयमुच्चैरारूढः पश्यति पथिकान्दिधक्षुरिव॥ ३३॥

उदाहरण—

पुष्प-गुच्छ के व्याज से यह कामाग्नि इस चम्पक वृक्ष की शिखा पर चढ़कर पथिकों को जलाने की इच्छा रखता हुआ सा देख रहा है॥ ३३॥

चम्पकेति। अत्रोपमेयश्चम्पकराशिरुपमानं मदनाग्निस्तयोर्लौहित्येन सारूप्यादैक्यं सिद्धोपमानसद्भावं विधाय ततोऽग्नेर्दर्शनमचेतनत्वादसंभवि तदारोपितमिति॥

चम्पकेति। यहाँ उपमेय चम्पक-राशि और उपमान कामाग्नि है। उन दोनों में लौहित्य के कारण सारूप्य होने से सिद्ध उपमान की सत्ता वाले ऐक्य की कल्पना करके तदनन्तर अचेतन होने के कारण देखना आदि जो (क्रिया) अग्नि में असम्भव है उसका आरोपण किया गया है॥

प्रकारान्तरमाह—

सान्येत्युपमेयगतं यस्यां संभाव्यतेऽन्यदुपमेयम्।
उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य तत्त्वेन॥ ३४॥

अन्य प्रकार भी बताते हैं—

'जिस अलङ्कार में उपमान गत अन्य उपमान के सादृश्य पर उपमेय गत अन्य उपमेय की सम्भावना की जाती है वहाँ दूसरे प्रकार की उत्प्रेक्षा होती है ॥३४॥'

सेति । इतीत्थं सान्योत्प्रेक्षा यत्रोपमेयस्थमुपमेयान्तरमुपमानप्रतिबद्धस्योपमानान्तरस्य तत्त्वेन ताद्रूप्येण संभाव्यते ॥

सेति । जहाँ उपमेय गत अन्य उपमेय तथा उपमान गत अन्य उपमान तद्रूप में कल्पित हों वह इस प्रकार की उत्प्रेक्षा (पूर्वोक्त उत्प्रेक्षा से) विलक्षण होती है ॥

उदाहरणम्—

आपाण्डुगण्डपालीविरचितमृगनाभिपत्त्ररूपेण ।
शशिशङ्कयेव पतितं लाञ्छनमस्या मुखे सुतनोः ॥ ३५ ॥

उदाहरण—

'पीत कपोलपाली तक विरचित नाभिपत्र को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों सुन्दरी के मुखपर चन्द्रमा की आशङ्का से कलङ्क प्रवेश कर गया हो ॥ ३५ ॥'

आपाण्डुगण्डेति । अत्र शश्युपमानं तत्प्रसिद्धमपरं लाञ्छनमुपमानान्तरम् । तत्सादृश्येनोपमेयं नायिकामुखगतमन्यदुपमेयं मृगनाभिपत्त्रलक्षणं संभावितमिति ।

आपाण्डुगण्डेति । यहाँ चन्द्रमा उपमान और उसमें प्रसिद्ध कलङ्क दूसरा उपमान है । उसी के सादृश्यपर उपमेय नायिका-मुख और तद्गत मृगनाभिपत्र रूप अन्य उपमेय कल्पित किया गया है ॥

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते समं तस्य ।
वस्त्वन्तरमुपपत्त्या संभाव्यं सापरोत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

और भी भेद बताते हैं—

'जिस अलङ्कार में विशेषण विशिष्ट वस्तु में आपत्तिपूर्वक सम्भावना करके अविद्यमान भी अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है वहाँ दूसरे प्रकार का उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है ॥ ३६ ॥'

यत्रोत्प्रेक्षायां शोभनत्वेनाशोभनत्वेन वा विशेषणेन विशिष्टे वस्तुन्युपमेयरूपे सत्यविद्यमानमेव वस्त्वन्तरमुपमानलक्षणं समं समानमारोप्यते सापरान्योत्प्रेक्षा । ननु यद्यविद्यमानं कथं सममित्यारोपस्तस्येत्याह—उपपत्त्या युक्त्या संभाव्यं सावसरत्वात्संभावनायोग्यं यत इत्यर्थः ॥

जहाँ उत्प्रेक्षा में सुन्दर या असुन्दर उपमेय रूप विशेषण से विशिष्ट वस्तु में समान उपमान रूप अविद्यमान अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है वह दूसरी ही उत्प्रेक्षा होती है। प्रश्न उठता है कि यदि (उपमान) अविद्यमान है तो (उपमेय) के समान उसका आरोप कैसे होगा—इसे बताते हैं—क्यों कि (वह उपमान) उपपत्ति या युक्ति से सम्भाव्य होता है (इसलिये उसके आरोप में सन्देह नहीं करना चाहिये)॥

उदाहरणम्—

अतिघनकुङ्कुमरागा पुरः पताकेव दृश्यते संध्या।
उदयतटान्तरितस्य प्रथयत्यासन्नतां भानोः॥ ३७॥

उदाहरण—

'अत्यन्त सान्द्र कुङ्कुम राग वाली संध्या सामने पताका के समान दिखलायी पड़ रही है और वह उदयाचल में छिपे हुये सूर्य की समीपता व्यक्त कर रही है॥ ३७॥'

अतिघनेति। अत्र विशिष्टे संध्याख्ये वस्तुन्यसदेव वस्त्वन्तरं पताकाख्यं साम्यादारोपितम्। तच्च युक्त्या संभाव्यम्। यतो रविरथे पताकया भाव्यम्, साप्युदयाचलव्यवहितस्य रवेर्दृश्यमाना सती नैकट्यं प्रकटयति। अथ यत्र साम्यमात्रे सति विनैवोपपत्त्या संभावना भवति न चोपमाव्यवहारस्तत्र कोऽलंकारः। यथा—'यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति। बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसंध्यामिव धातुमत्ताम्॥' तथा—'आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्याम्' इत्यादिषु। अत्र ह्यकालसंध्यादीनां संभावने न काचिदुपपत्तिर्निर्दिष्टा। न चाप्युपमाव्यवहारः। यतः सिद्धमुपमानं भवति। न वा काले सिद्धत्वम्। तथा यद्यर्थाश्रवणान्नाप्युत्पाद्योपमाव्यवहारः। न चाप्यतिशयोत्प्रेक्षासंभवोऽस्ति। अत्रोच्यते—उपमायामसंभव उत्प्रेक्षायां त्वनुपपत्तिरत उभयत्रापि लक्षणस्य न्यूनतायामुपमाभासो वा स्यादुत्प्रेक्षाभासो वा। एवम् 'पृथिव्या इव मानदण्डः' इत्यादावपि द्रष्टव्यम्। सूत्रकारेणानुक्तं भेदान्तरमपि चास्यां विद्यते—'कर्तुरुपमानयोगः सत्यौपम्येऽनिवादिरपि यत्र। संभाव्यतेऽनुरोधाद्विज्ञेया सा परोत्प्रेक्षा॥' यथा—'यः करोति वधोदर्का निःश्रेयसकरीः क्रियाः। ग्लानिदोषच्छिदः स्वच्छाः स मूढः पङ्कयत्यपः॥' तथा—'अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं, स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्। श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः, कृतान्धमुखमण्डना यदबुधो जनः सेवितः'॥

अतिघनेति। यहाँ संध्या नाम वाली विशिष्ट वस्तु में साम्य होने के कारण पताका नाम वाली अविद्यमान अन्य वस्तु का आरोप किया गया है। उस (अविद्यमान वस्तु की) युक्तिपूर्वक कल्पना की जा सकती है। सूर्य के रथ में पताका हो सकती है, वह भी दिखलाई पड़ती हुयी उदयाचल से दूरस्थ सूर्य का सामीप्य प्रकट कर सकती है। अच्छा, जहाँ साम्य मात्र होने पर बिना उपपत्ति की ही सम्भावना की जाती है और उपमा का व्यवहार नहीं होता वहाँ कौन अलङ्कार होता है। जैसे—(कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में कवि हिमालय का वर्णन कर रहा है)—जो (हिमालय) देवलोक की वेश्याओं के विलास के अलङ्कारों का सम्पादन करने वाली, मेघखण्ड से संक्रान्त हुयी लालिमा वाली असमय की संध्या के समान (अपनी) शिखरों से सिन्दूर आदि की समृद्धि को धारण कर रहा है॥ तथा—दोनों कुचों से कुछ आवर्जित लज्जित हुयी सी, आदि (उदाहरणों में उपपत्ति के विना ही सम्भावना है)॥

यहाँ अकाल संध्या आदि की सम्भावना में कोई युक्ति नहीं निर्दिष्ट है (और) न तो उपमा का ही व्यवहार है। क्योंकि उपमान (पूर्व) सिद्ध होता है या यों कहें कि समय पड़ने पर उसकी सिद्धि नहीं की जाती। इसके अतिरिक्त सयद्यर्थ के सुनाई न पड़ने के कारण उत्पाद्योपमा का भी व्यवहार नहीं हो सकता। न तो यहाँ अतिशयोत्प्रेक्षा ही सम्भव है। उत्तर देते हैं—'उपमा में (उपमान) असम्भव होता है और उत्प्रेक्षा में (उसकी) उपपत्ति नहीं होती तो दोनों ही स्थलों पर लक्षण के खण्डित होने के कारण या तो उपमाभास होता है या उत्प्रेक्षाभास। इसी प्रकार 'पृथ्वी का मानदण्ड सा' आदि उदाहरण में भी जानना चाहिये। इस (उत्प्रेक्षा) के सूत्रकार के द्वारा अनुपदिष्ट अन्यभेद भी हो सकते हैं—'औपम्य के भाव में भी जहाँ इवादि पद भी न हों (किन्तु) कर्ता के अनुरोध से उपमान के साथ योग की सम्भावना की जाती हो उसे दूसरी ही उत्प्रेक्षा जाननी चाहिए॥ जैसे जो वधरूप परिणाम वाली निःश्रेयस करने वाली क्रियायें करता है वह मूर्ख ग्लानि (आत्मभर्त्सना) को काटने वाली स्वच्छ जल को कीचड़ बनाता है॥ तथा जो मूर्ख लोगों का सेवन किया वह वन में रोदन किया, मृत शरीर को उलटा, स्थल पर कमल लगाया, चिरकाल तक ऊसर में वर्षा की, कुत्ते की पूँछ झुका दी, बहरे कान वाले के लिये जप किया और अन्धों के लिये मुख का आभूषण किया॥

अथ रूपकम्—

यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्॥३८॥

रूपक (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ गुणों में साम्य होने पर साधारण धर्म के कथन के विना उपमान और उपमेय में अभेद की कल्पना की जाती है वहाँ प्रथम प्रकार का रूपक अलंकार होता है ॥ ३८ ॥

यत्रेति । यत्रोपमानोपमेययोर्गुणानां साम्ये तुल्यत्वे सति विद्यमाने प्रतीतिपथवारिण्या भिदा तयोरैक्यं कल्प्यते तदित्यमुना प्रकारेण रूपकं प्रथमम् । उत्तरत्र समासग्रहणादिह प्रथमशब्देन वाक्यरूपकं विवक्षितम् । उप्रेत्क्षायामप्यभेदो विद्यते, ततस्तन्निरासार्थमाह—अविवक्षितसामान्येति । सदप्यत्र सामान्यं न विवक्ष्यते । सिंहो देवदत्त इति । उत्प्रेक्षायां तु छद्मलक्ष्मव्याजव्यपदेशादिभिः शब्दैरुपमानोपमेययोरभेदो भेदश्च विवक्षित इति । परमार्थतस्तूभयत्राभेद एवेति ॥

यत्रेति । जहाँ उपमान और उपमेय के गुणों में सादृश्य होने पर उन दोनों के (भेद की) प्रतीति के पथ को निवारण करने वाले अभेद की कल्पना की जाती है वहाँ प्रथम प्रकार का रूपक होता है । बाद में प्रयुक्त हुये समास शब्द के कारण यहाँ प्रथम शब्द से वाक्य रूपक विवक्षित है । उत्प्रेक्षा में भी अभेद होता है अतएव उसका निराकरण करने के लिये कहते हैं—(रूपक में) साधारण धर्म उपात्त नहीं होता (उत्प्रेक्षा में उपात्त होता है) । विद्यमान होने पर भी साधारण धर्म (रूप में) विवक्षित नहीं होता । जैसे—देवदत्त सिंह हैं (में) । उत्प्रेक्षा में छद्म, लक्ष्म, व्याज, व्यपदेश आदि शब्दों के द्वारा उपमान और उपमेय में अभेद और भेद विवक्षित होता है । वस्तुतः दोनों ही (रूपक और उत्प्रेक्षा) स्थलों में अभेद ही होता है ।

उदाहरणम्—

साक्षादेव भवान्विष्णुर्भार्या लक्ष्मीरियं च ते ।
नान्यद्भूतसृजा सृष्टं लोके मिथुनमीदृशम् ॥ ३९ ॥

उदाहरण—

'आप साक्षात् विष्णु हैं और आप की यह पत्नी लक्ष्मी । विधाता ने संसार में इस प्रकार की जोड़ी की रचना नहीं की ॥ ३९ ॥'

साक्षादिति । सुगममेव ॥

साक्षादिति । सुस्पष्ट है ॥

अथ भेदान्तरमाह—

उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयोः ।
यत्तु प्रयुज्यते तद्रूपकमन्यत्समासोक्तम् ॥ ४० ॥

अन्यभेद बताते हैं—

'जहाँ उपमेय को गौण बनाकर उपमान और उपमेय समस्तपद में प्रयुक्त होते हैं वहाँ दूसरे प्रकार का रूपक अलङ्कार होता है ॥ ४० ॥'

उपसर्जनेति । एतयोरुपमानोपमेययोः समासं कृत्वा यत्पुनः प्रयुज्यते तदपरं समासोक्तं रूपकम् । समासोपमाया रूपकत्वनिवृत्त्यर्थमाह—उपसर्जनमप्रधानमुपमेयं यत्र । यथा—दुर्जन एव पन्नगो दुर्जनपन्नगः । समासोपमायां तूपमानमुपसर्जनम् । यथा—शशीव मुखं यस्याः सा शशिमुखी । तुशब्दः समुच्चये । उभयग्रहणं नियमार्थम् । उभयोरेव समासे, न तृतीयस्यापि सामान्यपदस्येत्यर्थः ॥

उपसर्जनेति । इन दोनों उपमान और उपमेय का जो समास करके प्रयोग किया जाता है वह दूसरा ही समासोक्त रूपक होता है। समासोपमा को रूपक से पृथक् करने के लिये कहते हैं—(रूपक) में उपमेय गौण होता है। जैसे—दुर्जनपन्नग (दुर्जन एव पन्नगः)। समासोपमा में उपमान गौण होता है (उपमेय प्रधान होता है)। जैसे शशिमुखी (चन्द्रके समान मुख वाली। यहाँ शशि समास में प्रथम आने के कारण गौण हो गया है। तु शब्द समुच्चय अर्थ में आया है। (कारिका में) उभय का ग्रहण नियम अर्थ में किया गया है। दोनों (उपमान और उपमेय) के समस्त होने पर ही (रूपक) होगा न कि तीसरे साधारण धर्म के भी (क्यों कि रूपक में साधारण धर्म अविवक्षित होता है)॥

सामान्यं रूपकभेदद्वयमेतदभिधायेदानीमेतद्विशेषानाह—

सावयवं निरवयवं संकीर्णं चेति भिद्यते भूयः ।
द्वयमपि पुनर्द्विधैतत्समस्तविषयैकदेशितया ॥ ४१ ॥

सामान्यरूप से रूपक के दोनों भेदों का कथन करके अब उसके विशेष भेदों का वर्णन करते हैं—

'सावयव, निरवयव और संकीर्ण—रूपक के ये तीन भेद होते हैं। वाक्य और समास रूपक दोनों ही समस्त विषय और एकदेश के भेद से दो प्रकार के होते हैं ॥ ४१ ॥'

सावयवमिति । एतद्वाक्यसमासलक्षणं रूपकद्वयं भूयः सावयवं निरवयवं संकीर्णं चेत्यमुना प्रकारेण त्रिधा भिद्यते । पुनश्च द्वयमपि वाक्यसमासलक्षणमेतद्रूपकं समस्तविषयतयैकदेशितया च द्विधा भिद्यते । न तु सावयवादिभेदभिन्नं सत् । निरवयवादिषु सर्वत्रासंभवात् । तेनात्र भेदद्वये सावयवादिप्रभेदानुप्रवेशो यथासंभवमेव भवतीति ॥

सावयवमिति। ऊपर बताये गये वाक्य और समास रूपक सावयव, निरवयव और संकीर्ण के भेद से तीन भेदों में विभक्त होते हैं। फिर दोनों ही वाक्य, समास रूपक समस्त विषय और एकदेश के भेद से दो भागों में विभक्त किये जाते हैं। सावयव आदि भेद में विभक्त होने पर (इस रूपक के) समस्त विषय आदि भेद पुनः नहीं किये जाते। क्योंकि निरवयव आदि भेदों में (समस्त विषय आदि) सर्वत्र असम्भव हैं। अतएव इन (समस्त विषय और एकदेश) भेदों में यथासम्भव सावयव आदि उपभेदों का अन्तर्भाव हो जाता है॥

इदानीमेषामेव लक्षणमाह—तत्र सावयवम्—

उभयस्यावयवानामन्योन्यं तद्वदेव यत्क्रियते।
तत्सावयवं त्रेधा सहजाहार्योभयैस्तैः स्यात्॥ ४२॥

आगे इन्हीं का लक्षण बताते हैं। उनमें सावयव का जैसे—

'उपमेय और उपमान के अवयवों में समस्तोपमा के समान जो आरोपण होता है उसे सावयव रूपक कहते हैं। अवयवों के सहज, आहार्य और उभय कोटिक होने के भेदों से (सावयव रूपक) तीन प्रकार का होता है॥ ४२॥'

उभयस्येति। उभयस्योपमानोपमेयलक्षणस्य येऽवयवास्तेषां परस्परं यद्रूपणं तद्वदेवेति समस्तोपमावत्क्रियते तत्सावयवं रूपकम्। यथा समस्तोपमायामुपमानोपमेययोस्तदवयवानां चौपम्यम्, एवमिहापि रूपणमित्यर्थः। तच्च सहजैराहार्यैरुभयैश्च तैरवयवैस्त्रेधा स्यात्त्रिविधं भवेत्॥

उभयस्येति। समस्तोपमा के समान उपमान और उपमेय के जो अवयव हैं उनका जहाँ परस्पर रूपण होता है वहाँ सावयव रूपक होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार समस्तोपमा में उपमान और उपमेय तथा उनके अवयवों में औपम्य होता है उसी प्रकार यहाँ भी रूपण होता है। वह (रूपक) अवयवों के सहज, आहार्य और उभयकोटिक होने के भेद से तीन प्रकार का होता है॥

उदाहरणम्—

ललनाः सरोरुहिण्यः कमलानि मुखानि केसरैर्दशनैः।
अधरैर्दलैश्च तासां नवबिसनालानि बाहुलताः॥ ४३॥

उदाहरण—

'स्त्रियाँ कमलिनियाँ हैं, उनके मुख कमल हैं, दाँत केसर हैं, अधर किसलय हैं और भुजलतायें नूतन मृणालतन्तु हैं॥ ४३॥'

ललना इति। एतद्वाक्यरूपकं सावयवं समस्तविषयं सहजावयवं च। आहार्यावयवं तु यथा—'गजो नगः कुथा मेघाः शृङ्खलाः पन्नगा अपि। यन्ता सिंहोऽभिशोभन्ते भ्रमरा हरिणास्तथा॥' उभयावयवं यथा—

'यस्या बीजमहंकृतिर्गुरुतरं मूलं ममेति ग्रहो, नित्यं तु स्मृतिरङ्कुरः सुतसुहृज्ज्ञात्यादयः पल्लवाः । स्कन्धो दारपरिग्रहः परिभवः पुष्पं फलं दुर्गतिः, सा मे त्वत्स्तुतिसेवया परशुना तृष्णालता लूयताम् ॥' इदानीं समासरूपकं सावयवं समस्तविषयं सहजावयवमुदाहर्तुमुचितम्, ग्रन्थकृता तु नोदाहृतम् । तच्चेत्थं यथा—'वचनमधु नयनमधुकरमधरदलं दशनकेसरं तस्याः । मुखकमलमनुस्मरतः स्मरहतमनसः कुतो निद्रा' ॥

ललना इति । यह वाक्य रूपक सावयव, समस्त विषय और सहजावयव है । आहार्यावयव का उदाहरण—जैसे—'हाथी पर्वत है, (उसकी) कुथ (झाल) मेघ हैं, बेडिया सर्प हैं, आक्रामक सिंह तथा भ्रमर रूप हरिण चारों ओर शोभित होते हैं । उभयावयव का उदाहरण—जिसका बीज अहंकार है, गुरुतर (गंभीर) जड़ 'मेरा है' ऐसा ग्रह है, निरन्तर की स्मृति (जिसका) अङ्कुर है । पुत्र, मित्र, जाति आदि जिसके पल्लव हैं, स्त्री से विवाह जिसका स्कन्ध (तना) है, परिभव (तिरस्कार) जिसका फूल है, अधोगति जिसका फल है वह मेरी तृष्णा (लोभ) की लता तुम्हारी स्तुति रूपी सेवा की कुल्हाड़ से काट दी जाय ॥' आगे सावयव समस्त विषय सहजावयव समास रूपक का उदाहरण देना प्रासङ्गिक था किन्तु ग्रन्थकार ने उदाहरण नहीं दिया । वह इस प्रकार है । उसके मुख रूप कमल, वचन रूप मधु, नेत्र रूप भ्रमर, अधर रूप पल्लव, दाँत रूप केसर को स्मरण करते हुये कामान्धचेता को निद्रा कहाँ आ सकती है ॥'

समासरूपकाहार्योदाहरणमाह—

विकसितताराकुमुदे गगनसरस्यमलचन्द्रिकासलिले ।
विलसति शशिकलहंसः प्रावृड्विपदपगमे सद्यः ॥ ४४ ॥

समासरूपक आहार्यावयव का उदाहरण देते हैं—

'निर्मल ज्योत्स्ना रूपी जल वाले, पुष्पित तारा रूपी कुमुदों वाले, गगन सरोवर में वर्षा रूपी विपत्ति के टल जाने पर चन्द्रमा रूपी राजहंस ने क्रीडा करना प्रारम्भ कर दिया है ॥ ४४ ॥

विकसितेति । अत्र गगनमुपमेयं सर उपमानम् । तयोश्च समासः । ताराज्योत्स्नाशशिनो गगनस्याहार्यावयवाः । उपमानस्य तु ते यादृशास्तादृशा भवन्तु । नात्र तद्विवक्षा । प्रावृड्विपदिति रूपकमपि नोदाहरणत्वेन योज्यम् । अवयवत्वाभावात् ॥

विकसितेति । यहाँ गगन उपमेय है और सरोवर उपमान है और उन दोनों में समास किया गया है । तारे, चन्द्रिका और चन्द्र गगन के आहार्य (औपाधिक) अवयव हैं । उपमान (सर) के अवयव चाहे जैसे हों, उनकी यहाँ

विवक्षा नहीं है। 'प्रावृड्विपद्' के रूपक को भी इस उदाहरण का नहीं समझ लेना चाहिये। क्योंकि (वर्षा एवं विपत्ति उपमेय और उपमानके) अवयव नहीं हैं॥

अथ समासरूपकोभयोदाहरणमाह—

अलिकुलकुन्तलभाराः सरसिजवदनाश्च चक्रवाककुचाः।
राजन्ति हंसवसनाः संप्रति वाणीविलासिन्यः॥ ४५॥

आगे समास रूपक उभयावयव (सहज और आहार्य अवयव) का उदाहरण देते हैं—

'भ्रमर-पटल रूप केश कलाप वाली, कमलमुखी, चक्रवाक रूपी स्तनों वाली और हंस रूपी परिधान वाली वापी-विलासिनियाँ इस समय सुशोभित हो रही हैं॥ ४५॥'

अलीति। अत्र वाप्य उपमेया विलासिन्य उपमानभूताः। तयोः समासोऽत्र। वाप्या अलिकुलचक्रवाकहंसाः। कृत्रिमा अवयवाः। सरसिजानि तु सहजा विवक्षिताः। विलासिन्यश्च यथातथा भवन्तु। न तद्विवक्षा॥

अलीति। यहाँ बावड़ियां (वापी) उपमेय है (और) विलासिनियाँ उपमान। उन दोनों में यहाँ समास किया गया है। भ्रमर-पटल, चकई-चकवे और हंस-बावड़ी के कृत्रिम अवयव हैं और कमल सहज विवक्षित (अवयव) हैं। विलासिनियाँ चाहे जैसी हों। उनके (अवयवों की) यहाँ विवक्षा ही नहीं है॥

टि०—अवधेय बात यह है कि उपमेय के ही अवयवों को दृष्टि में रखकर सहजावयव आदि रूपक के भेद किये जाते हैं उपमान के नहीं।

अथ निरवयवमाह—

मुक्त्वावयवविवक्षां विधीयते यत्तु तत्तु निरवयवम्।
भवति चतुर्धा शुद्धं माला रशना परम्परितम्॥ ४६॥

आगे निरवयव रूपक का वर्णन करते हैं—

'अवयवों की विवक्षा के विना ही जिस रूपक का विधान होता है उसे निरवयव रूपक कहते हैं। वह शुद्ध, माला, रशना और परम्परित के भेदों से चार प्रकार का होता है॥ ४६॥'

मुक्त्वेति। यत्त्ववयवविवक्षां त्यक्त्वा विधीयते तन्निरवयवं रूपकम्। तच्चतुर्धा। कथमित्याह—शुद्धमित्यादि॥

मुक्त्वेति। जहाँ अवयवों की विवक्षा नहीं होती उसे निरवयव रूपक कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है। कैसे? इसे बताते हैं—शुद्ध, माला, रशना और परम्परित है।

अथ तल्लक्षणम्—

शुद्धमिदं सा माला रशनाया वैपरीत्यमन्यदिदम्।
यस्मिन्नुपमानाभ्यां समस्यमुपमेयमन्यार्थे॥ ४७॥

उस (निरवयव रूपक) का लक्षण करते हैं—

'जहाँ अवयव की विवक्षा नहीं होती वहाँ शुद्ध रूपक होता है; (जहाँ अनेक साधारण धर्म वाली एक एक साधारण धर्म वाली अनेक वस्तुओं का आरोपण होता है वहाँ) माला रूपक होता है। (पूर्व पूर्व अर्थ के उत्तरोत्तर उपमेय बनने पर) रशना रूपक और दो उपमानों के साथ अन्य उपमेय के अर्थ में एक उपमेय जहाँ समस्त होता है वहाँ परम्परित रूपक होता है॥ ४७॥'

शुद्धमिति। इदमिति 'मुक्त्वावयवविवक्षाम्' इति पूर्वलक्षणकं सा मालेति। यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम्। 'उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः' इत्येतदुपमालक्षणं यत्र रूपके तदित्यर्थः। रशनाया वैपरीत्यमिति। यो यः पूर्वोऽर्थः स स उत्तरेषामुपमानमित्युपमालक्षणवैपरीत्यम्। रूपक-रशनायां हि यो यः पूर्वोऽर्थः स स उत्तरेषामुपमेय इति। अन्यत्परम्परितमिदं वक्ष्यमाणलक्षणकम्। तदेव लक्षणमाह—यस्मिन्नित्यादि। यत्र द्वाभ्यामुपमानाभ्यां सहैकमुपमेयमन्यस्य द्वितीयस्योपमेयस्यार्थे वर्तमानं समस्यते। यत्र हि द्वे उपमाने तत्रावश्यमुपमेयद्वयेनैव भाव्यमित्युपमेयार्थे उपमेयं समस्यते। यथा—रजनिपुरंध्रितिलकश्चन्द्र इति॥

शुद्धमिति। यह अर्थात् 'अवयव की विवक्षा को छोड़कर' आदि उक्त लक्षण का अनुसरण करने वाला (रूपक शुद्ध होता है)। सा मालेति। 'अनेक साधारण धर्मों वाली एक वस्तु की एक एक साधारण धर्म वाले अनेक उपमानों से उपमा दी जाती है' यह मालोपमा का लक्षण जिस रूपक में घटित होता है उसे (माला रूपक) कहते हैं। रशनाया वैपरीत्यमिति। उपमा में पूर्व पूर्व अर्थ उत्तरोत्तर उपमान होता है—उसका विपरीत रूपक रशना का लक्षण है। अर्थात् रूपक रशना में पूर्व-पूर्व अर्थ उत्तरोत्तर उपमेय होता है। इस परम्परित का लक्षण आगे बताया जायगा। उसी लक्षण को बताते हैं—'यस्मिन्नि'त्यादि। जहाँ दो उपमानों के साथ एक उपमेय दूसरे उपमेय के अर्थ में समस्त होता है (वहाँ परम्परित रूपक होता है)। जहाँ दो उपमान होंगे वहाँ उपमेय भी अवश्यमेव दो होंगे। अतएव उपमेय उपमेय के अर्थ में समस्त होता है। जैसे रात्रि रूप रमणी का रोध्र तिलक रूप चन्द्रमा।

एतेषामुदाहरणानि चत्वारि यथाक्रममाह—

क: पूरयेदशेषान्कामानुपशमितसकलसंताप: ।
अखिलार्थिनां यदि त्वं न स्याः कल्पद्रुमो राजन् ॥४८॥

क्रमशः इनके चार उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'हे कल्पद्रुम राजन्! यदि तुम न होते तो सभी याचकों की अशेष कामनाओं के संतापों का निवारण कर भला कौन पूर्ण करता ॥ ४८ ॥'

क इति । अत्र राजा शाखादिभिरवयवैर्विना कल्पद्रुमेण रूपितः । एतच्छुद्धं वाक्यरूपकम् । समासरूपकं तु यथा—'नीचोऽपि मन्दमतिरप्यकुलोद्भवोऽपि, भीरुः शठोऽपि चपलोऽपि निरुद्यमोऽपि । त्वत्पादपद्म-युगले भुवि सुप्रसन्ने, संदृश्यते ननु सुरैरपि गौरवेण ॥'

क इति । यहां राजा पर शाखा आदि अवयवों के विना ही कल्पद्रुम का आरोप किया है । यह शुद्ध वाक्य-रूपक है । समासरूपक का भी उदाहरण—'नीच भी, स्वल्पबुद्धिभी, कुल में उत्पन्न भी, डरपोक, शठ भी, चञ्चल भी, अकर्मण्य भी धरती पर तुम्हारे दोनों चरणों के अत्यन्त प्रसन्न हो जाने पर देवताओं के भी गौरव से (मण्डित) हो जाता है ॥

मालामाह—

कुसुमायुधपरमास्त्रं लावण्यमहोदधिर्गुणनिधानम् ।
आनन्दमन्दिरमहो हृदि दयिता स्खलति मे शल्यम् ॥४९॥

माला का उदाहरण देते हैं—'कामदेव का परम अस्त्र, लुनाई का महासागर गुणों का कोष, आनन्द का स्थान प्रिया कांटा होकर मेरे हृदय में चुभती है ॥ ४९ ॥'

कुसुमेति । अत्रैका दयिता विरहिहृदयदारणाद्यनेकधर्मयोगात्कुसुमायुधपरमास्त्रादिभिरनेकैरुपमानैरेकैकधर्मयुक्तै रूपिता । अत्र वाक्यमेव । रशनापरम्परितयोः समास एव संभव इति ॥

कुसुमेति । यहां एक ही प्रिया वियोगी के हृदय की वेधक होने के कारण अनेक धर्मों के योग से एक एक धर्म से युक्त काम के परम अस्त्र आदि उपमानों के साथ आरोपित हुई है । यहाँ भी वाक्य (रूपक) है । रशना और परम्परित समास में ही हो सकते हैं ॥

रशनारूपकमाह—

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां जगज्जयति ।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥ ५० ॥

रशना रूपक का उदाहरण देते हैं—

'कामदेव किसलय रूपी करों से लताओं, कर रूपी कमल से कामियों, कमल रूपी मुखों से कमलिनियों और मुख रूपी चन्द्र से तरुणियों के संसार पर विजय कर लेता है ॥ ५० ॥'

किसलयकरैरिति । अत्र यो यः पूर्वोऽर्थः किसलयादिकः स स उत्तरेषां करादीनामुपमेय इति ॥

किसलयकरैरिति । यहाँ किसलय आदि जो जो पूर्व अर्थ है वह उत्तरोत्तर करादि का उपमेय हो गया है ।

परम्परितमाह—

स्मरशबरचापयष्टिर्जयति जनानन्दजलधिशशिलेखा ।
लावण्यसलिलसिन्धुः सकलकलाकमलसरसीयम् ॥ ५१ ॥

परम्परित का उदाहरण देते हैं—

'यह तरुणी कामदेव रूपी व्याध के धनुष की प्रत्यञ्चा, लोगों के आनन्द के सागर की ज्योत्स्ना, सुन्दरता के जल की नदी और सकलकला रूपी कमलों की तलैया है ॥ ५१ ॥'

स्मरेति । अत्रैकः स्मर उपमेयो द्वाभ्यामुपमानाभ्यां शबरचापयष्टिभ्यामन्यस्य नायिकालक्षणस्य पदार्थस्यार्थे समस्यते । स्मरस्य शबर उपमानम्, नायिकायाश्चापयष्टिः । स्मर एव शबरस्तस्य नायिका चापयष्टिः । यथा शबरश्चापयष्ट्या हरिणादीन्विध्यति, एवं स्मरस्तया कामिन इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि योज्यम् ॥

स्मरेति । यहां एक उपमेय कामदेव दो उपमानों—व्याध और प्रत्यञ्चा के साथ नायिका रूप अन्य (उपमेय) पदार्थ के अर्थ में समस्त हुआ है । कामदेव का उपमान है व्याध (और) नायिका का प्रत्यञ्चा । कामदेव व्याध है, नायिका उसकी चापयष्टि । जिस प्रकार व्याध प्रत्यञ्चा से हरिण आदि की हत्या करता है उसी प्रकार कामदेव उस (नायिका), से कामियों की—यह अर्थ है । इसी प्रकार अन्यत्र भी (लक्षण) योजना करनी चाहिए ॥

संकीर्णमाह—

उपमेयस्य क्रियते तदवयवानां च साकमुपमानैः ।
उभयेषां निरवयवैर्विज्ञेयं तदिति संकीर्णम् ॥ ५२ ॥

संकीर्ण (रूपक) का लक्षण करते हैं—

'उपमेय और उसके अवयवों का–दोनों का–निरवयव उपमान के साथ जहां रूपण किया जाता है वह संकीर्ण (रूपक) होता है ॥ ५२ ॥'

उपमेयस्येति। उपमेयस्योपमेयावयवानां च सहजाहार्योभयरूपाणामुपमानैरुभयेषामपि निरवयवैः सह यद्रूपणं क्रियते तत्संकीर्णं नाम ज्ञेयम्। एवं च सहजाद्यवयवभेदजत्वात्त्रिधा भवति। उभयेषामित्यनेनोपमेयस्तदवयवाश्च निर्दिश्यन्ते॥

उपमेयस्येति। उपमेय और सहज, आहार्य और उभयकोटिक उपमेय के अवयवों का जहां निरवयव उपमान के साथ रूपण किया जाता है वह संकीर्ण नाम से जाना जाता है। इस प्रकार सहज आदि अवयवों के भेद से (वह) तीन प्रकार का होता है। (कारिका में) 'उभयेषाम्' उपमेय और उसके अवयवों का निर्देश किया गया है॥

उदाहरणानि—

लक्ष्मीस्त्वं मुखमिन्दुर्नयने नीलोत्पले करौ कमले।
केशाः केकिकलापो दशना अपि कुन्दकलिकास्ते॥ ५३॥

उदाहरण—

'तुम लक्ष्मी हो, तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, दोनों नेत्र नीलकमल हैं, दोनों हाथ कमल हैं, केश मयूरपिच्छ है और दाँत भी तुम्हारे कुन्दपुष्प की कलियाँ हैं॥ ५३॥'

लक्ष्मीरिति। नायिकात्रोपमेया। तदवयवाश्च सहजा मुखादयः। लक्ष्मीचन्द्रप्रभृतीनि चोभयेषामुपमानानि निरवयवानि। नहि लक्ष्म्याश्चन्द्रादयोऽवयवाः। उपमेयं सावयवमुपमानेषु विपर्यय इति संकीर्णत्वमिति॥

लक्ष्मीरिति। यहां नायिका उपमेय है और मुख आदि उसके अवयव हैं। लक्ष्मी, चन्द्र आदि दोनों (नायिका और उसके अवयवों) के निरवयव उपमान हैं। चन्द्र आदि लक्ष्मी के अवयव तो नहीं हो सकते। उपमेय सावयव, उपमानों में विपरीत (अर्थात् निरवयव) इस प्रकार संकीर्णता है॥

अथाहार्यावयवोदाहरणमाह—

सुतनु सरो गगनमिदं हंसरवो मदनचापनिर्घोषः।
कुमुदवनं हरहसितं कुवलयजालं दृशः सुदृशाम्॥ ५४॥

आहार्यावयव (रूपक) का उदाहरण देते हैं—

'हे सुन्दरी! यह सरोवर आकाश है, हंस की ध्वनि कामदेव के धनुष की टङ्कार है, कुमुदवन शिवजी की मुस्कान है और कमलों की पंक्तियाँ सुनयनाओं के नेत्र हैं॥ ५४॥'

सुतन्विति। हे सुतनु, इदं सरः शरदि निर्मलत्वाद्विस्तीर्णत्वाच्च गगनसदृशमित्यर्थः। अत्र च गगनकामधनुर्ध्वनिहरहसिततरुणीदृशो निरवयवोपमानानि। उपमेयं सरः। तदवयवा हंसरवकुमुदवनकुवलयजालान्याहार्याणि विवक्षितानीति॥

सुतन्विति। हे सुन्दरी! निर्मलता और शरद् ऋतु में विस्तीर्णता के कारण यह तालाब गगन के सदृश है। यहाँ गगन, कामदेव के धनुष की टङ्कार, शिव का हास और तरुणियों के नेत्र निरवयव उपमान हैं। उपमेय सरोवर है। हंस-ध्वनि, कुमुदवन और नील कमल उसके आहार्यावयव विवक्षित हैं॥

अथोभयावयवमाह—

इन्द्रस्त्वं तव बाहू जयलक्ष्मीद्वारतोरणस्तम्भौ।
खड्गः कृतान्तरसना जिह्वा च सरस्वती राजन्॥ ५५॥

उभयावयव का उदाहरण देते हैं—

'हे राजन्! तुम इन्द्र हो, तुम्हारी दोनों भुजायें जयलक्ष्मी के द्वार की तोरण स्तम्भ हैं; तलवार यमराज की स्वाद लेने वाली जिह्वा और जीभ तो सरस्वती है॥ ५५॥'

इन्द्र इति। अत्र राजोपमेयः। तदवयवाश्च बाहुखड्गजिह्वाः सहजाहार्याः। इन्द्रजयलक्ष्मीद्वारतोरणस्तम्भादीनि निरवयवोपमानानि। एतेषु वाक्यभेद एवेति॥

इन्द्र इति। यहाँ राजा उपमेय है और उसके अवयव भुजा (सहज), तलवार (आहार्य) और जिह्वा (सहज) सह और आहार्य हैं। इन्द्र, जयलक्ष्मी, द्वार-तोरणस्तम्भ आदि निरवयव उपमान हैं। इन (सहजावयव संकीर्ण, आहार्यावयव संकीर्ण और उभयावयव संकीर्ण) में वाक्य गत भेद ही (संभव है समासगत नहीं)।

समस्तविषयरूपकं निरूप्येदानीमेकदेशिरूपकमाह—

उक्तं समस्तविषयं लक्षणमनयोस्तथैकदेशीदम्।
कमलाननैर्नलिन्यः केसरदशनैः स्मितं चक्रुः॥ ५६॥

समस्तविषय रूपक का निरूपण करके अब एकदेशि (रूपक) का लक्षण कहते हैं—

'इन दोनों (वाक्य और समास रूपकों) में समस्तविषय रूपक की चर्चा समाप्त हो गयी। अब एकदेशी की चर्चा करते हैं जैसे कमलिनियाँ कमल रूपी मुख और केसर रूपी दाँतों से मुस्कराने लगीं॥ ५६॥'

उक्तमिति। अनयोर्वाक्यसमासरूपकयोर्यत्समस्तविषयं लक्षणं तत्सावयवं रूपयद्भिरुक्तम्। तथैकदेशीदमार्योत्तरार्धेनोदाह्रियते। यथा—

कमलेत्यादि। अत्रावयवानामेव कमलकेसराणां मुखदशनै रूपणं कृतम्, न तु पद्मिन्या अङ्गनयेत्येकदेशित्वमिति। अन्यदपि रूपकं संगतं नाम विद्यते। यत्र संगतार्थतया रूप्यरूपकभावः। यथा कालिदासस्य— 'रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः। अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे॥' अत्र न सावयवादिव्यपदेशः। तत्क्वेदमन्तर्भवतीत्युच्यते—सामान्ये रूपकलक्षणमभिधाय तस्य वाक्यसमासभेदौ व्यापकावुक्तौ। तयोश्च सावयवादिभेदा यथासंभवं योज्याः। ततस्तस्मिन्मूलभेदद्वये संगताद्यनुक्तभेदानामन्तर्भावः॥

उक्तमिति। इन दोनों वाक्य और समास रूपकों में जो समस्तविषय रूपक था उसका सावयव का निरूपण करते समय व्याख्यान किया गया। अब आर्यों के उत्तरार्ध में एकदेशि रूपक का उदाहरण देते हैं। यथा-कमलेत्यादि। यहाँ कमल और केसर–अवयवों का ही मुख और दांतों के साथ रूपण किया गया है न कि कमलिनी का अङ्गना के साथ—इस प्रकार यह एकदेशि रूपक का उदाहरण रहा। अन्य भी रूपक संगत हो सकते हैं जहाँ अर्थ की संगति के कारण रूप्य-रूपक भाव हो। जैसे कालिदास का—'रावण के द्वारा वर्षा के रोक दिये जाने के कारण सूखती हुई मरुस्थल की खेती को वाणी रूपी अमृत से सींचकर काले मेघ के समान वे तिरोहित हो गये॥ यहाँ सावयवादि की संज्ञा नहीं दी जा सकती। फिर उसका अन्तर्भाव कहाँ होगा इसे बताते हैं—सामान्य रूप में रूपक के लक्षण का कथन करके वाक्य और समास—ये दो व्यापक भेद उसके कहे गये। उन दोनों में सावयवादि भेदों की यथासंभव योजना करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उन मूल दो भेदों में न गिनाये गये संगत अर्थ वाले अन्य भेदों का भी अन्तर्भाव हो जायगा॥

अथापह्नुतिः—

अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम्॥ ५७॥

अपह्नुति—

'अत्यधिक साम्य होने के कारण सत्ता होने पर भी जहाँ उपमेय की सत्ता का निषेध किया जाता है और उपमान की ही सत्ता की स्थापना होती है उसे अपह्नुति अलङ्कार मानना चाहिए॥ ५७॥'

अतिसाम्यादिति। यस्यामुपमानोपमेययोरत्यन्तसाम्यादुपमेयं प्रस्तुतं वस्त्वविद्यमानं कथ्यते, उपमानमेव सत्तया, सेयमपह्नुतिर्नाम। उत्प्रेक्षायां व्याजादिशब्दैरुपमेयस्य सत्त्वमप्युच्यते, इह तु सर्वथैवापह्नव इति विशेषः॥

अतिसाम्यादिति। उपमान और उपमेय में अत्यन्त साम्य होने के कारण जहाँ प्रस्तुत उपमेय वस्तु को अविद्यमान कहा जाता है और उपमान की ही सत्ता स्थापित की जाती है—ऐसी वह अपह्नुति होती है। उत्प्रेक्षा में व्याज आदि शब्दों के द्वारा उपमेय की सत्ता कही जाती है। यहाँ तो उस (की सत्ता) का सर्वथा दुराव होता है—(यह दोनों में भेद है)॥

उदाहरणम्—

नवबिसकिसलयकोमलसकलावयवा विलासिनी सैषा ।
आनन्दयति जनानां नयनानि सितांशुलेखेव ॥ ५८ ॥

उदाहरण—

'नूतन मृणालतन्तु और पल्लवों के समान कोमल सभी अङ्गों वाली यह विलासिनी लोगों के नेत्रों को चन्द्रिका के समान आनन्दित करती है ॥ ५८ ॥'

नवेति । अत्रातिसादृश्याद्विलासिनीमुपमेयमपह्नुत्य शशिकलाया उपमानस्यैव सद्भावः कथितः ॥

नवेति। यहाँ अत्यन्त सादृश्य के कारण विलासिनी उपमेय (वस्तु की सत्ता) का दुराव करके उपमान की ही सत्ता का कथन किया गया है ॥

अथ संशयः—

वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति संदेहः ।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः संशयः स इति ॥ ५९ ॥

अब संशय (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ एक वस्तु में प्रतिपत्ता को सादृश्य के कारण अनेकवस्तु-विषयक अनिश्चयमूलक संदेह होता है उसे संशय नामक अलङ्कार कहते हैं ॥ ५९ ॥'

वस्तुनीति। यत्रैकस्मिन्वस्तुन्युपमेये प्रतिपत्तुरनेकविषयः सादृश्यात्संदेहो भवति, अनिश्चयान्तः स इत्येवंप्रकारः संशयनामालंकारः। तुर्विशेषे ॥

वस्तुनीति। जहाँ उपमेय एक वस्तु में प्रतिपत्ता को (उपमेय और उपमान में) सादृश्य के कारण अनेक वस्तुओं का संदेह होता है, अनिश्चय में पर्यवसित होने वाला इस प्रकार का वह अलंकार संशय नाम से जाना जाता है। 'तु' पद विशेष के अर्थ में आया है ॥

उदाहरणम्—

किमिदं लीनालिकुलं कमलं किं वा मुखं सुनीलकचम् ।
इति संशेते लोकस्त्वयि सुतनु सरोवतीर्णायाम् ॥ ६० ॥

उदाहरण—

'क्या यह भ्रमरों से लिप्त कमल है अथवा क्या यह अत्यन्त नीले केश-कलापों से युक्त मुख है' हे सुन्दरि ! लोग सुन्दर केशों से युक्त तुम्हारे (मुख) को देखकर इस प्रकार संशय करते हैं ॥ ६० ॥'

किमिति । अत्रैकस्मिन्मुखे कमलमुखविषयः सादृश्यादनिश्चयसंशयः ॥

किमिति । यहाँ एक (उपमेय) मुख में सादृश्य के कारण अनिश्चय पर्य-वसायी संशय है ॥

प्रकारान्तरमाह—

उपमेये सदसंभवि विपरीतं वा तथोपमानेऽपि ।
यत्र स निश्चयगर्भस्ततोऽपरो निश्चयान्तोऽन्यः ॥ ६१ ॥

और भी प्रकार बताते हैं—

'उपमेय में सत् (वस्तु) को असंभव, अथवा असंभव वस्तु को सत् तथा उपमान में भी सत् को असंभव और असंभव को जहाँ सत् कहा जाता है वह निश्चय गर्भ संशय अलंकार होता है अथवा इससे भिन्न जहाँ परिणाम में निश्चय वर्णित होता है उसे निश्चयान्त संशय कहते हैं ॥ ६१ ॥'

उपमेय इति । यत्रोपमेये यद्वस्तु नैव संभवति तत्सत्कथ्यते, विपरीतं वा यत्सत्तदसंभवि कथ्यते, अथोपमाने यदसंभवि तत्सत् , यच्च सत्तद-संभवि कथ्यते स निश्चयगर्भाख्यः संशयो भवति । ततोऽन्यथा तु यत्र पर्यन्ते निश्चयो भण्यते सोऽन्यो निश्चयान्ताख्यः संशयो द्वितीयः । पूर्वोक्तं सामान्यं संशयलक्षणमुभयत्र योज्यम् ॥

उपमेय इति । जिस उपमेय में जो वस्तु संभव नहीं है वह सत् कही जाती है अथवा इसके विरुद्ध जो सत् है वह असंभव कही जाती है, फिर जो उपमान में असंभव है वह सत् कही जाती है और जो सत् है वह असंभव कही जाती है वह निश्चयगर्भ नामक संशय होता है । उसके विरुद्ध जहाँ परिणाम में निश्चय वर्णित हो वह पूर्व से विलक्षण निश्चयान्त नामक दूसरे प्रकार का संशय होता है । पूर्वोक्त संशय का सामान्य लक्षण दोनों स्थलों पर (निश्चय गर्भ और निश्चय-यान्त) जोड़ना चाहिए ॥

निश्चयगर्भोदाहरणमाह—

एतत्किं शशिबिम्बं न तदस्ति कथं कलङ्कमङ्केऽस्य ।
किं वा वदनमिदं तत्कथमियमियती प्रभास्य स्यात् ॥६२॥

किं पुनरिदं भवेदिति सौधतलालक्ष्यसकलदेहायाः ।
वदनमिदं ते वरतनु विलोक्य संशेरते पथिकाः ॥ ६३ ॥

(युग्मम्)

निश्चयगर्भ का उदाहरण देते हैं—

'क्या यह चन्द्रबिम्ब है ? तो फिर इसके क्रोड में वह कलङ्क क्यों नहीं है ? तो क्या यह मुख है ? तो भला उसकी इतनी अधिक प्रभा कैसे हो सकती है ? तो फिर यह क्या हो सकता है—इस प्रकार प्रासाद पृष्ठ पर तिरोहित समूची काया वाले तुम्हारे इस मुख को देखकर हे सुन्दरि ! पथिक सन्देह में पड़ गये हैं ॥ ६२-६३ ॥'

एतदिति । किं पुनरिति । अत्रोपमाने शशिनि संभविनः कलङ्कस्याभावः, उपमेये त्वसंभविनः प्रभाबाहुल्यस्य सद्भाव उक्तः । वैपरीत्यं तु नोक्तम् । तदन्यत्र द्रष्टव्यम् ॥

एतदिति । किं पुनरिति । यहाँ उपमान चन्द्र में संभव कलङ्क के अभाव और उपमेय में असंभव प्रभाबाहुल्य की सत्ता का कथन किया गया है । इसके विरुद्ध का उदाहरण नहीं दिया गया । उसे अन्यत्र ढूँढ़ना चाहिए ॥

निश्चयान्तमाह—

किमयं हरिः कथं तद्गौरः किं वा हरः क्व सोऽस्य वृषः ।
इति संशय्य भवन्तं नाम्ना निश्चिन्वते लोकाः ॥ ६४ ॥

निश्चयान्त संशय का उदाहरण देते हैं—

'क्या ये विष्णु हैं ? भला वे गौर कैसे होंगे ? तो क्या शिव हैं ! भला उनका वह (नन्दी) बैल कहाँ चला जायगा । इस प्रकार वितर्क करके लोगों ने आपको नाम से निश्चित कर लिया ॥ ६४ ॥'

किमिति । अत्रोपमाने कृष्णे गौरत्वमसंभवि विद्यते । हरे च संभविनो वृषस्याभावः । नामग्रहणाच्च निश्चयः । अस्मिन्निश्चयान्ते संशयगर्भलक्षणापेक्षा न कार्येति । तेन 'उपमेये सदसंभवि' (८।६१) इत्यादिलक्षणाभावेऽपि भवति । यथा माघस्य—'किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः । संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥' इति । अन्येऽपि संशयभेदा विद्यन्त एव । यथा—'यत्रोक्तेऽपि निवर्तेत संदेहो नैव साम्यतः । संशयोऽन्यः स विज्ञेयः शेषगर्भः स्फुटो यथा ॥' 'प्रत्यग्राहितचित्रवर्णकृतकच्छायो मयाद्येक्षितः, सौधे तत्र स कोऽपि कः पुनरसावेतन्न निश्चीयते । वाक्यं वक्ति न वक्त्रमस्ति न शृणोत्यंसावलम्बिश्रुतिश्चक्षुष्मांश्च निरीक्षते न

विदितं तत्स ध्रुवं पार्थिवः ॥' तथा—'उपमेयमपह्नुत्य संदेग्धुर्यत्र कथ्यते। उपमानमसावन्यः संशयो दृश्यते यथा ॥' 'यो गोपीजनवल्लभः स्तनतटव्यासङ्गलब्धास्पदश्छायावान्नवरक्तको बहुगुणश्चित्रश्चतुर्हस्तकः। कृष्णः सोऽपि हताशया व्यपहृतः कान्तः कयाप्यद्य मे, किं राधे मधुसूदनो नहि नहि प्राणाधिकश्चोलकः ॥' तथा 'अतिशयकारिविशेषणयुक्तं यत्रोपमेयमुच्येत। साम्यादुपमानगते संदेहे संशयः सोऽन्यः ॥' यथा—'भुजतुलिततुङ्गभूभृत्स्वविक्रमाक्रान्तभूतलो जयति। किमयं जनार्दनो नहि सकलजनानन्दनो देवः ॥' एवमन्येऽपि संशयप्रकारा लक्ष्यानुसारेण बोद्धव्या इति ॥

किमिति। यहाँ उपमान कृष्ण में गौरता असंभव है। शंकर में संभव होने पर बैल का अभाव है। नामग्रहण से निश्चय हो गया। इस निश्चयान्त में संशयगर्भ के लक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव 'उपमेये सदसंभवि' (८।६१) आदि में उक्त लक्षण के लागू न होने पर भी (निश्चयान्त संशय) होता है। जैसे माघ का—'क्या यह सरोवर में कमल है अथवा दूर से यह तरुणी का मुख अवभासित हो रहा है—क्षणभर इस प्रकार संशय करके किसी ने कमलों में अलभ्य चेष्टाओं के द्वारा (यह तरुणी का मुख है ऐसा) निश्चय किया। अन्य भी संशय के भेद होते ही हैं। 'जहाँ (उपमेय) के कथित होने पर भी साम्य के कारण संदेह का निवारण न हो सके उसे स्पष्ट ही भिन्न प्रकार का शेषगर्भ संशय जानना चाहिए ॥' जैसे—'विविध वर्णों की कान्ति से युक्त उस प्रासाद पर कोई मुझे आज दिखाई पड़ा। फिर 'यह कौन है' यह निश्चय नहीं हो पा रहा है। वाक्य नहीं बोलता है, मुख है; सुनता नहीं है, कन्धे पर अवलम्बित कान हैं; नेत्रवान् है किन्तु देखता नहीं है—वह तो ज्ञात है। निश्चय ही वही राजा है ॥' उपमेय का दुराव करके संदेह करने वाले को अन्य उपमान का कथन किया जाता है वहाँ दूसरा ही संशय होता है ॥ जो गोपियों को अभीष्ट है, स्तनतट में लगे होने के कारण प्राप्त स्थान वाले, छाया करने वाले, नवीन रक्त वाले, अनेक गुणों वाले, विचित्र वर्ण, चार हाथों वाले कान्त (प्रिय) कृष्ण को आज मेरी किसी निराश सखी ने फटकार दिया। हे राधे! क्या वे मधु को मारने वाल कृष्ण हैं। नहीं-नहीं, प्राणों से प्रिय चोलक (स्तनावरण) ॥

तथा—' जहाँ उपमेय अतिशयोत्पादक विशेषणों से युक्त कहा जाय वहाँ संदेह के साम्य के कारण उपमान गत होने पर भिन्न ही प्रकार का संशय होता है। जैसे—भुजाओं से ऊँचे ऊँचे पर्वतों की तुला कर देने वाले, अपने पराक्रम से भूतल को आक्रान्त कर देने वाले विजयी हों। क्या वे विष्णु हैं ? नहीं, समस्त प्रजा को सुख देने वाले महाराज !' इसी प्रकार उदाहरण के अनुसार संशय के अन्य प्रकार भी जान लेने चाहिये।

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यत्रानेकत्रार्थे संदेहस्त्वेककारकत्वगतः ।
स्यादेकत्वगतो वा सादृश्यात्संशयः सोऽन्यः ॥ ६५ ॥

और भी भेद बताते हैं--

'जहाँ उपमान और उपमेय रूप अर्थ में एक कारक विषयक अथवा सादृश्य के कारण एक की तात्त्विकता और दूसरे की अतात्त्विकता (उपमान और उपमेय में से एक के विषय में संदेह) का संदेह होता है वह पूर्व से विलक्षण संशय होता है ॥ ६५ ॥'

यत्रेति । सोऽयमन्यः संशयो यत्रानेकत्रोपमानोपमेयलक्षणेऽर्थे कर्त्रादिकारकत्वविषयः संशयो भवति । अस्याः क्रियायाः किमुपमानं कारकं स्यादुतोपमेयमिति, इत्थं यत्र भ्रान्तिरित्यर्थः । तथैकत्वगतो वेति । यत्रोपमानोपमेययोरैक्ये संभाव्यमान एकस्य तात्त्विकमन्यस्यातात्त्विकमिति संदेह इत्यर्थः ॥

यत्रेति । जहाँ उपमान और उपमेय में कर्ता आदि कारक के विषय का संदेह हो वहाँ दूसरा ही (पूर्व से विलक्षण) संशय होता है । अर्थात् जहाँ इस क्रिया का कारक उपमान है या उपमेय--ऐसी जहाँ भ्रान्ति होती है (वहां यह विलक्षण संशय होता है) । तथैकत्वगतो वेति । जहाँ उपमान और उपमेय के ऐक्य के कल्पित होने पर एक का (कारक) तात्त्विक और दूसरे का अतात्त्विक है--ऐसा संदेह हो (वहाँ यह संशय होता है)—यह तात्पर्य है ।

उदाहरणद्वयमप्यार्ययैकयाह—

गमनमधीतं हंसैस्त्वत्तः सुभगे त्वया नु हंसेभ्यः ।
किं शशिनः प्रतिबिम्बं वदनं ते किं मुखस्य शशी ॥ ६६ ॥

एक ही आर्या में दोनों उदाहरण देते हैं—

'हे सुन्दरि ! हंसों ने चलना तुमसे सीखा है अथवा तुमने हंसों से सीखा है । क्या तेरा मुख चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है अथवा चन्द्रमा तेरे मुख का ॥६६॥'

गमनमिति । अत्राद्यार्धेऽध्ययनक्रियां प्रति कर्तृत्वसंदेह उक्तः । द्वितीये तु मुखशशिनोस्तात्त्विकातात्त्विकत्वमेकत्र संदिग्धमिति । अथायं कोऽलंकारः । यथा भारवेः 'रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु । पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥' औपम्याभास इति केचित् । उत्प्रेक्षैवेयमित्यन्ये ॥

गमनमिति । इस छन्द के पूर्वार्ध में अध्ययन क्रिया के प्रति कर्ताविषयक संदेह उक्त है । उत्तरार्ध में मुख और चन्द्रमा की तात्त्विकता और अतात्त्विकता

एक स्थान (प्रतिबिम्ब) में संदिग्ध है। फिर यह कौन अलंकार है। जैसे भारवि का—अन्धकार से नाना प्रकार के वृक्ष और पर्वत रँग दिये गये हैं, आकाश आच्छादित कर दिया गया है अथवा पृथ्वी से मिला दिया गया है, धरती समतल बना दी गयी है और दिशायें लुप्त हो गयी हैं।

अथ समासोक्तिः—

सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत्।
उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः ॥ ६७ ॥

समासोक्ति का लक्षण करते हैं—

'जहाँ सकल समान विशेषणों से सम्पन्न उपमान कहा जाता हुआ उपमेय की प्रतीति कराता है वहाँ समासोक्ति होती है ॥ ६७ ॥'

सकलेति। यत्रैकमुपमानमेवोपमेयेन सह सकलसाधारणविशेषणमभिधीयमानं सदुपमेयं गमयेत्सा समासोक्तिः। सकलग्रहणं मिश्रत्वनिवृत्त्यर्थम्। एकग्रहणं तूपमेयवाचिपदप्रयोगनिवृत्त्यर्थम्। सद्ग्रहणं प्रतिपादनसमर्थत्वख्यापनार्थम् ॥

सकलेति। जहाँ केवल उपमान ही उपमेय में लागू होने वाले समस्त साधारण विशेषणों के साथ उक्त होकर उपमेय की प्रतीति कराता है वहाँ समासोक्ति होती है। सकल का ग्रहण मिश्रत्व का निराकरण करने के लिये किया गया है (अर्थात् ऐसे विशेषण नहीं होंगे जो कुछ उपमान में ही हो सकें उपमेय में नहीं या उपमेय में हो सकें उपमान में नहीं)। एक का ग्रहण उपमेय के वाचक पद का निराकरण करने के लिये है। 'सत्' का ग्रहण प्रतिपादन की क्षमता द्योतित करने के लिये है।

उदाहरणमाह—

फलमविकलमलघीयो लघुपरिणति जायतेऽस्य सुस्वादु।
प्रीणितसकलप्रणयिप्रणतस्य सदुन्नतेः सुतरोः ॥ ६८ ॥

उदाहरण देते हैं—

'प्रसन्न सकल प्रेमियों को प्रणत करने वाले अत्यन्त ऊँचे इस सुन्दर वृक्ष में सुमधुर शीघ्र पकने वाले सुन्दर-सुन्दर बड़े-बड़े फल लग रहे हैं ॥ ६८ ॥'

फलमिति। फलमाम्रादिकम्। दृष्टार्थश्चेत्यत्र तरुरुपमानं गुणसाधर्म्यात् सत्पुरुषमेव गमयति ॥

फलमिति। आम्र आदि फल है। अर्थ स्पष्ट है। यहाँ उपमान तरु गुण के साधर्म्य से सज्जन पुरुष की प्रतीति कराता है ॥

अथ मतम्—

तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम् ।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥ ६९ ॥

मत (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ वक्ता दूसरों के अभिप्रेत उपमेय को कहकर अपने अभिप्रेत उपमेय के धर्मों से युक्त उपमान का उपन्यास करता है वहाँ मत नामक अलङ्कार होता है ॥ ६९ ॥

तदिति । तन्मतनामालंकारः । इत्यमुना वक्ष्यमाणप्रकारेण । यत्र वक्तान्यमतेन पराभिप्रायेण सिद्धं लोकप्रतीतमपमेयमुक्त्वा प्रतिपाद्योपमानं ब्रूयात् । किंभूतम् । तथाविशिष्टमुपमेयधर्मसदृशम् । पुनश्च कीदृशम् । स्वमतेन स्वाभिप्रायेग तथोपमानत्वेन सिद्धम् । उपमेयमेव तत्त्वतस्तदित्यर्थः ॥

तदिति । उसे मत नामक अलंकार कहते हैं—इसे आगे बताये गये लक्षण के अनुसार जहाँ वक्ता दूसरे के अभिप्राय से सिद्ध—लोकप्रतीत-उपमेय का उपन्यास करके उपमान का प्रतिपादन करे। कैसे उपमान का ? उपमेय के धर्मों से युक्त। फिर कैसे (उपमान का) ?—अपने मत से एवं उपमान रूप में सिद्ध। अर्थात् वस्तुतः वह उपमेय ही होता है।

[उक्ति में चमत्कार लाने के लिये वक्ता उसे उपमान बनाता है]

उदाहरणमाह—

मदिरामदभरपाटलमलिकुलनीलालकालिधम्मिल्लम् ।
तरुणीमुखमिति यदिदं कथयति लोकः समस्तोऽयम् ॥ ७० ॥
मन्येऽहमिन्दुरेष स्फुटमुदयेऽरुणरुचिः स्थितैः पश्चात् ।
उदयगिरौ छद्मपरैर्निशातमोभिर्गृहीत इव ॥ ७१ ॥
(युग्मम्)

उदाहरण—

'यह सारा संसार मदिरा के मद के भार से गुलाबी वर्ण, भ्रमर-पटल के समान केश कलाप से धूमिल इसे जो युवती का मुख कहता है—मुझे लगता है उदयाचल पर पीछे स्थित कपट परायण रात के अन्धकार से बन्दी बनाया गया स्पष्ट अरुणवर्ण यह चन्द्रमा है ॥ ७०-७१ ॥'

मदिरेति । मन्य इति । अत्र मुखमुपमेयं लोकमतेनोक्त्वा स्वमतेनेन्दुमाह । विशेषणानि तुल्यानि । तथा हि मुखं मदिरामदभरेण लोहितमिन्दुरुदयारुणकान्तिः । मुखं कृष्णकेशकलापेन युक्तं शशी निशातमोभिः ॥

मदिरेति। मन्य इति। यहाँ लोक प्रतीत मुख को उपमेय बताकर (वक्ता ने) अपने मत में उसे चन्द्रमा माना है। विशेषण तुल्य हैं क्योंकि मुख मदिरा के मद के भार से लोहित होता है, चन्द्रमा उदय गिरि की अरुण कान्ति से युक्त। मुख कृष्ण केशकलाप से युक्त होता है, चन्द्रमा रात्रि के अन्धकार से॥

अथोत्तरम्—

यत्र ज्ञातादन्यत्पृष्टस्तत्त्वेन वक्ति तत्तुल्यम्।
कार्येणानन्यसमख्यातेन तदुत्तरं ज्ञेयम्॥ ७२॥

आगे उत्तर (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ ज्ञात वस्तु (उपमान से) भिन्न वस्तु उपमेय के पूछने पर वक्ता तत्त्वतः तुल्य धर्म वाले प्रसिद्ध कार्य के कारण ज्ञात वस्तु (उपमान) के तुल्य वस्तु का कथन करता है उसे उत्तर अलंकार जानना चाहिए॥ ७२॥'

यत्रेति। यत्र वक्ता ज्ञातात्प्रसिद्धादुपमानलक्षणादन्यदुपमेयभूतं वस्तु पृष्टः संस्तत्त्वेन तद्भावेन तत्तुल्यमुपमानसदृशं वक्ति। तत्तुल्यतापि कुत इत्याह—कार्येण। कीदृशेन। अनन्यसमेन ख्यातेन च। तदुपमानं वर्जयित्वान्यत्राविद्यमानेन। तत्र च प्रसिद्धेनेत्यर्थः। अथ परिसंख्याया वास्तवोत्तरस्यास्य चोत्तरस्य को विशेषः। उच्यते—परिसंख्यायामज्ञातमेव पृच्छति नियमप्रतीतिश्चौपम्याभावश्च। 'किं सुखमपारतन्त्र्यम्' (७।८०) इत्यत्र ह्यपारतन्त्र्यमेव सुखं नान्यदित्यर्थः। इह तु ज्ञातादन्यत्पृच्छ्यते, न च नियमप्रतीतिरस्ति, औपम्यं च विद्यते। यथा 'किं मरणम्'(८।७३) इत्यादि। वास्तवोत्तरे तु न नियमप्रतीतिर्नाप्यौपम्यसद्भावः। केवलं प्रश्नादुत्तरमात्रकथनमेव। यथा लक्ष्मीसौराज्यादि तत्र कथितम्॥

यत्रेति। वक्ता जहाँ ज्ञात प्रसिद्ध उपमान से भिन्न वस्तु उपमेय के पूछे जाने पर उपमान के सदृश वस्तु का कथन करता है (वहाँ उत्तर अलंकार होता है)। उस (उपमान) के साथ तुल्यता भी कैसे होती है, इसे बताते हैं— कार्येणेति। कार्य के द्वारा। कैसे कार्य के द्वारा? अनन्यसम और प्रसिद्ध कार्य के द्वारा। उस उपमान को छोड़कर अन्यत्र अलभ्य कार्य अर्थात् प्रसिद्ध कार्य के द्वारा। फिर परिसंख्या, वास्तव मूलक उत्तर और इस उत्तर में क्या भेद है? कहते हैं—परिसंख्या में अज्ञात को ही (वक्ता) पूछता है, (उसमें) नियमप्रतीति होती है और औपम्य का अभाव होता है। 'सुख क्या है? अपरतन्त्रता' इस स्थल में अपरतन्त्रता ही सुख है और कोई वस्तु नहीं यह प्रतीत होता है। इस (उत्तर) में ज्ञात से भिन्न (वस्तु) पूछी जाती है नियमप्रतीति नहीं होती तथा औपम्य होता है। जैसे 'मरण क्या है' आदि (८।७३)। वास्तवमूलक

उत्तर में नियम की प्रतीति नहीं होती और न तो औपम्य ही होता है। केवल प्रश्न से उत्तरमात्र का कथन होता है। उदाहरण के लिये लक्ष्मी, सौराज्य आदि वहाँ (७।९५) कहे गये हैं ॥

अथोदाहरणमाह—

किं मरणं दारिद्र्यं को व्याधिर्जीवितं दरिद्रस्य ।
कः स्वर्गः सन्मित्रं सुकलत्रं सुप्रभुः सुसुतः ॥ ७३ ॥

उदाहरण देते हैं—

'मृत्यु क्या है ? दरिद्रता। रोग क्या है ? दरिद्र का जीवित रहना। स्वर्ग क्या है ? अच्छा मित्र, साध्वी स्त्री, उदार स्वामी और सदाचारी पुत्र ॥ ७३ ॥'

किमिति । अत्र मरणात्प्राणत्यागसकाशात्प्रतीतादन्यत्पृष्टो वक्ता कार्येणाकिंचित्करत्वदुःखकारित्वादिना तत्तुल्यं दारिद्र्यं मरणमिव कथितवान् ॥

किमिति। यहाँ प्रतीत (ज्ञात) प्राणत्याग रूप मरण से भिन्न वस्तु के पूछने पर वक्ता ने अकिंचित्करत्व, दुःखकारित्व आदि कार्य से उस (ज्ञात वस्तु) के सदृश दारिद्र्य को मरण बताया ॥

अथान्योक्तिः—

असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः ॥ ७४ ॥

अन्योक्ति का लक्षण करते हैं--

'जहाँ उक्त उपमान से विशेषणों के असमान होने पर भी समान वृत्त (क्रिया) वाला उपमेय गम्य होता है वहाँ अन्योक्ति अलङ्कार होता है ॥ ७४ ॥'

असमानेति । यत्रासाधारणविशेषणमप्युपमेयमुपमानेनोक्तेन परं केवलं गम्यते प्रतीयते सेत्युक्तेन प्रकारेणान्योक्तिर्भवति । ननु यद्यसमान-विशेषणं तत्कथं तेन गम्यत इत्याह—समानेतिवृत्तमिति। समानं सदृशमिति-वृत्तमर्थशरीरं यस्य तत्तथोक्तम् । यत उपमानतुल्यव्यवहारमुपमेयमतस्तेन गम्यत इत्यर्थः । अपिशब्दात्किंचित्समानविशेषणत्वेऽपि क्वापि भवतीति सूच्यत इति ॥

असमानेति। जहाँ विशेषणों के असमान होने पर भी उपमेय उक्त उपमान से केवल गम्य होता है वहाँ उक्त प्रकार से अन्योक्ति अलंकार होता है। प्रश्न उठता है कि यदि (उपमेय के) विशेषण (उपमान से) भिन्न हैं तो किस प्रकार उस (उक्त उपमान) से उपमेय गम्य होता है इसे बताते हैं—समान-वृत्तमिति। (उपमेय का) अर्थ शरीर (उपमान के ही) समान होता है (अत-

एव उपमान से वह गम्य हो जाता है)। 'अपि' शब्द से यह सूचित होता है कि कहीं-कहीं (उपमेय के) विशेषणों के (उपमान के विशेषणों के साथ) साम्य रखने पर भी (अन्योक्ति अलंकार) होता है ॥

उदाहरणमाह—

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरसम् ।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे न हंसोऽसि ॥७५॥

उदाहरण देते हैं—

'विलासी हंसों वाले, खिले हुये कमलों से उज्ज्वल सरस सरोवर को छोड़कर हे मित्र ! बगुले से गन्दे किये गये जल वाले गड्ढे को चाहते हो (वास्तव में तुम) हंस नहीं हो ॥ ७५ ॥'

मुक्त्वेति । अत्र हंसेनोपमानेनोक्तेन सज्जनः प्रतीयते । विशेषणानि चात्र सलीलहंसादीन्यसमानानि । नहि पुरुषः सरो मुक्त्वा पल्वलमभिलषति । इतिवृत्तं तु समानम् । यतस्तस्य शिष्टजनाधिष्ठितं स्थानं त्यजतः खलमन्यं चाश्रयतस्तत्तुल्य उपालम्भ इति ॥

मुक्त्वेति । यहाँ उक्त उपमान हंस से सज्जन प्रतीत होता है । विलासी हंसों से युक्त होना आदि विशेषण (उपमान से उपमेय के) असमान हैं । पुरुष तालाब को त्याग कर गड्ढे के लिये लालायित नहीं होता । (उसका) व्यवहार (उपमान हंस) के समान है । क्योंकि उस (उपमेय पुरुष) का सज्जनों द्वारा आश्रित स्थान को छोड़कर अन्य दुष्ट का आश्रय लेने की उलाहना समान है ॥

अथ प्रतीपमाह—

यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि ।
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं स्यात् ॥ ७६ ॥

प्रतीप (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ उपमेय की अत्यधिक प्रशंसा के लिये उपमान की तुलना में विकृत उपमेय या तो उपकृत होता है या निन्दित होता है वहाँ प्रतीप नामक अलंकार होता है ॥ ७६ ॥'

यत्रेति । यत्रोपमेयमनुकम्प्यते निन्द्यते वा तत्प्रतीपं नामालंकारः । कस्मात्तस्य निन्दानुकम्पे क्रियेते इत्याह—सममुपमाने इति कृत्वा । यत उपमानेन तुल्यमतो निन्दानुकम्पे तस्येत्यर्थः । तादृशं तर्हि किमर्थमुपमानं क्रियत इत्याह—अतिस्तोतुं सातिशयमुपमेयं ख्यापयितुम् । ननु यदि सातिशयं तर्ह्युपमानेन सह साम्यं नास्तीत्याह—दुरवस्थमिति । इतिर्हेतौ । यतो दुष्टामवस्थां प्राप्तम् । उपमेयमुपमानेन समम् , अत एव निन्द्यतेऽनु-

कम्प्यते वेत्यर्थः। अपिर्विस्मये। एतदेव चालंकारस्य प्रतीपत्वं यदन्येनान्यद् गम्यते॥

यत्रेति। जहाँ उपमेय पर या तो अनुकम्पा की जाती है या (उसकी) निन्दा की जाती है वहाँ प्रतीप नामक अलंकार होता है। उस (उपमेय) की निन्दा या अनुकम्पा करने का प्रयोजन क्या है—इसे बताते हैं—सममुपमाने इति कृत्वा। (उपमेय को) उपमान के तुल्य बताया जाता है अतः उसकी निन्दा या अनुकम्पा की जाती है। फिर उपमान को उस (उपमेय) के तुल्य बताते हैं, इसके उत्तर में कहते हैं इससे उपमेय की प्रशंसा होती है। शङ्का होती है कि यदि (वह उपमेय) सातिशय है तो उसकी उपमान के साथ समता नहीं है' इसके उत्तर में कहते हैं—दुरवस्थमिति। इति हेतु के अर्थ में आया है। (उपमेय) दुरवस्था को प्राप्त होने के कारण उपमान के सदृश होता है। अथवा (उसकी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए) 'उपमेय उपमान के समान है' अतएव या तो उसकी निन्दा होती है या प्रशंसा। अपि विस्मय के अर्थ में आया है। यही इस अलंकार की प्रतीपता है कि अन्य से अन्य (वस्तु) गम्य होती है।

उदाहरणम्—

वदनमिदं सममिन्दोः सुन्दरमपि ते कथं चिरं न भवेत्।
मलिनयति यत्कपोलौ लोचनसलिलं हि कज्जलवत्॥७७॥

उदाहरण—

'कज्जल मिश्रित नेत्रवारि जो तुम्हारे दोनों गालों को मलिन बना रहे हैं, भला इससे तुम्हारा यह मुख सुन्दर होने पर भी सदैव चन्द्रमा के समान क्यों नहीं होगा॥ ७७॥'

वदनमिति। अत्राञ्जनवारिमलिनत्वान्मुखस्य दौरवस्थ्यम्, अत एवेन्दुनोपमीयते। अनुकम्प्यते। तत्त्वतः स्तुतिर्मुखस्य कृता॥

वदनमिति। यहाँ काजल से मलिन होने के कारण मुख की दुरवस्था हो गयी है। अतएव (उसकी) चन्द्रमा से उपमा दी गयी है। (यहाँ उपमेय पर) अनुकम्पा की गयी है तत्त्वतः मुख की स्तुति की गयी है॥

निन्दोदाहरणमाह—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन वहसि किं भद्रे।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि॥७८॥

निन्दा का उदाहरण देते हैं—

'भद्रे! इस गुरुतर अभिमान को अपने दोनों नेत्रों में क्यों ढो रही हो, इस प्रकार के तो तालाबों में प्रत्येक दिशा में नीले-नीले कमल हैं॥ ७८॥'

गर्वमिति । अत्र बाहुल्योपलभ्यमाननलिननिभनयनवत्तया गर्ववहनान्निन्दा स्तुतिप्रातीतिकी । दुरवस्थं कस्मादपि कारणाद् बोद्धव्यम् ॥

गर्वमिति । यहाँ प्रभूत संख्या में प्राप्य नीले कमलों के समान नेत्रों के होने के कारण गर्व के वहन करने के कारण (वाच्य) स्तुति की प्रतीति कराती है । दुरवस्था भी किसी कारण से समझ लेनी चाहिए ॥

अर्थान्तरन्यासमाह—

धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै ।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७९ ॥

अर्थान्तरन्यास (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ सामान्य अथवा विशेष अर्थ वाले (उपमेय) धर्मी का कथन करके उसकी पुष्टि के लिये (उसके) समान धर्म वाले सामान्य अथवा विशेष अर्थ का उपन्यास किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ॥ ७९ ॥'

धर्मिणमिति । यत्रोपमेयं धर्मिणमर्थविशेषरूपं सामान्यरूपं वा केनचिद्धर्मेण परोपकारादिना युक्तमभिधाय तस्य धर्मस्य दृढीकरणार्थमितरं यथाक्रममेव सामान्यं विशेषरूपं च समानधर्मकमुपमानभूतमर्थं कविर्न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥

धर्मिणमिति । जहाँ विशेष या सामान्य अर्थरूप धर्मी उपमेय को परोपकार आदि किसी धर्म से युक्त बताकर उस धर्म को पुष्ट करने के लिये क्रमशः अन्य साम ान्य एवं विशेष रूप समान धर्म वाले उपमानभूत अर्थ का कवि उपन्यास करता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ॥

उदाहरणमाह—

तुङ्गानामपि मेघाः शैलानामुपरि विदधते छायाम् ।
उपकर्तुं हि समर्था भवन्ति महतां महीयांसः ॥ ८० ॥

उदाहरण—

'बादल ऊँचे पर्वतों पर भी छाया करते हैं : महापुरुष महापुरुषों का भी उपकार करने में सक्षम होते हैं ॥ ८० ॥'

तुङ्गानामिति । अत्रोपमेयविशेषं मेघपर्वताख्यं तुङ्गत्वादियुक्तमभिधाय सामान्यमुपमानं महल्लक्षणमुपन्यस्तम् ॥

तुङ्गानामिति । यहां मेघ-पर्वत रूप विशेष उपमेय को तुङ्गत्व आदि से युक्त बताकर (उसके समर्थन के लिये) महद्रूप सामान्य उपमान का उपन्यास किया है ॥

द्वितीयमाह—

सकलमिदं सुखदुःखं भवति यथावासनं तथाहीह ।
रमयन्तितरां तरुणीर्नखक्षतादीनि रतिकलहे ॥ ८१ ॥

(विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन रूप) दूसरा उदाहरण देते हैं—

'इस संसार में वासना के अनुरूप ही यह सब सुख-दुःख होता है। सुरत-कलह में नखक्षत आदि युवतियों में और भी सौन्दर्य ले आ देते हैं ॥ ८१ ॥'

सकलमिति । अत्र सामान्यरूपेणैव सुखदुःखादियुक्तं सकलमुपमेय-मुक्त्वा ततो विशिष्टं नखक्षताद्युपमानमुक्तम् ॥

सकलमिति । यहां सामान्य रूप में ही सुख, दुःख आदि से युक्त सकल उपमेय को बताकर तदनन्तर (उसके समर्थन के लिये) विशिष्ट नखक्षत आदि उपमानों का उपन्यास किया गया है ।

अयं चार्थान्तरन्यासः साधर्म्यप्रयुक्तसामान्यविशेषद्वारेण चतुर्विधो भवति । तत्र साधर्म्येण भेदद्वयमुक्तम् । वैधर्म्येणाह—

पूर्ववदभिधायैकं विशेषसामान्ययोर्द्वितीयं तु ।
तत्सिद्धयेऽभिदध्याद्विपरीतं यत्र सोऽन्योऽयम् ॥ ८२ ॥

साधर्म्य से प्रयुक्त सामान्य-विशेष के मुख से यह अर्थान्तरन्यास चार प्रकार का होता है । उनमें साधर्म्य के मुख से उक्त दो भेदों का वर्णन हो चुका । अब वैधर्म्य के भेदों का वर्णन करते हैं—

'पूर्वोक्त विधि से ही सामान्य और विशेष में एक का उपन्यास करके उसकी पुष्टि के लिये विशेष अथवा सामान्य का वैधर्म्य के द्वारा जहाँ उपन्यास किया जाता है वहाँ पूर्वोक्त भेद से विलक्षण अर्थान्तरन्यास (अलंकार) होता है ॥८२ ॥'

पूर्ववदिति । यत्र विशेषसामान्ययोर्मध्यादेकं पूर्ववत्केनचिद्धर्मेणोपेत-मुक्त्वा ततस्तद्धर्मसिद्धये द्वितीयं सामान्यं विशेषं वा विपरीतं विधर्मकं कविर्ब्रूयात्सोऽन्योऽयमर्थान्तरन्यासः ॥

पूर्ववदिति । जहाँ विशेष और सामान्य में से एक को पूर्व उदाहरण की ही विधि से किसी धर्म से युक्त बताकर तदनन्तर उस धर्म की पुष्टि के लिये कवि जहाँ विपरीत धर्म वाले सामान्य या विशेष का उपन्यास करता है वहाँ यह (पूर्व से) विलक्षण अर्थान्तरन्यास होता है ।

उदाहरणमाह—

अभिसारिकाभिरभिहतनिबिडतमा निन्द्यते सितांशुरपि ।
अनुकूलतया हि नृणां सकलं स्फुटमभिमतीभवति ॥८३॥

उदाहरण—

'सघन अन्धकार को नष्ट करने वाले चन्द्रमा की भी अभिसारिकायें निन्दा करती हैं। मनुष्यों की इच्छा के जो अनुकूल होता है वही सब अभीष्ट होता है—यह स्फुट है ॥ ८३ ॥'

अभिसारिकाभिरिति। अत्र शशी अभिसारिकाश्च विशेषावुपमेयौ पूर्वमुक्तौ, ततो नृणां सकलमिति सामान्यं वैधर्म्येणोक्तम्। निन्द्यत इत्यस्य ह्यभिमतीभवतीति विरुद्धम् ॥

अभिसारिकाभिरिति। यहाँ विशेष उपमेय रूप चन्द्रमा और अभिसारिकाओं का पहले उपन्यास किया गया है तदनन्तर (उस धर्म की पुष्टि के लिये) 'मनुष्यों का सब कुछ' इस सामान्य को वैधर्म्यरूप में उपन्यस्त किया गया है। 'निन्दा करता है' इसका 'अभीष्ट होता है' यह वैधर्म्य (विरुद्ध) है ॥

द्वितीयमाह—

हृदयेन निर्वृतानां भवति नृणां सर्वमेव निर्वृतये।

इन्दुरपि तथाहि मनः खेदयतितरां प्रियाविरहे ॥ ८४ ॥

'हृदय में शान्त मनुष्य के लिये सब कुछ सुखद होता है। प्रिया के वियोग में चन्द्रमा भी मन को प्रबल संताप देता है ॥ ८४ ॥'

हृदयेनेति। अत्र सामान्यमुक्त्वा विशेषो वैधर्म्येणोक्तः। अथायं कोऽलंकारः। यथा—'प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने। स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥' नह्यत्रौपम्यसद्भावोऽस्तीत्यर्थान्तरन्यासाभास इति भ्रमः। भामहादिमतेन त्वर्थान्तरन्यास एव। 'अर्थद्वयस्य न्यासः सोऽर्थान्तरन्यासः' इति तदीयलक्षणात् ॥

हृदयेनेति। यहाँ सामान्य का कथन करके विशेष को वैधर्म्यमुखेन कहा गया है। फिर इसमें कौन अलंकार है—'विपक्ष (सौत) के सामीप्य में सुविशाल स्तन वाले वक्षस्थल पर पहनायी गयी प्रिय के द्वारा गूँथी गयी माला को किसी ने नहीं त्यागा। गुण प्रेम में होते हैं (जड़) वस्तु में नहीं ॥' (हम) यहाँ अर्थान्तरन्यासाभास मानते हैं क्योंकि यहाँ औपम्य नहीं है। भामह आदि (पूर्व आलंकारिकों) के मत में (यहाँ) अर्थान्तरन्यास ही है क्योंकि उनके मत में दो अर्थों का न्यास ही (कथन ही) अर्थान्तरन्यास है ॥

अथोभयन्यासमाह—

सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ।

निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः ॥ ८५ ॥

आगे उभयन्यास का लक्षण करते हैं—

'उपमा के स्वरूप से भिन्न, जहाँ दो सामान्य अर्थ निर्दिष्ट हों वहाँ उभयन्यास अलंकार जानना चाहिए ॥ ८५ ॥'

सामान्याविति। यत्र प्रकटं विद्यमानसामान्यावपि द्वावर्थौ तुल्यकक्षतया कृत्वा तथाप्युपमाया यत्स्वरूपं ततो व्यपेतौ निर्दिश्येते। उपमायां हि सामान्यस्येवादेश्च प्रयोगः। इह तु नैवेत्यर्थः। स उभयन्यासो ज्ञेयः ॥

सामान्याविति। जहाँ साधारण धर्मों के स्पष्टतः विद्यमान होने पर भी दो अर्थ समकक्षीय बनाकर भी उपमा के स्वरूप से पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं (वहाँ उभयन्यास अलंकार होता है)। उपमा में साधारण धर्म और (उसके वाचक) इवादि (पदों) का प्रयोग होता है यहाँ नहीं—यह अर्थ है। इस प्रकार से उभयन्यास (अलंकार) जानना चाहिये ॥

उदाहरणमाह—

सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरलाः।
सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादुसुगन्धिचारुफलाः ॥ ८६ ॥

उदाहरण देते हैं—

'सकल संसार में प्रथित वैभव वाले सज्जन इस समय पृथ्वी पर विरल हैं। सुन्दर स्वाद वाले और सुन्दर गन्ध वाले सुन्दर फलवाले वृक्ष भला कितने हैं ॥ ८६ ॥'

सकलेति। अत्र साधव उपमेयास्तरव उपमानानि तेषां तुल्यकक्षतया निर्देशः। न तु सताप्युपमानोपमेयभावेनेति ॥

सकलेति। यहाँ साधु उपमेय हैं और वृक्ष उपमान हैं। उनको समकक्षीय बनाकर निर्देश किया गया है, न कि विद्यमान होने पर भी उपमानोपमेय भाव से ॥

अथ भ्रान्तिमान्—

अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम्।
निःसंदेहं यस्मिन्प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान्स इति ॥ ८७ ॥

भ्रान्तिमान्—

'जहाँ विशेष अर्थ वस्तु को देखकर प्रतिपत्ता को उसके सदृश अन्य वस्तु की सन्देहरहित प्रतीति होती है वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है ॥ ८७ ॥'

अर्थेति। यत्र प्रतिपत्तार्थविशेषमुपमेयलक्षणं पश्यंस्तत्सादृश्यादन्यमेवार्थमुपमानलक्षणं निःसंशयमवबुध्येत स इत्यमुना प्रकारेण भ्रान्तिमान्नामालंकारः ॥

अर्थेति। जहाँ उपमेय रूप विशेष अर्थ को बोद्धा देखकर उसके सादृश्य होने के कारण निःसंशय अन्य उपमान की बुद्धि करले वहाँ इस प्रकार से भ्रान्तिमान् अलंकार होता है ॥

उदाहरणम्—

पालयति त्वयि वसुधां विविधाध्वरधूममालिनीः ककुभः।
पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया हंसाः ॥ ८८ ॥

उदाहरण—

'पृथ्वी पर तुम्हारे शासन करते रहने पर विविध यज्ञों की धूमराशि को धारण करने वाली दिशाओं को देखकर वर्षा ऋतु के आगमन के भय से हंस पीडित हो रहे हैं ॥ ८८ ॥'

पालयतीति। अत्र यज्ञधूमधारिण्यो दिश उपमेयाः। वर्षाकाल उपमानम्। तत्रैवावगतिः॥

पालयतीति। यहाँ यज्ञ का धुआँ धारण करने वाली दिशायें उपमेय हैं, वर्षाकाल उपमान, उसी की बुद्धि (बोद्धा को) होती है ॥

अथाक्षेपः—

वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः ॥ ८९ ॥

आक्षेप का लक्षण करते हैं—

'वस्तु प्रसिद्ध है' अथवा 'वस्तु विरुद्ध है' इसलिये एक बार कहे हुये वचन का आक्षेप करके उसकी सिद्धि के लिये उसी के स्वरूप की अन्य वस्तु का जहाँ उपन्यास किया जाता है वहाँ आक्षेप नामक अलंकार होता है ॥ ८९ ॥'

वस्त्विति। यत्र वक्ता यत्किमपि लोके प्रसिद्धमिति विरुद्धमिति वा कारणाद्वस्तु भूतं वर्तते, अस्य वचनमाक्षिप्य ततश्चान्यद्वस्त्वन्तरं तथात्वसिद्ध्यै तस्य स्वरूपस्य सिद्ध्यर्थं ब्रूयात्स आक्षेपो नामालंकारः॥

वस्त्विति। जहाँ वक्ता लोक में जो कुछ प्रसिद्ध है या विरुद्ध है—इस कारण से वस्तुभूत होती है इस वचन का आक्षेप करके तदनन्तर उसकी सिद्धि के लिये अन्य वस्तु का कथन करता है वह आक्षेप नामक अलंकार होता है ॥

तत्र प्रसिद्धस्योदाहरणमाह—

जनयति संतापमसौ चन्द्रकलाकोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः ॥९०॥

उनमें प्रसिद्ध वस्तु का उदाहरण देते हैं—

'आश्चर्य है ! ज्योत्स्ना के समान कोमल होकर भी यह मुझे संताप दे रही है। अथवा, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हिम वृक्षों को जला ही देता है ॥९०॥'

जनयतीति। अत्र चन्द्रकलाकोमलत्वेनापि संतापकत्वे सति विस्मयः। अथ च विरहे तथैव प्रतीयमानत्वाद्वस्तुत्वं प्रसिद्धम्। ततश्च किमत्र चित्रमित्येतेनाक्षिप्य तथात्वसिद्धौ हिमानीलक्षणमुपमानमुक्तम् ॥

जनयतीति। यहाँ ज्योत्स्ना के समान कोमलता होने पर भी संतापकता आश्चर्योत्पादक है। विरह में उसी प्रकार से प्रतीत होने के कारण वस्तुता प्रसिद्ध है। तदनन्तर 'इसमें आश्चर्य क्या है' इससे (वचन का) आक्षेप करके हिमानीरूप उपमान का उपन्यास किया ॥

अथ विरुद्धोदाहरणमाह—

तव गणयामि गुणानहमलमथवासत्प्रलापिनीं धिङ्माम्।
कः खलु कुम्भैरम्भो मातुमलं जलनिधेरखिलम् ॥ ९१ ॥

विरुद्ध (वस्तु) का उदाहरण देते हैं—

'तुम्हारे गुणों को मैं गिन रही हूँ; अथवा मिथ्या बोलने वाली मुझे धिक्कार है। सागर के समूचे जल को घड़ों से नापने में भला कौन समर्थ हो सकता है ॥ ९१ ॥'

तवेति। अत्र समस्तगुणगणनमशक्यत्वाद्विरुद्धमथवेत्यादिनाक्षिप्य तद्विरुद्धत्वसिद्ध्यर्थमन्यदुपमानमुक्तं क इत्यादिना ॥

तवेति। यहाँ समस्त गुणों की गणना को संभव कहने के कारण विरुद्ध 'अथवा' इत्यादि के द्वारा आक्षेप करके उसकी विरुद्धता की सिद्धि के लिये 'कौन' आदि के द्वारा अन्य उपमान का उपन्यास किया गया है ॥

अथ प्रत्यनीकम्—

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत् ॥ ९२ ॥

प्रत्यनीक (का लक्षण करते हैं)—

'उपमेय को उत्तम बताने के लिये (उपमेय को) जीतने की इच्छा के कारण जहाँ उपमेय के विरोधीरूप में उपमान की कल्पना की जाय वहाँ प्रत्यनीक नामक अलंकार होता है ॥ ९२ ॥'

वक्तुमिति। यत्रोपमेयमुत्तमं वक्तुं तज्जिगीषयोपमेयविजयेच्छया हेतुभूतया तस्योपमेयस्य विरोधीति विपक्षभूतमित्युपमानं कल्प्येत तत्प्र-

त्यनीकनामालंकारः। ननु विरुद्धयोः कथमौपम्यमित्याह—उक्त्या वचनमात्रेण विरोधो, न तत्त्वतः। उपमेयस्तुतिस्त्वत्र तात्पर्यार्थः॥

वक्तुमिति। जहाँ उपमेय को उत्तम बताने के लिये उसे जीतने की इच्छा से उस उपमेय के विरोधी, विपक्षी उपमान की कल्पना की जाती है वहाँ प्रत्यनीक नामक अलंकार होता है। सन्देह होता है कि विरुद्ध दो अर्थों में औपम्य कैसे होगा--इसके उत्तर में कहते हैं—वचनमात्र से (उन दोनों में) विरोध होता है, तत्त्वतः नहीं। इसमें उपमेय की स्तुति प्रयोजन होती है।

उदाहरणम्—

यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम्।
मम तत्र किमापतितं तपसि सितांशो यदेवं माम् ॥९३॥

उदाहरण—

'हे चन्द्र! विजय चाहने वाले तुम्हारे कान्ति के सर्वस्व उस मुख को उसने चुरा लिया है तो भला इसमें मैंने क्या बिगाड़ा है जो मुझे इस प्रकार संताप दे रहे हो॥ ९३॥'

यदीति। अत्र मुखमुत्तमं वक्तुं तज्जिगीषया शशी उपमानं कल्पितः। एतच्च वचनमात्रेण; न तत्त्वतः

यदीति। यहाँ मुख को उत्तम बताने के लिये उपमान चन्द्र उस पर विजयेच्छु कल्पित किया गया है। यह वचन मात्र से तत्त्वतः नहीं (क्यों कि तत्त्वतः तो मुख की प्रशंसा ऐसी उक्ति का प्रयोजन है।)

अथ दृष्टान्तः—

अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ् न्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः॥ ९४॥

दृष्टान्त का लक्षण करते हैं—

'प्रस्तुत और अप्रस्तुत में जिस धर्म से युक्त अर्थ विशेष का पहले उपन्यास हो चुका है उसी धर्म से युक्त अन्य विशेष अर्थ का जहाँ उपन्यास होता है उसे दृष्टान्त अलंकार कहते हैं॥ ९४॥'

अर्थेति। विवक्षितेतरयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोरर्थविशेषयोर्मध्याद्यादृशो येन धर्मेण युक्तोऽर्थविशेषः पूर्वमादौ न्यस्तो भवेत्तादृशं तद्धर्मयुक्तमेव पुनस्तमर्थविशेषमन्यं यत्र वक्ता न्यस्येत्स दृष्टान्तो नामालंकारः। विशेषग्रहणमर्थान्तरन्यासादस्य भेदख्यापनार्थम्। तत्र हि सामान्यविशेषयोर्मध्यादेकमुपमानमन्यदुपमेयम्। इह तु द्वयमपि विशेषरूपमिति। उभयन्यासस्यास्मात्सत्सामान्यत्वादिविशेषः॥

अर्थेति। विवक्षित और अविवक्षित दो अर्थों में से जिस प्रकार का अर्थ-विशेष जिस धर्म से पहले न्यस्त हो वक्ता जब उसी प्रकार के उसी धर्म से युक्त उसी अन्य विशेष अर्थ का उपन्यास करे तो वहाँ दृष्टान्त नामक अलंकार होता है। विशेष का ग्रहण इसे अर्थान्तरन्यास से भिन्न बताने के लिये किया गया है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य और विशेष में एक उपमान और दूसरा उपमेय होता है। यहाँ दोनों ही अर्थ विशेष रूप होते हैं। उभयन्यास का इससे सामान्यत्व आदि विशेष है (अर्थात् उभयन्यास में दोनों अर्थ सामान्य रूप होते हैं यहाँ विशेष रूप)॥

विवक्षितोदाहरणमाह—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि सितांशोर्विकसति कुमुदं कुमुद्वत्याः॥ ९८॥

विवक्षित अर्थ का उदाहरण देते हैं—

'तुम्हारे दिखलाई पड़ते ही काम से जलकर उसका मन चञ्चल हो उठता है। कुमुदिनी का फूल चन्द्रमा के ही प्रकाश में खिलता है॥ ९५॥'

त्वयीति। अत्रार्थविशेषो नायिकामनोलक्षणः पूर्वं कान्तदर्शनान्निर्वृतिधर्मयुक्तो यादृशो निर्दिष्टः पुनस्तादृशमेव चन्द्रदर्शनात्कुमुदं विकासयुक्तमिति॥

त्वयीति। यहाँ नायिका के मनरूप विशेष अर्थ को प्रिय के दर्शन से शान्ति के धर्म से पहले युक्त बताया गया है पुनः उसी प्रकार के कुमुद को चन्द्र के दर्शन से विकासयुक्त बताया गया है॥

अविवक्षितोदाहरणम्—

लोकं लोलितकिसलयविषवनवातोऽपि मङ्क्षु मोहयति।
तापयतितरां तस्या हृदयं त्वद्गमनवार्तापि॥ ९६॥

अविवक्षित (अप्रस्तुत) का उदाहरण देते हैं—

'विषवन का भी पवन किसलयों को कँपाकर लोगों के चित्त को शीघ्र चुरा लेता है। तुम्हारे चले जाने की चर्चा भी उसके हृदय को अत्यधिक पीड़ा पहुँचाती है॥ ९६॥'

लोकमिति। अत्राप्राकरणिकस्य विषवनवातस्य मोहकत्वधर्मयुक्तस्य पूर्वमुपन्यासः। पश्चात्प्रस्तुतस्य तापकारित्वयुक्तस्य [गमनवृत्तस्य] अर्थवैधर्म्येण दृष्टान्तः कथं नोक्तः। असंभवादिति ब्रूमः। यत्र हि विशिष्टोऽर्थो विधर्मकश्च दृष्टान्तस्तादृशं लक्ष्यं न पश्यामः। दृश्यते चेत्तदा समुच्चय एव ज्ञेयः॥

लोकमिति। यहाँ मोहकत्व धर्म से युक्त अप्राकरणिक विषवन की वायु का पहले उपन्यास किया गया है तदनन्तर तापकारित्व युक्त प्रस्तुत गमन वृत्त का। अर्थवैधर्म्य के मुख से दृष्टान्त का व्याख्यान क्यों नहीं किया गया। उत्तर देते हैं—असंभव होने के कारण। जहाँ विशिष्ट अर्थ हो और विरुद्ध धर्म वाला दृष्टान्त हो ऐसा उदाहरण हमें नहीं मिला। यदि उदाहरण मिले भी तो इसे समुच्चय जानना चाहिए॥

अथ पूर्वम्--

यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य।
अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत्पूर्वम्॥ ९७॥

पूर्व—

'जहाँ एक ही प्रकार के जो दो अर्थ होते हैं उनमें समकाल में ही अथवा बाद में होने वाले विद्यमान अर्थ का जो पूर्व में ही उपन्यास किया जाता है उसे पूर्व अलंकार कहते हैं॥ ९७॥'

यत्रेति। यत्र द्वावर्थावुपमानोपमेयलक्षणावेकविधौ तुल्यकर्मकौ यौ जायेते भवतस्तयोर्मध्यादपूर्वस्य सह पश्चाद्भाविनो वार्थस्योपमेयस्य प्राक्पूर्वं भवतः सतोऽभिधानं क्रियेत तत्पूर्वं नामालंकारः॥

यत्रेति। जहाँ उपमान और उपमेय समान कर्म वाले दो अर्थ हों उन दोनों में अपूर्व एवं बाद में होने वाले उपमेय अर्थ का जब पहले ही हो जाने का कथन होता है तब पूर्व नामक अलंकार होता है॥

उदाहरणम्--

काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्वं वियोगिनीवदनम्।
गलदविरलसलिलभरं पश्चादुपजायते गगनम्॥ ९८॥

उदाहरण--

'वर्षा में मेघमाला से दशों दिशाओं के आच्छादित हो जाने पर निरन्तर टपकते हुये जल-प्रवाह से पहले वियोगिनी का मुख युक्त होता है और बाद में आकाश॥ ९८॥'

काल इति। अत्रार्थौ गगनवदनलक्षणौ। तत्र वदनमुपमेयम्। तच्च गगनसमकालं पश्चाद्वा गलत्सलिलभरं भवति। अथ च विरहासहत्वप्रतिपादनार्थं प्रागुक्तम्॥

काल इति। यहाँ गगन और मुख दो अर्थ हैं। उनमें मुख उपमेय है। वह आकाश के साथ अथवा उसके पश्चात् टपकते हुये जल से युक्त होता है। किन्तु

विरह के असहत्व का प्रतिपादन करने के लिये (उसे) पहले (जलार्द्र हो जाना) बताया गया ॥

अथ सहोक्तिः—

सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धदूराधिकक्रियो योऽर्थः ।
तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्यः समं तेन ॥ ९९ ॥

सहोक्ति (का लक्षण करते है)--

'जहाँ जो अर्थ प्रसिद्ध और अधिक व्यापार वाला होता है उसके तुल्य व्यापार वाले अन्य अर्थ का जहाँ कथन किया जाता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है ॥ ९९ ॥'

सेति । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण सा सहोक्तिर्नामालंकारः । यस्यां प्रसिद्धा दूरमतिशयेनाधिका क्रिया यस्य स तथाविध उपमानलक्षणो योऽर्थस्तेन सार्धमन्य उपमेयार्थस्तस्योपमानस्य समानक्रिय इत्यमुना प्रकारेण कथ्येत इति । अथ वास्तवसहोक्तेरस्याश्च को विशेषः । उच्यते—तत्र कार्यकारणभाव औपम्याभावश्च समस्ति । अस्यां तु तद्विपर्ययः ॥

सेति । सहोक्ति का लक्षण आगे बताया जा रहा है । जिसमें प्रसिद्ध एवं अत्यधिक क्रिया व्यापार वाले उपमान के साथ उपमेय को समान क्रिया-व्यापार वाला बताया जाता है वहाँ सहोक्ति होती है । इस सहोक्ति और वास्तवमूलक सहोक्ति में क्या भेद है—? उत्तर देते हैं—वास्तव मूलक सहोक्ति में कार्यकारण-भाव होता है तथा औपम्य का अभाव होता है । इस (सहोक्ति इसका) उलटा होता है ॥

उदाहरणमाह—

मधुपानोद्धतमधुकरमदकलकलकण्ठदीपितोत्कण्ठाः ।
सपदि मधौ निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः॥१००॥

उदाहरण देते हैं—

'मदिरा पान के कारण मतवाले भ्रमरों के गुञ्जन और कोकिलों के द्वारा उद्दीपित उत्कण्ठाओं वाले ये पथिक वसन्त में मनके साथ शीघ्रातिशीघ्र अपने घर लौट रहे हैं ॥ १०० ॥'

मधुपानेति । अत्रोपमानं मनः शीघ्रगमनक्रियया दूराधिकमपि पथिकैः सह समानक्रियमुक्तम् ॥

मधुपानेति । यहाँ शीघ्र गमन क्रिया के द्वारा उपमान मन अत्यधिक व्यापार वाला होकर भी पथिकों के साथ समान क्रिया वाला कहा गया है ॥

भेदान्तरमाह--

यत्रैककर्तृका स्यादनेककर्माश्रिता क्रिया तत्र ।
कथ्येतापरसहितं कर्मैकं सेयमन्या स्यात् ॥ १०१ ॥

और भेद बताते हैं—

'जहाँ एककर्तृका क्रिया अनेक कर्मों के आश्रित होती है और एक प्रधान कर्म (उपमेय) अन्य उपमान कर्मों के साथ कहा जाता है वहाँ सहोक्ति अलंकार का दूसरा प्रकार होता है ॥ १०१ ॥'

यत्रेति । यत्रैककर्तृकानेककर्माश्रिता क्रिया भवति, तत्र चैकं प्रधानमुपमेयाख्यं कर्मापरेण कर्मणोपमानेन सहोच्यते सेयमन्या पुनः सहोक्तिः ॥

यत्रेति। 'जहाँ एककर्तृका क्रिया अनेक कर्मों के आश्रित होती है और उनमें एक प्रधान उपमेय कर्म अन्य उपमान कर्म के साथ कहा जाता है वहाँ यह दूसरी सहोक्ति होती है ॥'

उदाहरणम्—

स त्वां बिभर्ति हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः सार्धम् ।
ननु कोपनेऽवकाशः कथमपरस्या भवेत्तत्र ॥ १०२ ॥

उदाहरण—

'अगणित गुरुकामनाओं के साथ वह तुम्हें हृदय में धारण करता है भला वहाँ कोप करने पर दूसरी के लिये स्थान कैसे मिल सकता है ॥ १०२ ॥'

स इति । अत्रैका क्रिया धारणलक्षणानेकं कर्म नायिकां मनोरथांश्चाश्रिता । तथैक एव नायकस्तस्यां कर्ता । प्रधानमेकं चात्र कर्म नायिकाख्यमुपमेयमपरैर्मनोरथैरुपमानैः सह कथितम् ॥

स इति । यहाँ धारणरूपा एक क्रिया अनेक कर्म नायिका और मनोरथों के आश्रित है । तथा एक ही नायक उसका कर्ता है । यहाँ उपमेय नायिका कर्म अन्य मनोरथ उपमानों के साथ कहा गया है ॥

अथ समुच्चयः--

सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः ।
अनिवादिर्द्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे ॥ १०३ ॥

समुच्चय (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ (उपमान या उपमेय रूप) अनेक अर्थ द्रव्य आदि विना 'इव' आदि उपमावाचक के उपयोग के उपमानोपमेयभाव के होने पर प्रयुक्त हों वहाँ समुच्चय नामक अलंकार होता है ॥ १०३ ॥'

स इति । सोऽयं समुच्चयो नामालंकारो यत्रानेकस्त्र्यादिकोऽर्थ उपमानोपमेयलक्षणो द्रव्यादिर्द्रव्यगुणक्रियाजातिरूप एकसामान्य एकेन साधारणेन धर्मेण युक्तः स्यादिति । उपमायाः समुच्चयत्वनिवृत्त्यर्थमाह—अनिवादिः । उपमायामिवादिशब्दप्रयोग इत्यर्थः । एवमपि रूपकत्वं स्यादित्यत आह—सत्युपमानोपमेयत्व इति । रूपके ह्यभेद एव हेतुभेदः । तयोरनेकग्रहणमत्र त्र्याद्यर्थपरिग्रहार्थम् । त्रिचतुराः पञ्चषा वा यत्रार्था निर्दिश्यन्ते स समुच्चयः शोभामावहतीति भावः ॥

स इति । जहाँ द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति रूप उपमानोपमेय रूप अनेक अर्थ एक साधारण धर्म से युक्त होते हैं वहाँ समुच्चय नामक अलंकार होता है। उपमा से समुच्चय को पृथक् करने के लिये कहते हैं—अनिवादिः । उपमा में इवादि शब्द का प्रयोग होता है। तथापि रूपक तो हो ही जायगा—इसके उत्तर में कहते हैं—सत्युपमानोपमेयत्वे। रूपक में अभेद ही भेद का हेतु है। उन दोनों में (भेद बताने के लिये) यहाँ अनेक का ग्रहण तीन आदि अर्थों के ग्रहण के लिये किया गया है। तीन, चार या पाँच अर्थ जहाँ निर्दिष्ट होते हैं वह समुच्चय अधिक चमत्कार उत्पन्न करता है—यह भाव है॥

उदाहरणम्—

जालेन सरसि मीना हिंस्रैरेणा वने च वागुरया ।
संसारे भूतसृजा स्नेहेन नराश्च बध्यन्ते ॥ १०४ ॥

उदाहरण—

'सरोवर में जाल से मछलियाँ, बहेलियों के द्वारा वन में जाल से मृग, और विधाता के द्वारा मनुष्य संसारमें प्रेम से बाँध दिये जाते हैं॥ १०४॥'

जालेनेति । अत्र जालादीनां करणानां सरःप्रमुखाणामधिकरणानां हिंस्रादीनां कर्तृणां बहूनामुपमानोपमेयभावे बन्धनमेकं सामान्यमिति ॥

अत्रेति । यहाँ जाल आदि करणों का, सरोवर आदि अधिकरणों का हिंसक आदि अनेक कर्ताओं का उपमानोपमेयभाव के होने पर बन्धन एक साधारण धर्म है॥

अथ साम्यम्—

अर्थक्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम् ।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम् ॥ १०५ ॥

साम्य (का लक्षण करते हैं)—

'साधारण रूप से विद्यमान गुण आदि के कारण रूप अर्थ व्यापार के कारण जहाँ उपमान और उपमेय में साम्य उक्त होता है वहाँ साम्य नामक अलंकार होता है॥ १०५॥'

अर्थक्रिययेति । तयोरुपमानोपमेययोर्यत्सामान्यं साधारणं गुणक्रिया-संस्थानादि तत्कारणं यस्यास्तया तथाविधयार्थक्रियया यत्रोपमानस्योपमेयसाम्यमिति तत्साम्यं भवेत् ॥

अर्थ क्रिययेति । उपमान और उपमेय में विद्यमान गुण, क्रिया, संस्थान आदि के कारण जहाँ उपमान का उपमेय से साम्य होता है वहाँ साम्य अलंकार होता है ॥

उदाहरणम्—

अभिसर रमणं किमिमां दिशमैन्द्रीमाकुलं विलोकयसि ।
शशिनः करोति कार्यं सकलं मुखमेव ते मुग्धे ॥ १०६ ॥

उदाहरण—

'हे मुग्धे प्रिय के साथ अभिसार करो । व्याकुल होकर इस प्राची दिशा को क्यों देख रही हो । तेरा मुख ही चन्द्रमा की सकल क्रियायों को सम्पादित कर रहा है ॥ १०६ ॥'

अभिसरेति । अत्र शश्युपमानं मुखमुपमेयम् , प्रकाश्यमर्थक्रियासामान्यं कान्तिमत्त्वं गुणः ॥

अभिसरेति । यहाँ चन्द्रमा उपमान है मुख उपमेय, प्रकाश्य अर्थ क्रिया सामान्य (और) कान्तिमत्त्व गुण ॥

भेदान्तरमाह—

सर्वाकारं यस्मिन्नुभयोरभिधातुमन्यथा साम्यम् ।
उपमेयोत्कर्षकरं कुर्वीत विशेषमन्यत्तत् ॥ १०७ ॥

अन्य भेद बताते हैं—

'जहाँ प्रकारान्तर से उपमान और उपमेय में सर्वात्मना साम्य प्रदर्शित करने के लिये उपमेय के उत्कर्ष-विधायक किसी विशेष का कवि उपन्यास करता है उसे साम्य का दूसरा भेद जानना चाहिये ॥ १०७ ॥'

सर्वाकारमिति । यस्मिन्नुपमेयोत्कर्षकराद्विशेषादन्यथा प्रकारान्तरेणोभयोरुपमानोपमेययोः सर्वाकारं सर्वात्मना साम्यमभिधातुमुपमेयोत्कर्षकरविशेषं कंचन कविः कुर्वीत तदन्यत्साम्यमलंकारः ॥

सर्वाकारमिति । जहाँ उपमेय के उत्कर्षकारी विशेषण से भिन्न प्रकार से उपमान और उपमेय का सर्वात्मना साम्य दिखलाने के लिये कवि किसी उपमेयगत वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करे वह (पूर्व से) विलक्षण साम्य अलंकार होता है ॥

उदाहरणम्—

मृगं मृगाङ्कः सहजं कलङ्कं बिभर्ति तस्यास्तु मुखं कदाचित् ।
आहार्यमेवं मृगनाभिपत्त्रमियानशेषेण तयोर्विशेषः ॥१०८॥

उदाहरण—

'चन्द्रमा तो सहज कलङ्कमृगको धारण करता है किन्तु उसका मुख तो कभी कभी आहार्य मृगनाभिपत्र को ही—यही इन दोनों में विशेष रूप से भेद है ॥ १०८ ॥'

मृगमिति । अत्राहार्यकादाचित्कमृगनाभिपत्त्ररूपकालंकारभणनविशेषेणोपमेयस्य मुखस्योत्कर्षः प्रतिपादितः । अन्यथा तु नयनाह्लादनादिगुणैः सर्वथा साम्यमुक्तमिति ॥

मृगमिति । यहाँ आहार्य औपाधिक मृगनाभिपत्र रूप अलंकार के वर्णन-विशेष से उपमेय के उत्कर्षका प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा नेत्राह्लादन आदि गुणों के द्वारा सर्वात्मना साम्य कहा ही गया है ॥

अथ स्मरणम्—

वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम् ।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ॥ १०९ ॥

स्मरण (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ किसी विशेषवस्तुको देखकर बोद्धा उसके सदृश कालान्तर में अनुभूत किसी अन्य वस्तु का स्मरण करता है वहाँ स्मरण अलङ्कार होता है ॥१०६॥'

वस्त्विति । अत्र प्रतिपत्ता विशिष्टं वस्तु किंचनावलोक्य कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरं स्मरति, अद एतत्स्मरणं नामालंकारः । अथ भ्रान्तिमतोऽस्य च को विशेषः । उच्यते—तत्रोपमानावगतिरेव नतूपमेयावगतिः । इह तूपमानस्मरणमात्रं न भ्रान्तिरिति ॥

वस्त्विति । जहां प्रतिपत्ता किसी विशिष्ट वस्तु को देखकर अतीत में अनुभूत अन्य वस्तु का स्मरण करता है वहाँ यह स्मरण नामक अलंकार होता है। भ्रान्तिमान् से इसका क्या भेद है ? इसे बताते हैं—वहाँ उपमान की ही प्रतीति होती है उपमेय की नहीं। यहाँ (स्मरण में) उपमान का स्मरण मात्र होता है भ्रान्ति नहीं ॥

उदाहरणम्—

तव भवने पश्यन्तः स्थूलस्थूलेन्द्रनीलमणिमालाः ।
भूभृन्नाथ मयूराः स्मरन्त्यमी कृष्णसर्पाणाम् ॥ ११० ॥

उदाहरण—

'हे राजराज ! तुम्हारे घर में मोटी मोटी इन्द्रनीलमणियों की मालाओं को देखकर इन मयूरों को कृष्ण सर्पों का स्मरण हो आता है ॥११०॥'

तवेति । अत्रेन्द्रनीलमणिमालादर्शनात्तत्सदृशं कृष्णसर्पाख्यं वस्त्वन्तरं मयूराः स्मरन्तीति लक्षणयोजना ॥

तवेति । यहाँ इन्द्रनील मणियों की माला को देखकर मयूर उसके सदृश वस्तु कृष्ण सर्प का स्मरण करने लगते हैं—इस प्रकार लक्षण योजना करनी चाहिए ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतोऽष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।

इसप्रकार नमि साधु रचित टिप्पणी से युक्त रुद्रट रचित काव्यालंकारका आठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ नवमोऽध्यायः

अथ क्रमप्राप्तमतिशयालंकारं वक्तुमाह—

यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति ।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥ १ ॥

अब क्रम आ जाने पर अतिशय अलंकार को बताने के लिये कहते हैं—

'जिस अलंकार में अर्थ और धर्म के नियम प्रसिद्धि के बाध के कारण कभी कभी कहीं लोक के प्रतिकूल विपरीत होता है उसे उस नियम का अतिशय कहते हैं ॥ १ ॥'

यत्रेति । यत्रालंकारेऽर्थधर्मयोर्नियमो नियतं स्वरूपं विपर्ययमन्यथात्वं गच्छति । नियमश्चेत्कथं विपर्ययं यातीत्याह—प्रसिद्धेरुष्णं दहतीत्यादिकायाः ख्यातेर्यो बाधो बाधनं तस्माद्धेतोः । स इत्यनेन प्रकारेणातिशयो नामालंकारः स्यात् । ननु यदि नियमस्यान्यथात्वमतिशयस्तर्हि स नास्त्येव नियमस्यान्यथाभावादित्यत आह—कश्चित्क्वचिदिति । न सर्वः सर्वत्रेत्यर्थः । कथं विपर्ययं यातीत्याह—अतिलोकं लोकातिक्रान्तं यथा भवति । अत एवातिशयनामकत्वम् । तस्येत्युत्तरेण संबन्धः ॥

यत्रेति । जिस अलंकार में अर्थ और धर्म का नियम (अपने) नियत स्वरूप के विपरीत हो जाता है (वहाँ अतिशय अलंकार होता है) । यदि नियम ही है तो विपरीत कैसे हो जाता है इसे बताते हैं—'गरम जलाता है' आदि प्रसिद्धि के बाध के कारण । इस प्रकार से वह अतिशय नामक अलंकार होता है । शङ्का होती है कि यदि नियम का अन्यथात्व ही है तो वह अतिशय नहीं है । क्यों कि नियम अन्यथा हो ही नहीं सकता' इसके उत्तर में कहते हैं—'कोई (नियम) कहीं (अन्यथा हो जाता है) । सभी सर्वत्र नहीं । कैसे विपरीत हो जाता है इसे बताते हैं—(वह नियम) लोकातिक्रान्त (लोक का अतिक्रमण) कर जाता है । अतएव उसका अतिशय नाम पड़ा । 'तस्य' का उत्तर (कारिका द्वितीय) से संबन्ध है ॥

अथ सामान्यस्यैव विशेषानाह—

पूर्वविशेषोत्प्रेक्षाविभावनातद्गुणाधिकविरोधाः ।
विषमासंगतिपिहितव्याघाताहेतवो भेदाः ॥ २ ॥

अब सामान्य के ही भेद बताते हैं—

'उसके 'पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, अतद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, विहित, व्याघात और अहेतु ये बारह भेद होते हैं ॥ २ ॥'

पूर्वेति । एते तस्य पूर्वादयो द्वादश भेदाः ॥

पूर्वेति । उस (अतिशय) के पूर्व आदि ये बारह (गिनाये गये) भेद होते हैं ॥

तत्र पूर्वस्य तावल्लक्षणमाह—

यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य ।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्भवेत्पूर्वम् ॥ ३ ॥

उनमें सर्वप्रथम पूर्व का लक्षण करते हैं—

'जहाँ (कार्य के) अत्यन्त प्रबल होने के कारण कार्य की उत्पत्ति पहले और कारण की बाद में कही जाती है वहाँ पूर्व नामक अलंकार होता है ॥ ३ ॥'

यत्रेति । यत्र प्रागेव जन्यस्य कार्यस्य प्रादुर्भावो विवक्ष्यते जनकस्य तु कारणस्य पश्चात्तत्पूर्वं नामालंकारः । विवक्षापि कथं तथा भवतीत्याह—अतिप्रबलतया [हेतुभूतया । तत्र जनकव्यापारं विना जन्योत्पत्तिरिति जन्यस्यातिप्रबलता ।] जन्यं जनयित्वा स्वयमुत्पद्यत इति जनकस्याप्रबलता । विवक्ष्यत इत्यनेन विवक्षामात्रमेतन्न परमार्थत इति सूचयति ॥

यत्रेति । जहाँ जन्य कार्य की उत्पत्ति पहले ही विवक्षित होती है और जनक कारण की बाद में वहाँ पूर्व नामक अलंकार होता है । फिर ऐसी विवक्षा क्यों होती है—इसे बताते हैं—अत्यन्त प्रबल होने के कारण। [उसमें कारण व्यापार के विना ही कार्यव्यापार की उत्पत्ति हो जाती है । अतएव कार्य अत्यन्त प्रबल होता है ।] कार्य को उत्पन्न करने के बाद स्वयं उत्पन्न होता है । अतएव कारण दुर्बल होता है । (कारिका के) 'विवक्ष्यते' पद से सूचित होता है कि इसमें कवि की विवक्षा मात्र होती है वस्तुगत सत्य नहीं ॥

उदाहरणम्—

जनमसुलभमभिलषतामादौ दन्दह्यते मनो यूनाम् ।
गुरुरनिवारप्रसरः पश्चान्मदनानलो ज्वलति ॥ ४ ॥

उदाहरण—'अप्राप्यजन को चाहते हुए तरुणों का मन तो पहले ही जल जाता है प्रबल अनिवारणीयवेग वाला कामाग्नि बादमें जलता है ॥ ४ ॥'

जनमिति । अत्र दाहः कार्यं पूर्वं जातम् , मदनाग्निज्वलनं तु दाहकारणं पश्चादिति विशेषलक्षणम् । ज्वलितोऽग्निर्दहतीत्येवंविधश्च योऽर्थ-

धर्मनियमः स क्वचिदेव कामिनि विपर्ययं यात इतीदं सामान्यलक्षणम्। अत्र चातिप्रबलत्वं हेतुः॥

जनमिति। यहां दाहरूप कार्य पहले ही हो गया और दाह के कारण कामाग्नि के जलने का कार्य बाद में--यह विशेष लक्षण हुआ। 'जली हुयी अग्नि जला डालती है' यह जो अर्थ और धर्म का नियम है वह कहीं कामी में ही विपरीत होता है यह सामान्य लक्षण है। इसमें कार्य का अतिप्रबल होना हेतु है॥

अथ विशेषमाह—

किंचिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्।
तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति॥५॥

अब विशेष का लक्षण करते हैं--'जहाँ आधार के विद्यमान होने पर भी किसी वस्तु को निराधार बताया जाता है—वहाँ इस प्रकार से देखी गयी वस्तु के इस कथन को विशेष अलंकार जानना चाहिए॥५॥

किंचिदिति। यस्मिन्नलंकारे किंचिद्वस्त्ववश्याधेयमिति विद्यमानाधारमेव सन्निराधारमित्यभिधीयते स इत्यनेन प्रकारेण विशेषनामालंकारो ज्ञेयः। ननु तथाभूतस्यान्यथाकथनं दोष एव स्यान्न त्वलंकार इत्याह—तादृगुपलभ्यमानमिति। तथा दर्शनान्न किंचिदनुपपन्नमित्यर्थः। वस्त्वन्तरेभ्यो विशिष्टधर्माभिधानाद्विशेषसंज्ञा॥

किंचिदिति। जिस अलंकार में किसी साधार वस्तु को भी निराधार बताया जाता है उसे विशेष अलंकार कहते हैं। शङ्का होती है कि 'साधार वस्तु को निराधार कहने में तो दोष ही होगा अलङ्कार नहीं' इसका उत्तर देते हैं--तादृगुपलभ्यमानमिति। (उस वस्तु के लोक में) उसी प्रकार (निराधार रूप में) दिखलाई पड़ने के कारण कोई दोष नहीं होगा। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विशिष्ट धर्म का अभिधान होने के कारण (अलंकार को) विशेष संज्ञा दी गयी है॥

उदाहरणम्—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः॥६॥

उदाहरण—'स्वर्ग लोक में भी चले जाने पर जिनकी वाणी सृष्टि-पर्यन्त लोकों को आनन्दित करती है अपरिमेय गुण वाले वे कवि भला कैसे वन्दनीय नहीं हैं (अर्थात् वन्दनीय ही हैं)॥६॥'

दिवमिति। अत्र गिर आधेयाः। प्राण्याश्रितत्वात्। अथ च विनापि कविभिराधारै रमयन्तीत्युपलब्ध्या कथितम्॥

दिवमिति। प्राणियों के आश्रित होने के कारण वाणी यहाँ आधेय है और वह आधार कवियों के विना भी (लोक को) आनन्दित करती है (ऐसी लोक में) उपलब्धि होने के कारण (निराधार) कही गयी है ॥

प्रकारान्तरमाह—

यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया।

युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद्विशेष इति ॥ ७ ॥

और भी प्रकार बताते हैं—'जहाँ एक वस्तु अनेक आधारों में एक साथ विद्यमान बतायी जाय वहाँ विशेष का यह दूसरा ही प्रकार जानना चाहिए ॥७॥

यत्रेति। यत्रानेकस्मिंस्त्र्यादिक आधारे वस्तु सत्तया कथ्यते सोऽत्रान्यः प्रकारान्तरेण विशेष इति। कदाचिद्वस्त्वप्यनेकं स्यात्तत्रातिशयत्वमित्यत आह—एकमिति। एकमपि पर्यायेणानेकत्र तिष्ठत्येवेति न विशेष इत्याह—युगपदित्यादि ॥

यत्रेति। जहाँ एक वस्तु अनेक (दो से अधिक) आधारों में विद्यमान कही जाती है वह अन्य ही विशेष का प्रकार होता है। कदाचित् वस्तु भी अनेक हों, वहाँ भी अतिशय होगा इसके उत्तर में कहते हैं—एकमिति। एक ही (वस्तु होने पर अतिशय होगा)। 'एक भी वस्तु क्रमशः अनेक वस्तुओं में हो सकती है वह विशेष नहीं होगा' इसे बताते हैं—(उस वस्तु) समकाल में ही (सब आधारों में विद्यमान होने पर) विशेष अलंकार होगा) ॥

उदाहरणम्—

हृदये चक्षुषि वाचि च तव सैवाभिनवयौवना वसति।

वयमत्र निरवकाशा विरम कृतं पादपतनेन ॥ ८ ॥

उदाहरण—'हृदय में, नेत्र में और तुम्हारी वाणी में, वही अभिनवयौवना (सदैव) निवास करती है—हम लोगों के लिये इनमें अवकाश नहीं है। रहने दो, पैरों पर पड़ना व्यर्थ है ॥ ८ ॥

हृदय इति। अत्रैका तरुणी युगपदनेकस्मिन्नाधारे हृदयादिके वसन्ती कथिता अत एव परस्या निरवकाशत्वम् ॥

हृदय इति। यह एक ही तरुणी समकाल में ही हृदय आदि अनेक आधारों में विद्यमान कही गयी है; अतएव दूसरी के लिये अवकाश ही नहीं है ॥

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यत्रान्यत्कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत।

कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः ॥ ९ ॥

और भी भेद बताते हैं—'जहाँ एककार्य करता हुआ भी करने में असंभव भी दूसरा कार्य कर्ता कर डाले विशेषालंकार का उसे दूसरा प्रकार समझना चाहिए ॥ ९ ॥

यत्रेति । असावन्यो विशेषो ज्ञेयः, यत्र कर्तान्यत्कर्म कुर्वाणः सन्कर्मान्तरं कुर्वीत । पर्यायेणान्यदपि करिष्यति कोऽतिशय इत्यत आह—युगपत्सम्कालमिति । एवमपि हसन्पठतीत्यादिवद्भविष्यति तत्किमत्रातिशयत्वमित्याह—कर्तुमशक्यमिति । अशक्यक्रियान्तरकरणादतिशय इत्यर्थः ॥

यत्रेति । जहाँ कर्ता एक कार्य करता हुआ दूसरा कार्य कर डाले उसे विशेष का अन्य प्रकार समझना चाहिए । क्रमशः दूसरा भी कार्य कर लेगा' इसमें अतिशय क्या है—इसे बताते हैं--'समकाल में ही (दूसरा कार्य करने पर विशेष होता है)। ऐसा मान लेने पर भी 'हंसता हुआ पढ़ता है' आदि की भाँति शक्य हो जायगा फिर उसमें अतिशय क्या होगा' इसके उत्तर में कहते हैं—(वह दूसरा कार्य) करने में अशक्य होता है । अशक्य दूसरी क्रिया के करने के कारण अतिशय होता है यह अर्थ है ॥

उदाहरणम्—

लिखितं बालमृगाक्ष्या मम मनसि तया शरीरमात्मीयम् ।
स्फुटमात्मनो लिखन्त्या तिलकं विमले कपोलतले ॥१०॥

उदाहरण--

'अपने स्वच्छ कपोल तल पर तिलक रचना करती हुयी उस मृगशावाक्षि ने निश्चय ही मेरे मन पर अपनी काया लिख गयी ॥ १० ॥'

लिखितमिति । अत्र नायिकया कर्त्र्या निजकपोले तिलकलेखनं कुर्वाणया तदैव कर्तुमशक्यं नायकचित्ते शरीरलेखनलक्षणं कर्मान्तरं कृतम् ॥

लिखितमिति । यहाँ कर्त्री नायिकाने अपने कपोल पर तिलक लिखते हुये नायक के चित्त में करने में अशक्य शरीर लेखन रूप अन्य कर्म कर डाला है ॥

अथोत्प्रेक्षा—

यत्रातितथाभूते संभाव्येते क्रियाद्यसंभाव्यम् ।
संभूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ॥ ११ ॥

उत्प्रेक्षा—'जहाँ क्रिया आदि की संभावना के अस्थान वस्तु में भी असंभव क्रिया आदि की संभावना की जाय अथवा क्रिया आदि से शून्य वस्तु में भी क्रिया आदि की उत्प्रेक्षा की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है ॥ ११ ॥

यत्रेति । यत्रासंभाव्यं क्रियादिकं वस्तुनि क्वापि संभाव्यते सेयमुत्प्रेक्षा । यद्यत्र न संभवति कथं तत्र संभावनेत्याह—अतितथाभूत इति। अतिशयेन तथाभूते । तथात्वमसंभाव्यसंभावनायोग्यं प्रकारं प्राप्त इत्यर्थः । प्रकारान्तरमाह—संभूतमतद्वति वेति । यत्र वा वस्तुन्यतद्वत्यविद्यमानतत्क्रियादिकेऽप्यसंभाव्यं क्रियादि तथाभूतत्वात्संभूतमेवोच्येत सान्योत्प्रेक्षा ॥

यत्रेति । जहाँ किसी वस्तु में असंभाव्य क्रिया आदि की संभावना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षा होती है । यदि इस (वस्तु) में वह (क्रियादि) संभव ही नहीं है तो उसकी संभावना कैसे की जाती है—इसे बताते हैं—अतितथाभूत इति । अत्यधिक रूप में वैसा हो जाने पर अर्थात् वैसी असंभाव्य संभावना के योग्य हो जाने पर । और भी प्रकार बताते हैं—संभूतमतद्वति वेति । अथवा जिस वस्तु में क्रिया आदि के अविद्यमान होने पर भी असंभाव्य क्रिया आदि तथाभूत होने के कारण संभूत (विद्यमान) कही जाती हैं वह दूसरी ही उत्प्रेक्षा होती है ॥

प्रथमोदाहरणमाह—

घनसमयसलिलधौते नभसि शरच्चन्द्रिका विसर्पन्ती ।
अतिसान्द्रतयेह नृणां गात्राण्यनुलिम्पतीवेयम् ॥ १२ ॥

प्रथमाका उदाहरण देते हैं–'वर्षा के जल से प्रच्छालित आकाश में फैलती हुयी यह चाँदनी लोगों के शरीर में अनुलेप सा कर रही है ॥ १२ ॥'

घनेति । अत्र चन्द्रिकाया अनुलेपनमसंभाव्यमेव संभावितमनुलिम्पतीवेति । नैर्मल्यान्नभसः, घनत्वेन च तस्यास्तथाभूतत्वम् ॥

घनेति । यहाँ चन्द्रिका का असंभाव्य अनुलेपन 'अनुलेप सा कर रही है' कह कर संभावित किया गया है । आकाश के निर्मल होने के कारण और उस (चन्द्रिका) के सान्द्र होने के कारण ऐसी संभावना की गयी है ॥

द्वितीयोदाहरणमाह—

पल्लवितं चन्द्रकरैरखिलं नीलाश्मकुट्टिमोर्वीषु ।
ताराप्रतिमाभिरिदं पुष्पितमवनीपतेः सौधम् ॥ १३ ॥

दूसरी उत्प्रेक्षा का उदाहरण—'नीलम खचित पृथ्वी पर यह समूचा राजप्रासाद चन्द्रमा की किरणों से पल्लवित और ताराओं की प्रतिमा से पुष्पित (सा) हो गया ॥ १३ ॥'

पल्लवितमिति । अत्र सौधाख्ये वस्तुन्यपल्लवितेऽपुष्पिते च चन्द्रतारकाप्रतिबिम्बसंपर्कात्तद्योग्ये सत्यसंभाव्यमपि पल्लवितत्वं पुष्पितत्वं च संभूतं कथितम् । इवार्थश्च सामर्थ्याद्गम्यते ॥

पल्लवितमिति । यहाँ पल्लव और पुष्प के सौध में अभाव होने पर भी चन्द्रमा और ताराओं के प्रतिबिम्ब के संपर्क के कारण असंभाव्य भी पल्लवितत्व और पुष्पितत्व (उस सौध में) संभूत (विद्यमान) कहे गये हैं । इव (उत्प्रेक्षा वाचक) का अर्थ सामर्थ्य बल से जाना जाता है ॥

प्रकारान्तरमाह—

अन्यनिमित्तवशाद्यद्यथा भवेद्वस्तु तस्य तु तथात्वे ।
हेत्वन्तरमतदीयं यत्रारोप्येत सान्येयम् ॥ १४ ॥

और भी प्रकार बताते हैं—'जब किसी अन्य कारण से वस्तु जिस रूप में घटती है उसके उस प्रकार से घटित होने में जो वस्तु का अपना कारण नहीं है ऐसे अन्य कारण का जिसमें आरोप किया जाता है ऐसी उत्प्रेक्षा पूर्वोक्त भेदों से विलक्षण होती है ॥ १४ ॥'

अन्येति । सेयमन्योत्प्रेक्षा यस्यां तद्वस्त्वन्यनिमित्तवशात्कारणाद्यथा येन रूपेण भवति तस्य वस्तुनस्तथा भवने तत्स्वरूपतोत्पत्तौ कारणान्तरमतदीयं यत्तस्य सक्तं न भवति तदारोप्येतेति ॥

अन्येति । जहाँ जो वस्तु अन्य निमित्त से जिस स्वरूप में होती है उस वस्तु के उस स्वरूप से उत्पन्न होने में जो अन्यथा कारण जो उसका कारण नहीं है–का आरोप किया जाता है वहाँ यह वर्ण्यमान उत्प्रेक्षा पूर्व से विलक्षण होती है ॥

उदाहरणम्—

सरसि समुल्लसदम्भसि कादम्बवियोगदूयमानेव ।
नलिनी जलप्रवेशं चकार वर्षागमे सद्यः ॥ १५ ॥

उदाहरण—'वर्षा के आगमन पर हंसों के वियोग से पीडित हुयी सी कमलिनी शीघ्र ही बढ़ते हुये जलवाले सरोवर में जल प्रवेश कर गयी ॥ १५ ॥

सरसीति । अत्र नलिन्या जलप्रवेशे निजं जलोल्लासाख्यं कारणं विमुच्य हंसवियोगाख्यं हेत्वन्तरमारोपितम् । या किलान्यापीष्टेन वियुज्यते सा प्रायो जलप्रवेशादि कुरुते ॥

सरसीति । यहाँ नलिनी के जल-प्रवेश में (उसके) स्वकीय जलोल्लास रूप कारण को छोड़कर हंसवियोग रूप (अतदीय) अन्य कारण का आरोप किया गया है । (लोक में) और कोई दूसरा भी जो (अपने) प्रिय से वियुक्त होता है प्रायः जल-प्रवेश आदि करता है ॥

अथ विभावना—

सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।
अभिधीयते यतः स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव ॥ १६ ॥

विभावना—'जिसमें लोक में विवक्षित अर्थ जिस कारण से घटित होता है उस कारण के विना भी घटित होता बताया जाता है वहाँ विभावना नामक अलंकार होता है ॥ १६ ॥'

सेति। सेयमेषा विभावना, यस्यामभिधेयः पदार्थो यतः कारणान्निजाद्धेतोर्भवति स पदार्थस्तत्कारणमन्तरेणाप्यभिधीयत इति। ननु तत्कारणं चेत्कथं तद्विनोत्पत्तिरित्याह—उपलभ्यमानं दृश्यमानमिति। अत एवातिशयत्वमिति ॥

सेति। जहाँ अभिधेय पदार्थ अपने जिस कारण से घटित होता है उस कारण के विना भी घटित बताया जाता है वहाँ यह विभावना होती है। शङ्का होती है कि यदि (वह वस्तु) सकारण होती है तो अकारण ही कैसे घटित होती है, इसके उत्तर में कहते हैं—(ऐसा लोक में) घटित होता देखा गया है। यही इसमें अतिशय है ॥

उदाहरणम्—

निहतातुलतिमिरभरः स्फारस्फुरदुरुतरप्रभाप्रसरः।
शं वो दिनकृद्दिश्यादतैलपूरो जगद्दीपः ॥ १७ ॥

उदाहरण—'अपरिमेय अन्धकार को नष्ट करने वाले, सुविस्तृत चमकती हुयी दीर्घ आलोक के वेग वाले, विना तैल की धारा के जगत् के दीपक स्वरूप सूर्य आप लोगों का कल्याण करें ॥ १७ ॥

अत्राभिधेयं दीपलक्षणं यतः कारणात्तैलाख्याद्भवति तद्विनापि कथितमतैलपूर इति। अत्र च दीप इव दीप इति सत्यपि रूपकत्वेऽतैलपूर इति विभावनाविभागः ॥

यहाँ अभिधेय दीप तैल रूप जिस कारण से उत्पन्न होता है उसके अभाव में भी अतैल पूर (विना तैल की धारवाला) कहा गया है। यहाँ 'दीप के समान दीप' इस प्रकार रूपक के स्पष्ट होने पर भी 'विना तैल की धार वाला' कथन करने से (अकारण कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से) विभावना का क्षेत्र सुस्पष्ट है ॥

प्रकारान्तरमाह—

यस्यां तथा विकारस्तत्कारणमन्तरेण सुव्यक्तः।
प्रभवति वस्तुविशेषे विभावना सेयमन्या तु ॥ १८ ॥

और भी प्रकार बताते हैं—'जिस विभावना में किसी वस्तु में कोई विकार अपने कारण के विना भी प्रकट रूप में उत्पन्न होता है वह पूर्वोक्त भेद से भिन्न विभावना होती है ॥ १८ ॥

यस्यामिति । सेयमेषान्या विभावना, यस्यां तथेति यतः कारणाद्विकारः कश्चिद्वस्तुनि प्रभवति तत्कारणमन्तरेणापि सुव्यक्तः प्रकटः स विकारः कथ्यत इति ॥

यस्यामिति । जिस वस्तु में जिस कारण से कोई विकार किसी वस्तु में उत्पन्न होता है उस कारण के विना भी वह विकार सुव्यक्त कहा जाता है—तब यह पूर्व से विलक्षण विभावना होती है ॥

टि०—प्रथम विभावना में स्वकारण के विना कोई वस्तु घटित होती है और द्वितीय में कारण के विना वस्तुगत विकार-यही दोनों में भेद है ॥

उदाहरणम्—

जाता ते सखि सांप्रतमश्रमपरिमन्थरा गतिः किमियम् ।
कस्मादभवदकस्मादियममधुमदालसा दृष्टिः ॥ १९ ॥

उदाहरण—'हे सखि ! अभी अभी यह तुम्हारी गति विना परिश्रम के ही क्यों मन्दरो हो गयी; और क्या कारण है कि अचानक यह दृष्टि विना मदिरा के मदके ही अलसा गयी ॥ १९ ॥

जातेति । अत्र गतिदृष्टिलक्षणे वस्तुविशेषे मन्थरत्वालसत्वलक्षणो विकारो यतः कारणाच्छ्रममधुमदलक्षणाद्भवति तेन विनैवोक्तः । अथ पूर्वतोऽस्याः को विशेषः । उच्यते—पूर्वत्राभिधेयं कारणमन्तरेणोक्तमिह तु विकार इति ॥

जातेति । यहाँ गति और दृष्टिरूप वस्तुविशेष में मन्थरत्व और अलसत्वरूप विकार परिश्रम और मदिरा के मदरूप जिन कारणों से होते हैं उनके विना ही कहे गये हैं । फिर पूर्व से इसका क्या भेद है । उत्तर देते हैं—पूर्वत्र कारण के विना अभिधेय कहा गया है और यहाँ विकार ॥

भूयोऽपि भेदान्तरमाह—

यस्य यथात्वं लोके प्रसिद्धमर्थस्य विद्यते तस्मात् ।
अन्यस्यापि तथात्वं यस्यामुच्येत सान्येयम् ॥ २० ॥

और भी भेद बताते हैं—

'जिस वस्तु का लोक में जो स्वरूप प्रसिद्ध है उस वस्तु से भिन्न वस्तु का भी वही स्वरूप जिसमें कहा जाय वह पूर्वोक्त भेदों से भिन्न विभावना होती है ॥ २० ॥'

यस्येति । यस्यार्थस्य यथात्वं यादृग्धर्मत्वं लोके प्रसिद्धं ततोऽर्थादन्यस्यापि तथात्वं तादृग्धर्मता कथ्यते सेयमन्या विभावना ॥

यस्येति। जिस अर्थ का लोक में जो स्वरूप प्रसिद्ध है उस अर्थ से भिन्न अर्थ के भी वही स्वरूप दिखाने में पूर्व से विलक्षण यह दूसरी ही विभावना होती है ॥

उदाहरणम्—

स्फुटमपरं निद्रायाः सरसमचैतन्यकारणं पुंसाम् ।
अपटलमान्ध्यनिमित्तं मदहेतुरनासवो लक्ष्मीः ॥ २१ ॥

उदाहरण—

'स्पष्ट ही पुरुषों के पागलपन का निद्रा से भिन्न सरस कारण, विना पटल के ही अन्धेपन का निमित्त और विना मदिरा के ही मद का हेतु लक्ष्मी है ॥२१॥

स्फुटमिति । अत्राचैतन्यनिमित्तत्वं निद्रायाः प्रसिद्धम् । आन्ध्यहेतुत्वं पटलस्य । मदकारणत्वमासवस्य । अथ चान्यस्यार्थस्य लक्ष्मीलक्षणस्योक्तमिति ॥

स्फुटमिति । यहाँ निद्रा का अचैतन्य का कारण होना प्रसिद्ध है (इसी प्रकार) पटल का अन्धा होने का हेतु और मदिरा का मद का कारण होना । उसे लक्ष्मी रूप अन्य अर्थ का बताया गया है ।

अथ तद्गुणः—

यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ॥ २२ ॥

तद्गुण (का लक्षण करते हैं)—

'जिस अलंकार में अपने स्वरूप को प्राप्त होने पर ज्ञात होने वाले रूप आदि गुणों वाले (अन्य पदार्थों से) संसर्ग होने पर समान गुण वाले पदार्थों का पार्थक्य नहीं सूचित होता है उसे तद्गुण अलंकार कहते हैं ॥ २२ ॥'

यस्मिन्निति । यत्राभिन्नगुणानामर्थानां संबन्धे सति नानात्वं भेदो न लक्ष्यत इत्युच्यते स तद्गुणो नामालंकारः स्यात् । स एव गुणो यत्रेति कृत्वा । ननु दुग्धतक्रादीनां संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यत एव तत्किमतिशयत्वमित्याह—योगलक्ष्यरूपाणामिति । यत्र योगे सति रूपं लक्षयितुं शक्यमथवा लक्ष्यमिति कथ्यत इत्यर्थः ॥

यस्मिन्निति । जहाँ 'समान गुण वाले अर्थों में संबन्ध होने पर भेद नहीं लक्षित होता है' यह कहा जाता है वहाँ तद्गुण नामक अलंकार होता है । (तद्गुण का अर्थ होगा) वही गुण है जिसमें । सन्देह होता है कि दूध, मट्ठे आदि में भी संसर्ग होने पर पार्थक्य नहीं सूचित होता है, इसमें अतिशय क्या है—इसे बताते हैं—योगलक्ष्यरूपाणामिति । (अर्थात्) उन अर्थों का योग होने पर रूप लक्षित किया जा सकता है ॥

टि०—'योगलक्ष्यरूपाणाम्' इस समस्त पद में 'योगे सति रूपं लक्षयितुं शक्यम्' इतना कहकर नमि साधु छोड़ देते हैं। इससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता। तद्गुण अलंकार में एक वस्तु अपने से उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण से आक्रान्त होने के कारण पृथक् नहीं प्रतीत होती। किन्तु वही वस्तु जब आक्रान्त नहीं होती तो अपने गुण के कारण अपने स्वरूप में पहचानी जा सकती है। इस प्रकार योग का अर्थ यहाँ पर 'अपने स्वरूप की प्राप्ति होने से'—इस अर्थ में करना चाहिए॥

उदाहरणम्—

नवधौतधवलवसनाश्चन्द्रिकया सान्द्रया तिरोगमिताः।
रमणभवनान्यशङ्कं सर्पन्त्यभिसारिकाः सपदि॥ २३॥

उदाहरण—

'नये धुले हुये स्वच्छ वस्त्र वाली निविड ज्योत्स्ना से अन्तर्हित हुयी अभिसारिकायें प्रिय के स्थान पर विना किसी परवाह के शीघ्र ही चली जाती हैं॥२३॥'

नवेति। अत्र ज्योत्स्नाभिसारिकालक्षणावर्थावेकेन सहजाहार्येण शुक्लगुणेन युक्तौ संसर्गे लक्ष्यरूपावप्यलक्ष्यतयोक्तौ॥

नवेति। यहाँ चन्द्रिका और अभिसारिका रूप अर्थ (क्रमशः) सहज और आहार्य एक-एक गुण से युक्त संसर्ग होने पर रूप के लक्ष्य होने पर अलक्ष्य कहे गये हैं॥

भेदान्तरमाह—

असमानगुणं यस्मिन्नतिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति॥ २४॥

अन्य भेद बताते हैं—

'जिस अलंकार में भिन्न गुण वाली वस्तु अत्यन्त उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु से संसृष्ट होकर उस (उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु) के गुण को ग्रहण कर लेती है वह पूर्व से विलक्षण तद्गुण अलंकार होता है॥ २४॥'

असमानेति। यत्र वस्तुनान्येन संसृष्टं वस्तु तद्गुणतां धत्ते तदीयगुणं भवतीति कथ्यते स इत्यन्यस्तद्गुणः। कदाचिदेकगुणता तयोर्भविष्यति, अतो नातिशयत्वमित्याह—अतिबहलगुणेनेति। अतिबहुगुणता तद्गुणत्वहेतुः क्रियत इत्यर्थः॥

असमानेति। अन्य वस्तु से संसृष्ट होकर वस्तु उसके गुण को धारण कर लेती है। ऐसा जहाँ कथन होता है वहाँ पूर्व से विलक्षण तद्गुण होता है। कदाचित् दोनों वस्तुओं में एक ही गुण हो अतः अतिशय नहीं होगा।' इसके

उत्तर में कहते हैं—(वह वस्तु) अत्यधिक गुण वाली (वस्तु) से (संसृष्ट होती) है। गुणाधिक्य ही तद्गुण का हेतु बनाया जाता है ॥

उदाहरणमाह—

कुब्जकमालापि कृता कार्तस्वरभास्वरे त्वया कण्ठे।
एतत्प्रभानुलिप्ता चम्पकदामभ्रमं कुरुते ॥ २५ ॥

उदाहरण देते हैं—

'सुनहली कान्ति वाले गले में तुमने कुब्जक की जो माला धारण की वह भी इस गले की प्रभा से संवलित होकर चम्पक की माला की भ्रान्ति उत्पन्न करती है ॥ २५ ॥'

कुब्जकमालेति। अत्र शुक्लगुणा कुब्जकमाला गौरवर्णकण्ठेन संपृक्ता गौरमेव वर्णं धत्ते ॥

कुब्जकमालेति। यहाँ शुक्ल गुण वाली कुब्जक की माला गौर वर्ण वाले कण्ठ से संपृक्त होकर गौर ही वर्ण धारण करती है ॥

अथाधिकम्—

यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत्क्रियाप्रसिद्धं वा।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥ २६ ॥

अधिक (का लक्षण)—

'जहाँ एक ही कारण से दो वस्तुयें उत्पन्न करें वहाँ अधिक अलंकार होता है। उसके दो भेद होते हैं :—१—जहाँ दोनों वस्तुयें परस्पर विरुद्ध हों और २—जहाँ दोनों वस्तुयें विरुद्ध बलवती क्रियायों वाली प्रसिद्ध हों ॥ २६ ॥'

यत्रेति। यत्रैकस्मात्कारणाद्वस्तुद्वयमुत्पद्यत इत्युच्यते तदधिकम्। किमेतावतातिशयत्वमित्याह—अन्योन्यविरुद्धम्। परस्परविरुद्धस्वभावमित्यर्थः। प्रकारान्तरमाह—विरुद्धाभ्यां बलवतीभ्यां क्रियाभ्यां प्रसिद्धं वा यत्रैकस्मात्कारणाद्वस्तुद्वयं जायते तदप्यधिकम् ॥

यत्रेति। जहाँ 'एक कारण से दो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं' ऐसा कहा जाता है उसे अधिक (अलंकार कहते हैं)। क्या इतने से ही अतिशय हो जाता है, इसे कहते हैं—अन्योन्यविरुद्धम्। (अर्थात् दोनों वस्तुयें) परस्पर विरुद्ध स्वभाव की होती हैं। दूसरा प्रकार बताते हैं—जहाँ एक ही कारण से बलवती दो क्रियाओं के द्वारा दो वस्तुयें उत्पन्न होती हैं वह भी अधिक होता है ॥

उदाहरणम्—

मुञ्चति वारि पयोदो ज्वलन्तमनलं च यत्तदाश्चर्यम्।
उदपद्यत नीरनिधेर्विषममृतं चेति तच्चित्रम् ॥ २७ ॥

उदाहरण—

'मेघ जो जल और जलती हुयी अग्नि को वर्षा करता है यह आश्चर्य है। सागर से विष और अमृत उत्पन्न हुये यह भी आश्चर्य है ॥ २७ ॥'

मुञ्चतीति। अत्र पूर्वार्धे एकस्मान्मेघाद्वस्तुद्वयं वारिज्वलनलक्षण विरुद्धं जायमानमुक्तम्। उत्तरार्धे त्वेकस्मात्समुद्राद्वस्तुद्वयं विषामृतलक्षण-मन्योन्यविरुद्धक्रियमुक्तम्। विषामृतयोर्हि न परस्परं विरोधः। किं तु मारणजीवनक्रिये विरुद्धे। इत्युदाहरणद्वयमेतत् ॥

मुञ्चतीति। यहाँ (श्लोक के) पूर्वार्ध में जल और ज्वलन रूप दो विरुद्ध वस्तुएँ एक (कारण) मेघ से उत्पन्न होती बतायी गयी हैं। उत्तरार्ध में विष और अमृत रूप परस्पर विरुद्ध व्यापारों वाली दो वस्तुयें एक (कारण) समुद्र से उत्पन्न बतायी गयी हैं विष और अमृत में परस्पर विरोध नहीं है। किन्तु दोनों की मारने और जीवित करने के क्रिया-व्यापार विरुद्ध हैं। इस प्रकार (अधिक के) ये दो उदाहरण हुये ॥

भेदान्तरमाह—

यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथंचित्तदधिकमपरं परिज्ञेयम् ॥ २८ ॥

अन्य भेद बताते हैं—

'जिस अलङ्कार में तुच्छ भी आधेय सुविशाल आधार में अवस्थित किसी प्रकार उस (आधार) को अतिक्रान्त कर जाय वहाँ अधिक अलंकार का दूसरा प्रकार होता है ॥ २८ ॥'

यत्रेति। यत्र सुमहत्यप्याधारेऽतिशयवत्यप्याधेयं वस्त्ववस्थितं कुतश्चित्कारणान्न माति तदपरमधिकं बोद्धव्यम् ॥

यत्रेति। जहाँ सुविशाल आधार में भी स्वल्प आधेय अवस्थित होकर किसी कारणवश नहीं समाता है। वह अधिक का दूसरा भेद होता है ॥

उदाहरणम्—

जगद्विशाले हृदि तस्य तन्वी प्रविश्य सास्ते स्म तथा यथा तत्।
पर्याप्तमासीदखिलं न तस्यास्तत्रावकाशस्तु कुतोऽपरस्याः॥२९॥

उदाहरण—

'संसार के समान विशाल उसके हृदय में वह कृशाङ्गी प्रवेश करके इस प्रकार निवास कर रही थी कि उसके लिये वह पर्याप्त नहीं था। भला दूसरी के लिये वहाँ कैसे अवकाश हो सकता है ॥ २९ ॥'

जगदिति । अत्र जगद्विस्तीर्णेऽपि हृदये आधारे तन्वीलक्षणमाधेयं स्वल्पमपि न माति । तस्यास्तत्रामानमनुरागाद्बहिरपि सर्वत्र दर्शनात् । तन्वीति साभिप्रायमत्र नाम ॥

जगदिति । यहाँ संसार के समान विस्तीर्ण भी आधार हृदय में तन्वी रूप स्वल्प भी आधेय नहीं समा रहा है । उसका वहाँ न समा सकना अनुराग के कारण बाहर भी सर्वत्र दिखलाई देने से उत्पन्न हो जाता है । 'तन्वी' यहाँ यह नाम साभिप्राय है ॥

अथ विरोधः—

यस्मिन्द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम् ।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥ ३० ॥

विरोध (का लक्षण करते हैं)—

'जिस अलङ्कार में परस्पर सर्वथा विरुद्ध द्रव्य आदि की समकाल में ही एक ही आधार में स्थिति दिखाई जाय उसे विरोध अलंकार कहते हैं ॥३०॥'

यस्मिन्निति । यत्र द्रव्यगुणक्रियाजातीनां विरुद्धानामेकत्राधारेऽवस्थानं भवति स विरोधः । परस्परमन्योन्यम् । न त्वाधारेण सह । तथा सर्वप्रकारं सजातीयैर्विजातीयैश्च सहेत्यर्थः । समकालमिति युगपत् । अत एवातिशयत्वं भवति ॥

यस्मिन्निति । जहाँ विरुद्ध द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति का एक आधार में अवस्थान होता है उसे विरोध अलंकार कहते हैं । परस्पर एक दूसरे से । न कि आधार के साथ । तथा सब प्रकार से—अर्थात् द्रव्य आदि सजातीय और विजातीय दोनों के साथ विरुद्ध हो सकते हैं । (यह) विरोध समकाल में ही—एक साथ ही होगा । इसी कारण अतिशय होता है ॥

एवं सर्वथा विरोधे सति कियन्तो भेदा इति तत्संख्यामाह—

अस्य सजातीयानां विधीयमानस्य सन्ति चत्वारः ।
भेदास्तन्नामानः पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार सर्वथा विरोध होने पर (उसके) कितने भेद होंगे—इसके लिये उसकी संख्यायें बताते हैं—

'जब सजातीयों (दो द्रव्यों में, दो गुणों में) में विरोध होता है तब इसके चार भेद उसी नाम से होते हैं (द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति विरोध) विजातीयों में विरोध होने पर पाँच भेद होते हैं (द्रव्य-गुण विरोध, द्रव्य-क्रिया विरोध, गुण-क्रिया विरोध, गुण-जाति विरोध और क्रिया-जाति विरोध ॥ ३१ ॥'

अस्येति। अस्य विरोधस्य सजातीयानां द्रव्यादीनां विधीयमानस्य चत्वारो भेदाः सन्ति। यथा द्रव्ययोर्विरोधो द्रव्यविरोधः। एवं गुणविरोधः क्रियाविरोधो जातिविरोधश्च। अत एव तन्नामानः। तथा तेभ्यः सजातीयेभ्योऽन्येषां विजातीयानां पुनर्विधीयमानस्य पञ्च भेदा भवन्ति यथा द्रव्यगुणयोर्द्रव्यक्रिययोर्गुणक्रिययोर्गुणजात्योः क्रियाजात्योश्चेति ॥

अस्येति। सजातीय द्रव्य आदि में किया गया यह विरोध चार प्रकारका होता है। जैसे दो द्रव्यों का विरोध द्रव्यविरोध; इसी प्रकार गुणविरोध, क्रियाविरोध और जातिविरोध। इस प्रकार वे अपने ही नाम वाले हैं। इसके अतिरिक्त सजातीयों से विजातीयों में विरोध पाँच प्रकार का होता है। जैसे—द्रव्य और गुण का, द्रव्य और क्रिया का, गुण और क्रिया का गुण और जाति का और क्रिया और जाति का।

ननु द्रव्यजात्योरपि षष्ठो भेदः समस्ति तत्कथं पञ्चेत्युक्तं तत्राह—

जातिद्रव्यविरोधो न संभवत्येव तेन न षडेते।
अन्ये तु वक्ष्यमाणाः सन्ति विरोधास्तु चत्वारः ॥ ३२ ॥

सन्देह होता है कि द्रव्य और जाति का भी छठाँ भेद होता है फिर पाँच ही क्यों माना, इसके उत्तर में कहते हैं—

'जाति और द्रव्य में विरोध नहीं हो सकता। अतः ये (विजातीय) छ प्रकार के नहीं होते हैं। आगे कहे जाने वाले विरोध चार प्रकार के और होते हैं ॥ ३२ ॥'

जातीति। नित्यमेव द्रव्याश्रितत्वाज्जातेर्न जातिद्रव्ययोर्विरोध इत्यर्थः। एवं नव भेदाः। तथात्रान्ये वक्ष्यमाणाश्चत्वारो विरोधाः सन्ति ॥

जातीति। जाति के नित्य द्रव्य के आश्रित होने के कारण जाति और द्रव्य का विरोध नहीं हो सकता है। इस प्रकार नव (पूर्वोक्त पाँच और सजातीय चार) भेद हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ आगे गिनाये गये चार विरोध और होते हैं ॥

तद्यथा—

यत्रावश्यंभावी ययोः सजातीययोर्भवेदेकः।
एकत्र विरोधवतोस्तयोरभावोऽयमन्यस्तु ॥ ३३ ॥

जैसे—

'जिस आधार में विरुद्ध सजातीय दो अर्थों में एक निश्चित होता है वहाँ यदि दोनों का अभाव कहा जाता है तो इस प्रकार (सजातीय अभाव के विरोध रूप चार प्रकार) पूर्वोक्त विरोध के भेदों से पृथक् होते हैं ॥ ३३ ॥

यत्रेति। यत्राधारे विरुद्धयोः सजातीययोरर्थयोर्मध्यादेकोऽवश्यंभावी निश्चितो भवति, तयोर्द्वयोरप्यभावो यत्र कथ्यते सोऽपरो विरोधश्चतुर्धा द्रव्यगुणक्रियाजातिभेदेन। इत्येवं त्रयोदशसंख्योऽयं विरोधालंकारः॥

यत्रेति। जहाँ दो विरुद्ध सजातीय पदार्थों में से एक निश्चित होता है, उन दोनों का ही अभाव जब कथित होता है तो द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के भेद से चार प्रकार का वह विरोध पूर्व भेदों से विलक्षण होता है॥

अथैषामेव यथाक्रममुदाहरणान्याह—

अत्रेन्द्रनीलभित्तिषु गुहासु शैले सदा सुवेलाख्ये।
अन्योन्यानभिभूते तेजस्तमसी प्रवर्तेते॥ ३४॥

अब इनका क्रमशः उदाहरण देते हैं—

'यहाँ सुवेल नामक पर्वत पर नीलम-खचित भित्तिवाली गुफाओं पर अन्धकार और प्रकार एक दूसरे को बिना अभिभूत किये फैल रहे हैं॥ ३४॥'

अत्रेति। अत्र तेजस्तमसोर्विरुद्धद्रव्योरेकत्र गुहाधारेऽवस्थितिरुक्ता॥

अत्रेति। यहाँ विरुद्ध द्रव्य अन्धकार और प्रकाश की एक ही आधार गुहा में स्थिति कही गयी है॥

सत्यं त्वमेव सरलो जगति जराजनितकुब्जभावोऽपि।
ब्रह्मन्परमसि विमलो विततध्वरधूममलिनोऽपि॥ ३५॥

'वृद्धावस्था के कारण कुबड़ेपन के आ जाने पर भी सचमुच संसार में तुम्हीं सरल हो। फैले हुये यज्ञ के धूम से मलिन होकर भी हे ब्रह्मन्! (तुम) अत्यन्त निर्मल हो॥ ३५॥

सत्यमिति। अत्र सरलत्वकुब्जत्वादिविरुद्धगुणावस्थितिः॥

सत्यमिति। यहाँ (एक ही आधार ब्राह्मण में) सरलत्व, कुब्जत्व आदि विरुद्ध गुणों की स्थिति दिखलाई गयी है॥

बालमृगलोचनायाश्चरितमिदं चित्रमत्र यदसौ माम्।
जडयति संतापयति च दूरे हृदये च मे वसति॥ ३६॥

'मृगशावक के समान नेत्रों वाली (उसका) इसमें क्या ही अद्भुत चरित है कि वह दूर होकर मुझे जड बनाती है और संताप देती है और मेरे हृदय में निवास करती है॥ ३६॥'

बालेति। अत्र जडीकरणसंतापनादिक्रिये विरुद्धे॥

बालेति। यहाँ जडीकरण और संतापन दो क्रियाओं का विरोध है॥

एकस्यामेव तनौ बिभर्ति युगपन्नरत्वसिंहत्वे ।
मनुजत्ववराहत्वे तथैव यो विभुरसौ जयति ॥ ३७ ॥

'एक ही शरीर में समकाल में जो नरत्व और सिंहत्व और उसी प्रकार मनुजत्व और वराहत्व धारण करता है वह सर्वात्मा विजयी हो ॥ ३७ ॥

एकस्यामिति । अत्र नरत्वादिजातिविरोधः ॥

एकस्यामिति । यहाँ नरत्व आदि जातियों का विरोध है ।

अथ विजातीयोदाहरणान्याह—

तेजस्विना गृहीतं मार्दवमुपयाति पश्य लोहमपि ।
पात्रं तु महद्विहितं तरति तदन्यच्च तारयति ॥ ३८ ॥

अब विजातीयों का उदाहरण देते हैं—

'तेजस्वी (अग्नि) के द्वारा धारण की गयी कोमलता देखो ! लोहे को भी मिल जाती है । बड़ा बनाया गया पात्र (स्वयं तो) तरता ही है दूसरों को भी तार देता है ॥ ३८ ॥'

तेजस्विनेति । अत्र कठिनस्य लोहद्रव्यस्य मार्दवगुणस्य च विरोधेऽप्येकत्रावस्थितिः । अत्र लोहद्रव्यस्य तरणक्रियायाश्च विरोधेऽवस्थितिः ॥

तेजस्विनेति । यहाँ कठिन लोह द्रव्य और मार्दव गुण में विरोध होने पर भी (उन दोनों की) एक आधार में स्थिति कही गयी है ॥

सा कोमलापि दलयति मम हृदयं पश्यतो दिशः सकलाः ।
अभिनवकदम्बधूलीधूसरशुभ्रभ्रमद्भ्रमराः ॥ ३९ ॥

'कदम्ब के अभिनव पराग से धूसरित शुभ्र भ्रमण करते हुये भ्रमरों वाली सकल दिशाओं को देखने वाले मेरे हृदय को वह कोमल होकर भी विदीर्ण कर रही है ॥ ३९ ॥'

सेति । अत्र कोमलगुणस्य दलनक्रियायाश्च विरोधेऽप्यवस्थितिः । अत्र भ्रमरजातेः शुक्लत्वगुणस्य च विरोधः ॥

सेति । यहाँ कोमल गुण और दलन क्रिया में विरोध होने पर भी (एक आधार में उन दोनों की) अवस्थिति बतायी गयी है । भ्रमर जाति और शुक्ल गुण का भी विरोध है ॥

वरतनु विरुद्धमेतत्तव चरितमदृष्टपूर्वमिह लोके ।
मथ्नासि येन नितरामबलापि बलान्मनो यूनाम् ॥ ४० ॥

'हे सुन्दरि ! अबला होकर भी जबर्दस्ती जो तुम युवकों के मन को मथ रही हो यह तुम्हारा अदृष्ट चरित इस लोक के विरुद्ध है ॥ ४० ॥

वरतन्विति । अत्राबलत्वजातेर्मथनक्रियायाश्च विरोधः ॥

वरतन्विति । यहाँ अबला जाति और मथन क्रिया का विरोध है ॥

अन्ये तु भेदाश्चत्वारः सन्तीत्युक्तम् । तेषामुदाहरणान्याह—

अविवेकितया स्थानं जातं न जलं न च स्थलं तस्याः ।
अनुरज्य चलप्रकृतौ त्वय्यपि भर्ता यया मुक्तः ॥ ४१ ॥

'अन्य चार भेद होते हैं' ऐसी प्रतिज्ञा की गयी है। उनके उदाहरण देते हैं—

'अविवेक के कारण उसे न तो जल में ही और न तो स्थल में ही स्थान मिला जिसने चञ्चल स्वभाव वाले तुम में अनुरक्त होकर पति को छोड़ दिया ॥ ४१ ॥

अविवेकितयेति । अत्र द्रव्ययोर्जलस्थलयोर्विरोधित्वादेकस्याभावेऽवश्यमेवेतरस्यावस्थानेन भाव्यम् । अत्र चोभयोरप्यभाव उक्तः ॥

अविवेकितयेति । यहाँ जल और स्थल दोनों द्रव्यों के विरुद्ध होने के कारण एक का अभाव होने पर अवश्य ही दूसरे का अवस्थान होगा । यहाँ दोनों का ही अभाव कहा गया है ॥

न मृदु न कठिनमिदं मे हतहृदयं पश्य मन्दपुण्यायाः ।
यद्विरहानलतप्तं न विलयमुपयाति न च दार्ढ्यम् ॥ ४२ ॥

'अभागिनी मेरा यह अभागा हृदय न तो कोमल ही है और न तो कठोर ही क्योंकि न तो यह वियोगाग्नि से तप कर गल ही रहा है और न तो दृढ़ ही हो रहा है ॥ ४२ ॥'

नेति । यदि मद्धृदयं मृदु भवेत्तो विरहाग्नितप्तं जतुवद्विलीयेत । कठिनं स्यात्ततो घनवद् द्रढिमानमाप्नुयादिति । अत्र मार्दवकाठिन्ययोर्गुणयोरेकस्याप्यभावः ॥

नेति । यदि मेरा हृदय कोमल होता तो वियोगाग्नि से तप कर लाह की तरह गल जाता । यदि कठिन होता तो घन की तरह दृढ़ हो जाता । यहाँ मार्दव और काठिन्य दोनों में से एक का भी अभाव है ॥

नास्ते न याति हंसः पश्यन्गगनं घनश्यामम् ।
चिरपरिचितां च बिसिनीं स्वयमुपभुक्तातिरिक्तरसाम्॥४३॥

'मेघों के कारण नीले हुये आकाश और अपनी चिरकाल से परिचित निर्भर रस वाली भोगी गयी कमलिनी को देखकर हंस न तो रुक ही रहा है और न जा ही रहा है ॥ ४३ ॥'

नेति। यथा पूर्वत्र गुणयोरेवमत्र क्रिययोरासनगमनलक्षणयोर्विरुद्धयोर्मध्यादेकस्या अप्यभाव इति ॥

नेति। जिस प्रकार पूर्व उदाहरण में दो गुणों को उसी प्रकार आसन, गमन रूप दो विरुद्ध क्रियायों में से किसी एक का भी अभाव है ॥

न स्त्री न चायमस्त्री जातः कुलपांसनो जनो यत्र।
कथमिव तत्पातालं न यातु कुलमनवलम्बितया ॥ ४४ ॥

'जिस कुल में कुलघातक यह मनुष्य जो न तो स्त्री ही है और न पुरुष ही उत्पन्न हुआ है—वह कुल विना अवलम्बन के भला पाताल में कैसे न चला जाय ॥ ४४ ॥'

नेति। कुलपांसनः। कुलनाशन इत्यर्थः। अत्रापि स्त्रीत्वपुरुषत्वजात्योर्विरुद्धयोर्मध्यादेकस्या अप्यभावः ॥

नेति। कुलपासन का अर्थ कुलनाशक। यहाँ भी विरुद्ध स्त्री और पुरुष दो जातियों में किसी एक का भी अभाव कहा गया है ॥

अथ विषममाह—

कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः।
तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम् ॥ ४५ ॥

विषम (का लक्षण) बताते हैं—

'जहाँ कार्य और कारण के गुणों में परस्पर विरोध हो अथवा उसी प्रकार क्रियाओं में विरोध हो वहाँ विषम (अलंकार) होता है ॥ ४५ ॥'

कार्यस्येति। यत्र कार्यकारणसंबन्धिनोर्गुणयोः क्रिययोर्वा परस्परमन्योन्यं विरोधो भवेत्तद्विषमनामालंकारः। ननु यदि वस्तुनोः कार्यकारणभावः, कथं तद्गुणयोः क्रिययोर्वा विरोधः। सत्यम्। अत एवातिशयत्वम् ॥

कार्यस्येति। जहाँ कार्य और कारण के संबन्धी गुणों में अथवा क्रियाओं में परस्पर विरोध हो वहाँ विषम नामक अलंकार होता है। शंका होती है कि यदि दोनों वस्तुओं में कार्यकारण भाव होता है तो उनके क्रिया एवं गुण कैसे विरुद्ध होते हैं। सत्य है। किन्तु यही तो अतिशय है ॥

उदाहरणम्—

अरिकरिकुम्भविदारणरुधिरारुणदारुणादतः खड्गात्।
वसुधाधिपते धवलं कान्तं च यशो बभूव तव ॥ ४६ ॥

उदाहरण—

'शत्रुओं के हाथियों के गण्डस्थल को विदीर्ण करने के रक्त से लोहित होने के कारण भयङ्कर आप की तलवार से हे राजन्! आप का यश स्वच्छ और कमनीय हो गया ॥ ४६ ॥'

अरीति। अत्र कारणस्य खड्गस्य गुणौ लौहित्यदारुणत्वे, कार्यस्य यशसो धवलत्वकान्तत्वे, तेषां चान्योन्यं विरोधः ॥

अरीति। यहाँ कारण तलवार के गुण लौहित्य और दारुणत्व है तथा कार्य यश के धवलत्व और कान्तत्व (इस प्रकार) उनमें परस्पर विरोध है ॥

तथा—

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम्।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥ ४७ ॥

इसके अतिरिक्त—

'हे नीलकमल के समान नेत्रों वाली! तुम यह निर्भर आनन्द (मुझे) दे रही हो। (किन्तु) तुम्हारा ही वियोग मेरी शरीर को जला डालता है ।४७।'

आनन्देति। अत्र कारणस्य नायिकायाः क्रिया आनन्ददानम्, कार्यस्य तु विरहस्य तापनम्, तयोश्चान्योन्यं विरोधः ॥

आनन्देति। यहाँ कारण नायिका की क्रिया है आनन्द देना और कार्य (उसके) विरह की संताप देना। उन दोनों में परस्पर विरोध है ॥

अथासंगतिः—

विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगति सेयम् ॥ ४८ ॥

असंगति (का लक्षण)—

'समकाल में ही प्रकट रूप में कारण जहाँ एक देश में और कार्य भिन्न देश में प्राप्त हों वहाँ असंगति जाननी चाहिये ॥ ४८ ॥'

विस्पष्ट इति। सेयमसंगतिर्बोद्धव्या, यस्यां विस्पष्टे प्रकटे समकालमेव च कार्यमन्यत्रोपलभ्यते कार्यं वान्यत्रेति, अत एवासंगतिर्नाम, अतिशयत्वं च ॥

विस्पष्ट इति। इस प्रकार असंगति समझनी चाहिये—जहाँ प्रकट ही समकाल में कारण अन्यत्र हो और कार्य अन्यत्र। अतएव असंगति नाम पड़ा और (यही) अतिशयत्व है ॥

उदाहरणम्—

नवयौवनेन सुतनोरिन्दुकलाकोमलानि पूर्यन्ते ।
अङ्गान्यसंगतानां यूनां हृदि वर्धते कामः ॥ ४९ ॥

उदाहरण—

'सुन्दराङ्गी के नवयौवन से ज्योत्स्ना के समान कोमल अङ्ग पूर्ण होते हैं और असंगत युवकों के हृदय में कामदेव बढ़ता है ॥ ४९ ॥'

नवेति । अत्राङ्गपूरणाख्यं कारणं तन्वीस्थम्, मदनवर्धनं कारणं युवस्थं विस्पष्टमेवोपलभ्यते ॥

नवेति । यहाँ अङ्गपूरण रूप कारण तन्वी (कृशाङ्गी) में स्थित है और मदनवृद्धि रूप कार्य स्पष्ट ही युवक में उपलभ्य होता है ॥

अथ पिहितम्—

यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम् ॥ ५० ॥

पिहित (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ अत्यन्त प्रबल होने के कारण (कोई) गुण समान आधार वाली, असमान गुण वाली वस्तु को, जो उत्पन्न कर चुकी है तिरोभूत कर दे वहाँ पिहित नामक अलंकार होता है ॥ ५० ॥'

यत्रेति । यत्रैकाधारमर्थान्तरं कर्मभूतं गुणः कर्तातिप्रबलतया हेतुभूतया पिदध्यात्स्थगयेत्तत्पिहितं नामालंकारः । ननु तुल्यं गुणान्तरं स्थग्यत एव किमतिशयत्वमित्याह—असमानम् । असदृशमित्यर्थः । कदाचिदसमानमप्यलब्धपाटवं स्यादित्यत आह—आविर्भूतमपीत्यर्थः । असमानग्रहणेन प्रथमातद्गुणालंकाराद्विशेषः ख्याप्यते, तत्र ह्येकगुणानामर्थानां संसर्गे नानात्वं लक्ष्यत इत्युक्तम् । द्वितीयात्तर्हि कोऽस्य विशेषः । उच्यते—तत्रासमानगुणं वस्तु वस्त्वन्तरेण प्रबलगुणेन संसृष्टं तद्गुणतां प्राप्यते, न तद्विधीयत इति । मीलितात्तर्हि कोऽस्य भेदः । उच्यते—असमानचिह्नत्वमेव । तत्र हि समानचिह्नेन वस्तुना हर्षकोपादि तिरस्क्रियत इति सर्वं समञ्जसम् ॥

यत्रेति । जहाँ कर्ता गुण अत्यन्त प्रबल होने के कारण कर्मभूत समान आधार वाले अन्य अर्थ को तिरोहित कर दे वहाँ पिहित नामक अलंकार होता है । प्रश्न उठता है कि सादृश्य वाला अन्य गुण तो तिरोहित ही हो जायगा इसमें अतिशय क्या है इसके उत्तर में कहते हैं—असमानम् । अर्थात् असदृश

(गुण तिरोहित किया जाता है)। कदाचित् असमान गुण भी उत्पन्न न हुआ हो, कहते हैं--उत्पन्न हुआ रहता है। असमान का ग्रहण करके प्रथम तद्गुण अलङ्कार से इसे भिन्न सिद्ध करते हैं। प्रथम तद्गुण में 'एक गुण वाले अर्थों में संसर्ग होने पर पार्थक्य नहीं प्रतीत होता' यह कहा गया है। फिर द्वितीय तद्गुण से इसका क्या भेद है ? कहते हैं--द्वितीय तद्गुण में असमान गुण वाली वस्तु प्रबल गुण वाली अन्य वस्तु से संसृष्ट होकर उसी के गुण को प्राप्त हो जाती है--उसकी रचना नहीं की जाती। फिर मीलित से इसका क्या भेद है ? कहते हैं--चिह्न की असमानता ही (भेदक है) मीलित में समान चिह्न वाली वस्तु से हर्ष, क्रोध आदि का दुराव होता है--इस प्रकार यह सब सिद्ध है॥

उदाहरणम्—

प्रियतमवियोगजनिता कृशता कथमिव तवेयमङ्गेषु ।
लसदिन्दुकलाकोमलकान्तिकलापेषु लक्ष्येत ॥ ५१ ॥

उदाहरण—

'सुशोभित होते हुये चन्द्र-कला के समान कोमल कान्ति कलापों वाले तुम्हारे अङ्गों में प्रियतम के वियोग से उत्पन्न यह कृशता कैसे भाँपी जाय।५१।'

प्रियेति। अत्र कान्तिगुणेनार्थान्तरं कृशताख्यमेकाधारमसमानगुणमतिप्रबलत्वात्पिहितमिति॥

प्रियेति। यहाँ अत्यन्त प्रबल कान्ति गुण से एक ही आधार वाली, असमान गुण वाली कृशता के तिरोभूत हो जाने का वर्णन होने से पिहित नामक अलंकार है॥

अथ व्याघातः—

अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य ।
यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः ॥ ५२ ॥

व्याघात (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ कारण किसी अन्य निमित्त से प्रतिहत नहीं होता फिर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती उसे व्याघात अलंकार जानना चाहिए॥ ५२॥'

अन्यैरिति। यत्र कारणं कार्यस्याजनकमुच्येत स कार्यव्याघाताख्योऽलंकारः। कदाचित्कारणं केनचित्प्रतिहतं भविष्यतीत्यत आह—अन्यैः कारणैरप्रतिहतमपीति। अत एवातिशयितमिति॥

अन्यैरिति। कारण को जहाँ कार्य का अनुत्पादक बताया जाता है वहाँ कार्य व्याघात नामक अलंकार होता है। कदाचित् कारण किसी अन्य कारण से प्रतिहत

हो इसका निराकरण करते हैं—कारण अन्य कारणों से प्रतिहत नहीं होता। अतएव अतिशय होता है ॥

उदाहरणमाह—

यत्र सुरतप्रदीपा निष्कज्जलवर्तयो महामणयः।
माल्यस्यापि न गम्या हृतवसनवधूविसृष्टस्य ॥ ५३ ॥

उदाहरण देते हैं—

'जहाँ वस्त्र को हरण करने वाले, वधू के द्वारा व्यक्त माला के लिये भी विना कारिख की वत्तियों वाले सम्भोग के दीपक रूप महामणि अगम्य थे ॥ ५३ ॥'

यत्रेति। अत्र दीपः कारणं कार्यस्य कज्जलस्य नोत्पादकम्। तच्च कारणं कारणान्तरैर्माल्यादिभिरप्रतिहतमिति ॥

यत्रेति। कारण दीपक यहाँ कार्य कारिख का उत्पादक नहीं है। वह कारण भी माल्य आदि अन्य कारणों से अप्रतिहत है ॥

अथाहेतुः—

बलवति विकारहेतौ सत्यपि नैवोपगच्छति विकारम्।
यस्मिन्नर्थः स्थैर्यान्मन्तव्योऽसावहेतुरिति ॥ ५४ ॥

अहेतु (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ विकार के बलवान् कारण होने पर भी वस्तु स्थैर्य के कारण विकृत नहीं होती है उसे अहेतु नामक अलङ्कार जानना चाहिए ॥ ५४ ॥'

बलवतीति। असावहेतुर्नामालंकारः, यत्रार्थो विकारमन्यथात्वं नायाति। कदाचिद्विक्रियाकारणं न स्यादित्याह—विकारहेतौ सत्यपि। कदाचिदसौ हेतुः प्रबलो न स्यादित्याह—बलवतीति। अत एवातिशयत्वमिति। कथं नायाति, स्थैर्यादिति ॥

बलवतीति। वह अहेतु नामक अलंकार होता है जहाँ अर्थ विकार को नहीं प्राप्त होता है। कदाचित् विकार का कारण न हो, कहते हैं—विकार-कारण होने पर भी। कदाचित् वह हेतु प्रबल न हो, कहते हैं—प्रबल होने पर। यही (उसका) अतिशय है। (वस्तु) विकार को क्यों नहीं प्राप्त होती? स्थैर्य के कारण ॥

उदाहरणम्—

रूक्षेऽपि पेशलेन प्रखलेऽप्यखलेन भूषिता भक्ता।
वसुधेयं वसुधाधिप मधुरगिरा परुषवचनेऽपि ॥ ५५ ॥

उदाहरण—

'रूखे होने पर भी सरस, अत्यन्त दुष्ट होने पर भी सज्जन और कटुवचन होने पर भी राजन्! आप ने इस पृथ्वी को अलङ्कृत कर दिया ॥ ५५ ॥'

रूक्ष इति । अत्र रूक्षादिके बलवति विकारकारणे सत्यपि विकारमपेशलत्वादिकं राजा महासत्त्वान्नायातीति ॥

रूक्ष इति । यहाँ रूक्ष आदि बलवान् विकार कारण होने पर भी राजा महातेजस्वी होने के कारण अपेशलता आदि विकारों को नहीं प्राप्त होता है ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो
नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

इस प्रकार नमिसाधु विरचित टिप्पणी से युक्त रुद्रट-रचित काव्यालंकार में
नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

★

दशमोऽध्या:य

वास्तवौपम्यातिशयान्व्याख्यायाधुना क्रमप्राप्तं श्लेषं व्याचिख्यासुराह—

यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन् ।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः ॥ १ ॥

वास्तव, औपम्य और अतिशय का व्याख्यान करके अब क्रमानुसार श्लेष की व्याख्या करने की इच्छा से कहते हैं—

'जहाँ अनेकार्थक पदों के द्वारा रचा गया एक वाक्य अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है उसे अर्थश्लेष जानना चाहिये ॥ १ ॥'

यत्रेति । यत्रैकमेव वाक्यं रचितं सदनेकस्मिन्नर्थे निश्चयं कुरुते सोऽर्थश्लेषो विज्ञेयः । नन्वेकं चेद्वाक्यं कथमनेकार्थनिश्चयं करोतीत्याह—अनेकार्थैः पदै रचितमिति कृत्वा । एकं वाक्यमित्येकग्रहणं शब्दश्लेषादस्य विशेषख्यापनार्थम् । तत्र हि 'युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः' (४।१) इत्युक्तम् । किं च तत्र शब्दानां श्लेषः, अत्र त्वर्थानामिति ॥

यत्रेति । जहाँ (कवि) रचित एक वाक्य अनेक अर्थों की प्रतीति कराता है उसे अर्थश्लेष जानना चाहिये । प्रश्न उठता है कि यदि वाक्य एक है तो अनेक अर्थों का बोध कैसे करायेगा—(उत्तर है) उस वाक्य की रचना अनेकार्थक पदों से की जाती है । 'एकं वाक्यम्' में एक का ग्रहण शब्दश्लेष से इस (अर्थश्लेष) को भिन्न बताने के लिये किया गया है । वहाँ (४।१२) में 'एक साथ जहाँ अनेक वाक्य रचे जाँय वह श्लेष होता है' इस प्रकार (शब्दश्लेष का लक्षण) किया गया है । दूसरी बात यह है कि (शब्दश्लेष में) शब्दों का श्लेष होता है और यहाँ अर्थों का ॥

अथास्यैव भेदानाह—

अविशेषविरोधाधिकवक्रव्याजोक्त्यसंभवावयवाः ।
तत्त्वविरोधाभासाविति भेदास्तस्य शुद्धस्य ॥ २ ॥

आगे इसी के भेद गिनाते हैं—

'अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व, विरोधाभास ये शुद्ध श्लेष के दश भेद हैं ॥ २ ॥'

अविशेषेति । तस्य श्लेषस्य शुद्धस्याविशेषादयो दश भेदाः । इति-शब्दः समाप्त्यर्थो निर्देशार्थो वा । शुद्धग्रहणं परमतनिरासार्थम् । यतः कैश्चित् 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इति संकीर्णत्वेन त्रैविध्य-मुक्तमिति शुद्धस्यैव सतोऽस्य दश भेदाः । अलंकारान्तरसंस्पर्शेऽनन्ता इत्यर्थः ॥

अविशेषेति । उस शुद्ध श्लेष के अविशेष आदि दश भेद होते हैं । इति शब्द समाप्तिसूचक या निर्देशसूचक है । शुद्ध का ग्रहण दूसरों के मत को खण्डित करने के लिये किया गया है। क्योंकि उसे सहोक्ति, उपमा और हेतु के निर्देशक के रूप में संकीर्ण रूप में त्रिविध माना है । (अतएव ग्रन्थकार ने यहाँ संकीर्ण रूप में नहीं) शुद्ध रूप में ही इसके दश भेदों की घोषणा की । अन्य अलंकारों के साथ संकर होने पर तो (इसके) अनन्त भेद होंगे ॥

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति कृत्वा पूर्वमविशेषं लक्षयितुमाह—

अविशेषः श्लेषोऽसौ विज्ञेयो यत्र वाक्यमेकस्मात् ।
अर्थादन्यं गमयेदविशिष्टविशेषणोपेतम् ॥ ३ ॥

'नामग्रहण के अनुसार लक्षण भी करना चाहिये' इस नियम का अनुसरण करते हुये सर्वप्रथम अविशेष का लक्षण करते हैं—

'अविशेष श्लेष उसे जानना चाहिये जिसमें समान विशेषणों से रचा गया वाक्य एक अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराता है ॥ ३ ॥'

अविशेष इति । असावविशेषश्लेषो ज्ञेयः, यत्र वाक्यमेकस्मात्प्रक्रान्तादन्यमर्थं गमयेत् । कीदृशम् । अविशिष्टैः समानैर्विशेषणैरुपेतं युक्तम् । यादृशानि चैकस्य विशेषणानि तादृशान्येवापरस्यापीत्यर्थः । ननु प्रक्रता-नुपयोग्यर्थान्तरमुन्मत्तवाक्यवदसंबद्धमवगतमपि कोपयुज्यते । सत्यम् । एतदेवास्यालंकारत्वम् । एवं हि सहृदयावर्जकत्वमस्य । अत्र च महाकवय एव प्रमाणम् ॥

अविशेष इति । जहाँ वाक्य प्राकरणिक अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराये उसे अविशेष श्लेष जानना चाहिए । कैसा (वाक्य)—समान विशेषणों से युक्त । अर्थात् जो विशेषण प्रक्रान्त अर्थ वाले वाक्य के होते हैं वे ही भिन्न अर्थ वाले वाक्य के भी । शङ्का होती है कि प्रक्रान्त के लिये अनुपयोगी अर्थान्तर वाक्य पागल के प्रलाप के समान असंबद्ध जाना जाकर भी कैसे युक्त हो सकता है । सत्य है । यही तो अलंकार है । सहृदय इसी प्रकार तो आवर्जित होते हैं इसके लिये महाकवि ही प्रमाण हैं ॥

उदाहरणम्—

शरदिन्दुसुन्दररुचं सुकुमारां सुरभिपरिमलामनिशम् ।
निदधाति नाल्पपुण्यः कण्ठे नवमालिकां कान्ताम् ॥ ४ ॥

उदाहरण—

'शरच्चन्द्र के समान सुन्दर कान्ति वाली, कोमल सुगंधित पराग वाली, नूतन माला वाली प्रिया को थोड़े पुण्य से कोई गले नहीं लगाता (अर्थात् बड़े पुण्य से ही वह गले लगाने को मिलती है) ॥ ४ ॥'

शरदिति । नवा प्रत्यग्रा माला यस्यास्तां नवमालिकां कान्तां प्रियतमामल्पपुण्यः कण्ठे न करोतीति । एतत्प्रकृतं वाक्यं कान्तानवमालिकाशब्दयोरनेकार्थत्वादिदमर्थान्तरं गमयति । यथा—नवमालिकाख्यां सुमनोजातिं कान्तां हृद्यामल्पपुण्यः कण्ठे न कुरुत इति । शरदिन्दुसुन्दररुचमित्यादीन्यविशिष्टानि विशेषणानि ॥

शरदिति । 'नवीन माला है जिसकी ऐसी उस नवमालिका कान्ता (प्रियतमा) को थोड़े पुण्य से कोई गले नहीं लगाता' यह प्रकारणिक वाक्य कान्ता और नवमालिका शब्दों के अनेकार्थक होने के कारण इस अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, 'मनोहर नवमालिका नाम वाली पुष्प की जाति-विशेष को स्वल्प पुण्य वाला हृदय (गले) में नहीं धारण करता ।' शरच्चन्द्र के समान सुन्दर कान्ति वाली आदि विशेषण साधारण (दोनों अर्थों में घटित होते) हैं ॥

अथ विरोधश्लेषः—

यत्र विरुद्धविशेषणमवगमयेदन्यदर्थसामान्यम् ।
प्रक्रान्तमतोऽन्यादृग्वाक्यश्लेषो विरोधोऽसौ ॥ ५ ॥

विरोधश्लेष—

'जहाँ पर प्रक्रान्त वाक्य अन्य विरुद्ध विशेषणों वाले सामान्य अर्थ का बोध कराये और वाक्य उस अर्थान्तर से भिन्न हो उस वाक्यश्लेष को विरोध कहते हैं ॥ ५ ॥'

यत्रेति । असौ विरोधाख्यश्लेषः, यत्र प्रक्रान्तवाक्यमन्यदर्थसामान्यं विरुद्धविशेषणमवगमयेत् । कीदृग्वाक्यम् । अतोऽर्थान्तरादन्यादृशम् । विशेषरूपमविरुद्धं चेत्यर्थः । तेन यत्र प्रक्रान्तोऽर्थविशेषोऽन्यदर्थसामान्यं विरुद्धविशेषणमवगमयति स विरोधश्लेष इति तात्पर्यार्थः ॥

यत्रेति । जहाँ प्राकरणिक वाक्य विरुद्ध विशेषणों वाले अन्य सामान्य अर्थ की प्रतीति कराता है वहाँ विरोध नामक श्लेष होता है । कैसा वाक्य—इस विरुद्ध अर्थ से भिन्न स्वरूप वाला । अर्थात् अविरुद्ध विशेषण वाला और विशेष

रूप वाला। अर्थात् जहाँ प्राकरणिक अर्थ-विशेष विरुद्ध विशेषण वाले अन्य अर्थसामान्य की प्रतीति कराता है। वह विरोधश्लेष होता है।

उदाहरणम्—

संवर्धितविविधाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत्।
सकलारिदाररसिकोऽप्यनभिमतपराङ्गनासङ्गः ॥ ६ ॥

उदाहरण—

'नाना प्रकार की लक्ष्मी का भरण करने वाला, मूर्खों का विनाश करने वाला, सकल शत्रुओं के विनाश में आनन्द लेने वाला और परकीया नायिका के गमन में पराङ्मुख कोई अनोखा ही (राजा) था (पक्षा०—प्रचुर कमलों का पोषण करने वाला, नालों को खाने वाला, सकल शत्रु रमणियों का रस लेने वाला परकीया के साथ अभिसरण न करने वाला कोई अनोखा ही (राजा था) ॥ ६ ॥'

संवर्धितेति। अत्रायं प्रक्रान्तोऽर्थः—स कश्चिद्राजा एवंविधोऽभूत्। यथा संवर्धितनानाभ्यधिकलक्ष्मीकोऽवदलितमूर्खश्च। तथा सकलशत्रुविदारणरसिकोऽनिष्टपरस्त्रीसङ्गश्चेति। इदं तु विरुद्धमर्थसामान्यं गम्यते—यदि संवर्धितानि विविधान्यधिकं कमलानि पद्मानि येन, कथमवदलितानि नालिकानि पद्मानि तेनैवेति। तथा यदि सकलेष्वरिदारेषु शत्रुकलत्रेषु रसिकः कथमनभिमतपराङ्गनासङ्ग इति। सामान्यरूपता चास्य विशेष्याविशेषणादिति ॥

संवर्धितेति। यहाँ प्राकरणिक अर्थ इस प्रकार है—'वह कोई राजा इस प्रकार था जिसने नाना प्रकार की अत्यधिक लक्ष्मी का पोषण किया और मूर्खों का विनाश किया, जो सकल शत्रु-वर्ग को नष्ट करने में आनन्द लेता था और जिसे परस्त्री के साथ गमन करना अभीष्ट नहीं था।' (इससे) यह विरुद्ध अर्थसामान्य प्रतीत होता है—'यदि उसने नाना प्रकार के प्रभूत कमलों को उगाया है तो फिर उसी ने नालों को क्यों नष्ट किया। तथा यदि वह सकल शत्रु-रमणियों के साथ रस लेता है तो परनारी के साथ सहवास उसे अभिमत कैसे नहीं है? विशेष्य का विशेषण न होने के कारण इसे सामान्य रूप कहा गया है ॥

अथाधिकश्लेषः—

यत्राधिकमारब्धादसमानविशेषणं तथा वाक्यम्।
अर्थान्तरमवगमयेदधिकश्लेषः स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

अधिक श्लेष (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ भिन्न विशेषणों वाला वाक्य प्रकृत अर्थ से भिन्न अर्थ को अधिक उत्कृष्ट सिद्ध करता है उसे अधिक श्लेष जानना चाहिए ॥ ७ ॥'

यत्रेति । यत्र वाक्यं कर्तृभूतमारब्धात्प्रकृतादन्यदर्थान्तरमधिकमुत्कृष्टं गमयेत्सोऽधिकश्लेषः अविशेषश्लेषादस्य विशेषमाह—असमानविशेषणमिति । तत्र हि समानार्थानि विशेषणान्युक्तानि ॥

यत्रेति । जहाँ प्रधान वाक्य प्राकरणिक से भिन्न अर्थ को अधिक उत्कृष्ट प्रतीत कराता है वह अधिक श्लेष होता है । अविशेष श्लेष से इसका पार्थक्य सिद्ध करते हैं--(यहाँ) (वाक्यों के) विशेषण असमान होते हैं । उस (अविशेष श्लेष) में (प्रक्रान्त और इतर अर्थ वाले वाक्यों के विशेषण) समान कहे गये हैं ॥

उदाहरणम्—

प्रेम्णा निधाय मूर्धनि वक्रमपि बिभर्ति यः कलावन्तम् ।
भूतिं च वृषारूढः स एव परमेश्वरो जयति ॥ ८ ॥

उदाहरण--

'बैल पर सवार जो टेढे भी चन्द्रमा को और भस्म को प्रेमपूर्वक शिर पर रखकर धारण करता है वही परमेश्वर विजयी हो ॥ गम्यार्थ ।

धर्म में रत जो विदग्ध कुटिल को जो प्रेमपूर्वक शिरसा स्वीकार करता है और जो समृद्धिमान् है वे ही महाराज विजयी हों ॥ प्रक्रान्त अर्थ ॥ ८ ॥'

प्रेम्णेति । यः कलावन्तं विदग्धं वक्रमनृजुहृदयमपि बिभर्ति, प्रेम्णा प्रीत्या शिरसि कृत्वा । तथा भूतिं समृद्धिं च बिभर्ति । कीदृशः सन् । वृषे धर्मे समारूढः । स एव परमेश्वरो नायको जयति । एतत्प्रकृतं वाक्यमिदं तूत्कृष्टमर्थान्तरं गमयति—यथा स एव परमेश्वरो महादेवो जयति, यः कलावन्तं चन्द्रं वक्रं कलाशेषमपि प्रेम्णा मूर्ध्नि निधाय वहति । भूतिं च भस्म वहति । वृषे वृषभे समारूढ इति । उत्कृष्टत्वं चात्र देववर्णनात् । नृभ्यो हि देवा अधिकाः । विशेषणान्यपि भिन्नार्थान्यत्रेति ॥

प्रेम्णेति । जो कुटिल हृदय विदग्ध को प्रेमपूर्वक शिरसा स्वीकार करता है तथा जो समृद्धि को धारण करता है--कैसा है वह ?—धर्म में रत—वही परमेश्वर विजयी हों ।' यह प्राकरणिक वाक्य अन्य उत्कृष्ट इस अर्थ की प्रतीति कराता है—'वही परमेश्वर शिव जी विजयी हों जो वक्र चन्द्रमा को प्रेमपूर्वक शिर पर धारण करते हैं (जो) भस्म रमाते हैं और जो बैल पर सवार हैं । देवता का वर्णन ही इसकी उत्कृष्टता है, देवता मनुष्य से ऊपर है । (दोनों [illegible]) विशेषण भी यहाँ भिन्नार्थक हैं ॥

अथ वक्रश्लेषः—

यत्रार्थादन्यरसस्तत्प्रतिबद्धश्च गम्यतेऽन्योऽर्थः ।
वाक्येन सुप्रसिद्धो वक्रश्लेषः स विज्ञेयः ॥ ९ ॥

वक्रश्लेष (का लक्षण करते हैं)—

'जिस वाक्य में प्रकृत अर्थ से संबद्ध अन्य रसवाले भिन्न अर्थ की प्रतीति हो उसे वक्रश्लेष जानना चाहिए ॥ ९ ॥

यत्रेति । यत्र वाक्येन स्वमर्थं ब्रुवतान्योऽर्थः प्रासङ्गिको गम्यते । कीदृशः । प्रकृतादन्यरसः । तथा तेन प्रकृतार्थेन प्रतिबद्धः । प्रतिबद्धता चैकविषयत्वेन । तथा सुप्रसिद्धस्तत्प्रतिबद्धत्वेन सुष्ठु प्रतीतः ॥

यत्रेति । जहाँ अपने अर्थ का अभिधान करने वाले वाक्य से अन्य प्रासङ्गिक अर्थ गम्य होता है (वहाँ वक्रश्लेष होता है) । किस प्रकार का अर्थ ?— प्राकरणिक से भिन्न रस वाला तथा उस प्राकरणिक अर्थ से संबद्ध । यह संबन्ध दोनो अर्थों के विषय के ऐक्य के कारण होता है तथा (लोक में) उससे संबद्ध रूप में सुपरिचित होता है ॥

उदाहरणम्—

आक्रम्य मध्यदेशं विदधत्संवाहनं तथाङ्गानाम् ।
पतति करः काञ्च्यामपि तव निर्जितकामरूपस्य ॥ १० ॥

उदाहरण—

'मध्य देश (पक्षा०—कटि) पर आक्रमण करके अङ्गों (पक्षा०—मुख आदि का उपमर्दन करते हुये कामरूप (आसाम) को जीतने वाले (पक्षा०—कामदेव को भी सौंदर्य में लज्जित करने वाले) आप का कर (पक्षा० हाथ) काञ्ची (पक्षा०—रसना) पर भी घूम गया है ॥ १० ॥

आक्रम्येति । तव निर्जितकामरूपाख्यजनपदस्य संबन्धी करो नृपदेयभागः काञ्चीनाम्नि यावद्देशे पतति । काञ्च्यपि त्वया जितेत्यर्थः किं कृत्वा । मध्यदेशं कान्यकुब्जादिकमाक्रम्याभिभूय । अनन्तरमङ्गानां देशविशेषाणां संवाहनमुपमर्दनं कुर्वन्निति । अथ गम्यमर्थान्तरं भण्यते— यथा तव तिरस्कृतमदनरूपस्य करो हस्तः काञ्च्यां रसनाप्रदेशे पतति । मध्यदेशमुदरमात्रम् । अङ्गानामूरुस्तनादीनां संवाहनं परिमलनं कुर्वन् । अयं चार्थः शृङ्गाररसयुक्तः । एकविषयत्वेन च पूर्वार्थप्रतिबद्धः । पूर्वत्र तु रसो वीराभिधः ॥

आक्रम्येति । काम रूप नामक जनपद को जीतने वाले तुम्हारा कर (राजा को दिया जाने वाला टैक्स) अब काञ्ची नामक देश में भी लगेगा । अर्थात्

तुमने काञ्ची को भी जी लिया। क्या करके—कान्यकुब्ज (कन्नौज) आदि मध्यदेश को जीतकर तदनन्तर अङ्ग देश का उपमर्दन कर के। अब गम्य अर्थ का वर्णन करते हैं—'काम देव के रूप का तिरस्कार करने वाले तुम्हारा हाथ रसना प्रदेश पर पड़ रहा है। मध्यदेश उदरमात्रक नाम है। (क्या करते हुये ?)—जाँघ और स्तन आदि का उपमर्दन करते हुये। यह अर्थ शृङ्गार रस से युक्त है। (नामक के) एक होने के कारण पूर्व अर्थ से संबद्ध है। पूर्व अर्थ में वीर नामक रस था॥

अथ व्याजश्लेषः—

यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयेत।
अन्याविवक्षिताया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः॥ ११॥

अत्र व्याजश्लेष (का लक्षण करते हैं)—

'जिस वाक्य में विवक्षित स्तुति से प्रासङ्गिक निन्दा अथवा विवक्षित निन्दा से प्रासङ्गिक स्तुति की प्रतीति होती है उसमें व्याजश्लेष अलंकार होता है॥११॥

यस्मिन्निति। यत्र स्तुतेर्विवक्षिताया अन्या प्रासङ्गिकी निन्दा प्रतीयते निन्दाया वा विवक्षितायाः प्रासङ्गिकी स्तुतिः स व्याजश्लेषः॥

यस्मिन्निति। जहाँ विवक्षित स्तुति से भिन्न प्रासङ्गिक निन्दा प्रतीत होती है अथवा विवक्षित निन्दा से स्तुति प्रतीत होती है वहाँ व्याजश्लेष अलंकार होता है॥

उदाहरणमाह—

त्वया मदर्थे समुपेत्य दत्तमिदं यथा भोगवते शरीरम्।
तथास्य ते दूति कृतस्य शक्या प्रतिक्रियानेन न जन्मना मे॥१२॥

उदाहरण देते हैं—

'तुमने आकर मुझ भोगी के लिये जो इस शरीर को अर्पित कर दिया उसका हे दूति ! मेरे इस जन्म से प्रतिकार नहीं किया जा सकता॥ १२॥

त्वयेति। अत्र कयापि नायिकया दूती दयितपार्श्वे प्रेषिता। सा तु तत्र स्वार्थं कृतवती। समागत्य चाधरक्षतादिकमुद्दिश्योत्तरं दत्तवती यथाहं तत्र त्वदर्थे गता सती सर्पेण दष्टा, परं वैद्यैश्चिकित्सितेति जीविता ततस्तां कृतदोषां दूतीं नायिका स्तुतिद्वारेण निन्दति त्वयेत्यादिना। भोगवते इत्येकत्र सर्पाय, अन्यत्र विलासिने। प्रतिक्रिया त्वेकत्रोपकारः, अन्यत्रापकारः॥

त्वयेति। किसी नायिका ने दूती को प्रिय के पास भेजा। वहाँ उसने अपना उल्लू सीधा कर लिया तथा लौटकर अधरक्षत आदि की ओर उद्देश करके कहने लगी। 'तुम्हारे लिये वहाँ मैं गयी। मुझे सर्प (भोगवान्) ने काट लिया।

वैद्यों ने चिकित्सा की जिससे मैं जीवित रही।' यह सुनकर नायिका स्तुति के बहाने अपराध करने वाली दूती की निन्दा करने लगी—त्वयेत्यादि। 'भोगवते' का एक जगह अर्थ है साँप के लिये दूसरी जगह विलासी (कामुक) के लिये। प्रतिक्रिया का एक जगह अर्थ होगा उपकार दूसरी जगह अपकार ॥

निन्दास्तुतिमाह—

नो भीतं परलोकतो न गणितः सर्वः स्वकीयो जनो
मर्यादापि च लङ्घिता न च तथा मुक्ता न गोत्रस्थितिः।
भुक्ता साहसिकेन येन सहसा राज्ञां पुरः पश्यतां
सा मेदिन्यपरैः परं परिहृता सर्वैरगम्येति या ॥ १३ ॥

निन्दा के बहाने स्तुति का उदाहरण देते हैं—

'अन्य सब लोगों के द्वारा जो अगम्या है यह कर के छोड़ दी गयी थी। उस मेदिनी (शिल्पी की स्त्री (प्रकान्त) पृथ्वी (प्रतीत) का जिस साहसी ने सहसा राजाओं के समक्ष भोग किया (वह) न तो परलोक से डरा, न अपने सभी स्वजनों की परवाह की, मर्यादा का उल्लङ्घन कर गया और कुल की स्थिति का त्याग कर गया ॥ १३ ॥'

नो इति। अत्र निन्दा तावत्—या सर्वैरेव लोकैरगम्यत्वात्परिहृता सा मेदिनी शिल्पिविशेषनारी येन साहसिकेन राज्ञां पुरतः सहसैव भुक्ता तेन किं कृतम्। न परलोकाद्भीतम्, न स्वजनो गणितः, मर्यादा च लङ्घिता, गोत्रस्थितिर्मुक्तेति। अतोऽपि निन्दायाः प्रासङ्गिकी स्तुतिरेव गम्यते। यथा—सा मेदिनी भूर्येन साहसिकेन राज्ञां पुरः पश्यतां सहसा भुक्तात्मवशीकृता। या सर्वैरेव राजभिर्दुर्गमत्वाद्दूरं परिहृता। तेन किं कृतम्। परलोकतः शत्रुलोकान्नो भीतम्। तथातिबलवत्त्वादात्मीयजनोऽपि साहाय्ये नापेक्षितः। तथा मर्यादा स्वदेशसीमा लङ्घिता। तथा गोत्राः पर्वतास्तेषु स्थितिश्च मुक्ता दुर्गं मुक्तमित्यर्थः ॥

नो इति। यहाँ निन्दापरक अर्थ इस प्रकार है—जिस मेदिनी (शिल्पी की नारी) को सारे लोक ने अगम्य समझकर त्याग दिया था उसका उस साहसी ने राजाओं के समक्ष ही सहसा ही भोग किया। (इस प्रकार) उसने क्या किया परलोक से भयभीत नहीं हुआ, अपने जनों की परवाह नहीं की, मर्यादा का उल्लंघन कर गया और कुल की सत्ता को छोड़ गया। इससे भी निन्दा से प्रासङ्गिक स्तुति ही गम्य है। जैसे—'सभी राजाओं से दुर्गम होने के कारण जो दूर रही उस पृथ्वी को राजाओं के समक्ष ही जिसने (अपने) पराक्रम से वश में

कर लिया उसने क्या किया? परलोक (शत्रुओं) से डरा नहीं। तथा अत्यधिक शौर्य के कारण अपने जनों की भी सहायता नहीं ली, मर्यादा (अपने देश की सीमा) को पार कर गया तथा पर्वतों पर स्थित दुर्ग के निवास को त्याग दिया ॥

अथोक्तिश्लेषः—

यत्र विवक्षितमर्थं पुष्यन्ती लौकिकी प्रसिद्धोक्तिः।
गम्येतान्या तस्मादुक्तिश्लेषः स विज्ञेयः॥ १४॥

अब उक्तिश्लेष का लक्षण करते हैं—

'जहाँ विवक्षित अर्थ को पुष्ट करती हुयी किसी उक्ति से अन्य लोक प्रसिद्ध बात गम्य हो वह उक्तिश्लेष नामक अलङ्कार होता है॥ १४॥'

यत्रेति। यत्र तस्माद्विवक्षितार्थादन्या लोकप्रसिद्धोक्तिर्वचनं गम्यते स उक्तिश्लेषः। का तर्ह्यस्यालंक्रियेत्याह--विवक्षितमर्थं पुष्यन्ती। एतदुक्तं भवति—प्रकृतोऽर्थो रम्यो भवतु, मा वा भूत्, लौकिकी चेदुक्तिर्गम्यते तयैव तस्य पोषः क्रियत इति॥

यत्रेति। जहाँ (कवि के) उस विवक्षित से पृथक् लोक में प्रसिद्ध उक्ति गम्य होती है वह उक्तिश्लेष अलंकार होता है। फिर इसमें 'अलंकारता क्या है' इसे बताते हैं—(वह लोकप्रसिद्ध बात) विवक्षित अर्थ का पोषण करती है। तात्पर्य यह है—'प्रकृत (विवक्षित या वाच्य) अर्थ सुन्दर हो या न हो, यदि लौकिक उक्ति गम्य होती है तो उसी से (उस विवक्षित अर्थ) का पोषण होता है॥

उदाहरणमाह—

कलावतः संभृतमण्डलस्य यया हसन्त्यैव हृताशु लक्ष्मीः।
नृणामपाङ्गेन कृतश्च कामस्तस्याः करस्था ननु नालिकश्रीः॥१५॥

उदाहरण देते हैं—

'चन्द्रमा के पूर्ण प्रतिबिम्ब की शोभा को जिसने हंसते-हंसते चुरालिया और जिसने नेत्रों के प्रान्त भाग से पुरुषों में काम उत्पन्न कर दिया, कमल की शोभा तो उसके हाथ में ही है॥ १५॥'

कलावत इति। कस्याश्चिद्रूपवर्णनं क्रियते—कलावतश्चन्द्रस्य पूर्णबिम्बस्य यया हसन्त्यैवाशु शीघ्रं लक्ष्मीः शोभा हृताभिभूता। नृणां चापाङ्गेन कटाक्षेण कामः कृतः तस्या नालिकश्रीः पद्मशोभा करस्थैव। यया मुखेनाखण्डः शशी जितस्तया हस्तशोभया पद्ममपि नूनं जीयेतेत्यर्थ इति। एषोऽत्र विवक्षितोऽर्थः। एतस्यैव परिपोषं कुर्वाणान्या लौकिकी प्रसिद्धोक्तिर्गम्यते। यथा--यया नर्तक्या कलावतो विदग्धस्य संभृतमण्डलस्य

ससहायवृन्दस्य हसन्त्यैवाक्लेशेनैवाशु लक्ष्मीर्हृता धनं भक्षितम् । नृणां चापाङ्गेन हेलयैव कामः कृतः । तस्या नालिकश्रीर्मुग्धजनसंपत्करस्थितैवेति । एष एव चात्र पूर्वार्थपोषो यल्लोकप्रसिद्धयोक्त्यवगम इति ॥

कलावत इति । किसी के रूप का वर्णन किया जा रहा है—'जिसने हँसते हँसते चन्द्रमा के पूर्ण बिम्ब की शोभा का शीघ्र ही हरण कर लिया और अपने नयनों के कटाक्षों से पुरुषों में काम उत्पन्न कर दिया, कमल की शोभा तो उसके हाँथ में ही है । जिसने मुख से अखण्ड चन्द्र को जीत लिया वह हाथ की शोभा से कमल को भी निश्चय ही जीत लेगी । यह यहाँ (कवि का) विवक्षित (वाच्य) अर्थ रहा । इसी को पुष्ट करती हुयी (यह) लोक में प्रसिद्ध उक्ति गम्य होती है—जैसे—'जिस नर्तकी ने हंसते-हंसते अपनी मण्डली के साथ अनायास ही विदग्ध की संपत्ति का हरण कर लिया और हेला (स्त्रियों की चेष्टाविशेष) से ही पुरुषों में काम उत्पन्न कर दिया, मूर्खों की संपत्ति तो उसके हाथ में ही है । यही पूर्व अर्थ का पोषण है कि लोक में प्रसिद्ध उक्ति का अवगम हो जाता है ॥

अथासंभवश्लेषः—

गम्येत प्रक्रान्तादसंभवत्तद्विशेषणोऽन्योऽर्थः ।
वाक्येन सुप्रसिद्धः स ज्ञेयोऽसंभवश्लेषः ॥ १६ ॥

अब असंभवश्लेष (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ वाक्य से विवक्षित अर्थ से भिन्न, प्रस्तुतार्थ के विशेषणों से असंबद्ध सुप्रसिद्ध अर्थ गम्य होता है उसे असंभव श्लेष जानना चाहिए ॥ १६ ॥

गम्येतेति । सोऽसंभवश्लेषो ज्ञेयः, यत्र वाक्येन प्रक्रान्तादर्थादन्योऽप्रस्तुतोऽर्थो गम्यते । कीदृशः । असंभवत्तद्विशेषण इति । असंभवन्ति तस्य प्रस्तुतार्थस्य संबन्धीनि विशेषणानि यस्य स तथोक्तः । तथा सुप्रसिद्धः ख्यात इति ॥

गम्येतेति । जहाँ वाक्य से प्राकरणिक अर्थ से विलक्षण प्रासङ्गिक अर्थ प्रतीत होता है उसे असंभव श्लेष जानना चाहिये । कैसा होता है (वह प्रासङ्गिक अर्थ)—उस प्रस्तुत (विवक्षित) अर्थ के विशेषण अप्रस्तुत अर्थ में असंभव होते हैं तथा (वह अप्रस्तुत गम्य अर्थ) सुप्रसिद्ध होता है ॥

उदाहरणमाह—

परिहृतभुजंगसङ्गः समनयनो न कुरुषे वृषं चाधः ।
नन्वन्य एव दृष्टस्त्वमत्र परमेश्वरो जगति ॥ १७ ॥

उदाहरण देते हैं—

'दुष्टों की संगति छोड़कर धर्मका उद्धार कराने वाले समदर्शी (आप) इस संसार में कोई और ही परमेश्वर हैं ॥ १७ ॥

परिहृतेति । अत्र प्रकृतान्नृपलक्षणादर्थादन्योऽर्थो महादेवलक्षणोऽसंभवद्विशेषणः प्रसिद्धो गम्यते । महादेवो हि विद्यमानवासुकिसङ्गस्त्रिनयनो वृषवाहनश्च । राजा तु दूरीकृतविटः समदृष्टिः पूजितधर्मश्च । अस्य चालंकारस्यान्यैर्व्यतिरेक इति नाम कृतम् । अत्र तु न व्यतिरेकरूपेण साम्यं प्रतिपिपादयिषितम् । अन्यत्वमेव विशेषणान्तरयुक्तमिति । रूपकताशङ्काप्यत्र न कार्या साम्यस्य स्वयमेवाप्रकृतत्वादिति ॥

परिहृतेति । यहाँ प्राकरणिक राजारूप अर्थ से असंभव विशेषणों वाला (राजा के विशेषणों से भिन्न विशेषणों वाला) महादेव (शिव) रूप प्रसिद्ध अप्रस्तुत अर्थ गम्य होता है । महादेव की शेष से सङ्गति है, तीन नेत्र हैं और बैल वाहन है । राजा भी दुष्टों को नष्ट करने वाला, समदर्शी और धर्म की पूजा करने वाला है । इस अलंकार का दूसरों ने व्यतिरेक नामकरण किया है । यहाँ व्यतिरेक के साथ साम्य का प्रतिपादन करना अभीष्ट नहीं । अन्य विशेषण से विलक्षण ही चमत्कार होता है (व्यतिरेक में तो उपमान और उपमेय परस्पर विरुद्ध गुण-दोषों का उपन्यास अपेक्षित होता है) । साम्य के स्वयं ही अप्राकरणिक होने के कारण यहाँ रूपक की भी आशङ्का नहीं की जा सकती ॥

अथावयवश्लेषः—

यत्रावयवमुखस्थितसमुदायविशेषणं प्रधानार्थम् ।
पुष्यन्गम्येतान्यः सोऽयं स्यादवयवश्लेषः ॥ १८ ॥

अब अवयव श्लेष (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ अवयव के द्वार से प्रयुक्त समुदाय के विशेषणों वाला, प्रधान अर्थ को पुष्ट करता हुआ वाक्य, अन्य अर्थ को प्रतीत कराता है वहाँ अवयवश्लेष नामक अलंकार होता है ॥ १८ ॥

यत्रेति । यत्र प्रधानार्थं पुष्यन्प्रकृतार्थपोषं कुर्वाणोऽन्योऽर्थो गम्यते सोऽवयवश्लेषः । कीदृशं प्रधानार्थम् । अवयवमुखेनावयवद्वारेण स्थितानि कृतानि समुदायस्य विशेषणानि यत्र तत्तथोक्तम् ॥

यत्रेति । जहाँ प्रधान अर्थ का पोषण करता हुआ अन्य अर्थ गम्य होता है वहाँ अवयव-श्लेष (अलंकार) होता है । (कैसे प्रधान अर्थ को)—जिसके अवयव के द्वार से समुदाय के विशेषण प्रयोग किये गये हैं ॥

उदाहरणम्—

भुजयुगले बलभद्रः सकलजगल्लङ्घने तथा बलिजित् ।
अक्रूरो हृदयेऽसौ राजाभूदर्जुनो यशसि ॥ १९ ॥

उदाहरण—

'वह राजा दोनों भुजाओं से बलभद्र (बलवान् पक्षा०—बलराम) समूचे संसार को लाँघने मे बलिजित् (बलवानों को जीतने वाले, पक्षा०—वामन) हृदय से अक्रूर (कोमल पक्षा०—अक्रूर जी) और यश में अर्जुन (स्वच्छ, पक्षा०—पाण्डव अर्जुन) था ॥ १९ ॥

भुजयुगल इति । स राजा भुजयुगले बलेन हेतुना भद्रः श्रेष्ठः । तथा सकलस्य जगतो लङ्घने आक्रमणे कर्तव्ये बलिनः शक्तानपि जयत्यभिभवतीति बलिजित् । तथा हृदये मनस्यक्रूरो मृदुः । यशसि चार्जुनः शुक्लः अत्रैतानि विशेषणान्यवयवद्वारेण समुदायस्य स्थितानि । यस्मान्नात्र बलभद्रत्वादिकं भुजादीनाम् । अपि तु राजैव यदा भुजयुगले बलेन भद्रस्तदा स एव बलभद्र इत्युच्यते । तथा सकलजगल्लङ्घने बलिजयनाद्बलिजित् । एवं हृदयस्याक्रूरत्वात्स एवाक्रूरः । यशसोऽर्जुनत्वात् स एवार्जुन इति । एवं प्रधानार्थं पोषयन्नयमन्योऽर्थोऽवगम्यते । यथा—बलभद्रो हलधरः । बलिजिद्वासुदेवः । अक्रूरो वृष्णिविशेषः । अर्जुनः पाण्डवः । एष चात्रप्रधानार्थपोषो यदन्येषां यानि नामानि तान्येवास्यान्वर्थेनं प्रशंसाकारीणीति ॥

भुज युगल इति । वह राजा दोनों भुजाओं में बल के कारण अग्रगण्य तथा सारे संसार पर आक्रमण करने—शक्तिशालियों को पराजित करने—के कारण बलिजित्, मन से कोमल और यश में शुक्ल वर्ण था । यहाँ ये विशेषण अवयव के मुख से समुदाय के कहे गये हैं क्यों कि बलभद्रत्व आदि यहाँ भुजा आदि का नहीं है अपितु राजा ही जब दोनों भुजाओं से बलवान् होने के कारण श्रेष्ठ है तब वही बलभद्र कहा जाता है, सकल संसार पर आक्रमण करने के कारण, बलवानों को जीतने के कारण बलिजित् कहा जाता है । इसी प्रकार हृदय के क्रूर न होने के कारण वही अक्रूर कहा जाता है तथा यश के अर्जुन (धवल) होने के कारण वही अर्जुन कहा जाता है । इस प्रकार प्रधान अर्थ का पोषण करता हुआ यह दूसरा अर्थ गम्य होता है । जैसे—बलभद्र से बलराम, बलिजित् से विष्णु, अक्रूर से वृष्णि कुल का एक व्यक्ति और अर्जुन से पाण्डव । यही यहाँ प्रधान अर्थ का पोषण है कि दूसरों के जो नाम हैं वे ही इस प्रस्तुत अर्थ के अन्वर्थ होने के कारण प्रशंसावाचक हो जाते हैं ॥

अथ तत्त्वश्लेषः—

यस्मिन्वाक्येन तथा प्रक्रान्तस्य प्रसाधयत्तत्त्वम् ।
गम्येतान्यद्वाच्यं तत्त्वश्लेषः स विज्ञेयः ॥ २० ॥

अब तत्त्वश्लेष (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ प्राकरणिक वाक्य के तत्त्व को सुसज्जित करता है अन्य अर्थ गम्य हो उसे तत्त्वश्लेष कहते हैं ॥ २० ॥

यस्मिन्निति । यत्र वाक्येन पूर्ववत्प्रक्रान्तस्यार्थस्य तत्त्वं परमार्थं प्रसाधयदलंकुर्वाणमन्यद्वाक्यमर्थान्तरं गम्यते स तत्त्वश्लेषो विज्ञेयः ॥

यस्मिन्निति । जहाँ पूर्व (अवयवश्लेष) के ही समान प्राकरणिक अर्थ के तत्त्व को सुसज्जित करता हुआ अन्य (वाच्य) अर्थ गम्य होता है उसे तत्त्व-श्लेष जानना चाहिये ॥

उदाहरणमिदम्—

नयने हि तरलतारे सुतनु कपोलौ च चन्द्रकान्तौ ते ।
अधरोऽपि पद्मरागस्त्रिभुवनरत्नं ततो वदनम् ॥ २१ ॥

यह उदाहरण—

'हे सुन्दराङ्गि ! तुम्हारे दोनों नेत्र चञ्चल तारों वाले और दोनों कपोल चन्द्रमा के समान कमनीय हैं । ओष्ठ भी कमल के समान लोहित है फिर मुख तो तीनों लोकों का रत्न है ही ॥ २१ ॥'

नयन इति । हे सुतनु, तव नयने चञ्चलकनीनिके । कपोलौ च चन्द्रवत्कान्तौ । पद्मवल्लोहित ओष्ठः । ततो वदनं मुखं त्रिभुवने रत्नं सारम् । जातौ यद्यदुत्कृष्टं तत्तद्रत्नमुच्यते । एवमर्थं प्रसाधयन्नयमन्योऽर्थो गम्यते । तव नयने तरले च तारे च । तरलो हारमध्यमणिः । तथा चन्द्र-कान्तो मणिभेदः, पद्मरागश्च । यतश्चैतेऽवयवा रत्नरूपास्ततो वदनं त्रिभु-वनरत्नं चिन्तामणिरेव । अस्माच्च पूर्वत्र विशेषोऽवयवमुखस्थितसमुदा-यविशेषणत्वमिति ॥

नयन इति । हे सुन्दरि ! तेरे दोनों नेत्र चञ्चल कनीनिकाओं वाले हैं और दोनों कपोल चन्द्रमा के समान कमनीय हैं । ओष्ठ भी कमल के समान लोहित है । फिर मुख तो तीनों लोकों का सार है ही । प्रत्येक जाति में जो उत्कृष्ट होता है वह रत्न कहा जाता है । इस अर्थ को सजाता हुआ यह अर्थ गम्य होता है—तुम्हारे नेत्र तरल हैं और तार हैं । तरल हार के मध्यमणि को कहते हैं । चन्द्रकान्त भी एक प्रकार की मणि है और पद्मराग भी । ये अवयव

(नेत्र आदि) रत्न सदृश हैं अतएव मुख भी त्रैलोक्य का रत्नभूत चिन्तामणि ही है। इससे पूर्व (अवयवश्लेष) का भेद यह है कि उसमें अवयव के मुख से समुदाय के विशेषण उपन्यस्त होते हैं॥

अथ विरोधाभासः--

स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम्।
अन्यद्वाक्यं गमयेदविरुद्धं सद्विरुद्धमिव॥ २२॥

अब विरोधाभास (का लक्षण करते हैं)—

'जहाँ एक ही वाक्य विरुद्ध न होते हुये भी अन्य पृथक् दो विरुद्ध अर्थों की प्रतीति उत्पन्न करता है वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है॥ २२॥'

स इति। स इत्यनेन प्रकारेण विरोधाभासोऽलंकारः, यस्मिन्नेकमेव वाक्यमन्यदर्थद्वयं पृथग्भूतं गमयति। कीदृशमर्थद्वयम्। स्वरूपेणाविरुद्धमपि विरुद्धमिव लक्ष्यमाणम्॥

स इति। जहाँ एक ही वाक्य अन्य दो पृथक् अर्थों की प्रतीति कराता है वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। किस प्रकार के दो अर्थों की (प्रतीति करता है)। स्वरूपतः अविरुद्ध भी विरुद्ध से प्रतीत होने वाले॥

उदाहरणमाह—

तव दक्षिणोऽपि वामो बलभद्रोऽपि प्रलम्ब एष भुजः।
दुर्योधनोऽपि राजन् युधिष्ठिरोऽस्तीत्यहो चित्रम्॥ २३॥

उदाहरण देते हैं—

'हे राजन्! यह बड़ा आश्चर्य है कि आप की यह भुजा दक्षिण होकर भी (भक्तों के लिये दक्षिण और शत्रुओं के लिये वाम), बलभद्र (बलराम) होकर भी प्रलंब (प्रलम्बासुर), दुर्योधन (युद्ध में जिसके साथ बड़े कष्ट से लड़ा जा सके) होकर भी युधिष्ठिर (रण में स्थिर) है॥ २३॥'

तवेति। हे राजन, तव बाहुर्भक्तान्प्रत्यनुकूलत्वाद्दक्षिणोऽपि शत्रून्प्रति प्रतिकूलतया वाम इत्यविरुद्धमर्थद्वयम्। तथा स एव बलेन भद्रोऽपि श्रेष्ठोऽपि प्रलम्बो दीर्घः। तथा दुःखेन योध्यत इति दुर्योधनोऽपि युधि समरे स्थिरोऽचञ्चल इत्यविरोधः। विरोधप्रतिभासश्च दक्षिणवामयोः सव्येतररूपयोरन्यत्वात्, तथा बलभद्रप्रलम्बयोर्हलधरासुरयोरन्यत्वात्, तथा दुर्योधनयुधिष्ठिरयोर्धार्तराष्ट्रपाण्डवयोर्भिन्नत्वाल्लक्ष्यते। अथ विरोधादस्य को विशेषः। उच्यते—तत्र यादृग्विशेषणमादौ निर्दिष्टं तत्प्रत्यनीकं पुनरुच्यते। यथा संवर्धितकमलोऽप्यवदलितनालिक इति। अत्र तु

वाक्यान्तरार्थपर्यालोचनया विरोधच्छायास्तीति । अत्रापि भवति, यदि दुर्योधनोऽपि सुयोधन इत्युच्यते । अत एव विरोधाभाससंज्ञा ॥

तवेति । हे राजन् ! तुम्हारी भुजा भक्तों के प्रति अनुकूल होने के कारण दक्षिण होकर भी शत्रुओं के प्रति प्रतिकूल होने के कारण वाम है—ये दोनों अविरुद्ध अर्थ हैं । तथा वही (भुजा) बल के कारण श्रेष्ठ होकर भी प्रलम्ब (दीर्घ) है तथा दुःख के साथ जिससे युद्ध किया जाय इस प्रकार दुर्योधन होकर भी रण में वह अडिग है--इस प्रकार विरोध का बहिष्कार हो जाता है । विरोध का प्रतिभास भी दक्षिण और वाम के पृथक् होने के कारण, बलभद्र और प्रलम्ब के—बलराम और राक्षस के पृथक् होने के कारण तथा दुर्योधन और युधिष्ठिर के—धार्तराष्ट्र और पाण्डवों के भिन्न होने के कारण लक्षित होता है । फिर विरोध से इसका क्या भेद है ?—बताते हैं—विरोध में जिस प्रकार के विशेषण का आदि में निर्देश होता है उसी का उलटा दुबारा कहा जाता है । जैसे—कमलों का पोषण करने वाला और नालों को खाने वाला (वह) । यहाँ तो दूसरे वाक्य के अर्थ की पर्यालोचना के कारण विरोध की छाया हो रही है । यहाँ भी 'दुर्योधन होकर भी सुयोधन' ऐसा कहने पर (विरोध की छाया) होगी ही । इसी लिये (इसे) विरोध नहीं विरोधाभास कहा गया है ॥

एवं शुद्धानलंकारान्सप्रभेदानाख्यायाधुना पूर्वकविलक्ष्यसिद्ध्यर्थं संकीर्णांस्तानाह—

एषां तु चतुर्णामपि संकीर्णानां स्युरगणिता भेदाः ।
तन्नामानस्तेषां लक्षणमंशेषु संयोज्यम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार शुद्ध अलंकारों का भेदों के साथ वर्णन कर के अब पूर्व कवियों के उदाहरणों की सिद्धि के लिये संकर-भेदों का वर्णन करते हैं--

'इन (वास्तव आदि) चारों भेदों के संकीर्ण होने पर अनन्त भेद होते हैं। उनका उन्हीं के नाम पर नामकरण होता है । (इस प्रकार) उन-उन अंशों में उन्हीं के लक्षण की योजना करनी चाहिये ॥ २४ ॥'

एषामिति । एषां चतुर्णां वास्तवौपम्यातिशयश्लेषाणां संकीर्णानां मिश्राणां भेदाः स्युर्भवन्ति । कियन्त इत्याह--अगणिताः बाहुल्यपरमेतद्वचनम् । संख्या तु विद्यते । एषां त्विति तुरवधारणे । तेषामेव नान्यदलंकारजातमस्तीत्यर्थः । किं तेषां भेदानां नामेत्याह--तन्नामान इति । येषामलंकाराणां मिश्रभावस्त एव मिलितास्तेषां नामेत्यर्थः । यदि सहोक्तेः समुच्चयस्य च संकरस्तदा सहोक्तिसमुच्चय इति नाम । उत सहोक्तेर्व्यति-

रेकस्य च तदा सहोक्तिव्यतिरेक इति नाम । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । किं तेषां तर्हि लक्षणमित्याह—तेषामित्यादि । तेषां संकरभेदानां लक्षणमंशेषु भागेषु संयोज्यम् । यस्यालंकारस्य योंऽशस्तदीयमेव तत्र लक्षणमित्यर्थः ॥

एषामिति । वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—इन चारों का संकर होने पर भेद होते हैं । कितने ? अगणित (यह शब्द बाहुल्यपरक है) । संख्या तो होती ही है । 'एषां तु' में तु अवधारण अर्थ में आया है । तात्पर्य यह है कि संकर केवल इन्हीं चार अलंकारों का होता है और किसी अलंकार का नहीं । उन भेदों का नाम क्या है—इसे बताते हैं—तन्नामान इति । जिन अलंकारों का उनमें संकर होता है उन्हीं पर उनका नामकरण भी होता है । जैसे यदि सहोक्ति और संकर का समुच्चय होगा तब सहोक्तिसमुच्चय नाम पड़ेगा । इसी प्रकार सहोक्ति और व्यतिरेक का संकर होने पर सहोक्ति व्यतिरेक नाम पड़ता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । फिर उनका लक्षण क्या है ?—संकर के उन भेदों का लक्षण उन-उन अंशों में जोड़ देना चाहिए जिस अलंकार का जो अंश है उस अलंकार का लक्षण ही उसमें लक्षण होगा ॥

अथ संकरस्यैव भेदानाह—

योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च ।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात्संकर उत्पद्यते द्वेधा ॥ २५ ॥

अब संकर के ही भेद बताते हैं—

'इन वास्तव आदि अलंकारों के तिल और चावल, दूध और जल के समान मिश्रण होने पर उनके अंशों के स्फुट और अस्फुट होने के भेद से सङ्कर अलङ्कार दो प्रकार का होता है ॥ २५ ॥'

योगवशादिति । एतेषां वास्तवादीनां संकरो व्यक्ताव्यक्तांशत्वाद्वेतो-द्वेधा द्विप्रकारो भवति । व्यक्ताव्यक्तांशत्वमपि कुत इत्याह—योगवशात् । तथाविधसंबन्धवशादित्यर्थः । केषां यथा स स्यादित्याह—तिलतण्डुलव-दित्यादि । तिलतण्डुलानां यथा व्यक्तांशः संकरः, दुग्धजलयोश्चाव्यक्तां-शस्तद्वदेतेषामपीत्यर्थः ॥

योगवशादिति । इन वास्तव आदि का संकर (उनके) अंश के स्फुट और अस्फुट होने के भेद से दो प्रकार का होता है । अंश का स्फुट और अस्फुट होना भी कैसे संभव है' इसे बताते हैं—योगवशात् । तथाविध संबन्ध होने के कारण । किन के समान वह अंश स्फुट तथा अस्फुट होता है—तिल और चावल के समान आदि । तिल और चावल के समान व्यक्तांश संकर तथा दूध और जल के समान अव्यक्तांश संकर के समान इन (अलंकारों) का भी संकर होता है ॥

अत्र हि दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थमाह—

अभियुज्य लोलनयना साध्वसजनितोरुवेपथुस्वेदा ।
अबलेव वैरिसेना नृप जन्ये भज्यते भवता ॥ २६ ॥

अत्र दिगुन्मीलन के लिये उदाहरण देते हैं—'अभिसरण करके लज्जा के कारण उत्पन्न अत्यधिक कम्प और पसीने वाली चपलाक्षी रमणी जिस प्रकार कामी के द्वारा सेवन की जाती है उसी प्रकार हे राजन् ! मुझे प्रतीत होता है कि आक्रमण करके, डर के कारण अत्यधिक और स्वेद वाली इधर-उधर नेत्रों से घबड़ायी हुयी शत्रु की सेना आप के द्वारा भङ्ग की जाती है ॥ २६ ॥'

अभियुज्येति । त्वया सेनाभियुज्याक्रम्य भज्यते भङ्गं नीयते । कीदृशी । भयवशाल्लोलनयना चञ्चलाक्षी । तथा साध्वसेन भयेन जनित उरुर्महान्वेपथुः कम्पः स्वेदश्च यस्याः । अत्राबलेव सेनेति । यथा येन केन चिद्वनिता भज्यते सेव्यते तेनाभियुज्याभिसृत्यादौ ततो भज्यते । तथा सापि प्रथमसमागमवशाच्चञ्चलनेत्रा भवति । तस्या अपि साध्वसेनोर्वीवेपथुस्वेदौ भवत इति । इहाबलेवेत्येष उपमाविभागः अभियुज्येत्यादिकस्तु श्लेषविभागः । तयोर्लक्षणं स्वधिया योज्यम् । एतौ तिलतण्डुलवत्प्रकटौ ॥

अभियुज्येति । तुम आक्रमण करके सेना को भङ्ग कर देते हो । कैसी सेना को ? (तुम्हारे) भय के कारण जिसके नेत्र चञ्चल हो उठते हैं तथा भय के कारण जिसे अत्यधिक कम्पन और पसीना होने लगता है । यहाँ स्त्री के समान सेना (इस प्रकार अर्थ है) । जिस प्रकार कोई रमणी का सेवन करता है—प्रथम वह अभिसरण करता है फिर सेवन करता है तथा उस रमणी के भी नेत्र प्रथम समागम के कारण चञ्चल हो जाते हैं तथा साध्वस के कारण अत्यधिक स्वेद और कम्पन होता है । यहाँ 'अबलेव' में उपमा है । तथा अभियुज्य आदि में श्लेष है । उन दोनों का लक्षण अपनी बुद्धि से घटा लेना चाहिए । ये दोनों (उपमा और श्लेष अलंकार) तिल और चावल के समान स्फुट हैं ।

तथान्यदप्यत्रैवाह—

सन्नारीभरणो भवानपि न किं किं नाधिरूढो वृषं
किं वा नो भवता निकामविषमा दग्धाः पुरो विद्विषाम् ।
इत्थं द्वौ परमेश्वराविह शिवस्त्वं चैकरूपस्थिती
तत्किं लोकविभो न जातु कुरुषे सङ्गं भुजंगैः सह ॥२७॥

उससे भिन्न भी उदाहरण यहीं देते हैं—'क्या आप भी सन्नारीभरण नहीं हैं (सती स्त्री का पोषण करने वाले, पक्षा०—रण में शत्रुओं के हाथी को मार

डालने वाले), क्या आप वृष पर (बैल, पक्षा०-- धर्म) पर आरूढ़ नहीं हैं। क्या आपने शत्रुओं के निकामविषम (तीन, पक्षा०—अत्यन्त दुर्ग) नगर नहीं जलाये हैं। इस प्रकार इस संसार में शिव और तुम समान स्थिति वाले दोनों ही परमेश्वर हो, तब क्यों हे राजन् (तुम) भुजङ्गों (सर्प, पक्षा०—विलासियों, दुष्टों) की सङ्गति नहीं कर रहे हो ॥ २७ ॥'

सन्नारीति। हे लोकविभो राजन् , इत्थमुक्तप्रकारेण त्वं हरश्च परमेश्वरौ। यस्मादेकरूपस्थिती तुल्यस्वभावव्यवहारौ। तत्कदाचिदपि भुजंगैः सह सङ्गं न कुरुषे। तदेव तुल्यत्वं वक्ति—स हि हरः सतीं नारीमुमाख्यां बिभर्ति धारयति। भवानपि शोभनां नारीं बिभर्ति पोषयत्येव। अथवा सन्ना अवसादं गता अरीभा रिपुकरिणो रणे यस्य स तथाविधः। हरो वृषं जरद्गवमधिरूढः। भवानपि वृषं धर्मम्। तथा हरेण विद्विषां त्रिपुरवासिनां विषमास्तिस्रः पुरो दग्धाः। भवतात्यन्तदुर्गाः शत्रूणां पुरो दग्धाः। सर्वत्र किंशब्दः प्रश्ने। तथा तस्य परमेश्वर इति संज्ञा। त्वमपि परम उत्कृष्ट ईश्वरोऽर्थवान्। एवं यादृशो हरस्तादृशो भवानपि। तद्यथा तेन भुजंगैः सह संपर्कः कृतस्तथा त्वयापि खिङ्गैः कथं न कृत इति व्यतिरेकस्य श्लेषस्य चात्र संकरः। साधारणविशेषणयोगात् (श्लेषणयोगात्) श्लेषसद्भावः। हरे उपमाने भुजंगसङ्गस्य दोषस्य सत्त्वाद्राजनि चासत्त्वाद्गुणत्वे सति व्यतिरेकसद्भावः। एतौ चात्र तिलतण्डुलवत्प्रकटौ॥

सन्नारीति। हे लोकेश्वर राजन्! इस प्रकार आप और शंकर परम ईश्वर हैं। आप दोनों की स्थिति समान है; व्यवहार और स्वभाव तुल्य हैं। तो फिर (तुम) भुजङ्गों की सङ्गति कभी भी क्यों नहीं करते। उसी तुल्यता को बताते हैं—वे शिव उमा नाम वाली सती नारी को धारण करते हैं। आप भी सुन्दर स्त्रियों का पोषण करते ही हैं। अथवा सन्न हो गये—कष्ट को प्राप्त हो गये शत्रुओं के हाथी जिसके रण में ऐसे आप। शिव जी वृद्ध वृष (बैल) पर सवार होते हैं। आप भी वृष (धर्म) पर। इसी प्रकार शिव ने त्रिपुरवासियों के तीन नगर जला डाले तो आप ने शत्रु के अत्यन्त अगम नगरों को जला डाला। किं शब्द सर्वत्र प्रश्न के लिये प्रयोग किया गया है। तथा उस (शिव) की 'परमेश्वर' 'यह संज्ञा है। तुम भी अत्यन्त वैभवशाली हो। इस प्रकार जैसे शिव हैं वैसे ही आप भी। तो फिर जैसे उन्होंने भुजङ्गों (सर्पों) के साथ संपर्क स्थापित किया है उसी प्रकार तुमने भी षिड्गों के साथ क्यों नहीं किया—इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक और श्लेष का संकर है। साधारण (उभयाश्रित) विशेषणों के योग से यहाँ श्लेष है। उपमान शिव में भुजङ्ग की संगति के दोष के भाव

और (उपमेय) राजा में अभाव के कारण गुण होने से व्यतिरेक है। ये दोनों (श्लेष और व्यतिरेक) तिल और चावल के समान स्फुट हैं॥

इदानीमव्यक्तसंकरोदाहरणमाह--

आलोकनं भवत्या जननयनानन्दनेन्दुकरजालम् ।
हृदयाकर्षणपाशः स्मरतापप्रशमहिमसलिलम् ॥ २८ ॥

आगे अव्यक्त संकर का उदाहरण देते हैं—'तुम्हारा देखना लोगों के नेत्रों, को आनन्द देने वाले चन्द्र का किरण–पटल, हृदय को आकर्षित करने के लिये पाश, और काम-संताप को शान्त करने के लिये शीतल जल है॥ २८॥'

आलोकनमिति। भवत्या आलोकनं जननयनानन्दनेन्दुकरजालमेवेति रूपकम्। गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदेति रूपकलक्षणात् अथवा भवत्या आलोकनं जननयनानन्दने इन्दुकरजालमिवेत्युपमा। एतौ चालंकारावव्यक्तांशौ। अत्र प्रमाणाभावादेकत्रानिश्चयः। दोषाभावाच्चोभयमप्याश्रयितुं योग्यम्। एवं हृदयाकर्षणपाश एव पाश इव वा। स्मरतापप्रशमने हिमसलिलमेव तदिव वेति। रूपकोपमासंकरोऽयमलंकारः॥

आलोकनमिति। आप का देखना लोगों के नेत्रों को आनन्द देने वाला चन्द्र का किरण-पटल है— यह रूपक है। क्यों कि गुणों में साम्य होने पर उपमान और उपमेय में अभेद रूपक का लक्षण कहा गया है। अथवा तुम्हारा देखना लोगों के नेत्रों को आनन्द देने में चन्द्र के किरण-पटल के समान है–यह उपमा है। इन दोनों (रूपक और उपमा) अलंकारों का अंश अव्यक्त है। यहाँ साधक के अभाव के कारण किसी एक का निश्चय नहीं हो पाता तथा बाधक के अभाव के कारण दोनों का ही आश्रय लिया जा सकता है। इसी प्रकार हृदय के आकर्षण करने में पाश ही है या पाश के समान है (तथा) काम-संताप का निवारण करने में शीतल जल ही है या उसके समान है (आदि समझना चाहिये)। यह रूपकोपमा संकर अलंकार है॥

तथा—

आदौ चुम्बति चन्द्रबिम्बविमलां लोलः कपोलस्थलीं
संप्राप्य प्रसरं क्रमेण कुरुते पीनस्तनास्फालनम् ।
युष्मद्वैरिवधूजनस्य सततं कण्ठे लगत्युल्लसन्-
किं वा यन्न करोत्यवारितरसः कामीव बाष्पः पतन् ॥२९॥

इसके अतिरिक्त—'प्रारम्भ में चन्द्र-बिम्ब के समान स्वच्छ कपोलस्थली का चुम्बन करता है। तदनन्तर (वह) लोलुप प्रसार पाकर क्रमशः स्थूल स्तनों का आस्फालन करता है—इस प्रकार उल्लसित होकर निरन्तर गले में लगता है—(राजन्) तुम्हारी शत्रु रमणियों का आँसू अनिवारित आवेश वाला कामी वह क्या है जिसे गिरता हुआ नहीं करता है ॥ २९ ॥'

आदाविति। हे नृप, युष्मद्वैरिवधूजनस्य संबन्धो बाष्पः पतन्प्रसरन्कामीव किं वा यन्न करोति। वा इवार्थे। किमिव यन्न करोतीत्यर्थः। बाष्पस्तावत्पतन्प्रथमं कपोलस्थलीं चुम्बति। कामुकोऽपि तथैव। ततो बाष्पः प्रसरं प्राप्य क्रमेण पीनस्तनास्फालनं कुरुते। काम्यपि तदेव। ततः कण्ठे च द्वावपि लगतः। ततश्चावारितरसो बाष्पः कामीव किमिव न कुरुते। जघनस्थलमपि स्पृशतीत्यर्थः। अत्र रूपकोपमाश्लेषपर्यायाणां संकरः। तत्र कपोलस्थलीमिति रूपकम्। कामीव चन्द्रबिम्बविमलामिति चोपमा। बाष्पकामिनोः साधारणविशेषणयोगाच्छ्लेषः। शत्रवश्च त्वया जिता इति तात्पर्यतः पर्यायसद्भाव इति। अत्र चालंकारसंकरे पूर्वकविलक्ष्याणि भूरिशो दृश्यन्त इत्यत्र महानादरः कार्यः। तथा च—'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु' इत्यादि। अत्रोत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासोपमानां संकरः। यथा च—'रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणैस्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि। कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥' एतौ श्लेषव्यतिरेकौ। एवमन्यदपि बोद्धव्यमिति ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो

दशमोऽध्यायः समाप्तः।

आदाविति। हे राजन्! तुम्हारे शत्रु-रमणियों के आँसू कामुक के समान क्या क्या नहीं करते हैं। 'वा' शब्द इव के अर्थ में आया है। अर्थात् क्या क्या है जो नहीं करता है (अर्थात् सब कुछ करता है)। बाष्प (आँसू) पहले गिरकर कपोलस्थली को चूमता है—कामुक भी उसी प्रकार (कपोलस्थली को ही चूमता है)। तदनन्तर आँसू प्रसार पाकर स्थूल स्तनों पर आघात करता है—कामी भी उसी प्रकार स्थूल स्तनों का आमर्दन करता है। तदनन्तर दोनों (आँसू और कामी) ही गले में लिपटते हैं। तदन्तर अनिवारित आवेश वाले कामी के समान अनिवारित वेग वाला आँसू क्या नहीं करता है अर्थात् जघन स्थल का भी स्पर्श कर लेता है। यहाँ रूपक, उपमा, श्लेष और पर्याय अलंकारों का संकर है। उनमें कपोलस्थली (कपोल रूप स्थल) में रूपक है। 'कामुक के

समान चन्द्रबिम्ब के सदृश स्वच्छ'–इस स्थल पर उपमा है। बाष्प और कामुक के साधारण (उभयाश्रित) विशेषणों के योग के कारण श्लेष है, 'तुमने शत्रुओं को जीत लिया' यह प्रयोजन होने के कारण पर्याय अलंकार है। इस संकर अलंकार के पूर्व कवियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अतएव इनकी रचना में कवि का विशेष अभिनिवेश होना चाहिये। उदाहरण भी है —'जो गुफाओं में सूर्य से रक्षा करती है' इत्यादि। इसमें उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास और उपमा का संकर है॥ और भी--'तुम नये नये पल्लवों से रक्त हो, मैं भी प्रिया के प्रशंसनीय गुणों से रक्त हूँ। तुम्हारे पास शिलीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं तो हे मित्र मेरे पास भी काम के धनुष से छोड़े गये शिलीमुख (बाण) आ रहे हैं। यदि कान्ता के पाद (चरण) का आघात तुम्हारी प्रसन्नता (विकास) के लिये है (पादाघातादशोको विकसति, यह कवि प्रसिद्धि है) तो उसी प्रकार मेरे लिये भी। हम दोनों का सब कुछ समान है। हे अशोक केवल मैं विधाता के द्वारा सशोक बना दिया गया हूँ।' यहाँ श्लेष और व्यतिरेक का संकर है। इसी प्रकार और भी संकर भेदों को जानना चाहिए॥

इस प्रकार रुद्रट रचित काव्यालंकार में नमि साधु रचित टिप्पणी से युक्त दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्थस्यालंकारा अभिहिताः । संप्रति दोषाः कथ्यन्ते । नन्वर्थालंकारप्रतिपादनात्प्रागेवार्थदोषाः परिहृता एव तत्किमिति पुनस्ते कथ्यन्त इत्याह—

परिहृत एव प्रायो दोषोऽर्थस्यान्यथोक्तिपरिहारात् ।
अयमुच्यते ततोऽन्यस्तत्कारणमन्यथोक्तौ च ॥ १ ॥

अर्थ के अलंकारों का विवेचन हो चुका अब (उसके) दोषों का विवेचन करेंगे प्रश्न यह उठता है कि अर्थ के अलंकारों का प्रतिपादन करने अर्थ के दोषों का परिहार पहले ही हो चुका फिर उनके वर्णन करने की क्या आवश्यकता—इसे बताते हैं—

'अन्यथोक्ति (स्वरूप के विपरीत अभिधान) के परिहार से (वास्तवादि से) अर्थ के दोष का परिहार तो प्रायः किया ही जा चुका है । अन्यथोक्ति से भिन्न (स्वल्प दोष) का उस अर्थ की अन्यथा उक्ति में जो कारण होते हैं उसका यहाँ विवेचन किया जा रहा है ॥ १ ॥'

परिहृत इति । 'सर्वः स्वं स्वं रूपम्' (७ । ७) इत्यादिना ग्रन्थेनार्थस्य विपरीतकथनलक्षणो यो महान्दोषः सोऽस्माभिः 'तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथातिसारत्' (७ । ७) इत्यनेनान्यथोक्तिपरिहारात्परिहृत एव । यस्तु ततोऽन्यथोक्तेरन्यः स्वल्पदोषः सोऽयमधुनोच्यते । तथा तस्यार्थस्यान्यथोक्तौ यत्कारणं तदप्युच्यते । परिहृतमेव सर्वं दोषजातमन्यथोक्तिपरिहारद्वारेण । किंचिदेव दुर्लक्ष्यमपरिहृतमस्तीति प्रायोग्रहणेन सूच्यते । यत्तु विद्यते तदधुना परिह्रियते ॥

परिहृत इति । 'सभी (अर्थ) अपने अपनेरूप में ही वर्तते हैं (७।७) आदि कारिका के द्वारा अर्थ के अन्यथा-उपन्यास रूप महान् दोष का हमने 'उस (अर्थ) को अकारण रस के आवेश में आकर अन्यथा नहीं उपन्यस्त करना चाहिए' (७।७) आदि कारिका के द्वारा परिहार तो कर ही दिया । उस अन्यथा-उपन्यास के अतिरिक्त जो स्वल्प दोष होते हैं उनका अब आगे वर्णन किया जायगा तथा उस अर्थ के अन्यथा-उपन्यास में यदि कारण होता है तो उसका भी व्याख्यान किया जायगा । (तात्पर्य यह कि) अन्यथा-उपन्यास का परिहार

करके सकलदोष का परिहार किया ही जा चुका है। (कारिका में) 'प्रायः' ग्रहण से यह सूचित होता है कि कठिनाई से भाँपे जाने योग्य कुछ ही दोष हैं जिनका परिहार नहीं हो सका है। जो (दोष) हैं उनका अत्र परिहार किया जा रहा है ॥

अथ तानेव दोषानुद्दिशति—

अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसंबद्धः ।
ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

उन दोषों का नाम गिनाते हैं—'अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असंबद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान्, और अतिमात्र दुष्ट अर्थ हैं ॥ २ ॥'

अपहेतुरिति। अपहेत्वादयो नवार्थदोषाः। इतिशब्दो हेत्वर्थे प्रत्येकमभिसंबध्यते। यतोऽपहेतुरतो दुष्ट इत्यर्थः। एवमन्यत्रापि योज्यम् ॥

अपहेतुरिति। अपहेतु आदि अर्थ के नव दोष हैं। हेतु के अर्थ में इति शब्द प्रत्येक के साथ अन्वित होता है। अर्थात् अपहेतु है अत एव दुष्ट है। इसी प्रकार अन्यत्र भी योग होगा ॥

यथोद्देशस्तथा लक्षणमिति कृत्वा पूर्वमपहेतुलक्षणमाह—

अपहेतुरसौ यस्मिन् केनचिदंशेन हेतुतामर्थः ।
याति तथात्वे युक्त्या बलवत्या बाध्यते परया ॥ ३ ॥

'नाम-संकीर्तन के अनुसार लक्षण करना चाहिये' इस परम्परा के अनुसार सर्वप्रथम अपहेतु का स्वरूप बताते हैं—'जहाँ किसी अंश में कोई अर्थ किसी कार्य का कारण बन जाता है और बलवती युक्ति से बाधित हो जाता है–उसे अपहेतु कहते हैं ॥ ३ ॥

अपहेतुरिति। असावपहेतुर्दोषः, यत्र केनचित्प्रकारेणार्थस्तथात्वे तद्धर्मतायां हेतुत्वं याति। स च हेतुतां गतः सन्नपरया बलिष्ठया युक्त्या बाध्यते। यदा चार्थहेतुत्वसद्भावस्तदान्यथोक्तिपरिहारेण न परिहृतः ॥

अपहेतुरिति। जहाँ किसी संयोग से कोई अर्थ किसी कार्य का कारण हो जाता है उसे अपहेतु नामक दोष कहते हैं। कारण बन जाने पर (बाद में) वह बलवती युक्ति से बाधित हो जाता है। जब वह उस अर्थ का वास्तविक हेतु होता है तब अन्यथा उपन्यास के द्वारा किये गये परिहार से उसका परिहार नहीं होता।

उदाहरणम्—

तव दिग्विजयारम्भे बलधूलीबहलतोयजनितेषु ।
गगनस्थलेषु भानोश्चक्रमभूद्रथभराभिज्ञम् ॥ ४ ॥

उदाहरण—'तुम्हारी दिग्विजय के अभियान में सेना से (उठी हुई) धूलिपटलरूपी जल में उत्पन्न गगनभूमियों में सूर्य का चक्का रथ के भार से सुपरिचित हो गया ॥ ४ ॥'

तवेति । गतार्थमेव । अत्र धूलेर्बहलत्वलक्षणोऽर्थः स्थलत्वे हेतुतां यात्येव । किं तु स्थलस्य गगने निराधारत्वादवस्थानं न संभवतीत्यनयोत्तरकालभाविन्या बलवत्या युक्त्या बाध्यते ॥

तवेति । अर्थ तो सुस्पष्ट ही है । यहाँ धूलि का आधिक्य स्थल होने में कारण बन ही जाता है । किन्तु स्थल की आकाश में निराधार होने के कारण सत्ता संभव ही नहीं है, इस प्रकार उत्तर काल में होने वाली बलवती युक्ति से बाधित हो जाता है ॥

अथाप्रतीतः—

अर्थोऽयमप्रतीतो यः सन्नपि न प्रयुज्यते वृद्धैः ।
शरदिव विभाति तन्वी विकसत्पुलकोत्करेयमिति ॥ ५ ॥

अप्रतीत (का लक्षण करते हैं)—'जो अर्थ विद्यमान होने पर भी कुशलों के द्वारा व्यवहार में नहीं लाया जाता वह अप्रतीत कहा जाता है ॥ (जैसे)—बढ़ती हुयी पुलकावलियों वाली यह कृशाङ्गी शरद् के समान सुशोभित होती है ॥ ५ ॥'

अर्थ इति । अयमप्रतीतोऽर्थो भण्यते यो विद्यमानोऽपि वृद्धैः पूर्वकविभिर्न प्रयुज्यते । उदाहरणम्—[शरदिति] प्रसरद्रोमाञ्चनिवहा तन्वी भाति । शरच्च पुष्प्यत्पुलकाख्यवृक्षविशेषनिवहा । अत्र पुलकशब्दो वृक्षविशेषवाचकोऽपि तद्वाचकत्वेन पूर्वकविभिर्न प्रत्युक्त इति न प्रयोज्यः ॥

अर्थ इति । जो अर्थ विद्यमान (कोष में पठित) होने पर भी प्राचीन कवियों के द्वारा नहीं प्रयोग किया गया है उसे अप्रतीत कहते हैं । उदाहरण—[शरदिति ।] उठते हुये रोमाञ्च निवह वाली कृशाङ्गी शोभित होती है । शरद् भी पुष्पित होते हुये पुलक नामक वृक्ष विशेष की पंक्तियों से युक्त होती है । यहाँ पुलक शब्द वृक्ष विशेष का वाचक होकर भी उस अर्थ में पूर्व कवियों के द्वारा नहीं प्रयोग किया गया है । अतएव (उसका अप्रयुक्त अर्थ में) प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥

अथ निरागमः—

आगमगम्यस्तमृते य उच्यतेऽर्थो निरागमः स इति ।
सततं सराजसूयैरीजे विप्रोऽश्वमेधैश्च ॥ ६ ॥

अब निरागम (का लक्षण करते हैं)—'आगम (सिद्धान्त) सापेक्ष होने पर भी जो अर्थ आगम-निरपेक्ष ही कहा जाता है उसे निरागम कहते हैं। (उदाहरण) वह ब्राह्मण सदैव राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करता था ॥ ६ ॥'

आगमेति। योऽर्थ आगमात्सिद्धान्ताद्गम्यते, अथ चागमनिरपेक्ष एवोच्यते, स इत्यनेन प्रकारेण निरागमः। उदाहरणम्—सततमिति। अत्र विप्रस्य राजसूयाश्वमेधौ यागौ कथितौ। तौ च वेदगम्यौ। वेदे च तयोर्नृपस्यैवाधिकारो न ब्राह्मणस्येत्युक्तम् ॥

आगमेति। जो अर्थ आगम (सिद्धान्त) से गम्य होकर भी आगम-निरपेक्ष ही उपन्यस्त होता है उसे निरागम समझना चाहिये। उदाहरण—सततमिति। यहाँ राजसूय और अश्वमेध यज्ञ ब्राह्मण के बताये गये हैं। उन दोनों का ज्ञान वेद से होता है और उन दोनों को करने का अधिकार राजा को प्राप्त है ब्राह्मण को नहीं। (किन्तु यहाँ ब्राह्मण का) बताया गया है। (अत एव उक्त अर्थ निरागम दोष से दुष्ट है) ॥

अथ बाधयन्—

यः पूर्वमन्यथोक्तं तद्वक्तृकमेव बाधयेदर्थम्।
अर्थः स बाधयन्निति मृगाक्षि नेत्रे तवानुपमे ॥ ७ ॥

बाधयन् (का लक्षण करते हैं—

'जो उस (समान) वक्ता के ही अन्यथा उक्त पूर्व अर्थ को बाधित कर देता है वह बाधयन् अर्थ कहा जाता है। जैसे हे मृगाक्षि! तेरे नेत्र अनुपम हैं ॥७॥'

य इति। योऽर्थ उत्तरकालं भण्यमानः समानवक्तृकं पूर्वमन्यथोक्तमर्थं बाधयेत्स बाधयन्निति भण्यते। यथा—मृगाक्षि नयने तवानुपमे, अत्र येनैव वक्त्रा प्रथमं मृगाक्षीत्युक्तं तेनैव पुनस्तव नयने अनुपमे इति पूर्वस्य बाधकमुक्तम्। इदं चात्र निदर्शनम्। यथा—'वपुरनुपमं नाभेरूर्ध्वं विधाय मृगीदृशो ललितललितैरङ्गन्यासैः पुरा रभसादिव। तदनु सहसा खिन्नेनेव प्रजापतिना भृशं पृथुलपृथुला स्थूलस्थूला कृता जघनस्थली ॥' अत्र नाभेरूर्ध्वमनुपमं वपुरित्याद्युक्त्वा मृगीदृश इत्युक्तम् ॥

य इति। उत्तर काल में उपन्यस्त होने वाला जो अर्थ उसी वक्ता के पूर्वोक्त अर्थ को अन्यथा होने के कारण बाधित कर देता है उसे बाधयन् कहते हैं। जैसे हे मृगाक्षि! तुम्हारे नेत्र अनुपम हैं। यहां जिस वक्ताने पहले मृग के नेत्रों के समान नेत्र वाली कहा उसी ने बाद में 'तुम्हारे नेत्र अनुपम हैं' इस बाधक को कहा। और यह भी उदाहरण जैसे—'पहले जल्दी के कारण मानों सुन्दर-सुन्दर अङ्गों का न्यास करके मृगनयना के नाभि के ऊपर अनुपम शरीर की

रचना करके तदनन्तर एकाएक थके से होकर ब्रह्मा ने अत्यन्त बड़ी बड़ी मोटी मोटी जाँघें बना दीं ॥' यहाँ नाभि के ऊपर अनुपम शरीर कह कर फिर मृग के नेत्रों के समान नेत्रों वाली यह कहा गया (अतएव बाधयन् है) ॥

अथासंबद्धः—

प्रक्रान्तानुपयोगी प्राप्तो यस्तत्क्रमादसंबद्धः ।
स इति गता ते कीर्तिर्बहुफेनं जलधिमुल्लङ्घ्य ॥ ८ ॥

असम्बद्ध—'प्राकरणिक अर्थ के क्रम से प्राप्त होने पर भी जो अर्थ प्रकरण के लिये अपेक्षित नहीं होता है उसे असम्बद्ध कहते हैं (जैसे, तुम्हारी कीर्ति अत्यधिक फेन वाले सागर को लांघ गयी ॥ ८ ॥'

प्रक्रान्तेति । योऽर्थः प्रक्रान्तार्थक्रमायातोऽपि प्रक्रान्तेऽर्थेऽनुपयोगी सोऽसंबद्ध इत्युच्यते । उदाहरणम्—गता ते कीर्तिरित्यादि । अत्र जलधौ संबद्धत्वात्फेनानां बहुफेनत्वं क्रमप्राप्तम् । अथ च प्रस्तुतेऽर्थेऽनुपयोगि । यदि बहुफेनत्वं जलधेर्दुस्तरत्वे हेतुर्भवेत्तदा भवेदपारजलधिलङ्घनं कीर्त्तेरतिशयाय । न चैवमस्ति । तस्माद्बहुफेनमित्येतदकिंचित्करम् ॥

प्रक्रान्तेति । जो अर्थ प्राकरणिक अर्थ के क्रम से प्राप्त होकर भी प्राकरणिक अर्थ के लिये उपयोगी नहीं होता उसे असम्बद्ध कहते हैं । उदाहरण—गता ते कीर्तिरित्यादि । यहाँ सागर से संबद्ध होने के कारण झाग का आधिक्य तो क्रम से प्राप्त हो जाता है किन्तु प्रस्तुत अर्थ में उसका कोई उपयोग नहीं । यदि झाग का आधिक्य सागर की दुस्तरणीयता का कारण होता तब अपार सागर के लाँघने में कीर्ति का अतिशय होता । किन्तु ऐसा नहीं है। अतएव 'बहुफेनत्व' के प्रयोग का कोई मूल्य नहीं ॥

अथ ग्राम्यः—

ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम् ।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु ॥ ९ ॥

ग्राम्य—'(मध्य आदि) देश, (इक्ष्वाकु आदि) कुल, (ब्राह्मण आदि) जाति, विद्या, धन, अवस्था, स्थान और पात्रों में चेष्टा, आकृति, वेष, और वाणी के अनौचित्य का नाम ग्राम्यत्व है ॥ ९ ॥'

ग्राम्यत्वमिति । यद्व्यवहाराकारवेषवचनानां चतुर्णामपि प्रत्येकं देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेष्वष्टसु विषयेष्वनौचित्यं तद्ग्राद्राम्यत्वं दोषः । तत्र व्यवहारश्चेष्टा । आकारः स्वाभाविकं रूपम् । कृत्रिमं तु वेषः वचनं भाषा । तथा देशो मध्यदेशादिरार्यानार्यभिन्नः । कुलं गोत्रमिक्ष्वा-

कादिः। देवदैत्यादिकमित्यन्ये। जातिः स्त्रीपुंसादिका ब्राह्मणत्वादिका वा। विद्या शास्त्रज्ञता। वित्तं धनम्। वयः शैशवादिकम्। स्थानं पदमधिकारः। पात्राणि भरतोक्तान्युत्तममध्यमादीनि। तत्रार्यदेशेष्वकरुणो व्यवहारः, भयंकर आकारः, उद्धतो वेषः, पुरुषवचनमनुचितम्। म्लेच्छेषु त्वेतदेवोचितम्। तथा ग्रामेषु यदुचितं तदेव नगरेषु ग्राम्यम्। एवं कुलजेषु परिभवसहत्वादिको व्यवहारः, असौम्य आकारः, विकृतो वेषः, वितथं वचनमनुचितानि। जातौ तु ब्राह्मणादीनां निजनिजजातिविहितव्यवहाराकारवेषवचनान्युचितानि तदन्यथा त्वनुचितानि। पुरुषेषु शूद्रवर्जमन्नपाकादिको व्यवहारः, स्थूलस्तनश्मश्रुरहितं च रूपमाकारः, कौसुम्भवस्त्रं काचाद्याभरणं च वेषः, समन्मथादिवचनमनुचितम्। स्त्रीषु तदेवोचितम्। एवमन्येषामपि। तथा विद्यायां पण्डितेषु शस्त्रग्रहणपूर्वको व्यवहारः, सव्याधिवपुराकारः, उद्भटो वेषः, असंस्कृतवचनमनुचितानि। मूर्खेषु तान्येवोचितानि। वित्ते धनिनां दानोपभोगरहितो व्यवहारः, दुःस्पर्शादिराकारः, मलिनवस्त्रादिको वेषः, दीनं वचनमनुचितानि। द्रमकेषु (?) तान्येवोचितानि। वयसि वृद्धेषु सेवादिव्यवहारः, इन्द्रियपाटवादिराकारः, कुण्डलादिधारणं वेषः, समन्मथं वचनमनुचितानि। तरुणेषु तान्येवोचितानि। स्थाने राज्ञां सक्रोधलोभादिको व्यवहारः, निर्लक्षण आकारः, कुण्डलादिरहितो वेषः, परुषं दीनं वचनमनुचितानि। एवं पात्रेषु यानि भीमसेने व्यवहारादीन्युचितानि तान्येव युधिष्ठिरे ग्राम्याणीत्यादि। एतत्तु ग्राम्यत्वमन्यथोक्तिपरिहारेण न परिहृतम्॥

ग्राम्यत्वमिति। व्यवहार, आकृति, देश और वाणी में किसी एक का देश, कुल, जाति, विद्या, धन, वय, स्थान और पात्र—इन आठ विषयों में जो अनौचित्य होता है उसे ग्राम्यत्व कहते हैं। उनमें व्यवहार कहते हैं चेष्टा को। आकार स्वाभाविक रूप होता है। वेष कृत्रिम होता है। वचन नाम है भाषा का तथा आर्य और अनार्य के भेद से मध्यदेश आदि देश हैं। इक्ष्वाकु आदि कुल हैं। देवता, राक्षस आदि अन्य श्रेणियाँ हैं। स्त्री, पुरुष आदि जातियाँ हैं अथवा ब्राह्मण आदि जातियाँ हैं। शास्त्र ज्ञान का नाम है विद्या, वित्त धन को, अवस्था शैशव आदि को, स्थान पद या अधिकार को कहते हैं। भरत के द्वारा व्याख्यात उत्तम, मध्यम और अधम पात्र हैं। उनमें आर्य देश में निर्दय व्यवहार, भयावनी आकृति, उद्धत वेष और कटु वचन अनुचित है। म्लेच्छों के देश में यही सब उचित है। इसी प्रकार गावों में जो उचित है वही नगरों में अनुचित। इसी प्रकार कुलीनों में अपमान आदि सहने का व्यवहार, असौम्य आकृति,

विकृत वेष और मिथ्या वचन अनुचित हैं। ब्राह्मण आदि जातियों में भी अपनी-अपनी जाति में विहित व्यवहार, आकार, वेष और भाषा उचित है और इसके विपरीत अनुचित। शूद्रों को छोड़कर पुरुषों में भोजन आदि पकाने का कार्य, स्थूल स्तन तथा विना दाढ़ के आकार, कुसुम्भ (लाल) वर्ण के वस्त्र, दन्तवर्ण के अलंकार और कामुक वचन अनुचित हैं। स्त्रियों में वही उचित हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी (उचित या अनुचित होता है)। इसी प्रकार विद्या में पण्डितों में शास्त्र लेकर शास्त्रचर्चा, रोग से आपन्न शरीर वाली आकृति, उद्धत वेष और अशिष्ट वचन अनुचित हैं; मूर्खों में वे ही उचित हैं। वित्त में धनिकों का दान और भोग से शून्य व्यवहार, अस्पृश्य आकार, मलिन वस्त्र आदि वेष तथा दीन वचन अनुचित हैं। दरिद्रों में वे ही उचित हैं। अवस्था में वृद्धों में सेवा आदि व्यवहार, इन्द्रियों के कौशल आदि से युक्त आकार, कुण्डल आदि (अलंकारों) का धारण, वेष और कामुक वचन अनुचित हैं। युवकों में वे ही उचित हैं। स्थान में राजाओं का क्रोध, लोभ आदि से युक्त व्यवहार, विना (राजसी) लक्षण के आकार, कुण्डल आदि से शून्य वेष और कठोर वचन अनुचित हैं। इसी प्रकार पात्रों में भीमसेन में जो व्यवहार आदि उचित हैं वे ही युधिष्ठिर में अनुचित हैं। इस ग्राम्यत्व दोष का परिहार अन्यथोक्ति का परिहार करने में नहीं हुआ था॥

अथात्रैव दिक्प्रदर्शनार्थमाह—

प्रागल्भ्यं कन्यानामव्याजो मुग्धता च वेश्यानाम्।
वैदग्ध्यं ग्राम्याणां कुलजानां धौर्त्यमित्यादि ॥ १० ॥

अब इसका दिगुन्मीलन करने के लिये कहते हैं—'कन्याओं में प्रगल्भता, वेश्याओं में मुग्धता, गवारिनों में विदग्धता और कुलजाओं में धूर्तता आदि (ग्राम्यत्व है) ॥ १० ॥

प्रागल्भ्यमिति। कन्याशब्देन नवोढा लक्ष्यते। कन्यानां नवोढाङ्गनानां प्रागल्भ्यं वैयात्यम्। तथा वेश्यानां पण्यस्त्रीणामव्याजमकृत्रिमं मौग्ध्यम्! तथा ग्राम्याणां वैदग्ध्यम्। तथा कुलीनानां धूर्तत्वमनुचितम्। ग्राम्यमित्यर्थः॥

प्रागल्भ्यमिति। कन्या शब्द का लक्ष्य है 'नवविवाहिता'। नवविवाहिता वधूओं में प्रगल्भता—निर्लज्जता (ग्राम्य है) तथा वेश्याओं में अकृत्रिमता, गवाँरियों में चालाकी और कुलजाओं में मिथ्याव्यवहार ग्राम्य है। अर्थात् अनुचित है॥

ततश्च किमित्याह—

एतद्विज्ञाय बुधैः परिहर्तव्यं महीयसो यत्नात्।
नहि सम्यग्विज्ञातुं शक्यमुदाहरणमात्रेण ॥ ११ ॥

आगे उपास्य क्या है—इसे बताते हैं—'विद्वानों को बड़े प्रयत्न से जानकर इस (ग्राम्य) को त्याग देना चाहिये। उदाहरण देने से ही इसका समुचित ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ११ ॥'

एतदिति। एतद्ग्राम्यत्वं विशेषेण ज्ञात्वा महीयसो यत्नादादरेण परिहर्तव्यम्। महाकवयो यत्र मुह्यन्तीत्यतो महीयसो यत्नादित्युक्तम्। तदुदाहरणानि किमेतेषु नोच्यन्त इत्याह—नहीत्यादि। यस्मादुदाहरणमात्रेण न यथावद्विज्ञातुं शक्यते। ततः स्वधिया विज्ञाय यथा ग्राम्यत्वं न भवति तथा प्रयोज्यम्। यथा—'व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका। सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥' तथा—'उपचरिताप्यतिमात्रं प्रकटवधूः क्षीणसंपदः पुंसः। पातयति दृशं व्रजतः स्पृहया परिधानमात्रेऽपि ॥ एवमादि ॥

एतदिति। इस ग्राम्यत्व को विशेषपूर्वक जानकर बड़े कष्ट से—आदरपूर्वक त्याग देना चाहिये। (कारिकाकार के) 'महीयसो यत्नात्' कहने का तात्पर्य यह है कि महाकवियों की बुद्धि भी यहाँ मोहित हो जाती है। फिर इन (अनौचित्य-विषयों) में उदाहरण क्यों नहीं दिये इसके लिये कहते हैं—नहीत्यादि। उदाहरण देने से ही सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता (इसलिये महाकवि ने उदाहरण नहीं दिये)। अतएव अपनी बुद्धि से ही परख कर ऐसा प्रयोग करना चाहिये जिसमें ग्राम्यत्व का स्पर्श ही न हो। जैसे—'(शिव के द्वारा) अवलम्बित वस्त्रवाली वह (पार्वती) पूछी जाने पर उत्तर नहीं देती (वे) जाना चाहती थी किन्तु शिव की प्रसन्नता के लिये पराङ् मुखी होकर शय्या का सेवन कर रही थी। (यहाँ शिव की इच्छा के विरुद्ध पार्वती का चला जाना अनौचित्य होता।)' और भी—'उपचरिता (परकीया) होकर भी प्रगल्भा नष्ट हुयी सम्पत्ति वाले पुरुष के वस्त्रमात्र पर भी दृष्टि को बड़ी स्पृहा के साथ डालती है। (यहाँ वधू का पुरुष पर दृष्टि न डालना अनौचित्य होता।)' इसी प्रकार और (उदाहरण जानने चाहिये।)

अथ विरसः—

अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेद्रसः क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ॥ १२ ॥

विरस—'किसी भिन्न रस के प्रसङ्ग में जो अप्राकरणिक रस आ जाता है उसे विरस कहते हैं। वह (महाकाव्य आदि) प्रबन्धों से भली भाँति जाना जा सकता है ॥ १२ ॥'

अन्यस्येति। रसान्तरप्राप्तौ सत्यां यो रसः शृङ्गारादिः निपतति स विरसोऽर्थदोषः। ननु सर्वरसयुक्तत्वान्महाकाव्यस्य रसान्तरापातोऽभ्युपगत एव। तत्कथमत्र विरसोऽर्थदोष इत्याह—क्रमापेतः प्रसङ्गविरुद्धः। यस्य रसस्य तत्रानवसरः स दुष्ट इत्यर्थः। किमत्रोदाहरणमित्याह—स चेत्यादि। चो हेतौ। यस्मात्स विरसोऽर्थदोषः प्रबन्धेभ्यो महाकाव्यादिभ्यः सम्यग्विज्ञातुं शक्यते। अत इह नोदाहृत इत्यर्थः।

अन्यस्येति। 'अन्य रस के प्रसंग में जहाँ शृंगार आदि रस प्रविष्ट हो जाता है वहाँ विरस अर्थ-दोष होता है। प्रश्न है कि सभी रसों से युक्त होने के कारण महाकाव्य में अन्य रस का प्रवेश तो स्वीकृत ही है तो फिर यहाँ विरस अर्थ-दोष कैसा' इसे बताते हैं—क्रम से दूर–प्रसङ्ग के विरुद्ध (अर्थ दुष्ट होता है।) अर्थात् जिस रस के लिये वहाँ अवकाश नहीं है वह दुष्ट होता है। इसका उदाहरण क्या है इसे बताते हैं—स चेत्यादि। उस विरस अर्थ दोष का परिचय महाकाव्यादि से ही भली भाँति हो सकता है अतएव उसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया गया।

सूचीमात्रमाह—

तव वनबासोऽनुचितः पितृमरणशुचं विमुञ्च किं तपसा।
सफलय यौवनमेतत्सममनुरक्तेन सुतनु मया॥ १३॥

सूचनामात्र देते हैं—'तुम्हारा वनवास अनुचित है, पिता के दिवंगत होने का शोक छोड़ दो; तप व्यर्थ है। हे सुन्दरि! (अपने पर) अनुरक्त मेरे साथ यौवन को सफल करो॥ १३॥'

तवेति। हयग्रीवसुतो नरकासुरानयनाय तत्पुरीं गतः, तत्र च हरिहतं नरकासुरं जनेभ्यः श्रुत्वा तत्सुतां च पितृमरणदुःखेन वनगतां बुद्ध्वा समाश्वासनाय गतः, तत्र दृष्ट्वा च तां सकामः सन्नाह—तव वनवास इत्यादि। पातनिकयैव गतार्थम्॥

तवेति। हयग्रीव का पुत्र नरकासुर को लेने के लिये इसकी पुरी में गया। वहाँ विष्णु के द्वारा नरकासुर को मारा गया लोगों से सुनकर और पिता के मृत्यु के दुःख से उसकी पुत्री को वन में गयी हुयी जानकर (उसे) आश्वासन देने के लिये (वन में) गया; वहाँ उसे देखकर काम से युक्त होकर कहने लगा—'तव वनवास' इत्यादि। प्रसङ्ग से ही अर्थ अवगत हो गया॥

प्रकारान्तरमाह—

यः सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु।
अतिमहतीं वृद्धिमसौ तथैव वैरस्यमायाति॥ १४॥

दूसरा प्रकार बताते हैं—'प्रासङ्गिक होकर भी जब प्रबन्धों में एक ही रस सुदूरव्यापी होता है तो उसी (पूर्व की) ही भाँति नीरसता को प्राप्त हो जाता है॥ १४॥'

य इति। यः काव्यादौ क्वापि प्रस्तुतो रसो नैरन्तर्येण महतीं वृद्धिं नीयते स श्रोतॄणां वैरस्यमावहतीति विरसो भवति। अत्र वेणीसंहार-षष्ठोऽङ्को निदर्शनम्॥

य इति। काव्यादि में कहीं भी जब कोई रस बहुत दूर तक ढोया जाता है तो श्रोताओं के लिये वह विरस हो जाता है। (भट्ट नारायण के) वेणीसंहार का छठाँ अङ्क इसका उदाहरण है।

अथ तद्वान्—

यो यस्याव्यभिचारी सगुणादिस्तद्विशेषणं क्रियते।
परिपूरयितुं छन्दो यत्र स तद्वानिति ज्ञेयः॥ १५॥

अब तद्वान् (का लक्षण करते हैं)—'जो गुण आदि जिस पदार्थ में नित्य होता है वह छन्दपूर्तिमात्र के लिये जब उसका विशेषण बना दिया जाता है तो उसे तद्वान् दोष जानना चाहिए॥ १५॥'

य इति। यो गुणादिर्यस्य पदार्थस्याव्यभिचारी नित्यस्थः स गुणा-दिस्तस्य विशेषणतया यत्र क्रियते स दोषस्तद्वानिति ज्ञेयः। यद्यव्यभि-चारी तर्हि किमर्थं क्रियत इत्याह—परिपूरयितुं छन्दः। तस्य हि छन्दः पूरणमात्रमेवार्थ इति॥

य इति। जो गुण आदि जिस पदार्थ में अव्यभिचरित होते हैं वे गुण आदि उसी पदार्थ के जहाँ विशेषण आदि बना दिये जाँय उसे तद्वान् (दोष) जानना चाहिये। 'यदि वे गुणादि उस पदार्थ में अव्यभिचरित होते हैं तो उनका प्रयोग क्यों किया जाता है' इसे बताते हैं—परिपूरयितुं छन्दः। अर्थात् उसके प्रयोग का प्रयोजन छन्द की पूर्तिमात्र होता है॥

उदाहरणम्—

क्व नु यास्यन्ति वराकास्तरुकुसुमरसैकलालसा मधुपाः।
भस्मीकृतं वनं तद्दवदहनेनातितीव्रेण॥ १६॥

उदाहरण—'अत्यन्त प्रचण्ड दानाग्नि ने उस वन को जला दिया। भला वृक्ष के एकमात्र फूलों के मकरन्द के लोभी बेचारे भ्रमर कहाँ जायँगे॥१६॥'

क्वेति। अत्र दवदहनस्यातितीव्रेणेति विशेषणं छन्दःपूरणार्थमेव। तत्राव्यभिचारादिति॥

क्वेति। यहाँ 'अतितीव्रेण' दावाग्नि का यह विशेषण छन्द की पूर्तिमात्र के लिये किया गया है। क्योंकि दावाग्नि में अतितीव्रता तो अव्यभिचरित (नित्य) है॥

अथातिमात्रः—

अतिदूरमतिक्रान्तो मात्रां लोकेऽतिमात्र इत्यर्थः ।
तव विरहे हरिणाक्ष्याः प्लावयति जगन्ति नयनाम्बु॥१७॥

अतिमात्र का लक्षण करते हैं—'जो अर्थ लोक में परिणाम को अत्यधिक दूर पार कर जाय उसे अतिमात्र कहते हैं। जैसे—मृगनयना ! तेरे वियोग में नेत्रों के आँसू लोकों को डुबा देते हैं ॥ १७ ॥'

अतिदूरमिति। योऽर्थो लोकप्रसिद्धां मात्रां परिणाममतिदूरमत्यर्थमतिक्रान्त उल्लङ्घितः सोऽतिमात्रोऽर्थदोषः। उदाहरणम्—तवेत्याद्युत्तरार्धम्। अत्राश्रुलक्षणोऽर्थो मात्रां त्यक्तवान्। परा ह्यश्रूणां भूयस्ता यद्वस्त्रार्द्रीकरणम्। न तु प्रलयजलदवज्जगत्प्लावनम् ॥

अतिदूरमिति। जो अर्थ (अपनी) लौकिक मर्यादा से बहुत दूर चला जाता है उसमें अतिमात्र अर्थ-दोष होता है। उदाहरण—'तव' आदि से शुरू होने वाला छन्द का उत्तरार्ध। यहाँ अश्रुरूप अर्थ मर्यादा का उलङ्घन कर गया है। आँसू की परम सीमा यही हो सकती है कि वस्त्र भीग जाँय न कि प्रलयकाल के जल के समान संसार को डुबो दे।

अथ यत्पूर्वमुक्तम् 'तत्कारणमन्यथोक्तौ च' (११।१) इति तदाह—

अत्यन्तमसंबद्धं परमतमभिधातुमन्यदश्लिष्टम् ।
संगतमिति यद् ब्रूयात्तत्रायुक्तिर्न दोषाय ॥ १८ ॥

आगे अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार 'अर्थ के अन्यथा-उपन्यास (अपने स्वरूप से भिन्न रूप में उपन्यास) के कारणों की चर्चा की जायगी' (को ध्यान में रखकर) उनका विवेचन करते हैं—'दूसरे की बात कहने के लिये सर्वथा असम्बद्ध बात को वक्ता जब अपनी असम्बद्ध बात की संगति के लिये बोलता है तो असङ्गति में वहाँ कोई दोष नहीं होता है ॥ १८ ॥'

अत्यन्तमिति। असंबद्धार्थता महान्दोषः। तस्यापवादोऽयम्। यत्र परकीयं मतमतिशयेनासंबद्धं प्रतिपादयितुमन्यदात्मीयमश्लिष्टमसंबद्धमर्थं वक्ता वक्ति तत्रायुक्तिरसंगतता न दोषाय। अथ कथं तेनासंबद्धेन परमतस्यासंबद्धता प्रतिपाद्यत इत्याह—संगतमिति। इतिर्हेतौ। यतस्तस्यासंबद्धस्याश्लिष्टमेव संगतं सदृशतया दर्शयितुम् ॥

अत्यन्तमिति। असंबद्धार्थता महादोष है। उसका यह अपवाद है—'जहाँ दूसरे के मत को सर्वथा असंबद्ध बताने के लिये अपने अन्य असंबद्ध अर्थ का वक्ता प्रतिपादन करता है वहाँ असंगति (अयुक्ति) सदोष नहीं मानी जाती।

प्रश्न उठता है उस (स्वकीय) असंबद्ध (अर्थ) दूसरे के मत की असंगति का प्रतिपादन कैसे होता है इसे बताते हैं—संगतमिति । इति हेतु के अर्थ में आया है । क्योंकि उस (दूसरे के) असंबद्ध अर्थ के सदृश (अपने) असंबद्ध अर्थ को संगत दिखलाना (उसका) अभीष्ट होता है ॥

उदाहरणम्—

किमिदमसंगतमस्मिन्नादावन्यत्तथान्यदन्ते च ।
यत्नेनोप्ता माषाः स्फुटमेते कोद्रवा जाताः ॥ १९ ॥

उदाहरण—'प्रारम्भ में कुछ और तथा परिणाम में कुछ और जो हुआ इसमें असंगति क्या है ? परिश्रम करके उड़द बोयी गयी और स्पष्ट ही वह कोदो हो गयी ॥ १९ ॥'

किमिदमिति । कश्चिदसंबद्धं परवचनं क्षिपन्नाह—अस्मिन्वस्तुनि किमिदमसंगतं भवतोच्यते । कुतः । आदौ प्रारम्भेऽन्यत्तथान्ते च निर्गमे चान्यदिति । किमिवासंभवमिति तत्सदृशमाह—यथा माषा उप्ताः कोद्रवाश्चोत्पन्ना इत्यसंबद्धम् , एवं तवापि वचनमित्यर्थः ॥

किमिदमिति । कोई दूसरे के असंबद्ध वचन पर आक्षेप करता हुआ कहता है—'इस बात में आप असंगत क्या कह रहे हैं ।' क्यों ? प्रारंभ में कुछ और तथा परिणाम में कुछ और । 'किसके समान असंभव है' इसके लिये उसके सदृश उदाहरण देते हैं— 'जिस प्रकार उड़द बोयी गयी और कोदो उत्पन्न हुयी' यह असंबद्ध है इसी प्रकार आपका वचन भी ॥

भूयोऽप्याह—

अभिधेयस्यातथ्यं तदनुपपन्नं निकाममुपपन्नम् ॥
यत्र स्युर्वक्तृणामुन्मादो मौख्यमुत्कण्ठा ॥ २० ॥

और भी बताते हैं—'अभिधेय का वह अतथ्य अनुपपन्न होकर भी सर्वथा उपपन्न होता है जहां वक्ताओं को उन्माद, मूर्खता या उत्कण्ठा हो ॥ २० ॥'

अभिधेयस्येति । यत्र वक्तुरुन्मादो मौख्यमुत्कण्ठा च दोषः स्यात्तत्रातथ्यमयथार्थतानुपपन्नापि निकाममतिशयेनोपपन्ना युक्ता । स्वस्थस्य ह्यन्यथावचनं दोषाय । उन्मत्तादीनां तु तदेव भूषायै ॥

अभिधेयस्येति । जहाँ वक्ता में उन्माद, मूर्खता और उत्कण्ठा दोष हो वहाँ अतथ्य (अयथार्थता) उपपन्न न होने पर भी सर्वथा उपपन्न होती है । स्वस्थ प्राणी के अन्यथा में तो दोष होता है मत्त आदि के लिये तो वही (अन्यथा वचन) अलंकार बन जाता है ।

एतदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरि-हर-हिण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥ २१ ॥

इनके क्रमशः उदाहरण देते हैं—'मैंने पर्वतों को खा डाला, अग्नि से स्नान किया और आकाश (ईथर) को पी रहा हूँ । विष्णु, शिव और ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं इसलिये (प्रसन्नता के कारण) नाच रहा हूँ ॥ २१ ॥'

भुक्ता इति । इत्युन्मादे ॥

किं मां ब्रवीषि मूर्खं पश्येदं शिशिरमेव ननु तिमिरम् ।
सुस्वादुरयं गन्धस्तमसा त्वेनं न पश्यामि ॥ २२ ॥

भुक्तेति । यह उन्माद का (उदाहरण दिया गया) ॥

'मुझ मूर्ख से क्या कह रहे हो । इसे देखो । शिशिर ही अन्धकार है । यह गन्ध बड़ी स्वादिष्ट है, अन्धकार के कारण इसे नहीं देख रहा हूँ ॥ २२ ॥'

किमिति । इति मौर्ख्ये ॥

हे हंस देहि कान्तां सा मे भवता हृतेति किं मिथ्या ।
ननु गतिरियं तदीया वाणी सैवेयमतिमधुरा ॥ २३ ॥

किमिति । यह मूर्खता का उदाहरण है ॥

'हे हंस ! प्रिया को लौटा दो । मेरी उस (प्रिया) को चुरा ले गये हो क्या यह झूठ है ? निश्चय ही यह उसी की गति है और यह मधुर वाणी भी वही है ॥ २३ ॥'

हे इति । इत्युत्कण्ठायाम् । अत्र गिरिभोजनं वह्निस्नानमाकाशपान-मजादिपुत्रत्वं च, तथा तिमिरस्य शीतलत्वम्, गन्धस्य सुस्वादुत्वम्, तस्य चान्धकारेण दर्शनम्, तथा हंसेन कान्ताहरणं च सर्वमेवासंबद्ध-मुन्मत्तमूर्खोत्कैश्चोक्तत्वाच्चार्वेव ॥

हे इति । यह उत्कंठा का उदाहरण है । यहाँ पर्वत का भोजन, अग्नि में स्नान, आकाशपान, अजन्मा (विष्णु आदि का) पुत्र होना तथा अन्धकार का शीतल होना, गन्ध का सुस्वादु होना तथा उसे अन्धकार से देखना और हंस का प्रिया को चुराना—यह सब असंबद्ध प्रलाप मतवाले, मूर्ख और उत्कण्ठित के द्वारा कथित होने के कारण रमणीक ही हुआ है । (असंगत नहीं) ।

एवं सर्वार्थालंकारसाधारणान्दोषानभिधायेदानीं केवलोपमादोषानाह—

सामान्यशब्दभेदो वैषम्यसंभवोऽप्रसिद्धिश्च ।
इत्येते चत्वारो दोषा नासम्यगुपमायाः ॥ २४ ॥

इस प्रकार सभी अर्थालंकारों के साधारण दोषों का व्याख्यान करके अब उपमा के शुद्ध दोषों का वर्णन करते हैं ॥

'सामान्य शब्दभेद (साधारण धर्म का भेद) वैषम्य, असंभव और अप्रसिद्धि-ये चार उपमा के शुद्ध दोष हैं ॥ २४ ॥'

सामान्येति । औपम्यभेदस्योपमाया इत्येते सामान्यशब्दभेदादयश्चत्वारो दोषाः । ते च नासम्यक् । अपि तु स्फुटा एव । अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा—"लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्यमसंभवो विपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः । तत्र लिङ्गवचनभेदावन्योन्यमुपमानोपमेययोः यथा—'भक्षिताः सक्तवो राजञ्शुद्धाः कुलवधूरिव । परमातेव निःस्नेहाः शीतलाः परकार्यवत् ॥' उपमेयादुपमानस्य यत्रोनानि विशेषणानि सा हीनता । यथा—'स मारुताकम्पितपीतवासा बिभ्रत्सलीलं शशिभासि शङ्खम् । यदुप्रवीरः प्रगृहीतशार्ङ्गः सेन्द्रायुधो मेघ इवावभासे ॥' एवं यत्रोपमेयादुपमानस्याधिकानि विशेषणानि तदाधिक्यम् । यथा—'स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं (?) वपुराप कृष्णः । शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥' अत्रोपमाने मेघे शशियोगोऽधिकः । यत्र विनैव यद्यर्थमसंभवद्विशेषणमुपमानं क्रियते सोऽसंभवः । यथा—'निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः । जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥' नहि वारिधाराणामयद्यर्थं जाज्वल्यमानत्वं रविबिम्बाद्वा वारिधारापतनं संभवति । यत्रोपमेयाद्धीनमुत्कृष्टं वोपमानं क्रियतेऽसौ विपर्ययः । तत्र हीनं यथा—'स्फुरन्ति निखिला नीले तारका गगने निशि । भास्कराभीशुसंस्पृष्टाः कृमयः कर्दमे यथा ॥' उत्कृष्टं यथा-'अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते । युगादौ भगवान्ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥' यत्रोपमानोपमेययोः साम्यं नास्ति तदसादृश्यम् । यथा—'वनेऽथ तस्मिन्वनिताविहारिणः प्रभिन्नदानार्द्रकटा मतङ्गजाः । विचित्रबर्हाभरणाश्च बर्हिणो बभुर्दिवीवामलविग्रहा ग्रहाः ॥' अत्र न किंचिद्दन्तिनां मयूराणां च ग्रहैः सारूप्यमस्तीति" । तदेतन्निरस्तम् । यतश्चत्वार एवामी संग्राहका भेदाः । न त्वन्ये । तथाहि सामान्यशब्दभेदं विना लिङ्गवचनभेदमात्रं न दुष्टम् । इह हि का दुष्टता । यथा—'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः । पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥' किं

च लिङ्गवचनभेदे दोषत्वेनाश्रीयमाणे कालकारकविभक्तिभेदा नाश्रिताः। सामान्यशब्दभेदे तु तेऽपि संगृहीताः। तथा हीनताधिक्ये चोपमानोपमेयसाम्याभावाद्दोषत्वेनाश्रिते परेण। तत्र च वैषम्यमेवोभयदोषसंग्राहकमेकमुक्तमस्माभिः। तथा योऽपि हीनताधिक्यविशिष्टो विपर्यय उक्तः सोऽपि न तावन्मात्रेण दोषहेतुः। अतिप्रसङ्गात्। अपि त्वप्रसिद्धित एव। अन्यथा हि निन्दास्तुती यत्र चिकीर्षिते भवतस्तत्रापि यथाक्रमं निकृष्टस्योत्कृष्टस्य चोपमानस्य दुष्टत्वं स्यात्। यथा—'चतुरसखीजनवचनैरतिवाहितवासरा विनोदेन। निशि चण्डाल इवायं मारयति वियोगिनीश्चन्द्रः॥' स्तुतौ यथा—'जित्वा सपत्नानुक्षायं धेन्वा सह विराजते। यथा क्षपितदैत्येन्द्रः श्रिया साकं जनार्दनः॥' न चात्र काचिददुष्टता। यस्त्वर्थो यत्रोपमानत्वेन न प्रसिद्धः स सादृश्ये सत्यपि न कर्तव्यः। तथाहि सिंहादधिकोऽपि शरभः शौर्येणोपमानं न केनचिन्निबद्धः। असादृश्यस्य तु दोषत्वेऽप्युपमानलक्षणेनैव निरस्तत्वादिहोपादानमनर्थकम्। को हि ज्ञातोपमालक्षणः सादृश्याभावे उपमां कुर्वीत। तस्मादेतन्निरासाच्चत्वार एवामी दोषाः, न तु सप्तेति स्थितम्। अत एव नासम्यगित्युक्तम्॥

सामान्येति। औपम्य के भेद उपमा के सामान्य शब्दभेद आदि ये चार दोष होते हैं। ते अस्फुट नहीं अपितु स्फुट (शुद्ध हैं)। यहाँ स्वरूप का उपादान (नाम का संकेत) कर देने पर भी 'चार ही' कहने से जो मेधावी आदि ने कहा है—जैसे—"लिङ्गभेद, वचनभेद, हीनता, आधिक्य, असंभव, विपर्यय और असादृश्य ये सात उपमा के दोष हैं। इनमें परस्पर उपमान और उपमेय के लिङ्ग और वचन भेद के उदाहरण देते हैं—हे राजन्! कुलवधू के समान शुद्ध सतुआ खाये गये जो पराये के माता के समान स्नेहरहित और पराये के कार्य के समान शीतल हैं (इनमें वचन और लिङ्ग दोनों भिन्न हैं) जहाँ उपमेय से उपमान के विशेषण कम होते हैं वहाँ हीनता होती है। जैसे-पवन के द्वारा कँपाये गये पीत वस्त्र वाले, यादव वीरों में अग्रेसर, शार्ङ्ग (धनु) को धारण करने वाले, चन्द्र की-सी कान्ति वाले लीलायुक्त शङ्ख को धारण करते हुये वे (श्री कृष्ण) इन्द्रधनुष से युक्त मेघ के समान सुशोभित हुये॥ (यहाँ उपमेय कृष्ण के पीत वस्त्रादि चार विशेषण हैं और उपमान मेघ का केवल एक-इन्द्रधनुष से युक्त॥) इसी प्रकार जहाँ उपमेय से उपमान के अधिक विशेषण होते हैं वहाँ आधिक्य (दोष) होता है। जैसे—'पीत वस्त्र वाले और शार्ङ्ग धनुष धारण करने वाले वे कृष्ण सुन्दर भीषण शरीर को प्राप्त हो गये मानों बिजली और इन्द्रधनुष से युक्त रात में चन्द्रमा से संवलित मेघ हो॥' यहाँ उपमान मेघ में चन्द्रमा का योग (उपमेय कृष्ण के साथ प्रयुक्त विशेषणों से) अधिक है। जहाँ

यदि आदि के विना उपमान को असंभव विशेषणों से युक्त बनाया जाता है वहाँ असंभव दोष होता है—जैसे धनुष के मण्डल के मध्यभाग का सेवन करनेवाले दीप्त बाण मानों उसके मुख से निकल रहे थे जैसे वृत्ताकार सूर्य से दोपहर को जलती हुयी जलधारायें हों। यदि आदि की शर्त के विना जल की धाराओं का जलना अथवा सूर्य-बिम्ब से जलधाराओं का निकलना संभव नहीं है। जहाँ उपमेय से उपमान हीन अथवा उत्कृष्ट होता है वहाँ विपर्यय होता है हीन का उदाहरण—रात में नीले आकाश में सभी तारे इस प्रकार चमकते हैं मानों सूर्य की किरणों से स्पृष्ट कीचड़ के कीड़े हों। उत्कृष्ट का उदाहरण—कमल के आसन पर बैठा हुआ यह चक्रवाक युग के प्रारम्भ में प्रजा की सृष्टि के लिये बैठे भगवान् ब्रह्मा के समान शोभित हो रहा है। जहाँ उपमान और उपमेय में साम्य नहीं होता वहाँ असादृश्य होता है। जैसे—'उस वन में रमणियों के साथ विहार करने वाले गण्डस्थल से बहते हुये दानवारि वाले हाथी और नाना प्रकार के पिच्छों के आभूषण वाले मयूर आकाश में स्वच्छ शरीर वाले नक्षत्रों के समान शोभित हो रहे थे।' यहाँ हाथियों और मयूरों का नक्षत्रों के साथ कुछ भी सारूप्य नहीं है। अतएव इस (सात भेद) का खण्डन हो गया क्योंकि ये चार ही भेद पर्याप्त हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे भेद नहीं हैं। सामान्य शब्द के भेद के विना लिङ्ग और वचन भेद मात्र दुष्ट नहीं होते। यहाँ क्या दुष्टता है? जैसे—'संभोगों में निर्लज्जता के समान अपमान में पराक्रम जिस प्रकार भूषण है उसी प्रकार अन्यत्र (अपमान के अतिरिक्त) तरुणियों की लज्जा के समान पुरुषों का आभूषण क्षमा है। दूसरी बात यह है कि लिङ्ग और वचन भेद को ही दोष मानने पर काल, कारक, विभक्ति भेद का उनमें अन्तर्भाव नहीं होगा। सामान्य शब्द भेद में तो उनका भी अन्तर्भाव हो जायगा। तथा (दूसरे के द्वारा) उपमान और उपमेय में साम्य के अभाव के कारण हीनता और आधिक्य दोष बताये गये। उनमें केवल वैषम्य को ही हमने दोष बताया जिसमें दोनों भेदों का (अन्तर्भाव) हो जाता है। तथा हीनता और आधिक्य से विशिष्ट उक्त विपर्यय भी उतने से ही (हीन या अधिक होने से ही) दोष का कारण नहीं बन जाता क्योंकि ऐसा मानने पर तो अतिव्याप्ति दोष होगा। यह दोष अप्रसिद्धि के कारण होता है। नहीं तो निन्दा और स्तुति जहाँ विवक्षित होती हैं वहाँ भी क्रमशः निकृष्ट (हीन) और उत्कृष्ट उपमान दुष्ट होंगे। जैसे—चतुर सखियों के वचनों से विनोदपूर्वक दिन को बिताये हुये वियोगिनियों की रात में चाण्डाल के समान यह चन्द्र हत्या करता है। (निन्दा)। स्तुति का उदाहरण—शत्रुओं को जीतकर दैत्यराज को मारकर लक्ष्मी के साथ विष्णु के समान शोभित हो रहा है। यहाँ कोई अदोष नहीं है।

जो अर्थ जहाँ उपमान रूप में प्रसिद्ध नहीं है वहाँ सादृश्य होने पर भी उपमान नहीं बनाना चाहिये। जैसे शरभ (हाथी का बच्चा, आठ पैर पर वाला पशु) सिंह से अधिक होकर भी किसी के द्वारा शौर्य का उपमान नहीं बनाया गया। उपमान के लक्षण से ही असादृश्य दोष के खण्डित हो जाने के कारण यहाँ उसका उपादान व्यर्थ है। भला उपमा के लक्षण को जानकर सादृश्य के अभाव में कौन उपमा करेगा। अतएव इस असादृश्य के भी खण्डन हो जाने से उपमा के केवल चार ही दोष हैं सात नहीं (कारिकाकार) का यह मत स्थित हो गया। इसीलिये 'न असम्यक्' कहा गया॥

इदानीमेतेषामेव दोषाणां लक्षणमाह—

सामान्यशब्दभेदः सोऽयं यत्रापरत्र शक्येत।
योजयितुं नाभग्नं तत्सामान्याभिधायिपदम्॥ २५॥

अब इन्हीं दोषों का लक्षण बताते हैं—'जहाँ साधारण धर्मवाचक पद की विना भग्न किये उपमान में योजना नहीं हो सकती वहाँ सामान्य शब्द भेद नामक (उपमान दोष होता है)॥ २५॥'

सामान्येति। सोऽयं सामान्यशब्दभेदाख्यो दोषः, यत्र तयोरुपमानोपमेययोः सामान्यवाचिपदं यावन्न भग्नं तावदपरत्रोपमाने योजयितुं वाचकीकर्तुं न शक्यते॥

सामान्येति। जहाँ उपमान और उपमेय के साधारण धर्म बाचक पद को जब तक खण्डित न किया जाय तब तक उसका उपमान पद के साथ उसका अन्वय न बैठ सके (उपमान पद के साथ वह साधारण धर्म का वाचक न हो सके) वहाँ सामान्य शब्दभेद नामक उपमा दोष होता है॥

अथ सामान्याभिधायिपदभेदे हेतुमाह—

तल्लिङ्गकालकारकविभक्तिवचनान्यभावसद्भावात्।
उभयोः समानयोरिति तस्यां भिद्येत किंचित्तु॥ २६॥

सामान्य (साधारण धर्म) के वाचक पद की भिन्नता का कारण बताते हैं—'वह साधारण धर्म वाचक पद लिङ्ग, काल, कारक, विभक्ति तथा वचन के अन्यथा होने के कारण उपमान और उपमेय के समान होने पर, उपमा में कुछ भिन्न होता है॥ २६॥'

तदिति। तत्सामान्याभिधायिपदं लिङ्गादीनामन्यथात्वाद्धेतोस्तस्यामुपमायां भिद्येत। ननु तर्हि वैषम्यमेवेदं तत्किमस्य पृथक्पाठेनेत्याह—उभयोरुपमानोपमेययोः। समानयोरिति। वैषम्ये पुनरुभे अप्यसमाने ते।

तर्हि लिङ्गादिभेद एव स्वरूपेण किं नोक्त इत्याह—भिद्येत किंचित्तु। तुरवधारणे। तत्सामान्याभिधायिपदं लिङ्गादिभेदेऽपि किंचिदेव भिद्यते, न सर्वम्। ततो यत्रैव तस्य भेदस्तत्रैव दोषः, न सर्वत्र॥

तदिति। वह साधारण धर्म वाचक पद लिङ्ग आदि के अन्यथा (भिन्न) होने के कारण उस उपमा में भिन्न हो जाता है। फिर यह तो वैषम्य ही हो जाता इसका पृथक् ग्रहण करने से क्या लाभ? इसके उत्तर में कहते हैं—'उपमान और उपमेय के समान होने पर। वैषम्य में तो वे दोनों उपमान और उपमेय ही असमान होते हैं। फिर स्वरूपतः उसे लिङ्ग आदि भेद नाम से ही क्यों नहीं कहा? कहते हैं—(लिङ्ग आदि भेद होने पर) कुछ ही भिन्न होता है। 'तु शब्द' अवधारण अर्थ में आया है। वह साधारण धर्मवाचक पद लिङ्ग आदि के भेद में कुछ ही भिन्न होता है सब कुछ नहीं। अतएव जिसमें भेद किया जाता है उसी में दोष होता है सर्वत्र नहीं॥

एतदुदाहरणानि यथाक्रममाह—

चन्द्रकलेव सुगौरो वात इव जगाम यः समुत्सृज्य।
दहतु शिखीव स कामं जीवयसि सुधेव मामालि॥ २७॥

'ज्योत्स्ना के समान अत्यन्त गौर, पवन के समान त्याग कर जो चला गया वह अग्नि की भाँति खूब जले। हे सखि! तुम अमृत के समाम मुझे जिला रही हो॥ २७॥'

चन्द्रकलेति। काचिद्विरहिणी सखीं ब्रूते—आलि सखि, यथा चन्द्रकला सुगौरी तथायं सुगौरः। इति लिङ्गभेदे। यथा वातो गच्छति तथा मां समुत्सृज्य यो जगाम। इति कालभेदे। भूतकालो वर्तमानेन भग्नः सन्नुपमाने योज्यते। दहतु शिखीव स कामम्। इति कारकभेदे। विधिविशिष्टो हि कर्ता कर्तृमात्रेण शिखिनोपमितोऽत्र। जीवयसि सुधेव मामालि। इति विभक्तिभेदे। मध्यमपुरुषो हि प्रथमपुरुषेण विपरिणम्योपमाने योज्यते॥

चन्द्रकलेति। कोई वियोगिनी सखी से कह रही है—हे सखि! जिस प्रकार चन्द्र की कला अत्यन्त गौरवर्ण की है उसी प्रकार यह प्रिय भी अत्यन्त गौर है। (यहाँ 'गौर' सामान्यवाचक पद को स्त्रीलिङ्ग में भिन्न किये विना 'चन्द्रकला' उपमान के साथ अन्वय हो ही नहीं सकता) यह लिङ्गभेद का उदाहरण है। 'जिस प्रकार वायु जाता है उसी प्रकार जो छोड़कर चला गया' यह कालभेद का उदाहरण है। (यहाँ) भूतकाल को भग्न करके वर्तमान के साथ अन्वित करेंगे।

'वह अग्नि की तरह खूब जलाये' यह कारकभेद का उदाहरण है। विधि-विशिष्ट कर्ता शुद्ध कर्ता अग्नि के साथ उपमित किया गया गया है। 'अमृत के समान सखि मुझे जिला रही हो' यह विभक्तिभेद का उदाहरण है। मध्यम पुरुष (जीवयसि) को जीवयति बनाकर उपमान के साथ जोड़ते हैं॥

कुवलयदलमिव दीर्घे तव नयने इत्ययं तु सुव्यक्तः।

युक्त्या तावद्दोषो विद्वद्भिरपि प्रयुक्तश्च ॥ २८ ॥

'नीलकमल के पत्र के समान तुम्हारे दोनों नेत्र विशाल हैं। इस प्रकार के दोष तो युक्ति से सुव्यक्त हैं (इन दोषों को) महाकवियों ने भी प्रयोग किया है॥ २८॥'

कुवलयेति। कुवलयदलमिव दीर्घे तव नयने। इति वचनभेदे। दीर्घे इति द्विवचनान्तं ह्येकवचनान्तं कृत्वा योज्यते। नन्वेवं लिङ्गादिभेदे दोषीकृते महाकविलक्ष्यम् 'तां हंसमालाः शरदीव गङ्गाम्' इत्यादिकं कालादिभेदस्य विद्यमानत्वात्प्रायशः सर्वमेव दूष्यत इत्याह—इत्ययं त्वित्यादि। तुरवधारणे। युक्त्या तावदयं सुव्यक्त एव दोषः। ततोऽस्माभिरुक्तः। उक्तं च पूर्वमेव 'काव्यालंकारोऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति' (१।२) इति। विद्वद्भिरपि प्रयुक्तश्चेत्यनेन दोषस्याप्यपरिहार्यतामाह॥

कुवलयेति। 'नीलकमल के पत्र के समान तुम्हारे दोनों नेत्र विशाल हैं'—यह वचन भेद का उदाहरण है। 'दीर्घे' यह द्विवचनान्त ('दीर्घम्') एकवचनान्त करके उपमान (कुवलयदलदीर्घम्) में अन्वित होगा। प्रश्न उठता है कि लिङ्ग आदि भेद के इस प्रकार दुष्ट मानने पर तो महाकवि का उदाहरण 'शरद में हंसों की पंक्तियों ने उस गङ्गा को' आदि भी काल आदि भेद होने के कारण प्रायः सब दूषित हो जायगा ? कहते हैं—इत्ययं त्वित्यादि। तु अवधारण अर्थ में आया है। युक्ति से यह स्फुट ही यह दोष है। इसीलिये हमने दोष बताया। पहले ही कहा गया है 'काव्यालंकार नामक इस ग्रन्थ की युक्तिपूर्वक रचना की जायगी' (कारिका में) 'विद्वद्भिरपि प्रयुक्तश्च' के ग्रहण करने का तात्पर्य है कि यह दोष अपरिहार्य है॥

वैषम्यमाह—

अकृतविशेषणमेकं यत्स्यादुभयोस्तदन्यवैषम्यम्।

संभवति कल्पितायामुत्पाद्यायां च नान्यत्र ॥ २९ ॥

वैषम्य का लक्षण करते हैं—'उपमान और उपमेय में जहाँ एक निर्विशेषण हो (और दूसरा सविशेषण हो) वहाँ वैषम्य उपमा-दोष होता है। वह केवल कल्पितोपमा और उत्पाद्योपमा में संभव है अन्यत्र नहीं॥ २९॥'

अकृतेति । उभयोरुपमानोपमेययोर्मध्यादेकमुपमानमुपमेयं वा निर्विशेषणं भवेत्तदस्याकृतविशेषणस्य कृतविशेषणेन सह वैषम्यम् । तच्च कल्पितायामुत्पाद्यायां चोपमायां संभवति ॥

अकृतेति । दोनों (उपमान और उपमेय) में से जहाँ एक (उपमन या उपमेय) निर्विशेषण हों और दूसरा (उपमेय या उपमान) सविशेषण हो वहाँ निर्विशेषण का सविशेषण के साथ वैषम्य होता है । इसका विषय कल्पितोपमा और उत्पाद्योपमा ही हो सकती है ॥

विपरीतरते सुतनोरायस्ताया विभाति मुखमस्याः ।
श्रमवारिबिन्दुजालकलाञ्छितमिव कमलमुत्फुल्लम् ॥३०॥

पुरुष का-सा आचरण करते समय 'इस सुन्दरी का मुख परिश्रम के कारण उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं से लाञ्छित होने के कारण पुष्पित कमल के समान सुशोभित हो रहा है ॥ ३० ॥'

विपरीतरत इति । इवशब्दो भिन्नक्रमे । कलस्योपमानस्य न किंचिद्वश्यायजलकणनिकुरम्बाञ्चितत्वादिकं कृतम् । कल्पितोपमेयम् ॥

विपरीतरत इति । इव शब्द भिन्न क्रम से आया है (कमलमिव प्रयोग होना चाहिये)। यहाँ (परिश्रम के कारण स्वेदबिन्दुओं से लाञ्छित के उपमेय मुख का विशेषण बनाकर) कुछ-कुछ सूखती हुयी जलकणिकाओं से अञ्चित आदि को उपमान कमल का विशेषण नहीं बनाया गया है। यह कल्पितोपमा है॥

उत्पाद्यामाह—

मुक्ताफलजालचितं यदीन्दुबिम्बं भवेत्ततस्तेन ।
विपरीतरते सुतनोरुपमीयेताननं तस्याः ॥ ३१ ॥

उत्पाद्योपमा का लक्षण करते हैं—उदाहरण देते हैं—'यदि चन्द्रबिम्ब मुक्ताफल के जाल से व्याप्त हो तब उससे उस सुन्दरी के उस मुख की उपमा दी जाय ॥ ३१ ॥'

मुक्ताफलेति । अत्रोपमानस्येन्दुबिम्बस्य मुक्ताफलजालचितमिति विशेषणं कृतम् न तु मुखस्योपमेयस्य श्रमवारिकणचितत्वादि ॥

मुक्ताफलेति । यहाँ 'मुक्ताफल से व्याप्त' यह उपमान चन्द्रबिम्ब का विशेषण किया किन्तु उपमेय मुख का 'परिश्रम के स्वेदबिन्दुओं से व्याप्त' आदि नहीं ॥

अथासंभवः—

उपमानं यत्र स्यादसंभवत्तद्विशेषणं नियमात् ।
संभूतमयद्यर्थं विज्ञेयोऽसंभवः स इति ॥ ३२ ॥

अब असंभव का लक्षण करते हैं—'जहाँ असंभव उपमान निश्चयपूर्वक असंभव विशेषणों से युक्त बिना यदि सूचक शर्त के उपन्यस्त हो वहाँ असंभव नामक (उपमा दोष) होता है ॥ ३२ ॥'

उपमानमिति। स इत्यनेन प्रकारेणासंभवो नाम दोषः। यत्रोपमानमसंभवत्तद्विशेषणमसंभाव्यविवक्षितधर्मकमपि नियमान्निश्चयेन संभूतं तद्विशेषणयुक्तं स्यात्। ननु तर्हि 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्' इत्याद्यपि दुष्टं स्यादित्याह—अयद्यर्थम्। यद्यर्थविकलं यदि क्रियते। सयद्यर्थे तु न दोषः॥

उपमानमिति। जहाँ असंभव विशेषणों से युक्त उपमान को निश्चयपूर्वक उन विशेषणों से युक्त बताया जाय वहाँ असंभव नामक उपमा दोष होता है। फिर तो (कुमारसंभव में पार्वती के वर्णन में) 'यदि कुसुम नूतन किसलयों से युक्त हो अथवा मूंगे में मोती के फल लगे हों (तब वह उस पार्वती के ताम्र-वर्ण के ओष्ठ पर बिखरी हुयी कान्तिवाली स्वच्छ मुस्क्यान का अनुकरण करे) आदि भी दूषित हो जायगा। कहते हैं—अयद्यर्थम्। यदि (वह असंभव विशेषण-विशिष्ट उपमान) यद्यर्थ (यदि, चेत् आदि से युक्त) के बिना उपन्यस्त होगा (तभी सदोष होगा) यदि, तेत् आदि से युक्त होने पर वह सदोष नहीं होगा॥

उदाहरणमाह—

सुतनुरियं बिमलाम्बरलक्ष्योरुमृणालमूलला लित्या।
अजलप्रकृतिरदूरस्थितमित्रा गगननलिनीव ॥ ३३ ॥

उदाहरण देते हैं—'यह सुन्दरी स्वच्छ वस्त्र के अन्दर से लक्षित होने वाली, विस्तृत मृणालमूल के समान सौन्दर्य वाली, विना जल के उत्पन्न, समीप में स्थित मित्र (सूर्य) वाली आकाशकमलिनी के समान है ॥ ३३ ॥'

सुतनुरिति। अत्र विशेषणत्रयमपि तन्वीगगननलिन्योः समानम्। परं यदि गगने नलिनी संभवेत्तदा तन्वीसदृशी भवेत्। अतो यद्यर्थं विना दुष्टता॥

सुतनुरिति। यहाँ तीनों ही विशेषण सुन्दरी और आकाशकमलिनी के समान हैं। किन्तु यदि आकाश में कमलिनी संभव हो तब वह सुन्दरी के सदृश हो। इस प्रकार यहाँ यद्यर्थ के अभाव में (असंभव) दोष है॥

अथाप्रसिद्धिः—

उपमानतया लोके वाच्यस्य न तादृशं प्रसिद्धं यत्।
क्रियते यत्र तदुत्कटसामान्यतयाप्रसिद्धिः सा ॥ ३४ ॥

अप्रसिद्धि का लक्षण करते हैं—'उपमेय अर्थ के उपमान रूप में लोक में जो वस्तु प्रसिद्ध नहीं है उसे अत्यन्त सादृश्य के कारण जहाँ उपमान बना देते हैं वहाँ अप्रसिद्धि दोष होता है ॥ ३४ ॥'

उपमानतयेति । यत्किमपि वस्तु लोके वाच्यस्योपमेयार्थस्योपमानतया न प्रसिद्धमथ च तथा क्रियते सा प्रसिद्धिर्दोषः । कदाचिद्वाच्येन सह विसदृशं स्यादथवा तादृशं तुल्यमपि यदि न प्रसिद्धं कथं क्रियत इत्याह—उत्कटसामान्यतया । अतिसादृश्यादित्यर्थः ॥

उपमानतयेति । जहाँ कोई ऐसी वस्तु जो उपमेय के उपमान रूप में लोक में प्रसिद्ध नहीं है और उपमान बना दी जाती है वहाँ अप्रसिद्धि दोष होता है । कदाचित् वाच्य के साथ विसदृश हो अथवा उस (उपमेय) के तुल्य भी जब प्रसिद्ध नहीं होता तो उसका उपमान कैसे बना दिया जाता है, इसे बताते हैं—उत्कट सामान्यतया । अत्यन्त सादृश्य के कारण ।

उदाहरणमाह—

पद्मासनसंनिहितो भाति ब्रह्मेव चक्रवाकोऽयम् ।
श्वपचश्यामं वन्दे हरिमिन्दुसितो बकोऽयमिति ॥ ३५ ॥

उदाहरण देते हैं—'कमल के आसन पर बैठा हुआ यह चकवा कमल के आसन पर बैठे हुये ब्रह्मा के समान शोभित हो रहा है । चाण्डाल के समान कृष्णवर्ण वाले विष्णु को नमस्कार है । यह बगुला चन्द्रमा के समान श्वेत है ॥ ३५ ॥'

पद्मेति । इह ब्रह्मकेशवचन्द्राणां क्रमेण पद्मासनत्वेन श्यामत्वेन च चक्रवाकश्वपचबकाः समाना अपि न तदुपमानत्वेन प्रसिद्धाः । यत्र तु प्रसिद्धिस्तत्र भवत्येव । यथा—'नमामि शंकरं काशसंकाशं शशिशेखरम् । नमो नुताय गीर्वाणैरलिनीलाय विष्णवे ॥' इत्यादि । ननु कथम् 'भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि । कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥' इत्यादिष्वौपम्यम् । अत्र ह्येकत्र विधिरपरत्र निषेधः । यथा शमीतरुमग्निर्दहत्येवं त्वां मन्युः कथं न दहतीति । सत्यम् । प्रथममौपम्ये विहिते पश्चादुपमेयप्रतिषेधे न किंचिदनुपपन्नम् । केचित्तु व्यतिरेकोऽयमित्याहुः ॥

पद्मेति । कमल के आसन, श्यामता और श्वेतिमा के कारण ब्रह्मा, विष्णु और चन्द्रमा क्रमशः चकवा, चाण्डाल और बगुले के समान होकर भी उनके उपमान के रूप में प्रसिद्ध नहीं हैं । जहाँ (उपमान रूप में) प्रसिद्धि होगी वहाँ तो उपमा होगी ही । जैसे—'भाल पर चन्द्रमा वाले शिव को नमस्कार है ।

देवों के वन्दनीय भ्रमर की श्याम कान्ति वाले विष्णु को नमस्कार है ॥' आदि। 'हे राजन्! इस समय मनस्वियों के लिये निन्दनीय मार्ग में वर्तमान आपको बबूल की लकड़ी को ऊर्ध्वगामी लपटों वाले अग्नि (इस वनेचर के द्वारा यह सन्देश पाने पर) सदृश जगा हुआ क्रोध क्यों नही जलाता है ॥' इन उदाहरणों में तो औपम्य है ही। यहाँ एक स्थान पर विधि है दूसरे स्थान पर निषेध। जिस प्रकार अग्नि शमी की लकड़ी को जलाती है उसी प्रकार तुम्हें क्रोध क्यों नहीं जलाता है॥ सत्य है। एकबार औपम्य के विहित हो जाने पर फिर उपमेय के प्रतिषेध से कोई असंगति नहीं होती। कुछ लोगों के मत से यहाँ व्यतिरेक (अलंकार) है॥

अथ सर्वमेव शास्त्रोक्तमुपसंहरन्नाह—

शब्दार्थयोरिति निरूप्य विभक्तरूपान्-
दोषान्गुणांश्च निपुणो विसृजन्नसारम्।
सारं समाहितमनाः परमाददानः
कुर्वीत काव्यमविनाशि यशोऽधिगन्तुम् ॥ ३६ ॥

आगे सभी शास्त्रोक्त चर्चा का उपसंहार करते हुये कहते हैं—'शब्द और अर्थ के अलग-अलग दोष और गुणों का निरूपण करके, असार (पद) का परित्याग करके और सार पद का संग्रह करके अनश्वर यश प्राप्त करने के लिये शान्तचित्त होकर कुशल व्यक्ति काव्य रचना करे॥ ३६ ॥'

शब्दार्थयोरिति। इति पूर्वोक्तेन युक्तिमता प्रकारेण शब्दार्थयोर्दोषान्-गुणांश्च निपुणः प्रवीणः कविर्निरूप्य पर्यालोच्य। किंभूतान्। विभक्तरू-पान्विभागेन स्थितरूपान्। शब्दस्य हि वक्रोक्त्यादयः पञ्च गुणाः। दोषा-स्त्वसमर्थादयः षट्। अर्थस्य पुनर्गुणा वास्तवादयश्चत्वारः। दोषास्त्वपहेतुत्वा-दयो नव। ततश्चासारं दोषान्विसृजन्, परमुत्कृष्टं सारमलंकारानाददानो गृह्णन्। किंभूतः सन्। समाहितं सावधानं मनो यस्य स तथाविधः। अनवधाने हि महाकवीनामपि स्खलितं भवति। किमर्थं पुनरेवं कुर्वीते-त्याह—अविनाश्यविनश्वरं यशः प्राप्तुमिति। अत्र च वास्तवादीनां चतु-र्णामपि ये सहोक्त्यादयः प्रभेदा उक्तास्ते बाहुल्यतो न पुनरेतावन्त एव। उक्तं च 'न हुघट्ट इत्ताणअवही नयणे दीसन्ति कहवि पुणरुत्ता। जेवि सनापियआणं अत्था वा सुकइवाणीए॥' ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तोऽलंकाराः। तेनेत्याद्यपि सिद्धं भवति यथा—क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः, सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशा

न तप्तं तपः । ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं, तत्तत्कर्म कृतं परानतिपरैस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम्' ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेत एकादशोऽध्यायः समाप्तः ।

शब्दार्थयोरिति । इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से निपुण कवि शब्द और अर्थ के गुणों का निरूपण करके (काव्य-रचना करे)। कैसे (गुण और दोषों का)? उनका पृथक्-पृथक् प्रदर्शन किया जा चुका है। वक्रोक्ति आदि (आदि शब्द से अनुप्रास। यमक, श्लेष और चित्र का ग्रहण होता है) शब्द के पाँच गुण हैं। असमर्थ आदि छः दोष हैं। अर्थ के वास्तव आदि चार गुण हैं। अपहेतु आदि नव दोष हैं। फिर दोषों को त्यागकर और अत्यन्त उत्कृष्ट अलंकारों का उपादान (करके काव्य-रचना करे)। क्या होकर? समाहितचेता होकर अर्थात् (चित्त को अत्यन्त सावधान करके काव्य-रचना करे)। क्योंकि असावधानी वर्तने पर महाकवि भी स्खलित हो जाते हैं। फिर ऐसा करने का (रचना का) प्रयोजन क्या है? अनश्वर यश की प्राप्ति। यह वास्तव आदि चारों वर्गों के जो सहोक्ति आदि भेद कहे गये हैं वे संख्या में इतने ही नहीं हैं (वे अनन्त हैं) कहा भी गया है।

अतएव हृदय को आवर्जित करने वाले जितने भी अर्थ के प्रकार हैं उतने अलंकार हैं। अतएव यही भी (अलंकार रूप में) सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार रुद्रट रचित काव्यालंकार में नमि साधु विरचित टिप्पणी से युक्त काव्यालंकार का ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

द्वादशोऽध्याय:

ननु काव्यकरणे कवे: पूर्वमेव फलमुक्तम् , श्रोतॄणां तु किं फलमित्याह—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेऽभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्य: ॥ १ ॥

काव्य-रचना के द्वारा कवि को मिलने वाले फल का व्याख्यान तो किया जा चुका है आगे श्रोताओं को क्या फल मिलता है, इसे बताते हैं—'काव्य से रसिकों को शीघ्र ही कोमलतापूर्वक (धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप) चतुर्वर्ग में दीक्षित कर लिया जाता है क्योंकि वे रसिक नीरस शास्त्रों से भयभीत हो जाते हैं ॥ १ ॥'

नन्विति । ननुशब्द: पृष्टप्रतिवचने । काव्येन हेतुना चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेऽवगमोऽवबोध: क्रियते । ननु तत्र धर्मादिशास्त्राण्येव हेतुरस्ति, किं काव्येनेत्याह— लघु मृदु चेति क्रियाविशेषणम् । शीघ्रं कोमलोपायं च यथा भवतीत्यर्थ: । तथापि धर्मादिसारसंग्रहशास्त्रेभ्यो लघु मृदु च भविष्यतीत्याह—सरसानां श्रृङ्गारादिप्रियाणाम् । धर्मादिशास्त्रेभ्यस्तेषामपि किं न भवतीत्याह—नीरसेभ्य: शास्त्रेभ्यो हिर्यस्मात्ते सरसास्त्रस्यन्ति बिभ्यति ॥

नन्विति । ननु शब्द शङ्का के उत्तर में प्रयुक्त होता है । काव्य के द्वारा चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का ज्ञान होता है । प्रश्न उठता है कि इसके लिये तो धर्मशास्त्र आदि हैं ही फिर काव्य से क्या प्रयोजन ? लघु और मृदु ये दो पद क्रियाविशेषण हैं । (काव्य के द्वारा उसका) सरलतापूर्वक शीघ्र ही ज्ञान होता है । तथापि धर्म आदि के सार के संग्रह से उन्हें सरलतापूर्वक शीघ्र बोध हो जायगा इसके उत्तर में कहते हैं—श्रृङ्गार आदि के प्रेमियों को (शीघ्र बोध होता है) । धर्म आदि शास्त्रों से उन्हें क्यों बोध नहीं होता ? नीरस शास्त्रों से सरस प्राणी सदैव भयभीत रहते हैं (इसलिये शास्त्रों से सरलतापूर्वक शीघ्र ही उन्हें चतुर्वर्ग का बोध नहीं हो सकता ।)

तत: किमित्याह—

तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् ।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥ २ ॥

फिर क्या करना चाहिये, इसे बताते हैं—'अतएव बड़े प्रयत्न से रसपेशल काव्य की रचना करनी चाहिये। रस के अभाव में शास्त्रों के समान काव्यों से भी उद्वेग उत्पन्न होने लगता है ॥ २ ॥'

तस्मादिति। गतार्थम्। नन्वेवं सति सरसार्थमेव काव्यं स्यान्न तु नीरसार्थमिति नास्य सर्वजनीनत्वं स्यात्। नैष दोषः। प्रवृत्त्युपाय एषोऽस्माभिरुक्तः, न तु नीरसप्रवृत्तिनिषेधः कृत इति। तेऽपि प्रवर्तन्त एव। अथालंकारमध्य एव रसा अपि किं नोक्ताः। उच्यते—काव्यस्य हि शब्दार्थौ शरीरम्। तस्य च वक्रोक्तिवास्तवादयः कटककुण्डलादय इव कृत्रिमा अलंकाराः। रसास्तु सौन्दर्यादय इव सहजा गुणाः इति भिन्नस्तत्प्रकरणारम्भः ॥

तस्यादिति। अर्थ स्पष्ट है। प्रश्न उठता है कि इस प्रकार तो काव्य केवल सरस (व्यक्तियों) के लिये होगा नीरसों के लिये फिर काव्य की (चतुर्वर्ग के बोध में) सार्वजनिक कारणता नहीं होगी। यह दोष नहीं है। सरसों की प्रवृत्ति के उपाय का व्याख्यान हमने किया, नीरस प्रवृत्ति वालों का निषेध नहीं किया। अतएव वे भी काव्य में प्रवृत्त हो सकते हैं। आगे सन्देह करते हैं कि रस की गणना अलंकारों में ही क्यों नहीं की ? उत्तर देते हैं—'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं; वक्रोक्ति और वास्तव आदि कटक-कुण्डल के समान उसके कृत्रिम अलङ्कार हैं। रस तो सौन्दर्य आदि की तरह स्वाभाविक गुण हैं। अत एव उसके प्रकरण का आरंभ पृथक् अध्याय में किया गया ॥'

अथ क एते रसास्तानेवोद्दिशति—

शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ॥ ३ ॥

फिर ये रस कौन हैं—उनका नाम गिनाते हैं—'शृङ्गार, वीर, करुण, बीभत्स, भयानक, अद्भुत, हास्य, रौद्र, शान्त और प्रेयान्—इन दश रसों को मानना चाहिए ॥ ३ ॥'

शृङ्गारेति। गतार्थं न वरम्। शृङ्गारस्य प्राधान्यख्यापनार्थः प्रागुपन्यासः। इतिशब्द एवंप्रकारार्थः। एवंप्रकारा अन्येऽपि भावा रतिनिर्वेदस्तम्भादयः सर्वेऽपि रसा बोद्धव्याः। तत्र रत्यादयः स्थायिनः। निर्वेदादयो व्यभिचारिणः। स्तम्भादयः सात्त्विकाः। तद्यथा—'रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा। जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावा रसाश्रयाः॥ निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिः शङ्कासूयामदश्रमाः। आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥ व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो

जडता तथा । गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च । सुप्तं प्रबोधो-
ऽमर्षश्चाप्यवहित्थस्तथोग्रता । मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः । त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः समा-
ख्यातास्तु नामतः । स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः । वैव-
र्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥' तत्र श्रृङ्गारादिषु रत्यादयो
यथासंख्यं भवन्ति । निर्वेदभयस्तम्भादयस्तु सर्वेष्विति ॥

श्रृङ्गारेति । श्रृङ्गार की प्रधानता द्योतित करने के लिये उसका पहले नाम लिया गया है । इति शब्द इस प्रकार के अर्थ में आया है । इस प्रकार रति, निर्वेद, स्तम्भ आदि सभी भावों को रस ही जानना चाहिये । इनमें रति आदि स्थायीभाव हैं, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं । उदाहरणार्थ—'रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम रस के आश्रय स्थायीभाव हैं । (व्यभिचारिभावों को गिनाते हैं)–निर्वेद ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क को व्यभिचारी नाम से जानना चाहिये । ये तैंतीस भाव (इन) नामों से प्रसिद्ध हैं ।।'

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्त्विक (भाव) कहे गये हैं । इनमें श्रृङ्गार आदि रसों में क्रमशः रति आदि स्थायीभाव होते हैं । निर्वेद, भय, स्तम्भ आदि सभी रसों में होते हैं ।।

ननु कथं तर्हि निर्वेदादयो रसतां यान्तीत्याह—

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥ ४ ॥

ये निर्वेद आदि रसत्व को कैसे प्राप्त होते हैं, इसे बताते हैं—'मधुर आदि रसों के समान इन (श्रृङ्गार आदि) की रसन होने के कारण रसता आचार्यों को अभीष्ट है । निर्वेद आदि (तैंतीस) संचारीभावों में भी वह रसता पर्याप्त हो सकती है अतएव वे भी रस संज्ञा को प्राप्त करते हैं ।। ४ ।।'

रसनामिति । आचार्यैर्भरतादिभिरेषां स्थायिभावानां रसनादास्वाद-
नाद्धेतो रसत्वमुक्तम् । केषामिव । मधुराम्लादीनामिव । मधुरादयो
ह्यास्वाद्यमानाः सन्तो रसतां यान्तीति । उक्तं च—'अनेकद्रव्यसंयुक्तैर्व्य-
ञ्जनैर्बहुभिश्चितम् । आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तभुजो यथा ॥ भावा-
भिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा रसान् । आस्वादयन्ति मनसा तस्मा-

न्नाटये रसाः स्मृताः ॥' स्यादेतत् । स्थायिभावानामेव रसनं भविष्यतीत्याह— निर्वेदादिष्वपि तद्रसनं निकाममस्तीति हेतोस्तेऽपि रसा ज्ञेयाः । यस्य तु परिपोषं न गतास्तस्य भावा एव ते अयमाशयो ग्रन्थकारस्य—यदुत नास्ति सा कापि चित्तवृत्तिर्या परिपोषं गता न रसीभवति । भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात्संज्ञां चाश्रित्याष्टौ नव वा रसा उक्ता इति ॥

रसनादिति । इन स्थायी भावों का रसन होने के कारण आचार्य भरत आदि ने इनका रसत्व (रस होना) बताया है । किसके समान ? मधुर, खट्टे आदि (लौकिक रसों) के समान । मधुर आदि (लौकिक रस) आस्वाद्यमान होकर रस को प्राप्त होते हैं । कहा भी है--'अनेक प्रकार के द्रव्यों से बने हुये भोजन के साथ भात खाते हुये जिस प्रकार भात का स्वाद लेते हैं (उसी प्रकार) भावाभिनय से युक्त स्थायी भावों और रसों का (सामाजिक) आस्वादन करते हैं । अतएव नाट्यशास्त्र में ये रस कहे गये हैं ॥' कदाचित् ऐसा हो कि 'स्थायीभावों का ही रसन होगा' इसके उत्तर में कहते हैं—'निर्वेद आदि (संचारीभावों में) भी वह रसन पर्याप्त मात्रा में होता है अतएव उन्हें भी रस समझना चाहिये । जिस का रसन पुष्ट नहीं होता है उसके वे निर्वेद आदि भाव ही होते हैं । ग्रन्थकार का तात्पर्य इस प्रकार है—'ऐसी कोई चित्तवृत्ति नहीं है जो (विभाव आदि से) परिपुष्ट होकर रस नहीं होती है । सहृदय के आवर्जकत्व को प्राधान्य देकर और संज्ञा का आश्रय लेकर भरत ने आठ या नव रस गिनाये हैं ॥'

अथ शृङ्गारलक्षणम्—

व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृतिः ।
शृङ्गारः स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ॥ ५ ॥
संभोगः संगतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ ।
पुनरप्येष द्वेधा प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च ॥ ६ ॥

शृङ्गार का स्वरूप—'शृङ्गार का स्थायीभाव है रति; वह परस्पर आसक्त पुरुष और नारी के व्यवहार से उत्पन्न होती है । उसके दो भेद हैं—संभोग और विप्रलम्भ ॥ ५ ॥'

(परस्पर) संगत पुरुष और नारी के व्यवहार से उत्पन्न (शृङ्गार) संभोग-शृङ्गार कहलाता है और वियुक्त के व्यवहार से उत्पन्न विप्रलम्भ शृङ्गार । पुनः प्रच्छन्न और प्रकाश भेदों से यह दो प्रकार का होता है ॥ ६ ॥'

व्यवहार इति । संभोग इति गतार्थं न वरम् । मातृसुतयोः पितृदुहित्रोर्भ्रातृभगिन्योः शृङ्गारनिवृत्त्यर्थं रक्तयोरिति पदम् । रतिः कामानु-

विद्धा प्रकृतिः कारणं यस्य । अथ शृङ्गारभेदव्याख्या संभोग इत्यादिका । पुनरप्येष प्रभेदकथनम् ॥

व्यवहार इति । संभोग इति । सुस्पष्ट की व्याख्या अपेक्षित नहीं । माता और पुत्र, पिता और पुत्री तथा भाई और बहन के व्यवहार को शृङ्गार से भिन्न बताने के लिये (कारिका) में 'रक्तयोः' पद का उपादान किया गया । (शृङ्गार का) कारण रति कामासक्त प्रकृति है । अब शृङ्गार के भेदों की व्याख्या करते हैं—संभोग आदि उसके भेद हैं । 'पुनरप्येष' आदि के द्वारा (उसके) प्रभेद कहे गये हैं ॥

शृङ्गारश्च नायकाश्रय इति तस्य गुणानाह—

रत्युपचारे चतुरस्तुङ्गकुलो रूपवानरुग्मानी ।
अग्राम्योज्ज्वलवेषोऽनुल्बणचेष्टः स्थिरप्रकृतिः ॥ ७ ॥
सुभगः कलासु कुशलस्तरुणस्त्यागी प्रियंवदो दक्षः ।
गम्यासु च विस्रम्भी तत्र स्यान्नायकः ख्यातः॥८॥युग्मम् ॥

रति के व्यवहार में चतुर, कुलीन, आरोग्य, रूपवान् , मानी, अग्राम्य, उज्ज्वल वेष वाला, मधुर चेष्टाओं से युक्त, स्थिर स्वभाव वाला, सुखी, कलाओं में निपुण, तरुण, त्यागी, मधुरभाषी, कुशल, अभिसरण की पात्र नायिकाओं में विश्वास करने वाला, उस (शृङ्गार) में इतिहास-प्रसिद्ध नायक होता है ॥७-८॥

रत्युपचार इति । सुभग इति । सुगमम् । एतैः षोडशभिर्गुणैर्युतो नायकः स्त्रीणामभिगम्यत्वाच्छृङ्गाराश्रय इति ॥

रत्युपचार इति । सुभग इति । सुस्पष्ट है । इन सोलह गुणों से युक्त नायक स्त्रियों का अभिगम्य होने के कारण शृङ्गार का आश्रय होता है ॥

अथैवंगुणस्यास्य भेदान्सलक्षणानार्याचतुष्टयेनाह—

एवं स चतुर्धा स्यादनुकूलो दक्षिणः शठो धृष्टः ।
तत्र प्रेम्णः स्थैर्यादनुकूलोऽनन्यरमणीकः ॥ ९ ॥

आगे इन गुणों से युक्त नायक के स्वरूप और भेदों का चार आर्याओं में वर्णन करता है—इस प्रकार वह (नायक) अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट के भेद से चार प्रकार का होता है । इनमें जिसकी अन्य कोई नायिका नहीं होती वह केवल एक में ही प्रेम की स्थिरता के कारण दक्षिण कहा जाता है ॥ ९ ॥'

खण्डयति न पूर्वस्यां सद्भावं गौरवं भयं प्रेम ।
अभिजातोऽन्यमना अपि नार्यां यो दक्षिणः सोऽयम्॥१०॥

दूसरी नायिका में राग होने पर भी जो कुलीन पूर्व नारी में सद्भाव भय, प्रेम और गौरव को नहीं त्यागता है उसे दक्षिण नायक कहते हैं ॥ १० ॥'

वक्ति प्रियमभ्यधिकं यः कुरुते विप्रियं तथा निभृतम् ।
आचरति निरपराधवदसरलचेष्टः शठः स इति ॥ ११ ॥

जो सामने मधुर भाषण तो खूब करता है किन्तु निर्जन में अपराध करता है ऐसे उस निरपराध के समान सरल चेष्टाओं वाले को शठ कहते हैं ॥ ११ ॥

कृतविप्रियोऽप्यशङ्को यः स्यान्निर्भर्त्सितोऽपि न विलक्षः ।
प्रतिपादितेऽपि दोषे वक्ति च मिथ्येत्यसौ धृष्टः ॥ १२ ॥

अपराध करने पर भी जो अभीत रहता है और भर्त्सना किये जाने पर भी जो नहीं डरता, दोष के बताने पर भी जो झूठ बोलता है उसे धृष्ट कोटि का नायक जानना चाहिए ॥ १२ ॥

एवमिति । खण्डयतीति । वक्तीति । कृतेति । गतार्थम् ॥

एवमिति । खण्डयतीति । वक्तीति । कृतेति । स्पष्ट है ॥

अथ तस्य नर्मसचिवः क्रीडासहायो भवति, तस्य चाष्टौ गुणाः । तानाह--

भक्तः संवृतमन्त्रो नर्मणि निपुणः शुचिः पटुर्वाग्मी ।
चित्तज्ञः प्रतिभावांस्तस्य भवेन्नर्मसचिवस्तु ॥ १३ ॥

नायक का नर्म सचिव क्रीडा में सहायक होता है, उसके आठ गुण होते हैं। उन्हें बताते हैं—'(उस नायक का) नर्म सचिव (उस नायक का) भक्त, गुप्त बातों को छिपाने वाला, नर्म में कुशल, ईमानदार, पटु, वाचाल, मन को जानने वाला और प्रतिभाशाली होता है ॥ १३ ॥'

भक्त इति । गतार्थार्या ॥

भक्त इति । आर्या का अर्थ तो स्पष्ट ही है ॥

अथ तस्यैव भेदानाह--

त्रिविधः स पीठमर्दः प्रथमोऽथ विटो विदूषकस्तदनु ।
नायकगुणयुक्तोऽथ च तदनुचरः पीठमर्दोऽत्र ॥ १४ ॥

आगे उस (नर्म सचिव) के भेद बताते हैं—'वह नर्म सचिव तीन प्रकार का होता है पीठमर्द, विट और विदूषक । इनमें नायक के गुणों से युक्त उसका अनुचर पीठमर्द कहलाता है ॥ १४ ॥'

विट एकदेशविद्यो विदूषकः क्रीडनीयकप्रायः ।
निजगुणयुक्तो मूर्खो हासकराकारवेषवचाः ।। १५ ।।

(नायकोपयोगिनी) किसी एकदेशी विद्या का जानकार विट और प्रायः क्रीडा में अभिरुचि रखने वाला, अपने ही गुणों से युक्त, मूर्ख, हँसी कराने वाले आकार, वेष और वाणी से युक्त, विदूषक होता है ।। १५ ।।

त्रिविध इति विट इति । गतार्थमार्याद्वयम् ।।

त्रिविध इति । विट इति । दोनों आर्याओं का अर्थ स्पष्ट है ।।

अथ नायिकानां स्वरूपं भेदान्प्रभेदांश्च भेदप्रभेदस्वरूपं चाह—

आत्मान्यसर्वसक्तास्तिस्रो लज्जान्विता यथोक्तगुणाः ।
सचिवगुणान्वितसख्यस्तस्य स्युर्नायिकाश्चेमाः ।। १६ ।।

आगे नायिकाओं के स्वरूप, भेद और उपभेद का वर्णन करते हैं—'उस (नायक) की सचिव (पीठमर्द आदि) के गुणों से युक्त सखियों वाली, अपने में (आत्मीया) पराये में (परकीया) और सर्व में (सर्वाङ्गना वेश्या, आसक्त, लज्जा से युक्त यथोक्त गुणों वाली ये तीन प्रकार की नायिकायें होती हैं ।। १६ ।।'

शुचिपौराचाररता चरित्रशरणार्जवक्षमायुक्ता ।
आत्मीया तु त्रेधा मुग्धा मध्या प्रगल्भा च ।। १७ ।।

पवित्र और सदाचारिणी, चरित्र से सम्पन्न, सरल और क्षमा गुण से युक्त स्वकीया नायिका के तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ।। १७ ।।

मुग्धा तत्र नवोढा नवयौवनजनितमन्मथोत्साहा ।
रतिनैपुणानभिज्ञा साध्वसपिहितानुरागा च ।। १८ ।।

नवीन यौवन के कारण उत्पन्न काम की इच्छाओं वाली, नवपरिणीता वधू मुग्धा कहलाती है । रति-कौशल में वह अनभिज्ञ होती है और उसका प्रेम भय और लज्जा के कारण अव्यक्त होता है ।। १८ ।।

तल्पे परिवृत्यास्ते सकम्पमालिङ्गनेऽङ्गमपहरति ।
वदनं च चुम्बने सा पृष्टा बहुशोऽस्फुटं वक्ति ।। १९ ।।

शय्या पर करवट के बल सोती है, आलिङ्गन करने पर काँपती हुयी अङ्गों को चुराती है, चुम्बन करने पर मुख को चुराती है और प्रिय के अनेक बार पूछने पर कुछ-कुछ अस्फुट रूप में बोलती है ।। १९ ।।

अन्यां निषेवमाणे सा कुप्यति नायके ततस्तस्य ।
रोदिति केवलमग्रे मृदुनोपायेन तुष्यति च ॥ २० ॥

परकीया के साथ गमन करने पर वह नायक पर क्रुद्ध होती है तदनन्तर वह नायक के आगे केवल रोती ही है और सरल उपायों से ही प्रसन्न हो जाती है ॥ २० ॥

आरूढयौवनभरा मध्याविर्भूतमन्मथोत्साहा ।
उद्भिन्नप्रागल्भ्या किंचिद्धृतसुरतचातुर्या ॥ २१ ॥

मध्या यौवन के शिखर पर पहुँच कर काम की इच्छाओं से आक्रान्त होती है । उसमें प्रगल्भता कुछ-कुछ स्फुट होती है और रति-निपुणता भी उसमें कुछ-कुछ आ जाती है ॥ २१ ॥

व्याप्रियते सायस्ता सुरते विशतीव नायिकाङ्गेषु ।
सुरतान्ते सानन्दा निमीलिताक्षी विमुह्यति च ॥ २२ ॥

संभोग में थक कर वह अत्यन्त प्रसन्न होती है और प्रिय के अङ्गों में प्रविष्ट सी होती है । संभोग के अवसान में आनन्द से युक्त नेत्रों को मूँदकर वह मोहित-सी हो जाती है ॥ २२ ॥

कुप्यति तत्र सदोषे वक्रोक्त्या प्रतिभिनत्ति तं धीरा ।
परुषवचोभिरधीरा मध्या सास्रैरुपालम्भैः ॥ २३ ॥

(स्वकीया) धीरा नायक के अपराध करने पर क्रुद्ध होती है और व्यंग्यों से उस पर प्रहार करती है । अधीरा कटुवचन कहती है और मध्या आँसू बहा-बहा कर उलाहना देती है ॥ २३ ॥

लब्धायतिः प्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विभुर्दक्षा ।
आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढविलासविस्तारा ॥ २४ ॥

रतिकर्म में पण्डित, अत्यन्त दक्ष, आयति (कुशलता) प्राप्त करने वाली, नायक के चित्त पर अधिकार प्राप्त करने वाली, अत्यधिक विलास वाली नायिका प्रगल्भा कही जाती है ॥ २४ ॥

सुरते निराकुलासौ द्रवतामिव याति नायकस्याङ्गे ।
न च तत्र विवेक्तुमलं कोऽयं काहं किमेतदिति ॥ २५ ॥

सुरत में आकुल न होने वाली वह प्रिय के अङ्गों में घुलमिल सी जाती है । 'यह कौन है, मैं क्या हूँ, यह सब क्या है' इसका विचार करने में वह असमर्थ होती है ॥ २५ ॥

तत्र कुपितापराधिनि संवृत्याकारमधिकमाद्रियते ।
कोपमपह्नुत्यास्ते धीरा हि रहस्युदासीना ॥ २६ ॥

नायक के अपराध करने पर (स्वकीया धीरा) (क्रुद्ध) आकार को छिपाकर अधिक प्रेम करती है। (प्रिय के समक्ष) क्रोध छिपा लेती है किन्तु एकान्त में उदासीन रहती है ॥ २६ ॥

मध्या तु साधुवचनैस्तमीदृशं प्रतिभिनत्ति सोल्लुण्ठैः ।
ताडयति मङ्क्ष्वधीरा कोपात्संतर्ज्य संतर्ज्य ॥ २७ ॥

मध्या भी इसी प्रकार वक्रोक्तियों से प्रिय को मीठे वचनों से बदला चुकाती है, अधीरा तो क्रोध में आकर डाँट-डाँट कर जल्दी से दण्ड दे देती है ॥२७॥

ज्येष्ठकनिष्ठत्वेन तु पुनरपि मध्या द्विधा प्रगल्भा च ।
मुग्धा त्वनन्यभेदा काव्येषु तथा प्रसिद्धत्वात् ॥ २८ ॥

ज्येष्ठा और कनिष्ठा के भेद से मध्या और प्रगल्भा नायिकायें दो प्रकार की होती हैं। काव्यों में प्रसिद्धि के अनुसार मुग्धा का कोई भेद नहीं होता है ॥२८॥

दाक्षिण्यप्रेमभ्यां व्यवहारो नायकस्य काव्येषु ।
दृष्टस्तयोरवश्यं सन्नपि न पुनर्भवो भेदः ॥ २९ ॥

प्रबन्धों में दाक्षिण्य और प्रेम के अनुसार नायक का व्यवहार प्रसिद्ध है। उनमें भेद होने पर भी भेद नहीं किया गया है ॥ २९ ॥

परकीया तु द्वेधा कन्योढा चेति ते हि जायेते ।
गुरुमदनार्ते नायकमालोक्याकर्ण्य वा सम्यक् ॥ ३० ॥

कन्या और ऊढा (विवाहिता) के भेद से परकीया दो प्रकार की होती है। (वे) नायक का प्रत्यक्ष दर्शन करके अथवा किसी के मुख से भली भाँति सुनकर अनिवारणीय काम से पीडित हो जाती हैं ॥ ३० ॥

साक्षाच्चित्रे स्वप्ने स्याद्दर्शनमेवमिन्द्रजाले वा ।
देशे काले भङ्ग्या साधु तदाकर्णनं च स्यात् ॥ ३१ ॥

साक्षात् चित्र में, स्वप्न में अथवा इन्द्रजाल से (कवि परकीया को नायक का) दर्शन कराये। देश और काल के अनुरूप किसी बहाने से नायिका उस नायक के विषय में (किसी के मुख से) सुने ॥ ३१ ॥

द्रष्टुं न संमुखीनं कन्या शक्नोति नायकं हृष्टा ।
वक्तुं न च ब्रुवाणं वक्ति सखीं तं सखी चासौ ॥ ३२ ॥

प्रसन्न हुयी कन्या नायक को सामने से नहीं देख सकती है, न तो नायक के बोलने पर उससे बोल ही सकती है। वह सखी से कहती है और वह सखी उस (नायक) से कहती है ॥ ३२ ॥

पश्यत्यवीक्षमाणं सुस्निग्धस्फारलोचना सततम् ।
दूरात्पश्यति तस्मिन्नालिङ्गति बालमङ्कगतम् ॥ ३३ ॥

जब नायक उसे नहीं देखता रहता तो उस समय स्नेहयुक्त बड़े-बड़े नेत्रों को फाड़कर निरन्तर देखती है। नायक के दूर से देखने पर गोद में लिये हुये बालक को चूमने लगती है ॥ ३३ ॥

अनिमित्तं च हसन्ती सादरमाभाषते सखीं किमपि ।
रम्यं वा निजमङ्गं सव्यपदेशं प्रकाशयति ॥ ३४ ॥

विना किसी निमित्त के हँसती हुयी अपनी सखी से बड़े प्रेमपूर्वक मनमानी बात करती है तथा कोई बहाना लेकर अपने सुन्दर अङ्ग (स्तन आदि) को प्रकाशित करती है ॥ ३४ ॥

सख्या पर्यस्तं वा रचयत्यलकावतंसरशनादि ।
चेष्टां करोति विविधामनुल्बणैरङ्गभङ्गैर्वा ॥ ३५ ॥

(अपनी) सखी के द्वारा अस्त-व्यस्त किये गये अपने केश, आभूषण और मेखला आदि को संवारती है और अपने अंगों की सुन्दर भंगिमाओं से विविध चेष्टायें करती है ॥ ३५ ॥

अन्योढापि तथैतत्सर्वं कुरुतेऽनुरागमापन्ना ।
नायकमभियुङ्क्ते सा प्रगल्भभावेन पुरतश्च ॥ ३६ ॥

परकीया विवाहिता भी प्रेम में आसक्त होकर यह सब चेष्टायें करती है। वह विना किसी संकोच के ही नायक के समक्ष अपना अनुराग प्रकट करती है ॥ ३६ ॥

उद्भूतानन्दभरा प्रस्रुतजघनस्थलार्द्रवसना च ।
निःष्पन्दतारनयना भवति तदालोकनादेव ॥ ३७ ॥

उस नायक का दर्शन करने के कारण (वह) अतिशय आनन्दित हो उठती है, जघनस्थली से आर्द्र वसन खिसका देती है और अनिमेष दृष्टि से देखने लगती है ॥ ३७ ॥

कन्या पुनरभियुङ्क्ते न स्वयमेनं गतापि दुरवस्थाम् ।
सुस्निग्धा तदवस्थां सखी तु तस्मै निवेदयति ॥ ३८ ॥

कन्या तो अत्यन्त कष्ट पाने पर भी इस (नायक) में स्वयं ही राग नहीं प्रकट करती अपितु उसकी अत्यन्त स्नेह करने वाली सखी उस अवस्था को उस (नायक) से निवेदन करती है ॥ ३८ ॥

सर्वाङ्गना तु वेश्या सम्यगसौ लिप्सते धनं कामात् ।
निर्गुणगुणिनोस्तस्या न द्वेष्यो न प्रियः कश्चित् ॥ ३९ ॥

जिससे सभी प्रेम करते हैं उसे वेश्या कहते हैं; वह काम से प्रचुर धन चाहती है। गुणवान् और निर्गुण में न तो उसका किसी से प्रेम होता है और न किसी से द्वेष ॥ ३९ ॥

गम्यं निरूप्य सा स्फुटमनुरक्तेवाभियुज्य रञ्जयति ।
आकृष्टसकलसारं क्रमेण निष्कासयत्येनम् ॥ ४० ॥

अनुरक्त हुयी-सी अभिसरण करके गम्य पुरुष को देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न होती है। क्रमशः सारी सम्पत्ति हड़प कर उसे निकाल देती है ॥ ४० ॥

आत्मेत्याद्यार्यापञ्चविंशतिः सुगमा न वरम् । आत्मीया परकीया वेश्या चेति मूलभेदत्रयम् । आत्मीया च, मुग्धा मध्या प्रगल्भा चेति पुनस्त्रेधा । पुनश्च मध्याप्रगल्भयोर्धीराधीरा मध्या चेति प्रत्येकं भेदत्रयम् । पुनश्च ज्येष्ठाकनिष्ठात्वेन मध्याप्रगल्भयोर्भेदद्वयम् । मुग्धा त्वेकभेदैव । काव्येषु तथा प्रसिद्धेः । अक्षतयोनित्वात्पुनर्विवाहिता पुनर्भूः । परकीया, कन्या परिणीता चेति द्विभेदा । वेश्या त्वेकरूपैवेति । तल्लक्षणं च स्वयं योजनीयमिति ॥

'आत्मा' इत्यादि पचीस आर्यायें सुगम हैं अत एव उन पर टिप्पणी अपेक्षित नहीं है। मूलतः (नायिका के) आत्मीया, परकीया और वेश्या—ये तीन भेद हैं। आत्मीया भी तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। फिर मध्या और प्रगल्भा के ज्येष्ठा और कनिष्ठा के भेद से दो-दो प्रकार होते हैं। काव्य में प्रसिद्धि के कारण मुग्धा का कोई भेद नहीं किया गया। योनि के अक्षत होने के कारण पुनर्विवाहिता (विवाहिता) आदि और भेद होते हैं। परकीया दो प्रकार की होती है—कन्या और परिणीता। वेश्या एक ही प्रकार की होती है। उसका लक्षण स्वयं जोड़ लेना चाहिये ॥

[ता एवाधीनपतिर्वासकसज्जाभिसारिकोत्का च ।
अभिसंधिता प्रगल्भा प्रोषितपतिखण्डिते चाष्टौ ॥

[वे ही (उपर्युक्त) आठ प्रकार की होती हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, अभिसारिका, उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, प्रगल्भा, प्रोषितपतिका और खण्डिता ॥

यस्याः सुरतविलासैराकृष्टमनाः पतिः स्थितः पार्श्वे ।
विविधक्रीडासक्ता स्वाधीनपतिर्भवेत्तत्र ॥

संभोग के विलासों से चित्त के आकृष्ट होने के कारण जिसका पति पास में रहता है, विविध प्रकार की क्रीड़ाओं में आसक्त रहने वाली उस नायिका को स्वाधीनपतिका कहते हैं ॥

निश्चितदयितागमना सज्जितनिजगेहदेहशयनीया ।
ज्ञेया वासकसज्जा प्रियप्रतीक्षेक्षितद्वारा ॥

प्रिय के आगमन के विषय में निश्चित होकर अपने घर, शरीर और शय्या को सजाने वाली, प्रिय की प्रतीक्षा में द्वार का पालन करने वाली नायिका को वासकसज्जा जानना चाहिये ॥

अभिसारिकेति सेयं लज्जाभयलाघवान्यनालोच्य ।
अभिसरति प्राणेशं मदनेन मदेन चाकृष्टा ॥

लज्जा, भय और मानहानि की परवाह न करने वाली, मद और काम के कारण आकृष्ट होकर जो प्रिय के साथ अभिसार करती है उसे अभिसारिका नायिका जानना चाहिये ॥

नोपगतः प्राणेशो गुरुणा कार्येण विघ्नितागमनः ।
यस्याः किं तु स्यादित्याकुलचित्तेत्यसावुत्का ॥

बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य से आगमन में बाधा पड़ने के कारण जिसका प्रिय समीप नहीं आया उस व्याकुलचित्ता नायिका को उत्कण्ठिता जानना चाहिए ॥

अनुनयकोपं कृत्वा प्रसाद्यमानापि न प्रसन्नेति ।
यस्या रुषेव दयितो गच्छत्यभिसंधिता सेयम् ॥

विनय और क्रोध करके प्रिय के प्रसन्न करने पर भी जो नहीं प्रसन्न होती है तथा जिसका प्रिय क्रुद्ध सा होकर चला जाता है उसे अभिसंधिता नायिका जानना चाहिये ॥

यस्या जीवितनाथः संकेतकमात्मनैव दत्त्वापि ।
नायात्युपागतायां तस्यामिति विप्रलब्धेयम् ॥

जिसका प्रिय स्वयं ही संकेत देकर उस नायिका के आने पर भी (संकेत-स्थल) पर नहीं आता है उसे विप्रलब्धा नायिका जानना चाहिये ॥

सेयं प्रोषितनाथा यस्या दयितः प्रयाति परदेशम् ।
दत्त्वावधिमागमने कालं कार्यावसानं वा ॥

जिस नायिका का प्रिय आने के लिये समय अथवा कार्यावसान की अवधि देकर विदेश चला जाता है उसे प्रोषितनाथा (प्रोषितपतिका) नायिका कहते हैं ॥

कार्यान्तरकृतविघ्नो नागच्छत्येव वासकस्थायाः ।
तस्मिञ्जीवितनाथो यस्याः सा खण्डिता ज्ञेया ॥

किसी अन्य कार्य से बाधा पड़ने के कारण घर पर रहने वाली जिस नायिका का प्रिय नहीं आता है उसे खण्डिता नायिका जानना चाहिए ॥

पुनरन्यास्तास्तिस्रः सन्त्युत्तममध्यमाधमाभेदात् ।
इति सर्वा एवैताः शतत्रयं चतुरशीतिश्च ॥

फिर उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से तीन अन्य भेदों में विभक्त होती है । इस प्रकार ये सभी तीन सौ चौरासी प्रकार की हुयीं ॥

अपराधे प्रमितं या कुप्यति मुञ्चति च कारणात्कोपम् ।
स्निह्यति नितरां रमणे गुणकार्यात्सोत्तमा ज्ञेया ॥

अपराध करने पर जो नायक पर स्वल्प क्रोध करती है, सकारण क्रोध छोड़ देती है और गुण के कारण प्रिय में अत्यधिक स्नेह करती है उसे उत्तम कोटि की नायिका जानना चाहिये ॥

आलोच्य दोषमल्पं कुप्यत्यधिकं प्रसीदति चिरेण ।
स्निग्धापि कारणेन च महीयसा मध्यमा सेयम् ॥

स्वल्प अपराध को भी जानकर जो अत्यन्त क्रोधित हो जाती है और बड़ी कठिनाई से देर में प्रसन्न होती हैं उस स्नेहवती नायिका को मध्यम कोटि की जानना चाहिये ॥

स्निह्यति विनापि हेतुं कुप्यत्यपराधमन्तरेणैव ।
स्वल्पादप्यपकाराद्विरज्यते साधमा प्रोक्ता ॥

जो विना हेतु के ही प्रेम करती है और विना अपराध के ही अप्रसन्न होती है, स्वल्प अपराध से भी विरक्त हो जाने वाली उस नायिका को अधम कोटि की जानना चाहिए ॥

संबन्धिसखिश्रोत्रियराजोत्तमवर्णनिर्वसितदाराः ।
भिन्नरहस्या व्यङ्गाः प्रव्रजिताश्चेत्यगम्याः स्युः ॥

सम्बन्धी, मित्र, अग्निहोत्री, राजा, उच्चवर्ण और विना घर वाले लोगों की स्त्रियाँ, भेद खोल देने वाली, कुटिलायें और संन्यास लिये हुये स्त्रियों में गमन नहीं करना चाहिये ॥

एताश्चतुर्दशार्या मूले प्रक्षिप्ताः ॥]

ये चौदह आर्यायें मूल में प्रक्षिप्त हैं।

अथ सर्वासामपि संविधानकवशाद्भेदान्तरमाह—

द्वेधाभिसारिकाखण्डितात्वयोगाद्भवन्ति तास्तासु ।
स्वीया स्वाधीनपतिः प्रोषितपतिका पुनर्द्वेधा ॥ ४१ ॥

विधान के अनुसार उन सब के और भेद बताते हैं—'अभिसारिका और खण्डिता के भेद से वे (१६ प्रकार की नायिकायें) दो-दो प्रकार की मात्र हैं। उनमें स्वीया दो प्रकार की होती है—स्वाधीनपतिका, प्रोषितपतिका है ॥ ४१ ॥

[द्वेधेति] ताः सर्वा अभिसारिकाः खण्डिताश्च भवन्ति । अथात्मीयाभेदान्तरमाह—तासु स्वीया, स्वाधीनपतित्वप्रोषितपतिकात्वभेदतो द्वेधा ॥

[द्विधेति]। वे सभी अभिसारिका और खण्डिता होती हैं फिर स्वीया के और भेद बताते हैं—उन (सोलह प्रकार की नायिकाओं) में स्वीया स्वाधीनपतिकात्व और प्रोषितपतिकात्व भेद से दो प्रकार की होती हैं ॥

अभिसारिकाया लक्षणमभिसरणक्रमं चाभिधातुमाह—

अभिसारिका तु सा या दूत्या दूतेन वा सहैका वा ।
अभिसरति प्राणेशं कृतसंकेता यथास्थानम् ॥ ४२ ॥

अभिसारिका का लक्षण और अभिसरण की क्रिया बताते हैं—'जो दूती या दूत के साथ अथवा अकेली ही पूर्व के ही निश्चय के अनुरूप निश्चित स्थान पर प्रिय के साथ अभिसार करती है उसे अभिसारिका कहते हैं ॥ ४२ ॥

काञ्च्यादिरणत्कारं व्यक्तं लोके प्रयाति सर्वस्त्री ।
वृष्टितमोज्योत्स्नादिच्छन्नं स्वीया परस्त्री च ॥ ४३ ॥

इत्यार्याद्वयं सुगमम् ॥

वेश्या काञ्ची (कटिसूत्री) आदि आभूषणों की रण-रण के ध्वनि के साथ लोक में खुलकर अभिसार करती है (किन्तु) स्वकीया और परकीया वर्षा, अन्धकार और चाँदनी के उपसंहार में (ही अभिसार करती हैं) ॥ ४३ ॥

खण्डितालक्षणमाह—

यस्याः प्रेम निरन्तरमन्यासङ्गेन खण्डयेत्कान्तः ।

सा खण्डितेति तस्याः कथाशरीराणि भूयांसि ॥ ४४ ॥

दोनों ही आर्यायें सुगम हैं ॥

खण्डित का लक्षण बताते हैं— जिसका प्रिय परकीया के साथ गमन करके अविच्छिन्न प्रेम को खण्डित कर देता है वह खण्डिता नायिका होती है । उसकी कथा के प्रकार अनेक हैं ॥ ४४ ॥

सुगमं न वरम् । तस्याः कथाशरीराणि भूयांसि । तेन विप्रलब्धाकलहान्तरिते अत्रान्तर्भूते । तल्लक्षणं चेदम् । यथा—'यस्या दूतीं प्रियः प्रेक्ष्य दत्त्वा संकेतमेव वा । नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा स्मृता ॥ ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः । सामर्षवशसंप्राप्ता कलहान्तरिता मता ॥' एवंविधानि संविधानकवशाद्भूयांसि कथाशरीराणि तस्या भवन्ति । ततश्च यदुक्तं भरतेन । यथा—'तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि च । स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरिता तथा ॥ खण्डिता विप्रलब्धा च तथा प्रोषितभर्तृका । तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकाः स्मृताः ॥' तदत्रापि संगृहीतम् ॥

सुगमं न वरम् । उसकी कथा के शरीर अनेक हैं । अतएव विप्रलब्धा और कलहान्तरिता का इसी में अन्तर्भाव हो जाता है । उनके ये लक्षण हैं—'जिसका प्रिय दूती को देखकर अथवा संकेत ही देकर कारणवश यहाँ (संकेत) पर आया ही नहीं वह विप्रलब्धा कही गयी है ॥ ईर्ष्या एवं कलह के कारण गया हुआ जिसका प्रिय नहीं लौटता आमर्ष के कारण संतप्त हुयी वह कलहान्तरिता मानी गयी है ॥' इस प्रकार से प्रकरण से अनेक प्रकार के उसके कथा-शरीर होते हैं । तदनन्तर जैसा भरत ने कहा है—'वहाँ वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका ये आठ प्रकार की नायिकायें स्मरण की गयी हैं ॥ उनका इसी में अन्तर्भाव हो जायगा ॥

स्वाधीनपतिप्रोषितपतिकयोर्लक्षणमाह—

यस्याः पतिरायत्तः क्रीडासु तया समं रतौ मुदितः ।

सा स्यात्स्वाधीनपती रतिमण्डनलालसासक्ता ॥ ४५ ॥

स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका का स्वरूप बताते हैं—'जिस नायिका का पति अपने वश में होता है एवं सुरत में उसके साथ क्रीडाओं में प्रसन्न

रहता है, रति के आभूषण रूप लालसाओं में आसक्त वह स्वाधीनपतिका होती है ॥ ४५ ॥

सा स्यात्प्रोषितपतिका यस्या देशान्तरं पतिर्यातः ।
नियतानियतावधिको यास्यति यात्येत्युपैष्यति च ॥४६॥

सुगमम् ॥

जिसका प्रिय निश्चित या अनिश्चित अवधि के लिये विदेश चला जाता है, (वहाँ) जाने वाला है जा रहा है अथवा (वहाँ से) आ रहा है उसे प्रोषित-पतिका कहते हैं ॥ ४६ ॥

अथाध्यायमुपसंहरन्नन्यथाकरणनिषेधमाह—

इति कथितमशेषं लक्षणं नायकाना-
मनुगतसचिवानां हीनमध्योत्तमानाम् ।
अतिरसिकतयेदं नान्यथा जातु कुर्यात्-
कविरविहतचेताः साधुकाव्यं विधित्सन् ॥ ४७ ॥

प्रकटार्थमेव ॥

अध्याय का उपसंहार करते हुये अन्यथा (उक्त विधि से भिन्न रूप में) रचना का निषेध करते हुये कहते हैं—'इस प्रकार (पीठमर्द आदि) सचिवों के साथ उत्तम, मध्यम और अधम नायक (और नायिकाओं) का लक्षण कह दिया गया। अत्यधिक रसिक होने के कारण अनाहत धैर्य वाला कवि सुकाव्य की रचना करता हुआ इस उक्त लक्षण का अतिक्रमण न करे ॥ ४७ ॥

अर्थ तो प्रकट ही है ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतो
द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ।

इस प्रकार नमिसाधु-रचित टीका से युक्त रुद्रट रचित काव्यालंकार में
बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

त्रयोदशोऽध्यायः

संभोगः संगतयोरिति वचनात्संपर्क एव नायकयोः शृङ्गारो न त्वालोकनादीत्याशङ्कयाह—

अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ ।
आलोकनवचनादि स सर्वः संभोगशृङ्गारः ॥ १ ॥

'संभोगः संगतयोः' (१२।६) के अनुसार नायक और नायिका का संपर्क ही शृङ्गार है ईक्षण आदि नहीं, इस शङ्का का खण्डन करते हैं—'समान मनोदशा वाले अत्यन्त प्रसन्न नायक और नायिका जो परस्पर दर्शन, भाषण आदि करते हैं वह सब संभोग शृङ्गार होता है' ॥ १ ॥

अन्योन्यस्येति । नायकौ दंपती सचित्तौ तुल्यमानसौ यदालोकनवचनोद्यानविहारपुष्पोच्चयजलक्रीडामधुपानताम्बूलसुरतादिकं परस्परसंबन्ध्यनुभवतः स सर्वः, न तु निधुवनमात्रं संभोगशृङ्गार इति । प्रवासविप्रलम्भस्य संभोगशृङ्गारत्वनिषेधार्थमाह—इद्धमुदाविति । प्रमुदिताविति ॥

अन्योन्यस्येति । समान मनोदशा वाले नायक और नायिका जो दर्शन, भाषण, वन-विहार, फूलों का चयन, जलक्रीड़ा, मदिरा-पान, ताम्बूल, संभोग आदि को जो एक दूसरे के साथ अनुभव करते हैं वह सब सुरत-मात्र ही नहीं ंभोग-शृङ्गार कहा जाता है। प्रवास–विप्रलम्भ को संभोग-शृङ्गार से पृथक् करने के लिये कहते हैं—इद्धमुदाविति । (संभोग–शृङ्गार में) प्रसन्न होकर (उक्त क्रियाओं का अनुभव करते हैं । प्रवास में तो यही क्रियायें पागलपन की अवस्था में होती हैं ।)

अथास्य संभोगशृङ्गारस्यानुभवमाह—

तत्र भवन्ति स्त्रीणां दाक्षिण्यस्नेहसौकुमार्याणाम् ।
अविरोधिन्यश्चेष्टा देशे काले च सर्वासाम् ॥ २ ॥

आगे इस संभोग-शृङ्गार का अनुभव बताते हैं—'उस संभोग शृङ्गार में सभी, अनुकरण, राग और कोमलता से युक्त रमणियों की देश और काल के अनुरूप चेष्टायें होती हैं' ॥ २ ॥

तत्रेति । सुगमं न वरम् । दाक्षिण्यमनुवृत्तिः । स्नेहः प्रेम । सौकुमार्यं मार्दवम् । देशो वनोद्यानादिः । कालो वसन्तसुरतादिः ॥

तत्रेति-स्पष्ट है । दाक्षिण्य-अनुवृत्ति । स्नेह-प्रेम । सौकुमार्य-कोमलता । वन, वाटिका आदि देश है । वसन्त आदि काल है ।'

दयितचेष्टानुकारो नाम लीला स्त्रीणां भवतीति दर्शयितुमाह—

दयितस्य सखीमध्ये चेष्टां मधुरैर्वचोभिरुचितैस्ताः ।
ललितैरङ्गविकारैः क्रीडन्त्यो वानुकुर्वन्ति ॥ ३ ॥

प्रिय की चेष्टा के अनुकरण का नाम लीला है । वह स्त्रियों में होती है इसे दिखलाने के लिये कहते हैं--'वे मधुर वचनों, उचित और सुन्दर अङ्ग विकारों से खेलती हुयी प्रिय की चेष्टा का सखियों के बीच में अनुकरण करती हैं ॥ ३ ॥'

दयितस्येति । सुगमम् ॥

दयितस्येति । सरल है ।

तत्रापि तदनुकार्यं यदनुकर्तुं शक्यते, न तूल्बणमपि । तदाह—

अनुकार्यं न तु नार्या यत्प्रेरणकर्म तत्परोक्षे सा ।
अनुकुर्वती विजह्यान्माधुर्यं सौकुमार्यं च ॥ ४ ॥

'जो अनुचित क्रियायें हैं नारी को उनका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये । परोक्ष में भी उनका अनुकरण करती हुयी वह माधुर्य और सौकुमार्य को नष्ट कर देगी ॥ ४ ॥

अनुकार्यमिति । सुगमं न वरम् । तुरवधारणे । नैवेत्यर्थः ॥

अनुकार्यमिति । तु अवधारण अर्थ में आया है । (अर्थात् कारिका में) न तु का अर्थ है नैव ॥

चेष्टान्तराण्याह—

अपहारे वसनानां कुचकलशादिग्रहे रतान्ते च ।
अन्तर्निहितानन्दा पुरुषेषु रुषेव वर्तन्ते ॥ ५ ॥

और भी चेष्टायें बताते हैं—'वस्त्रों के हटाने पर, स्तनादि के पकड़ने पर, और सुरत में हृदय से प्रसन्न हुयी भी पुरुषों पर क्रोधित हुयी सी व्यवहार करती है ॥ ५ ॥

अपहार इति । सुगमम् ॥

अपहार इति । स्पष्ट है ।

समकालं निन्दन्ति त्रस्यन्ति हसन्त्यहेतु लज्जन्ति ।
अस्यन्त्यालिङ्गन्ति च दयितान्भूतैरिवाविष्टाः ॥ ६ ॥

भूतों से ग्रसी हुयी सी एक ही समय में अनुरागियों की निन्दा करती हैं, डरती हैं, हसती हैं, अकारण लजाती हैं, झिझकारती हैं और आलिङ्गन भी करती हैं ॥ ६ ॥

समकालमिति । सुगमम् ॥

समकालमिति । स्पष्ट है ॥

पूर्वमुक्तम् 'ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्' (११।९) इति तत्कचित्साध्वेवेति दर्शयितुमाह—

समये त्वरावतीनामपदेषु विभूषणादिविन्यासः ।
भवति गुणाय विभाविततात्पर्यस्मेरितादिरपि ॥ ७ ॥

पहले कहा गया है—'व्यवहार, आकार, वेष और वाणी के अनौचित्य का नाम ग्राम्यत्व है।' (११।९) वह कहीं संगत भी होता है—इसे दिखलाने के लिये कहते हैं—

अवसर के अनुकूल त्वरा (शीघ्रता) करने वाली नायिकाओं का तात्पर्य को जानने वाली सखियों को स्मेरित (मन्द मुस्क्यान से युक्त) बनाने वाला अस्थान में अलंकार आदि को धारण कर लेना गुण के लिये (रस के लिये ही) उपयोगी होता है ॥ ७ ॥

समय इति । सुगमम् ॥

समय इति । सुगम है ।

अननुकूलाचरणं सर्वत्र दोषत्वेन प्रसिद्धम्, तस्य विशेषगुणत्वमाह—

कुर्वन्ति प्रतिकूलं रहसि च यद्यत्प्रियं प्रति प्रमदाः ।
तत्तद्गुणाय तासां भवति मनोभूप्रसादेन ॥ ८ ॥

प्रतिकूल आचरण सर्वत्र दोष माना गया है। विशेष स्थल पर उसकी गुणवत्ता प्रदर्शित करते हैं—'एकान्त में कामिनियाँ प्रिय के प्रतिकूल जो-जो क्रियायें करती हैं उनकी वे सब क्रियायें काम के प्रसाद से गुण के लिये ही होती हैं ॥ ८ ॥

कुर्वन्तीति । सुगमम् ॥

कुर्वन्तीति । स्पष्ट है ॥

नवोढानां स्वरूपमाह—

दृष्ट्वा प्रियमायान्तं तन्मनसस्तेन संवदन्त्यो वा ।
मन्मथजनितस्तम्भाः प्रतिहतचेष्टाश्च जायन्ते ॥ ९ ॥

नवविवाहिता (वधुओं) का स्वरूप बताते हैं—'प्रिय को आता हुआ देखकर प्रियतम में परायण मन वाली होकर उसके साथ संलाप करती हुयी कामावेश के कारण स्तंभित और निश्चेष्ट हो जाती हैं ॥ ९ ॥

किमपि प्रियेण पृष्टास्तस्याथ ददत्यसंस्तुतस्येव ।
साध्वससादितकण्ठ्यः स्खलितपदैरुत्तरं वाक्यैः ॥ १० ॥

प्रिय के द्वारा कुछ पूँछी हुयी भय के कारण रुद्धकण्ठ हुयी असंस्तुत के समान उसका अस्फुट पदों वाले वाक्यों से उत्तर देती हैं ॥ १० ॥

यत्किमपि रहस्यतमं कर्णे कथयेत्प्रियः सखीमध्ये ।
शृण्वन्ति स्फारदृशस्तदुदितघनकण्टकस्वेदाः ॥ ११ ॥

सखियों के बीच में प्रिय जो कुछ भी गोपनीय कानों में कहता है उसे आँखें फाड़कर रोमाञ्चित और पसीने से युक्त होकर सुनती हैं ॥ ११ ॥

मदनव्याकुलमनसः सकलं तस्यार्थमनवगत्यैव ।
हुंकारं तदपि मुहुः कुर्वन्त्यवधारयन्त्य इव ॥ १२ ॥

कामदेव के कारण क्षुब्ध हृदय वाली उस (प्रिय) की बात को विना समझे ही समझती हुयी सी बार-बार तथापि 'हुँकारी' भरती हैं ॥ १२ ॥

दृष्ट्वेति । किमिति । यदिति । मदनेति । सुगमम् ॥

दृष्ट्वेति । किमिति । यदिति । मदनेति । सुगम है ॥

नवपरिणीता वध्वो यत्नादपनीय साध्वसं साम्ना ।
नीता अपि विस्रम्भं रहः सुनिर्बन्धिभी रमणैः ॥ १३ ॥
प्रेर्य प्रेर्य सखीभिर्नीयन्ते वासवेश्म दयितस्य ।
तत्संगमाभिलाषे भूयसि लज्जाहतप्रसरे ॥ १४ ॥(युग्मम्)

नवविवाहिता वधुयें प्रयत्नपूर्वक साध्वस (लज्जामिश्रित भय) दूर कराकर प्रेमियों के द्वारा सुन्दर बन्धियों से विजन में विश्वास दिलायी गयी भी प्रिय के वासवेश्म में लज्जा के कारण नष्ट वेग वाले उस (प्रिय) के समागम के लिये

अत्यधिक अभिलाष होने पर भी सखियों के द्वारा प्रेरणा दे देकर ले आयी जाती हैं ॥ १३-१४ ॥

[नवेति । प्रेर्येति सुगमम् ॥]

नवेति । प्रेर्येति । सुगम है ।

ननु किमिति सखीभिः प्रार्थनया नीयन्ते नायकः कथं हठादेव न प्रवर्तयतीत्याह—

सुकुमाराः पुरुषाणामाराध्या योषितः सदा तल्पे ।
तदनिच्छया प्रवृत्तः शृङ्गारं नाशयेन्मूर्खः ॥ १५ ।

प्रश्न उठता है कि सखियाँ प्रार्थना करके क्यों ले आती हैं नायक ही बलात् क्यों नहीं प्रवृत्त होता इसके उत्तर में कहते हैं—'सुकुमार तरुणियाँ शय्या पर पुरुषों के लिये सदैव आराधनीय होती हैं, (जो) विना उनकी इच्छा के ही प्रवृत्त होता है वह मूर्ख शृङ्गार को ही नष्ट कर देता है ॥ १५ ॥

सुकुमारा इति ॥

सुकुमारा इति ॥

तस्मात्किं कर्तव्यमित्याह—

वाग्मी सामप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नारीम् ।
तत्कामिनां महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम् ॥ १६ ॥

फिर क्या करना चाहिये इसे बताते हैं—वाक्यपटु, सामनीति में कुशल (प्रिय) प्रिय वचनों से नारी को प्रसन्न करे क्योंकि शृङ्गार का सर्वस्व कामियों का वही श्रेय है ॥ १६ ॥

वाग्मीति । सुगमम् ॥

वाग्मीति । स्पष्ट है ॥

अध्यायमुपसंहरन्कवेरुपदेशमाह—

सुकविभिरभियुक्तैः सम्यगालोच्य तत्त्वं
त्रिजगति जनताया यत्स्वरूपं निबद्धम् ।
तदिदमिति समस्तं वीक्ष्य काव्येषु कुर्यात्
कविरविरलकीर्तिप्राप्तये तद्वदेव ॥ १७ ॥

अध्याय का उपसंहार करते हुये कवि को उपदेश देते हैं—'अभियुक्त महाकवियों ने तत्त्व का भलीभाँति परामर्श करके त्रैलोक्य में जनता का जो स्वरूप निर्धारित किया है वह इसी प्रकार है' इस प्रकार निखिल रूप को देखकर अनवरत कीर्ति को पाने के लिये कवि काव्यों में (उनका) उसी प्रकार उपन्यास करे ॥ १७ ॥

सुकविभिरिति । सुगमम् ॥

सुकविभिरिति । स्पष्ट है ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेत-
स्त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः ।

इस प्रकार नमिसाधु रचित टिप्पणी के साथ रुद्रट द्वारा विरचित
काव्यालंकार का तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्दशोऽध्यायः

अथ संभोगं व्याख्याय विप्रलम्भशृङ्गारं व्याचिख्यासुराह- –

अथ विप्रलम्भनामा शृङ्गारोऽयं चतुर्विधो भवति ।
प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ॥ १ ॥

संभोग-शृङ्गार का व्याख्यान करके विप्रलम्भ-शृङ्गार का व्याख्यान करने की इच्छा से कहते हैं—'पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण के भेद से विप्रलम्भ-शृङ्गार चार प्रकार का होता है ॥ १ ॥

अथेति । अथशब्द आनन्तर्ये । संभोगानन्तरम् । विप्रलम्भोऽयं शृङ्गारश्चतुर्विधो भवति । कथं चतुर्विध इत्याह—प्रथमानुरागादय आत्मा स्वरूपं यस्य तद्भावस्तत्त्वं तेन हेतुना । प्रकारनिर्देशादेव चातुर्विध्ये लब्धे चतुर्विधग्रहणं चतुर्विधस्याप्यस्य शृङ्गारत्वनियमार्थम् । चतुर्विधोऽपि शृङ्गार एवायम् । केचिद्धि करुणरस एव विप्रलम्भभेदं करुणमन्तर्भावयन्ति । तदसत् । वैलक्षण्यात् । शुद्धे हि करुणे शृङ्गारस्पर्श एव न विद्यते । करुणविप्रलम्भस्तु शृङ्गार एव । यथा कालिदासस्य—'प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः । रतिदूरतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥'

अथेति । अथ शब्द आनन्तर्य अर्थ में आता है । संभोग शृङ्गार के बाद । यह विप्रलम्भ शृङ्गार चार प्रकार का होता है । चार प्रकार का कैसे होता है इसे बताते हैं—प्रथमानुराग आदि स्वरूप हैं जिसके—इत्यादि हेतु से । प्रकार का निर्देश करने से ही चार प्रकार का होना सिद्ध हो जाने पर (कारिका में) 'चतुर्विध' का ग्रहण चारों ही प्रकारों को शृङ्गार में नियमित करने के लिये किया गया है । यह चारो ही प्रकार शृङ्गार ही होता है । कुछ लोग विप्रलम्भ के भेद करुण (विप्रलम्भ) को करुण रस में अन्तर्भावित करते हैं । यह ठीक नहीं । क्योंकि (करुण विप्रलम्भ करुण रस) से विलक्षण है । शुद्धकरुण में तो शृङ्गार का स्पर्श ही नहीं हो सकता । करुण विप्रलम्भ तो शृङ्गार ही है । जैसे कालिदास का—'विलाप करती हुयी रति अपने मृत पतिको संबोधित करके कहती है—'सुन्दर शरीर को पुनः धारण कर उठ कर के प्रिय उक्तियों में स्वभावतः प्रगल्भ कोकिल को संभोग की दूतियों के स्थानों में आदेश दो ॥ कुमारसंभव ॥

अथैषामेव यथाक्रमं लक्षणमाह—

आलोकनादिमात्रप्ररूढगुरुरागयोरसंप्राप्तौ ।
नायकयोर्या चेष्टा स प्रथमो विप्रलम्भ इति ॥ २ ॥

अब इनका क्रमशः स्वरूप बताते हैं—'दर्शन आदि मात्र से अङ्कुरित हुये सघन प्रेम वाले नायक और नायिका की, संसर्ग न होने के कारण जो चेष्टा होती है उसे प्रथम विप्रलम्भ (पूर्वानुराग) जानना चाहिये ॥ २ ॥

आलोकनेति । सुगमम् ॥

आलोकनेति । सरल है ॥

ता एव काश्चिच्चेष्टा आह—

हिमसलिलचन्द्रचन्दनमृणालकदलीदलादि तत्रैतौ ।
दुर्वारस्मरतापौ सेवेते निन्दतः क्षिपतः ॥ ३ ॥

उन्हीं कुछ चेष्टाओं का वर्णन करते हैं--'कठिनाई से निवारणीय कामाग्नि वाले ये दोनों (नायक–नायिका) शीतलजल, चन्द्रमा, चन्दन, मृणाल, कदलीपत्र आदि का सेवन करते हैं, निन्दा करते हैं और फेकते हैं ॥ ३ ॥

हिमेति । सुगमम् ॥

अथास्य सूचकानवस्थाभेदानाह—

आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तरं ततः स्मरणम् ।
तदनु च गुणसंकीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च ॥ ४ ॥
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
इत्थमसंयुक्तानां रक्तानां दश दशा ज्ञेयाः ॥ ५ ॥ (युग्मम्)

अब इनके सूचक अवस्था-भेदों को बताते हैं—'आरम्भ में अभिलाष, उसके बाद चिन्ता, उसके बाद स्मरण, उसके बाद गुण वर्णन, उसके बाद उदासीनता, उसके बाद प्रलाप (बकवाद), उसके बाद उन्माद, उसके बाद व्याधि, उसके बाद जडता तथा उसके बाद मरण, इस प्रकार वियुक्त रोगियों की दश दशायें जाननी चाहिये ॥ ४–५ ॥

आदाविति । उन्माद इति । सुगमम् । एताश्च दशाः कादम्बरीकथायां प्रकटाः । मरणं तु केचिन्नेच्छन्ति दशाम् । मृतस्य हि कीदृशः शृङ्गारः । यैरुक्तं ते तु मन्यन्ते । नवमीं दशां प्राप्तस्य निरुद्यमस्य मरणमेव दशमी दशा स्यात् । ततस्तामप्राप्तेन नायकेन तन्निषेधार्थं यतितव्यमिति दर्शनार्थं दशमी दशोक्ता ॥

आदाविति। उग्माद इति। स्पष्ट है ये दशायें (बाणभट्ट की) कादम्बरी कथा में स्पष्ट हैं। मरण कुछ लोगों के मत में कोई काम दशा नहीं है। भला मरें में क्या शृङ्गार होगा। जिन्होंने मरण के काम दशा माना है वे उसमें शृङ्गार भी मानते हैं। नवीं दशा को प्राप्त हुये निश्चेष्ट (जड) को दशवीं दशा मरण ही होगा। तदनन्तर नायिका को न पाने पर नायक उसके निषेध के लिये प्रयत्न करे इस प्रयोजन से दशवीं दशा कही गयी है॥

अथ कस्तत्र प्रयत्न इति प्रयत्नक्रममाह--

अथ नायकोऽनुरक्तस्तस्यामर्जयति परिजनं तस्याः।
उद्दिश्य हेतुमन्यं साम्ना दानेन मानेन॥ ६॥

उस (नायिका की प्राप्ति) में कौन सा प्रयत्न होगा इस प्रकार प्रयत्न का क्रम बताते हैं—'तदनन्तर उस नायिका में आसक्त नायक किसी दूसरे हेतु के व्याज से उस (नायिका) के सेवकों को साम, दान और मान से अपना विश्वस्त बनाता है॥ ६॥

तस्य पुरतोऽथ कुर्वन्गृहीतवाक्यस्य नायिकाविषयाम्।
चिरमनुरागेण कथां स्वयमनुरागं प्रकाशयति॥ ७॥

विश्वासपात्र उन (सेवकों) के समक्ष देरतक अनुराग पूर्वक नायिका की चर्चा करता हुआ स्वयं (नायिका के प्रति अपने) अनुराग को प्रकाशित करता है॥ ७॥

तदभावे प्रव्रजिता मालाकारादियोषितो वापि।
उभयप्रत्ययितगिरः कर्मणि सम्यङ्नियुङ्क्ते च॥ ८॥

उसके अभाव में नायक और नायिका में विश्वस्त बात करने वाली संन्यासिन और मालिन को भी नायिका को अपनी ओर आसक्त करने रूप कार्य में भलीभाँति नियुक्त करता है॥ ८॥

तद्द्वारेण निवेदितनिजभावो विदितनायिकाचित्तः।
त्वरयति तामुपचारैः स्वावस्थासूचकैर्लेखैः॥ ९॥

इस प्रकार अपने प्रयोजन को अवगत कराकर और नायिका की मनोभावना को जानकर उसको अपनी अवस्थाओं के सूचक लेख आदि उपायों से उत्कण्ठित करता है॥ ९॥

सिद्धां च तां विविक्ते दृष्ट्वाथ कलाभिरिन्द्रजालैर्वा।
योगैरसकृत्क्रमशो विस्मापयति प्रसङ्गेषु॥ १०॥

अपने पर आसक्त हुयी उसे विजन में देखकर कलाओं अथवा इन्द्रजाल के योग से प्रसङ्गों में अनेक बार क्रमशः आश्चर्य-स्तम्भित करता है ॥ १० ॥'

गतार्थम् ॥

अर्थ स्पष्ट है ॥

यदा तु सा कन्या नानेन क्रमेण प्राप्यते तदा किमित्याह—

मन्येत यदा नेयं कथमपि लभ्येत नायिका नाथात् ।
क्षीणसमस्तोपायः कन्यां स तदेति साधयति ॥ ११ ॥

जब वह कन्या इस क्रम से न मिल पाये तब क्या करना चाहिये—'जब यह कन्या किसी भी प्रकार वश में न हो तब समस्त उपायों के क्षीण हो जाने पर वह (नायक) कन्या को (उसके) पिता आदि से प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

मन्येतेति । सुगमं न वरम् । नाथाज्जनकादिकात् ॥

मन्येतेति । सुगमं न वरम् । नाथ से—पिता आदि से ॥

ननु कन्यायाः स्वीकारक्रमोपदेशो न दुष्टः, परदाराणां तु विरुद्ध एव महापापत्वादित्यत आह—

नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः ।
कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः ॥ १२ ॥

प्रश्न उठता है कन्या की प्राप्ति के प्रयत्न का उपदेश तो दुष्ट नहीं है किन्तु परायी स्त्री आदि के विषय में तो महापाप होने के कारण दुष्ट है—इसे बताते हैं—

'कवियों को परायी स्त्रियों का न तो अनुसन्धान ही करना चाहिये और न तो (उन्हें) उपदेश ही देना चाहिये और उनके अनुसंधान एवं उपदेश रूप (पर नारी को प्राप्त करने के) उपाय को भी दूसरों का धर्म नहीं बताना चाहिये ॥ १२ ॥

किं तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र ॥ १३ ॥ (युग्मम्)

किन्तु विद्वानों को प्रसन्न करने के लिये उस आचार को कवि केवल (उसके) काव्य का अङ्ग होने के कारण वर्णन करता है अतएव इस वर्णन में कवि का कोई दोष नहीं है ॥ १३ ॥

नेति । किमिति । सुगमम् ॥

नेति । किमिति । सुगम है ॥

ननु पारदारिकवृत्ताख्यानमपि न युक्तमित्याह—

सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति सुदारुणावस्थः।
आत्मानं रक्षिष्यन्प्रवर्तते नायकोऽप्यत्र ॥ १४ ॥

शङ्का होती है कि परायी स्त्री का अन्वेषण करने वाले के वृत्त का कथन भी युक्त नहीं होता है इसे कहते हैं—

"सब प्रकार से अपने को रक्षा करे' इसके अनुसार कठोर विपत्ति में पड़कर भी नायक अपनी रक्षा करता हुआ इस (परनारी के अन्वेषण) में प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥

सर्वत इति । यत्र शास्त्रे भणितं परदारा न गन्तव्यास्तत्रैवोक्तं सर्वत एवात्मानं गोपायेदित्यस्माद्वचनान्नायकोऽप्यात्मरक्षार्थमत्र परदारेषु न प्रवर्तत इति ॥

सर्वत इति । शास्त्र में जहाँ कहा गया है कि 'दूसरों की स्त्री के साथ गमन नहीं करना चाहिये वहीं यह भी कहा गया है कि सब प्रकार से अपनी रक्षा करे' इस आप्त वचन के अनुसार नायक भी अपनी आत्म-रक्षा के लिये परायी स्त्रियों में प्रवृत्त होता है ॥

प्रथमानुराग उक्तः । अथ मानमाह—

मानः स नायके यं विकारमायाति नायिका सेर्ष्या ।
उद्दिश्य नायिकान्तरसंबन्धसमुद्भवं दोषम् ॥ १५ ॥

प्रथमानुराग का व्याख्यान हो गया । अब मान का वर्णन करते हैं—

'किसी दूसरी नायिका के संपर्क से उत्पन्न नायक में दोष को लक्ष्य कर ईर्ष्यालु नायिका जिस विकार को प्राप्त होती है उसे मान कहते हैं ॥ १५ ॥'

मान इति । सुगमम् ॥

मान इति । सुगम है ॥

दोषस्यैव सारेतरविभागानाह—

गमनं ज्यायान्दोषः प्रतियोषिति मध्यमस्तथालापः ।
आलोकनं कनीयान्मध्यो ज्यायान्स्वयं दृष्टः ॥ १६ ॥

दोष का ही कौन बड़ा-कौन छोटा के हिसाब से विभाजन करते हैं—

'परायी स्त्री के साथ गमन महादोष है, संलाप मध्यम और देखना स्वल्प (परायी स्त्री के साथ संलाप) मध्यम दोष (नायिका के) स्वयं देख लेने पर महत्तम दोष होता है ॥ १६ ॥

गमनमिति । सुगमम् ॥

गमनमिति । सुगम है ।

दोषस्यैव लिङ्गान्याह—

वसनादि नायकस्थं तदीयमार्द्रक्षतं च तस्याङ्गम् ।
दोषस्य तथा गमकं गोत्रस्खलनं सखीवचनम् ॥ १७ ॥

दोषों के सूचक चिह्न बताते हैं—

'नायक के धारण किये गये वस्तु आदि, उसके आर्द्र एवं क्षत उसके अङ्ग, गोत्रस्खलन, (किसी अन्य स्त्री का नामादि ग्रहण) तथा सखी की बात दोष के परिचायक होते हैं ॥ १७ ॥

वसनादीति । सुगमम् ॥

वसनादीति । सुगम है ॥

अथासौ दोषो ज्ञातस्तस्याः किं कुरुत इत्याह—

देशं कालं पात्रं प्रसङ्गमवगमकमेत्य सविशिष्टम् ।
जनयति कोपमसाध्यं सुखसाध्यं दुःखसाध्यं वा ॥ १८ ॥

फिर यह दोष ज्ञात होकर नायिका का क्या करते हैं—

देश, काल, पात्र, आदि विशेषणों से युक्त दोषों के बोधक प्रसङ्गों को प्राप्त होकर (दोष) असाध्य, सरलता से साध्य एवं कठिनाई से साध्य क्रोध को उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥

देशमिति । सुगमं न वरम् । यदि ज्यायांसो देशकालपात्रप्रसङ्गा भवन्त्यसाध्यस्तदा कोपः स्यात् । अथ मध्यास्तदा कृच्छ्रसाध्यः । अथ कनीयांसस्तदा सुखसाध्य इति ॥

देशमिति । सुगमं न वरम् । यदि देश, काल और प्रसङ्ग ज्यायान् (महत्त्वपूर्ण) होते हैं तब क्रोध असाध्य होता है । जब मध्यम श्रेणी के होते हैं तब कठिनाई से साध्य होता है । जब क्षुद्र होते हैं तो सरलता से साध्य होता है ॥

अथ क एते देशादयो ज्यायांस इत्याह—

ज्वलदुज्ज्वलप्रदीपं कुसुमोत्करधूपसुरभि वासगृहम् ।
सौधतलं च सचन्द्रिकमुद्यानं सुरभिकुसुमभरम् ॥ १९ ॥
इति देशा ज्यायांसो मधुरजनी स्मरमहोदयः कालः ।
पात्रं तु नायकौ तौ ज्यायो मध्याधमावुक्तौ॥२०॥(युग्मम्)

इनमें कौन से देश आदि ज्यायान् (महत्त्वपूर्ण) हैं इसे बताते हैं—

'जलते हुये उज्ज्वल दीपक वाला, पुष्पों से सुगंधित, एवं धूप से सुरभित वासवेश्म, प्रासादपृष्ठ और सुगन्धित पुष्प समृद्धि वाली ज्योत्स्ना से युक्त उद्यान

ये उत्तम देश हैं। चैत की रात और वसन्त ऋतु (ये उत्तम) काल हैं। और उपरि-वर्णित नायक-नायिका उत्तम, मध्यम और अधम पात्र हैं ॥ १६-२० ॥

ज्वलदिति। इतीति। सुगमं न वरम्। ताविति पूर्वोक्तनायकौ। तत्रानुकूलदक्षिणादिश्चतुर्धा नायकः। आत्मान्यसर्वसक्ताश्च नायिकाः। तत्रानुकूलेन दक्षिणेन च नायकेन ज्यायस्या नायिकाया दोषः कृतोऽसाध्यः। शठेन धृष्टेन च ज्यायस्याः कृच्छ्रसाध्यः। शठेन च ज्यायस्याः सुखसाध्य इत्यादि चिन्त्यम् ॥

ज्वलदिति। इतीति। सुगम है। 'तो' अर्थात् पूर्ववर्णित नायक-नायिका। उनमें अनुकूल दक्षिण आदि चार प्रकार के नायक हैं। स्वीया, परकीया और वेश्या तीन प्रकार की नायिकायें हैं इनमें अनुकूल और दक्षिण नायक के द्वारा उत्तम नायिका के प्रति किया गया दोष असाध्य होता है शठ और धृष्ट के द्वारा (उत्तम नायिका के प्रति किया गया दोष) कठिनाई से साध्य होता है और उत्तम नायिका के प्रति शठ नायक के द्वारा किया गया दोष सरलता से साध्य होता है' आदि प्रकार से समझना चाहिये ॥

प्रसङ्गं ज्यायांसमाह—

सकलसखीपरिवृतता रत्यभिमुखता च तत्प्रशंसा च।
जायेत नायिकायां यत्र ज्यायान्प्रसङ्गोऽसौ ॥ २१ ॥

उत्तम प्रसङ्ग का स्वरूप बताते हैं—

'जहाँ नायिका सभी सखियों से घिरी हो, राग से अभिभूत हो और अन्य लोग उसकी प्रशंसा कर रहे हों वहाँ उत्तम प्रसङ्ग होता है ॥ २१ ॥'

सकलेति। सुगमम्। मध्याधमौ तु प्रसङ्गौ स्वयमुन्नेयौ ॥

सकलेति। सुगम है। मध्य और अधम प्रसङ्गों को स्वयं सोच लेना चाहिये ॥

तत्र प्रत्यक्षदोषदर्शने परिहारो नास्ति, लिङ्गगम्ये त्वस्तीत्याह—

परिहारो वसनादावन्यस्मादागमोऽन्यदिदमिति वा।
परिहर्तुं कृतमस्मिन्न लक्ष्यते नायिकां रमयेत् ॥ २२ ॥

उसमें प्रत्यक्ष दोष दर्शन होने पर परिहार नहीं है, लक्षणों से जानने पर तो है, इसे कहते हैं।

वस्त्र आदि में किसी अन्य से आ गया है अथवा यह और कुछ है—इस प्रकार इसमें परिहार के लिये कुछ दुराव नहीं लक्षित होता है (और) नायिका प्रसन्न हो जाती है ॥ २२ ॥

तदनु त्वत्कृतमिदमिति परिहारः पूर्वमेव वा सुरतम्।
शब्दान्तरनिष्पत्तिर्गोत्रस्खलने तु केलिर्वा ॥ २३ ॥

तदनन्तर इस (चिह्न) को तुम्हीं ने किया है अथवा पहले का ही सुरत है—इस प्रकार परिहार किया जा सकता है। (इसी प्रकार) नामोच्चारण में अन्य शब्द की व्युत्पत्ति अथवा क्रीडा के बहाने परिहार किया जा सकता है ॥ २३ ॥

अभियोज्यायां मयि वा कुपितेयमनेन हेतुना तेन ।
वक्ति सखी ते मिथ्या किलेति तद्वचसि परिहारः ॥२४॥

'अथवा इस कारण से अभिसरण के योग्य मेरे ऊपर यह क्रुद्ध है इसी कारण तुम्हारी सखी झूठ बोल रही है—इस प्रकार बातों के बहाने (दोष का) परिहार किया जाता है ॥ २४ ॥'

परिहार इति । तदन्विति । अभियोज्यायामिति । सुगमम् ॥
परिहार इति । तदन्विति । अभियोज्यायामिति । सुगम है ॥
अथ यतः कोपान्नायकाय कुरुते (?) तदाह—

ज्यायोभिः सह दोषो ज्यायाञ्जनयत्यसाध्यमतिकोपम् ।
तस्मान्म्रियते सद्यो मनस्विनी त्यजति वा पुरुषम् ॥२५॥

अब जिस कारण से नायक पर क्रोध करती हैं इसे बताते हैं—
'उत्तम देश काल आदि में किया गया महत्तम दोष असाध्य कोप का कारण बनता है। इससे मनस्विनी स्त्री या तो शीघ्र मर जाती है या पुरुष को त्याग देती है ॥ २५ ॥'

ज्यायोभिरिति । सुगमम् ॥

ज्यायोभिरिति । सुगम है ।

अथास्याः कोपस्य साध्यासाध्यविभागः कथं ज्ञेय इत्याह—

दोषस्य सहायानामालोच्य बलाबलं समेतानाम् ।
बुध्येत कोपमस्याः सुखसाध्यं कृच्छ्रसाध्यं वा ॥ २६ ॥

फिर इसके क्रोध के साध्य और असाध्य विभाग को कैसे समझना चाहिये इसे बताते हैं—

'दोषों के समस्त सहायक (देश, काल आदि) के प्रभाव और अप्रभाव का भली भाँति विचार कर-नारी का क्रोध सरलता से साध्य है या कठिनाई से—इसे भलीभाँति समझ लेना चाहिये ॥ २६ ॥'

दोषस्येति सुगमम् ।
दोषस्येति । सुगम है ॥

अथ जाते कोपे उपायाः प्रयोक्तव्याः, क वा के प्रयोक्तव्या कथं वा प्रयोक्तव्या इत्येतदाह—

साम प्रदानभेदौ प्रणतिरुपेक्षा प्रसङ्गविभ्रंशः ।
अत्रैते षडुपाया दण्डस्त्विह हन्ति शृङ्गारम् ॥ २७ ॥

क्रोध के उत्पन्न होने पर उपायों का प्रयोग करना चाहिये। कहाँ कौन से उपाय प्रयोग करने चाहिये, कैसे प्रयोग करने चाहिये—इसे बताते हैं—

'साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा, प्रसङ्ग भ्रंश—इस (नारी को प्रसन्न करने) में ये ६ उपाय हैं। इसमें दण्ड तो श्रृङ्गार को नष्ट ही कर देता है (अतएव वह सर्वथा त्याज्य है) ॥ २७ ॥'

दासोऽस्मि पालनीयस्तवैव धीरा बहुक्षमा त्वं च ।
अहमेव दुर्जनोऽस्मिन्नित्यादि स्तुतिवचः साम ॥ २८ ॥

'तुम्हारा ही पालनीय दास हूँ, तुम धीर हो और सदैव क्षमा करने वाली हो, मैं ही दुष्ट हूँ—इत्यादि चाटूक्तियाँ साम है ॥ २८ ॥'

कालेऽलंकारादीन्दद्यादुद्दिश्य कारणं त्वन्यत् ।
बन्धुमहादिकमिति यत्तद्दानं साधु लुब्धासु ॥ २९ ॥

'समय के अनुरूप बन्धु महादिक अन्य कारण के बहाने जो आभूषण आदि का दान होता है लुब्धाओं के लिये उसका दिया जाना साधु (उपाय) है ॥२९॥'

तस्या गृहीतवाक्यं परिजनमाराध्य दानसंमानैः ।
तेन सदोषः कोपे तां बोधयतीत्ययं भेदः ॥ ३० ॥

'उस नायिका के विश्वास पात्र सेवक को अपने पक्ष में मिलाकर अपराध करने पर भी क्रोधी नायिका को जो उस परिजन की मध्यस्थता से प्रसन्न कर लेता है उसे भेद कहते हैं ॥ ३० ॥'

दैन्येन पादपतनं प्रणतिरुपेक्षावधीरणं तस्याः ।
सहसात्युत्सवयोगो भ्रंशः कोपप्रसङ्गस्य ॥ ३१ ॥

'दीनतापूर्वक उसके चरणों पर पड़ना प्रणति, उसका तिरस्कार उपेक्षा तथा एकाएक अत्यन्त उत्सव का आरम्भ कोप के प्रसङ्ग का विनाशक होने से (प्रसङ्ग) विभ्रंश उपाय कहलाता है ॥ ३१ ॥'

मृदुरत्र यथापूर्वं सर्वेषु यथोत्तरं तथा बलवत् ।
साध्येत यो न मृदुना बलवांस्तत्र प्रयोक्तव्यः ॥ ३२ ॥

यहाँ ६ उपायों में पूर्व-पूर्व के कोमल और उत्तरोत्तर कठिन उपाय हैं। जो कोप कोमल उपाय से न सिद्ध हो वहाँ कठिन उपाय का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३२ ॥

सुगमम् ॥

सुगम है।

अथ प्रवासमाह--

यास्यति याति गतो यत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ।
एष्यत्येत्यायातो यथर्त्ववस्थोऽन्यथा च गृहान् ॥ ३३ ॥

अब प्रवास का वर्णन करते हैं—

'ऋतु के अनुरूप अवस्था वाला नायक विदेश जायगा, जा रहा है, जा चुका है, घर आयेगा, आ रहा है और आ चुका है—इस प्रकार जहाँ अवस्था होती है वहाँ प्रवास श्रृङ्गार होता है। (नायक के) ऋतु के अनुकूल अवस्था न होने पर भी (प्रवास श्रृंगार होता है) ॥ ३३ ॥

यास्यतीति। सुगमं न वरम्। यथर्त्ववस्थ इति ऋत्वनतिक्रमेणावस्था दशा प्रत्यावृत्तिव्यवस्था वा यस्य स तथाभूतः। अन्यथा चेति ऋतुविवक्षामन्तरेणेत्यर्थः ॥

यास्यतीति। सुगम है अतएव टिप्पणी अपेक्षित नहीं। यथर्त्ववस्थ का अर्थ है समय के अनुरूप अवस्था वाला। अन्यथा का अर्थ है—समय की विवक्षा के बिना ही ॥

अथ करुणमाह—

करुणः स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयोः।
यदि वा मृतकल्पः स्यात्तत्रान्यस्तद्गतं प्रलपेत् ॥ ३४ ॥

आगे करुण (विप्रलम्भ) का लक्षण करते हैं—

'जहाँ नायक नायिका में से एक मर जाता है अथवा मृतकल्प हो जाता है और दूसरा उसके लिये विलाप करता है वहाँ करुण विप्रलम्भ श्रृङ्गार होता है ॥ ३४ ॥'

करुण इति। सुगनं न वरम्। नायको म्रियेत नायिका वा, तथा नायको मृतकल्पो नायिका वा भवतीति चत्वारः प्रकाराः ॥

करुण इति। सुगमं न वरम्। नायक मरता है या नायिका, नायक मृतकल्प होता है या नायिका। इस प्रकार करुण-विप्रलम्भ भी चार प्रकार का होता है ॥

अथ यस्तत्रैको जीवति तस्य सदृशचेष्टो जनो भवतीत्याह--

सर्वेष्वेषु जनः स्यात्स्रस्तावयवो विचेतनो ग्लानः ।
अच्छिन्ननयनसलिलः सततं दीर्घोष्णनिःश्वासः ॥ ३५ ॥

उन (नायक-नायिका) में जो अकेला जीवित बचता है जन उसके समान चेष्टा करता है इसे बताते हैं--

'(करुण के) इन सभी प्रकारों में जन (नायक या नायिका) के अंग शिथिल हो जाते हैं--वह अचेतन हो जाता है, दुःखी रहता है, निरन्तर नेत्रों से आँसू बहते हैं तथा सदैव लम्बी गरम श्वास लेता है ॥ ३५ ॥'

सर्वेष्विति । सुगमं न वरम् । सर्वेष्विति चतुर्ष्वपि करुणप्रकारेष्विति रसोत्पत्तिश्च विभागभावानुभावसंयोगाद्भवति । तत्र शृङ्गारे विभागः संभोगविप्रलम्भादिकः । भावस्तु स्थायी रतिः । इतरस्तु निर्वेदादिः । अनुभावस्तु 'तत्र भवन्ति स्त्रीणाम्' (१३।२) इत्यादिनोक्तः । एवं वीरादिष्वपि योज्यम् ॥

सर्वेष्विति । सुगमं न वरम् । सभी प्रकारों में--चारों प्रकार के करुण विप्रलम्भ में । रसोत्पत्ति भी विभाग भाव और अनुभाव के संयोग से होती है । इनमें शृङ्गार में विभाग हैं—संभोग, विप्रलम्भ आदि । स्थायी भाव है रति । 'तत्र भवन्ति स्त्रीणाम्' (१३।२) आदि के (चेष्टा वर्णन करते समय) अनुभाव का वर्णन किया जा चुका है । इसी प्रकार वीर आदि (रसों) में भी (विभाग, भाव और अनुभाव की) योजना कर लेनी चाहिये ॥

अन्योन्यानुरक्तपुंनार्योः शृङ्गारोऽन्यथात्वे तु शृङ्गाराभास इत्याह—

शृङ्गाराभासः स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः ।
एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः ॥ ३६ ॥

'परस्पर पुरुष और नारी के अनुरक्त होने पर शृङ्गार होता है अन्यथा शृङ्गाराभास—इसे बताते हैं—'जहाँ एक के विरक्त होने पर भी दूसरा (पात्र) उसमें आसक्त होता है वहाँ शृंगाराभास होता है। इस (आभास) का प्रयोग उत्तम पात्र (राजा आदि) में नहीं करना चाहिये ॥ ३६ ॥'

शृङ्गाराभास इति । सुगमं न वरम् । आभाष्येषूत्तमेष्वसौ न प्रयोक्तव्यः ॥

शृंगाराभास इति । सुगमं न वरम् । उत्तम पात्रों में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अथात्र रीतीनामनुप्रासवृत्तीनां चावसरे विषयविभागमाह—

इह वैदर्भी रीतिः पाञ्चाली वा विचार्य रचनीया ।
मधुराललिते कविना कार्ये वृत्ती तु शृङ्गारे ॥ ३७ ॥

अब (वैदर्भी आदि) रीतियों और अनुप्रास की वृत्तियों के (प्रयोग के औचित्य का) वर्णनप्रसंग आने पर (उनका) विषयविभाग बताते हैं—'इस शृंगार में (कवि को) विचार कर वैदर्भी या पाञ्चाली रीति की रचना करनी चाहिये । तथा कवि को मधुरा और ललिता वृत्तियों का प्रयोग करना चाहिये ॥'

इहेति । सुगमम् ॥

इहेति । सुगम है ।

अथाध्यायमुपसंहरन्सर्वरसेभ्यः शृङ्गारस्य प्राधान्यं प्रचिकटयिषुराह—

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम् ।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्ना-
द्भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम् ॥ ३८ ॥

अनुसरतीति । सुगमम् ॥

अनुसरतीति । सुगम है ।

अब अध्याय का उपसंहार करते हुये सब रसों में शृंगार की प्रधानता द्योतित करने के लिये कहते हैं—'रसों में कोई दूसरा रस इस (शृंगार) की रसनीयता का अनुसर नहीं कर सकता; बालक से लेकर वृद्ध तक सभी इससे व्याप्त हैं । अतएव काव्य में इसका बड़े प्रयत्न से उपन्यास करना चाहिये—इसके अभाव में काव्य नीरस हो जाता है ॥ ३८ ॥'

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेत-
श्चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ।

इस प्रकार नमि साधु विरचित टिप्पणी के साथ रुद्रट रचित
काव्यालंकार का चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

पञ्चदशोऽध्यायः

शृङ्गारं व्याख्यायाधुना वीरादीनां विभागभावानुभावलक्षणं कारणत्रयं तथा नायकानायकगुणांश्च प्रत्येकं क्रमेणाह—

उत्साहात्मा वीरः स त्रेधा युद्धधर्मदानेषु ।
विषयेषु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायकः ख्यातः ॥ १ ॥

(२) शृंगार का व्याख्यान करके अब वीर आदि रसों का विभाग, भाव और अनुभाव रूप तीन कारण, तथा नायक और अनायक (विरुद्ध नायक, प्रतिनायक या अपात्र नायक) के गुणों का क्रमशः उपन्यास करते हैं--'वीर रस का स्थायी भाव है उत्साह; युद्ध, धर्म और दान तीन विषयों में वह तीन प्रकार का होता है। उसमें इतिहास प्रसिद्ध अक्षुब्ध नायक होता है ॥ १ ॥'

नयविनयबलपराक्रमगाम्भीर्यौदार्यशौटीर्यैः ।
युक्तोऽनुरक्तलोको निर्व्यूढभरो महारम्भः ॥ २ ॥

'(वह) नीति, विनय, सेना, पराक्रम, गम्भीरता, उदारता, शूरता और कुशलता से युक्त प्रजाप्रिय, कर्तव्य-परायण और साहसिक कृत्यों वाला होता है ॥ २ ॥'

उत्साहात्मेति । नयेति । गतार्थे न वरम् । उत्साहः स्थायी भावः । धर्मदानयुद्धलक्षणं च विषयत्रयं विभागः । नायकगुणा एवानुभावः । तेजो रणे च सामर्थ्यं बलम् । रिपूणां बलादाक्रमणं पराक्रमः । गाम्भीर्यमलब्धमध्यता । 'दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् । स्वजनेऽथ परे वापि तदौदार्यं प्रचक्षते ॥' समरैकत्वं शौर्यम् । सत्यपि त्यागकारणे योग्यकार्यस्यात्यागः शौटीर्यम् । धैर्यमित्यर्थः ॥

उत्साहात्मेति । नयेति । दोनों का अर्थ स्पष्ट है । उत्साह स्थायीभाव है; धर्म, दान और युद्ध तीन उसके विषय विभाग हैं । नायक के गुण ही अनुभाव हैं । तेज लड़ाई में सामर्थ्य का नाम बल है । शत्रुओं पर जबर्दस्ती आक्रमण पराक्रम है । गाम्भीर्य नाम है कहीं बीच-बचाव न करने का । अपने सेवकों और दूसरों के प्रति दान (त्याग), विश्वास और प्रिय वचन को औदार्य कहते हैं । लड़ाई में एकत्व (अकेले पराक्रम दिखाने का) नाम शौर्य है । त्याग के कारण विद्यमान होने पर भी योग्य कार्य का अत्याग शौटीर्य अर्थात् धैर्य कहा जाता है ॥

अथ करुणः—

करुणः शोकप्रकृतिः शोकश्च भवेद्विपत्तितः प्राप्तेः ।
इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहतो नायकस्तत्र ॥ ३ ॥
अच्छिन्ननयनसलिलप्रलापवैवर्ण्यमोहनिर्वेदाः ।
क्षितिचेष्टनपरिदेवनविधिनिन्दाश्चेति करुणे स्युः ॥ ४ ॥

(३) करुण का लक्षण करते हैं—'शोक का स्थायी भाव है करुण; वह इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से होता है। उसमें नायक भाग्य से हत चित्रित होता है। अनवरत अश्रुधार, प्रलाप, विवर्णता, मोह, निर्वेद, धरती पर छटपटाना, विलाप करना, भाग्य को कोसना आदि करुण के अनुभाव हैं ॥३-४॥

करुण इति। अच्छिन्नेति। सुगमं न वरम्। शोकः स्थायिभावः। इष्टानिष्टविपत्तिप्राप्ती विभागः। अच्छिन्ननयनाश्रुप्रभृतिरनुभावः ॥

करुण इति। अच्छिन्नेति। सुगम है। शोक स्थायी भाव है। इष्ट पर विपत्ति और अनिष्ट की प्राप्ति (विषय का) विभाग है। अनवरत नेत्रों के आँसू आदि अनुभाव हैं ॥

अथ बीभत्सः—

भवति जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्सः सा तु दर्शनाच्छ्रवणात् ।
संकीर्तनात्तथेन्द्रियविषयाणामत्यहृद्यानाम् ॥ ५ ॥
हृल्लेखननिष्ठीवनमुखकूणनसर्वगात्रसंहाराः ।
उद्वेगः सन्त्यस्मिन्गाम्भीर्यान्नोत्तमानां तु ॥ ६ ॥

(४) बीभत्स (का लक्षण करते हैं)—'बीभत्स रस का स्थायी भाव है जुगुप्सा, वह इन्द्रियों के (रूप, रस आदि) अत्यन्त अहृद्य विषयों के देखने, सुनने और वर्णन करने से उत्पन्न होती है। इस (बीभत्स) में हृत्कम्पन, कुल्ला करना, मुख सिकोड़ना, शरीर मरोड़ना और उद्वेग आदि (अनुभाव) होते हैं। उत्तम पात्रों में उपर्युक्त अनुभाव नहीं होते क्योंकि वे स्वभाव से ही गम्भीर होते हैं ॥ ५-६ ॥

भवतीति। हृदिति। सुगमं न वरम्। जुगुप्सा स्थायिभावः। विभागस्त्वहृद्यदर्शनादिः। अनुभावो हृल्लेखनादिः। हृल्लेखनं हृदयकम्पः ॥

भवतीति। हृदिति। सुगम है। जुगुप्सा स्थायी भाव है। अरमणीक दर्शन आदि विषय के विभाग हैं। हृल्लेख आदि अनुभाव हैं। हृल्लेखन अर्थात् हृदय-कम्प ॥

अथ भयानकः—

संभवति भयप्रकृतिर्भयानको भयमतीव घोरेभ्यः ।
शब्दादिभ्यस्तस्य च नीचस्त्रीबालनायकता ॥ ७ ॥

(५) भयानक—'भय स्थायी भाव से भयानक रस उत्पन्न होता है । भय अत्यन्त भीषण शब्द आदि (विषयों) से उत्पन्न होता है । तथा इस रस में नीच स्त्री, बालक आदि नायक होते हैं ॥ ७ ॥

दिक्प्रेक्षणमुखशोषणवैवर्ण्यस्वेदगद्गदत्रासाः ।
करचरणकम्पसंभ्रममोहाश्च भयानके सन्ति ॥ ८ ॥

दिशाओं में देखना, मुख सूखना, कान्तिहीन होना और मोह आदि भयानक के अनुभाव हैं ॥ ८ ॥

संभवतीति । दिगिति । सुगमं न वरम् । भयं स्थायिभावः । घोरशब्दादिर्विभागः । दिक्प्रेक्षणादिरनुभावः ॥

संभवतीति । दिगिति । अर्थ स्पष्ट है । भय स्थायी भाव है । विभाग घोर शब्द आदि है । दिशाओं में देखना आदि अनुभाव है ॥

अथाद्भुतः—

स्यादेष विस्मयात्मा रसोऽद्भुतो विस्मयोऽप्यसंभाव्यात् ।
स्वयमनुभूतादर्थादनुभूयान्येन वा कथितात् ॥ ९ ॥

(६) अद्भुत—इस अद्भुत रस का स्थायी भाव है विस्मय, विस्मय भी असंभाव्य, स्वयं अनुभूत अर्थ अथवा अनुभव करके अन्य के द्वारा कहे जाने से उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

नयनविकासो बाष्पः पुलकः स्वेदोऽनिमेषनयनत्वम् ।
संभ्रमगद्गदवाणीसाधुवचांस्युत्तमे सन्ति ॥ १० ॥

नेत्रों का विकास, वाष्प, पुलक, स्वेद, नेत्रों का अपलक होना, त्वरा, गद्गद वाणी, सुन्दर वचन आदि अनुभाव उत्तम पात्रों में होते हैं ॥ १० ॥

स्यादिति । नयनेति । सुगमं न वरम् । विस्मयः स्थायिभावः । विभागश्चासंभवि । अनुभावो नयनविकासादिः ॥

स्यादिति । नयनेति । टिप्पणी अपेक्षित नहीं । स्थायी भाव है विस्मय । विभाग असंभव है । नेत्र के विकास आदि अनुभाव हैं ।

अथ हास्यः—

हास्यो हासप्रकृतिर्हासो विकृताङ्गवेषचेष्टाभ्यः ।
भवति परस्थाभ्यः स च भूम्ना स्त्रीनीचबालगतः ॥११॥
नयनकपोलविकासी किंचिल्लक्ष्यद्विजोऽप्यसौ महताम् ।
मध्यानां विवृतास्यः सशब्दबाष्पश्च नीचानाम् ॥ १२ ॥

(७) हास्य–हास्य रस का स्थायी भाव है हास; वह दूसरों के विकृत अंग, वेष, चेष्टा आदि से उत्पन्न होता है। वह प्रायः स्त्री, नीच और बालक में होता है। इसमें उत्तम पात्र के नेत्र और कपोल विकसित हो जाते हैं और कुछ कुछ दाँत दिखलाई पड़ते हैं; मध्यम पात्रों का मुख खुल जाता है और नीच पात्र तो अट्टहास करते हैं जिससे उनके नेत्रों में जल भी आ जाता है ॥ ११–१२ ॥

हास्य इति । नयनेति । सुगमं न वरम् । हास्यः स्थायिभावः । विभावस्तु विकृताङ्गवेषादिः अनुभावो नयनकपोलविकासादिः ॥

हास्य इति। नयन इति। सुगम है। हास स्थायी भाव है और विकृत अंग, वेश आदि विभाव। नेत्र, कपोल आदि के विकास अनुभाव हैं॥

अथ रौद्रः—

रौद्रः क्रोधप्रकृतिः क्रोधोऽरिकृतात्पराभवाद्भवति ।
तत्र सुदारुणचेष्टः सामर्षो नायकोऽत्युग्रः ॥ १३ ॥

(८) रौद्र–रौद्र रस का स्थायी भाव है क्रोध। वह शत्रु द्वारा किये गये पराभव से उत्पन्न होता है। इसमें नायक अत्यन्त भीषण चेष्टाओं वाला, अमर्ष से युक्त और अत्यन्त प्रचण्ड होता है ॥ १३ ॥

तत्र निजांसस्फालनविषमभ्रुकुटीक्षणायुधोत्क्षेपाः ।
सन्ति स्वशक्तिशंसाप्रतिपक्षाक्षेपदलनानि ॥ १४ ॥

इसमें अपने कन्धे को मलना, विषम भृकुटियों से देखना, शस्त्रों को उठाना, अपने पराक्रम की प्रशंसा, शत्रुओं का आक्षेप और दलन आदि अनुभाव होते हैं॥ १४ ॥

रौद्र इति । तत्रेति । सुगमं न वरम् । क्रोधः स्थायिभावः । विभावो रिपुकृतपराभवादिः । अनुभावो निजांसास्फालनादिः ॥

रौद्र इति। तत्रेति। सुगमं न वरम्। स्थायी भाव है क्रोध। शत्रु द्वारा किये गये तिरस्कार आदि विभाव हैं (तथा) अपने कन्धे को मलना आदि अनुभाव हैं॥

अथ शान्तः—

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति ।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ॥ १५ ॥

(९) 'शान्त—शान्त का स्थायी भाव है सम्यक्ज्ञान । इसमें नायक निरीह होता है (इन्द्रियों के शब्द आदि) विषयों के अन्धकार के विलय और राग के अपगम से सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥'

जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये ।
सुखदुःखयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ॥ १६ ॥

'इसमें जन्म, बुढ़ापे और मृत्यु के त्रास और विषयों में विरसता, सुख-दुःख में राग-द्वेष का अभाव आदि अनुभाव होते हैं ॥ १६ ॥'

सम्यगिति । जन्मेति । सुगमं न वरम् । सम्यग्ज्ञानं स्थायिभावः । विभावस्तु शब्दादिविषयस्वरूपम् । अनुभावो जन्मादित्रासादयः । कैश्चिच्छान्तस्य रसत्वं नेष्टम् । तदयुक्तम् । भावादिकारणानामत्रापि विद्यमानत्वात् । एवं प्रेयोरसेऽपि द्रष्टव्यमिति ॥

सम्यगिति । जन्मेति । सुगमं न वरम् । सम्यक् ज्ञान स्थायी भाव है । शब्द आदि विषयों का स्वरूप विभाव है । जन्म आदि से उत्पन्न त्रास आदि अनुभाव हैं । कुछ लोगों को शान्त रस के रूप में अभीष्ट नहीं है । यह ठीक नहीं । क्योंकि (स्थायी) भाव आदि (तीन) कारण इसमें भी मिल जाते हैं । इसी प्रकार (कारणत्रितय को) प्रेयरस में भी जानना चाहिये ॥

अथ प्रेयान्—

स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्संगतशीलार्यनायको भवति ।
स्नेहस्तु साहचर्यात्प्रकृतेरुपचारसंबन्धात् ॥ १७ ॥

(१०) प्रेयान्—प्रेयान् का स्थायी भाव है स्नेह । इसमें शिष्ट स्वभाव से युक्त सज्जन नायक होता है । स्नेह प्रकृति के उपचार संबन्ध के कारण सहवास से उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापाः ।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ॥ १८ ॥

इसमें मनोवृत्ति निःस्वार्थ होती है और बातें कोमल और मधुर होती हैं । इसमें दो मित्रों का परस्पर व्यवहार ही (विभाव) होता है ॥ १८ ॥

प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुः सुस्निग्धस्फारलोचनालोकः ।
आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र ॥ १९ ॥

स्नेह में सर्वत्र अन्तःकरण के आर्द्र होने के कारण नेत्रों में अत्यधिक आँसू आना और स्नेहपूर्वक आँखें फाड़कर अपलक देखना आदि अनुभाव होते हैं ॥ १९ ॥

सुगमं न वरम् । स्नेहः स्थायिभावः । विभावः साहचर्यादिः । अनुभावः प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुप्रभृतिः ॥

सुगमं न वरम् । स्थायी भाव है स्नेह । विभाव हैं सहवास आदि । बहते हुये प्रमद के कारण आँसू आदि अनुभाव हैं ॥

अथ वोरादिषु रीतिनियममाह—

वैदर्भीपाञ्चाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयोः ।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्याद्यथौचित्यम् ॥ २० ॥

अब वीर आदि में रीति नियम बताते हैं—'औचित्य के अनुसार प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत में वैदर्भी और पाञ्चाली (रीतियों की) तथा रौद्र (रस) में लाटीया और गौडीया रीतियों की रचना करनी चाहिये ॥२०॥'

वैदर्भीति । प्रेयःकरुणभयानकाद्भुतेषु चतुर्षु रसेषु वैदर्भी पाञ्चाली चेति रीतिद्वयं कुर्यात् । तथा रौद्रे रसे लाटीया गौडीया च कर्तव्या । शेषरसेषु न रीतिनियमः । सर्वा अपि कथं कार्या इत्याह—यथौचित्यमिति । औचित्यं रसस्वरूपपरिपोषः । तदनतिक्रमेणेत्यर्थः । रसानामलंकाराणां च लक्षणस्य मात्रयापि न्यूनत्वे तदाभासता बोद्धव्या ॥

वैदर्भीति । प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्भुत—इन चार रसों में वैदर्भी और पाञ्चाली इन दो रीतियों की रचना करनी चाहिये । इसी प्रकार रौद्र रस में लाटीया और गौडीया की रचना करनी चाहिये । शेष (पाँच) रसों में रीति का नियम नहीं है (अर्थात् उनमें किसी भी रीति की रचना हो सकती है) । सभी रीतियों की रचना किस प्रकार करनी चाहिये इसे बताते हैं । औचित्य के अनुसार । औचित्य रस के स्वरूप का परिपोषण है । अर्थात् (रीतियों की रचना इस प्रकार करनी चाहिये) जिससे रस के स्वरूप का अतिक्रमण न हो । रस तथा अलङ्कारों के लक्षणों के एक अंश में भी न्यून होने पर (सम्पूर्ण लक्षण न घटित होने पर) (वहाँ) उन (रस और अलंकारों) का आभास समझना चाहिये ॥

अध्यायमुपसंहरंस्तद्रचनाक्रममाह—

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु ।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥ २१ ॥

अध्याय का उपसंहार करते हुये उनकी रचना का क्रम बताते हैं—'भली भाँति विभक्त कर सुकवि के द्वारा सुन्दर रीति से उपन्यस्त ये रस रसिकों को आनन्दित करते हैं। चूँकि इनके बोध के विना सर्वथा रमणीय काव्य रचना में कोई समर्थ नहीं हो सकता अतएव इन्हें समझने के लिये (कवि को) प्रयत्न करना चाहिये ॥ २१ ॥

एत इति । एते रसाः सम्यग्विभज्य चतुरेण कविना चारु यथा भवति तथा रचिताः सन्तो रसिकान्पुंसो रमयन्ति यस्मात् । तथेमाननधिगम्या-विज्ञाय सर्वथा रम्यं काव्यं विधातुं कविर्नालं न समर्थः । तत्तस्मादत्रैते-ष्वाद्रियेतादरं कुर्यात् ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ।

एत इति । ये रस भली भाँति विभक्त करके कुशल कवि के द्वारा जिस रूप में सुन्दर हों उस रूप में रचित होकर रसिकों को आनन्दित करते हैं। तथा इनके बोध के विना कोई भी सर्वथा रमणीक काव्य की रचना में सक्षम नहीं हो सकता । अतएव इस (काव्यालंकार) में (कवि को) प्रयत्नपरायण होना चाहिये ।

इस प्रकार नमिसाधुविरचित टिप्पणी से युक्त रुद्रट विरचित
काव्यालंकार का पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

षोडशोऽध्यायः

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे' (१२।१) इत्युक्तम्' तत्र कश्चतुर्वर्गः कथं च तं रसैः सह निबध्नीयादित्याह—

जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिर्धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
सम्यक्तानभिदध्याद्रससंमिश्रान्प्रबन्धेषु ॥ १ ॥

काव्य के द्वारा रसिकों को चतुर्वर्ग में दीक्षित किया जाता है यह कहा जा चुका है। उसमें चतुर्वर्ग क्या है, रसों के साथ उनका उपन्यास कैसे होगा इसे बताते हैं—

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की संसार में चतुर्वर्ग के नाम से ख्याति है। (कवियों को चाहिये कि वे) प्रबन्धों में रसपेशल रूप में उन्हें उपन्यस्त करें ॥ १ ॥

जगतीति । सुगमम् ॥

जगतीति । सुगम है ॥

प्रबन्धेष्वित्युक्तम्, अथ के ते प्रबन्धाः कियन्तो वेत्येतन्मुखेन महाकाव्यादिलक्षणं वक्तुमाह—

सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये ।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि ॥ २ ॥

(प्रबन्धों में) पहले कहा गया है वे प्रबन्ध कौन हैं और कितने हैं—इस प्रकार प्रबन्धों के मुख से महाकाव्य आदि का लक्षण बताते हैं—प्रबन्ध भी काव्य में काव्य, कथा, आख्यायिका आदि उत्पाद्य और अनुत्पाद्य के भेद से दो प्रकार के हैं। पुनः ये ही महान् और लघु के भेद से (दो दो प्रकार के होते हैं) ॥ २ ॥

सन्तीति । द्विधा प्रबन्धाः सन्ति । प्रबध्यते नायकचरितमेतेष्विति कृत्वा । के च ते । काव्यकथाख्यायिकादय इति । आदिग्रहणं कुलकनाटकाद्यर्थं । क्व ते प्रबन्धाः । काव्ये कविकर्मणि । कथम् । द्विधा । उत्पाद्यानुत्पाद्यभेदात् । तथा महल्लघुत्वेन भूयोऽपि पुनरपि । उत्पाद्य महान्तो लघवश्चानुत्पाद्या महान्तो लघवश्चेत्यर्थः ॥

सन्तीति। प्रबन्ध दो प्रकार के हैं। नायक के चरित का जिसमें बन्धन होता है उसे प्रबन्ध कहते हैं। कौन हैं वे?—काव्य, कथा, आख्यायिका आदि। आदि का ग्रहण कुलक और नाटक आदि के संग्रह के लिये किया गया है। वे प्रबन्ध होते किस आधार में हैं?—काव्य—कविकर्म में। कैसे दो प्रकार के? उत्पाद्य और अनुत्पाद्य के भेद से। महान् और लघु के भेद से फिर दो दो प्रकार के होते हैं—अर्थात् उत्पाद्य महा (प्रबन्ध) और उत्पाद्य लघु (प्रबन्ध) तथा अनुत्पाद्य महा (प्रबन्ध) और अनुत्पाद्य लघु (प्रबन्ध)।

अथोत्पाद्यलक्षणमाह—

तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्।
कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्॥ ३॥

अब उत्पाद्य का लक्षण बताते हैं—उनमें उत्पाद्य प्रबन्ध वे हैं जिनकी पूरी कथावस्तु कविकल्पित होती है और कहीं तो वह नायक भी वास्तविक जगत् में कविकल्पित होता है जिसकी उत्पत्ति युक्त प्रतीत होती है॥ ३॥

तत्रेति। तत्र काव्यादिषु मध्ये उत्पाद्यास्ते येषां शरीरमितिवृत्तं सकलं कविरुत्पादयेत्। नायकं प्रसिद्धं गृहीत्वा तद्व्यवहारः सर्व एवापूर्वो यत्र निबध्यत इत्यर्थः। यथा माघकाव्ये। प्रकारान्तरमाह—कल्पिता युक्ता घटमानोत्पत्तिर्यस्य तमित्थंभूतं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्, आस्तामितिवृत्तम्। अत्र च तिलकमञ्जरी बाणकथा वा निदर्शनम्॥

तत्रेति। उन काव्य आदि प्रबन्धों जिनका समूचा इतिवृत्त कविकल्पित होता है वे उत्पाद्य कहे जाते हैं। अर्थात् (इनमें इतिहास) प्रसिद्ध नायक को लेकर उसके समस्त चरित्र को अपूर्व रूप से प्रस्तुत किया जाता है। जैसे माघकाव्य में (कृष्ण को नायक बनाकर स्वतः उद्भावित इतिवृत्त को कवि ने महाकाव्य का रूप दे दिया है)। और भी प्रकार बताते हैं—इतिवृत्त (कथानक की तो चर्चा ही क्या) कहीं-कहीं उपपत्तिपूर्ण नायक की उत्पत्ति भी कल्पित होती है। (धनपाल की) तिलक मञ्जरी और बाणभट्ट की (कादम्बरी) कथा इसके उदाहरण हैं।

अथानुत्पाद्यलक्षणमाह—

पञ्जरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्याः॥ ४॥

अब अनुत्पाद्य काव्य का लक्षण बताते हैं--'समूची कथावस्तु को अथवा उसके एक ही अंश को कवि जहाँ अपनी वाणी से स्वयं कहे वह इतिहास आदि में प्रसिद्ध वस्तु के आधार पर रचा गया प्रबंध अनुत्पाद्य कहलाता है ॥ ४ ॥

पञ्जरमिति । तेषु काव्यादिमध्ये तेऽनुत्पाद्याः, येषां पञ्जरं कथाशरीरमखिलं सर्वमितिहासादिप्रसिद्धं रामायणादिकथाप्रसिद्धं कविः स्ववाचा परिपूरयेत् । वदेदित्यर्थः । यथार्जुनचरिते । अथवा तदेकदेशं वा, इतिहासाद्येकदेशं वा स्ववाचा यत्र परिपूरयेत्तदप्यनुत्पाद्यम् । यथा किरातार्जुनीयं काव्यम् ॥

पञ्जरमिति । काव्य आदि में वे प्रबंध अनुत्पाद्य कहे जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण रामायण आदि कथा प्रसिद्ध कथानक को कवि अपनी वाणी से परिपूर्ण करता है या कहता है। जैसे (ध्वनिकार आनन्दवर्धन कृत) अर्जुनचरित। अथवा जब (इतिहास प्रसिद्ध) उस कथा के एकदेश अथवा इतिहास आदि के एकदेश को कवि अपनी वाणी से पूर्ण करता है वह भी अनुत्पाद्य प्रबन्ध होता है। उदाहरणार्थ किरातार्जुनीय काव्य ॥

अथ महान्तः—

तत्र महान्तो येषु च विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः ।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि ॥ ५ ॥

महा (प्रबन्धों) का लक्षण करते हैं—'उनमें महाप्रबन्ध वे कहलाते हैं जिनके विस्तार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों का उपन्यास होता है तथा सभी रसों और सभी काव्य-स्थानों की चर्चा होती है ॥ ५ ॥'

तत्रेति । सुगमं न वरम् । काव्यस्थानानि पुष्पोच्चयजलक्रीडादीनि भण्यन्ते ॥

तत्रेति । सुगमं न वरम् । पुष्पोच्चय, जलक्रीडा आदि काव्यस्थान कहे जाते हैं ॥

अथ लघवः—

ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात् ।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रैकरसयुक्ताः ॥ ६ ॥

लघु प्रबन्ध—'वे प्रबन्ध लघु कोटि में आते हैं जिनमें चतुर्वर्ग में से एक का उपन्यास होता है। (वे भी दो प्रकार के होते हैं) एक तो वे जिनमें सभी रस तो नहीं किन्तु अनेक रस होते हैं और दूसरे वे जिनमें समूचे प्रबन्ध में एक ही रस होता है ॥ ६ ॥'

त इति। सुगमं न वरम्। ते मेघदूतादयो लघवः। महान्तस्तु शिशुपालवधादयः॥ अथानुत्पाद्येषु पुराणादिक्रमेणैवेतिवृत्तनिबन्धः, केवलं तत्र कविः स्ववाचा चतुर्वर्गरसकाव्यस्थानवर्णनं नमस्कारपूर्वकं करोतीति न तद्विषयनिबन्धोपदेशो जायते।

ये पुनरुत्पाद्यास्तत्र कथं निबन्ध इत्यनुपदिष्टं न ज्ञायत इति तन्निबन्धक्रमोपदेशमाह—

त इति। सुगमं न वरम्। मेघदूत आदि लघु प्रबन्ध है और शिशुपालवध आदि महा प्रबन्ध। प्रश्न उठता है कि अनुत्पाद्य प्रबन्धों में पुराण आदि के क्रम से ही इतिवृत्त (कथावस्तु) का उपन्यास होता है। वहाँ कवि नमस्कार करने के पश्चात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा रस और काव्यस्थानों का वर्णन करता है। अत एव उसके निबन्ध के लिये उपदेश की आवश्यकता ही नहीं (क्योंकि उसे तो पुराण–इतिहास आदि से ही जान लिया जायगा)। जहाँ प्रबन्ध उत्पाद्य होंगे वह उक्त विषयों का उपन्यास कैसे होगा इसका उपदेश के विना ज्ञान नहीं हो सकता। अत एव उनके उपन्यस्त करने के क्रम का उपदेश देते हैं—

तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसां च॥ ७॥

उनमें उत्पाद्य महाकाव्य में प्रारम्भ में सुन्दर नगरी तदनन्तर उसमें नायक के कुल की प्रशंसा का वर्णन होना चाहिये॥ ७॥

तत्र त्रिवर्गसक्तं समिद्धशक्तित्रयं च सर्वगुणम्।
रक्तसमस्तप्रकृतिं विजिगीषुं नायकं न्यस्येत्॥ ८॥

(तदनन्तर) मन्त्र, प्रभु और कोष शक्ति से सम्पन्न, सभी गुणों से युक्त, समस्त प्रजाओं को प्रिय विजयेच्छु नायक का उपन्यास करना चाहिये॥ ८॥

विधिवत्परिपालयतः सकलं राज्यं च राजवृत्तं च।
तस्य कदाचिदुपेतं शरदादिं वर्णयेत्समयम्॥ ९॥

समूचे राज्य और राजधर्म का भली भाँति पालन करते हुये उसके प्रसङ्ग में आये हुये शरदादि ऋतुओं का वर्णन करना चाहिये॥ ९॥

स्वार्थं मित्रार्थं वा धर्मादिं साधयिष्यतस्तस्य।
कुल्यादिष्वन्यतमं प्रतिपक्षं वर्णयेद्गुणिनम्॥ १०॥

अपने मित्र अथवा धर्म आदि के प्रयोजन को सिद्ध करते हुये उस नायक के प्रतिनायक को कुलीनों में अग्रगण्य और गुणवान् रूप में चित्रित करना चाहिए ॥ १० ॥

स्वचरात्तद्दूताद्वा कुतोऽपि वा शृण्वतोऽरिकार्याणि ।
कुर्वीत सदसि राज्ञां क्षोभं क्रोधेद्धचित्तगिराम् ॥ ११ ॥

राजसभा में अपने चर, (पतिपक्षी के) दूत अथवा किसी अन्य सूत्र से शत्रु के कार्यों को सुनते हुये क्रोध से जले हुये (नायक) के चित्त एवं वाणी के क्षोभ का वर्णन करे ॥ ११ ॥

संमन्त्र्य समं सचिवैर्निश्चित्य च दण्डसाध्यतां शत्रोः ।
त दापयेत्प्रयाणं दूतं वा प्रेषयेन्मुखरम् ॥ १२ ॥

सचिवों के साथ मन्त्रणा करके शत्रु की दण्डसाध्यता का निश्चय करके उस (शत्रु) के ऊपर आक्रमण करे अथवा (उसके पास) चञ्चल दूत भेजे ॥ १२ ॥

अथ नायकप्रयाणे नागरिकाक्षोभजनपदाद्रिनदीः ।
अटवीकाननसरसीमरुजलधिद्वीपभुवनानि ॥ १३ ॥

तदन्तर नायक के प्रस्थान में नागरिकों के अक्षोभ (धैर्य) देश, पर्वत, नदी, अटवी, वन, सरसी (तालाब) मरुस्थल, सागर, द्वीप, लोक ॥ १३ ॥

स्कन्धावारनिवेशं क्रीडां यूनां यथायथं तेषु ।
रव्यस्तमयं संध्यां सतमसमथोदयं शशिनः ॥ १४ ॥

पड़ाव, तथा यथातथ उनमें युवकों की क्रीडा सूर्य के अस्त होने के समय संध्या, अन्धकार और चन्द्रोदय का (कवि वर्णन करे) ॥ १४ ॥

रजनीं च तत्र यूनां समाजसंगीतपानशृङ्गारान् ।
इति वर्णयेत्प्रसङ्गात्कथां च भूयो निबध्नीयात् ॥ १५ ॥

रात्रि, युवकों के समाज, संगीत, पान-गोष्ठी और शृङ्गार का प्रसङ्गानुकूल वर्णन करे और इस प्रकार कथा का प्रभूत विस्तार करे ॥ १५ ॥

प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखममृष्यमाणमायान्तम् ।
अभिदध्यात्कार्यवशान्नगरीरोधस्थितं वापि ॥ १६ ॥

नायक के ही समान उस (नायक) के सामने आते हुये प्रतिनायक का वर्णन करना चाहिये । प्रयोजनवश उसमें नगरी पर घेरा डालने का भी वर्णन होना चाहिये ॥ १६ ॥

योद्धव्यं प्रातरिति प्रबन्धमधुपीति निशि कलत्रेभ्यः ।
स्ववधं विशङ्कमानान्संदेशान्दापयेत्सुभटान् ॥ १७ ॥

'प्रातःकाल युद्ध करना है' इस कारण से अपने मृत्यु की शङ्का करने वाले सैनिकों के द्वारा रात में स्त्रियों के लिये प्रबन्धवश (प्रसङ्गतः) मदिरा पान का संदेश दिलवाये ॥ १७ ॥

संनह्य कृतव्यूहं सविस्मयं युध्यमानयोरुभयोः ।
कृच्छ्रेण साधु कुर्यादभ्युदयं नायकस्यान्ते ॥ १८ ॥

सन्नद्ध होकर व्यूह बनाकर आश्चर्य पूर्वक परस्पर युद्ध करते हुये दोनों में से परिणाम में नायक की बड़ी कठिनाई सुन्दर अभ्युदय करना चाहिये ॥ १८ ॥

गतार्थं न वरम् । कुल्यादिष्विति कुल्यो गोत्रजः । आदिशब्दात्कृत्रिमादिः । तथा संमन्त्र्य निश्चित्य चेत्यत्रान्तर्भूतः कारितार्थो द्रष्टव्यः । अन्यथा भिन्नकर्तृकत्वात्क्त्वा न स्यात् । नायकमुखेन कविरेव मन्त्रयते निश्चिनोति चेति केचित् । तथा नद्यः सरितः । अटवी निर्जनो देशः । काननमुद्यानवनम् । सरस्यो महान्ति सरांसि । मरुर्निर्जलो देशः । द्वीपं जलमध्यस्थभूप्रदेशः । भुवनानि लोकान्तराणि । तथा यूनां दंपतीनां क्रीडा । सा च वनेषु क्रीडा, नदीषु जलकेलिः, अटव्यां विहार इत्यादिका । तथा यूनां समाजः संगमः । संगीतं गेयम् । पानकं सरकम् । शृङ्गारः सुरतादिः । तथा कलत्रेभ्यः सुभटान्संदेशान्प्रदापयेत् । कथं दापयेत् । प्रबन्धेन मधुपीतिर्मधुपानं यत्र कर्मणि । मधुपानमपि कुत इत्याह—योद्धव्यं प्रातरिति । तथा नायकस्येति नायकस्यैव विजयं कुर्यान्न विपक्षस्येति सूचनार्थम् ॥

गतार्थं न वरम् । 'कुल्यादिषु' में कुल्य शब्द गोत्रज (कुलीन) अर्थ में आया है । आदि शब्द से कृत्रिम आदि का ग्रहण होता है । 'संमन्त्र्य' निश्चय करके यहाँ कारितार्थ को अन्तर्भूत समझना चाहिये, नहीं तो कर्ता के भिन्न होने के कारण क्त्वा नहीं होगा । कुछ लोगों के मत में राजा के बहाने कवि ही मंत्रणा और निश्चय करता है । नदी—सरिता । अटवी—एकान्त प्रदेश । कानन—वाटिका, वन । सरसी-बड़े-बड़े तालाब । मरु—निर्जल देश । द्वीप—जल में निकला हुआ भूखण्ड । भुवन—अन्य लोक । तथा युवक पति-पत्नियों की केलि, उस वन में क्रीड़ा, नदियों में जलकेलि और अटवी में विहार आदि कहते हैं । तथा युवकों का समाज अर्थात् सम्मेलन । संगीत-गेय । पानक— । शृङ्गार—संभोग आदि । तथा स्त्रियों को सुभटों के द्वारा संदेश भिजवाये । किस प्रकार संदेश भिजवाये । जिसमें प्रबन्ध पूर्वक (प्रसङ्गतः) मदिरा का पान हो । मदिरा पान

का क्या कारण होगा ? प्रातःकाल का युद्ध ही (उसका कारण होगा) । तथा (परिणाम में) नायक की ही विजय दिखलानी चाहिये प्रतिनायक की नहीं ॥

अथ किमयं प्रबन्धोऽनवच्छेद एव कर्तव्यो नेत्याह—

सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत ।
संधीनपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्यसंबन्धात् ॥ १९ ॥

आगे क्या इस प्रबन्ध को विभाग के विना ही रचना चाहिये इसका उत्तर देते हुये कहते हैं नहीं—'इस उत्पाद्य महाकाव्य में (भरत आदि आचार्यों के द्वारा उपदिष्ट) परस्पर संबद्ध, संश्लिष्ट संधियों की तथा अवान्तर प्रकरणों की सर्गबद्ध रचना करनी चाहिये ॥ १९ ॥

सर्गेति । सुगमं न वरम् । सर्गाभिधानि सर्गनामकानि । यतः 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' इत्युक्तम् । तथा संधीन्मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणाख्यान्भरतोक्तान्सुश्लिष्टान्सुरचनान्कुर्वीत । कथं तथा ते स्युरित्याह—अन्योन्यसंबन्धादिति ॥

सर्गेति । सुगमं न वरम् । सर्ग अभिधान वाले अर्थात् सर्ग नाम वाले । क्योंकि (दण्डी आदि ने) 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' कहा ही है । तथा भरत के द्वारा उपदिष्ट मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नाम वाली सुश्लिष्ट संधियों की भी रचना करनी चाहिये । वे कैसी हों—इसे बताते हैं—परस्पर संबद्ध रूप में उनकी रचना करनी चाहिये ॥

महाकाव्यलक्षणमाख्याय कथालक्षणमाह—

श्लोकैर्महाकथायामिष्टान्देवान्गुरून्नमस्कृत्य ।
संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात्स्वं च कर्तृतया ॥ २० ॥

महाकाव्य का स्वरूप निर्धारित कर अब कथा का लक्षण करते हैं—'महाकथा में कुछ श्लोकों में देवताओं और गुरुओं को नमस्कार कर रचयिता रूप में अपना और अपने वंश का संक्षेप में वर्णन करे ॥ २० ॥'

श्लोकैरिति । सुगमं न वरम् । संक्षेपेण निजं कुलमभिदध्यात् । न त्वाख्यायिकायामिव विस्तरेण । स्वं चेति चकारोऽनुक्तसमुच्चये । तेन सुजनखलस्तुतिनिन्दादिकं चाभिदध्यादिति सूच्यते ॥

श्लोकैरिति । सुगमं न वरम् । संक्षेप में अपने कुल का वर्णन करे—आख्यायिका के समान विस्तारपूर्वक नहीं । 'स्वं च' में चकार अनुपदिष्ट के संग्रह के लिये किया गया है । उससे सज्जनस्तव और दुर्जन-निन्दा आदि का अभिधान करना चाहिये, यह सूचित होता है ।

ततश्च—

सानुप्रासेन ततो भूयो लघ्वक्षरेण गद्येन ।

रचयेत्कथाशरीरं पुरेव पुरवर्णकप्रभृतीन् ॥ २१ ॥

तदनन्तर अनुप्रासयुक्त प्रायः लघुअक्षरों से युक्त गद्य से उपर्युक्त पुरवर्णन आदि क्रम से कथा-वस्तु का विस्तार करे ॥ २१ ॥

सानुप्रासेनेति । सुगमं न वरम् । भूयो लघ्वक्षरेण ॥

सानुप्रासेनेति । सुगमं न वरम् । प्रायः ह्रस्व अक्षरों से (कथा का विस्तार करे ॥

प्रकारान्तरमाह—

आदौ कथान्तरं वा तस्यां न्यस्येत्प्रपञ्चितं सम्यक् ।

लघुतावत्संधानं प्रक्रान्तकथावताराय ॥ २२ ॥

दूसरी विधि बताते हैं—'उस (कथा) में आदि में भली प्रकार प्रपञ्चपूर्ण अन्य कथा का उपन्यास करे तदनन्तर शीघ्र ही प्राकरणिक कथा को उतारने की तैयारी करे ॥ २२ ॥

आदाविति । गतार्थं न वरम् । लघुतावत्संधानं लाघवयुक्तं संधानं यत्र कथान्तरे । अथवादौ तावत्कथान्तरं न्यस्येत् । ततो लघु शीघ्रं प्रक्रान्तकथावताराय संधानमिति । यथा कादम्बर्याम् ॥

आदाविति । गतार्थ की चर्चा उचित नहीं । सर्वप्रथम अन्य कथा के लिये स्वल्प प्रयास करे । अथवा प्रारम्भ में दूसरी कथा का उपन्यास करे । तदनन्तर शीघ्र ही प्राकरणिक कथा को उतारने की तैयारी करे । जैसे कादम्बरी में ।

तथा—

कन्यालाभफलां वा सम्यग्विन्यस्तसकलशृङ्गाराम् ।

इति संस्कृतेन कुर्यात्कथामगद्येन चान्येन ॥ २३ ॥

इसके अतिरिक्त—'कन्यालाभ रूप फल वाली भी भली भाँति उपन्यस्त शृङ्गाररस से निर्भर कथा का संस्कृत में विस्तार करना चाहिये । (उसका विस्तार प्राकृतादि) अन्य भाषाओं और गाथा आदि छन्दों में भी हो सकता है ॥२३॥

कन्येति । वाशब्दः पक्षान्तरसूचकः । तेन राज्यलाभादि फलमपि क्वचित् । सम्यग्विन्यस्तसकलशृङ्गारामित्यनेन शृङ्गारस्तत्र प्राधान्येन निबन्धनीय इत्युक्तं भवति । इत्येवं संस्कृतेन कथां कुर्यात् । अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण त्वगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात् । चकाराद् गद्यमपि किंचिदित्यर्थः ॥

कन्येति। वा शब्द (कन्यालाभ से) अतिरिक्त पक्ष का सूचक है। अतएव कहीं-कहीं कथा का फल राज्य प्राप्ति आदि भी देखे गये हैं। (कारिका में) 'सम्यग्विन्यस्तसफलश्शृङ्गारम्' का तात्पर्य है कि कथा में श्शृङ्गाररस को ही अङ्गी रूप में उपन्यस्त करना चाहिये। इस प्रकार संस्कृत में कथा की रचना करनी चाहिये। प्राकृत आदि अन्य भाषाओं से तथा गाथाओं में उसका विस्तार करना चाहिये। चकार से यह सूचित होता है कि उसमें कुछ गद्य भी हो सकता है॥

आख्यायिकालक्षणमाह—

पूर्ववदेव नमस्कृतदेवगुरुर्नोत्सिहेत्स्थितेष्वेषु ।
काव्यं कर्तुमिति कवीन्शंसेदाख्यायिकायां तु ॥ २४ ॥

आख्यायिका का स्वरूप बताते हैं—'पूर्व (कथा) के ही समान देवों और गुरुओं को नमस्कार करके इन तत्त्वों (उक्त लक्षणों) के होने पर भी काव्य रचना का उत्साह न करे। आख्यायिका में (सर्वप्रथम पूर्ववर्ती) कवियों का परिचय देना चाहिये ॥ २४ ॥'

तदनु नृपे वा भक्तिं परगुणसंकीर्तनेऽथवा व्यसनम् ।
अन्यद्वा तत्करणे कारणमक्लिष्टमभिदध्यात् ॥ २५ ॥

तदनन्तर राजा में भक्ति, अथवा दूसरे के गुणगान में व्यसन, अथवा किसी और प्रयोजन को सरस रूप में उस (आख्यायिका) की रचना का कारण बताना चाहिये ॥ २५ ॥

पूर्ववदिति । तदन्विति । सुगमम् ॥

पूर्ववदिति । तदन्विति । सुगमम् ॥

आख्यायिकाया एव लक्षणशेषमाह—

अथ तेन कथैव यथा रचनीयाख्यायिकापि गद्येन ।
निजवंशं स्वं चास्यामभिदध्यान्न त्वगद्येन ॥ २६ ॥

आख्यायिका का ही अवशिष्ट स्वरूप बताते हैं—'कवि को कथा की ही भाँति आख्यायिका की भी रचना गद्य में ही करनी चाहिये। इसमें (उसे) गद्य में ही अपना और अपने कुल का वर्णन करना चाहिये ॥ २६ ॥'

अथेति। एवोऽभिन्नक्रमे। ततश्चायमर्थः—अथ तेन कविना यथैव कथाख्यायिकापि तथैव गद्येन रचनीया। तुरवधारणे। ततो निजवंश-मात्मानं च गद्येनैवास्यामभिदध्यात्। यथा हर्षचरिते॥

अथेति । एव अभिन्न क्रम से आया है । तदनन्तर यह अर्थ होगा—कवि जिस प्रकार कथा की रचना करता है उसी प्रकार आख्यायिका की भी रचना करे । 'तु' शब्द अवधारण अर्थ में आया है । तदनन्तर अपना और अपने कुल का गद्य से ही इसमें उपन्यास करे । (बाणभट्ट का) हर्षचरित इसका उदाहरण है ॥

अपि च—

कुर्यादत्रोच्छ्वासान्सर्गवदेषां मुखेष्वनाद्यूनाम् (?) ।
द्वे द्वे चार्ये श्लिष्टे सामान्यार्थे तदर्थाय ॥ २७ ॥

और भी—

इस (आख्यायिका) में भी (महाकाव्य के) सर्गों के समान उच्छ्वासों की रचना करनी चाहिये । प्रारम्भ में श्लिष्ट आर्याओं के बाद ही उन्हें प्रारंभ किया जाय । दो-दो आर्यायें प्रस्तुत अर्थ को सूचित करने के साधारण अर्थ में (उभयकोटिक अर्थ में) श्लिष्ट कर देनी चाहिये ॥ २७ ॥

कुर्यादिति । सुगमं न वरम् । तदर्थाय प्रस्तुतार्थसूचनाय ॥

संशयशंसावसरे भवतो भूतस्य वा परोक्षस्य ।
अर्थस्य भाविनस्तु प्रत्यक्षस्यापि निश्चितये ॥ २८ ॥
संशयितुः प्रत्यक्षं स्वावसरेणैव पाठयेत्कंचित् ।
अन्योक्तिसमासोक्तिश्लेषाणामेकमुभयं वा ॥ २९ ॥

कुर्यादिति । सुगमं न वरम् । वर्तमान अथवा सुदूर अतीत के भावी एवं प्रत्यक्ष अर्थ में भी संशय प्रकट करने के अवसर पर (उसकी) निश्चितता के लिये संशय करने वाले के समक्ष ही अपने-अपने अवसर के अनुकूल किसी एक पात्र से अन्योक्ति, समासोक्ति एवं श्लेष अलंकारों में से किसी एक या दो का पाठ कराये ॥ २८-२९ ॥

तत्र च्छन्दः कुर्यादार्यापरवक्त्रपुष्पिताग्राणाम् ।
अन्यतमं वस्तुवशादथवान्यन्मालिनीप्रायम् ॥ ३० ॥

उनमें आर्या, अपरवक्त्र अथवा पुष्पिताग्रा में से किसी एक छन्द की रचना करे । कथावस्तु के अनुरूप मालिनी आदि अन्य छन्द भी रचे जा सकते हैं ॥३०॥

संशयेति । संशयितुरिति । तत्रेति । वर्तमानस्यातीतस्य च परोक्षस्य भाविनस्तु प्रत्यक्षस्यापि संदेहकथनावसरे सति निश्चयाय कंचित्प्राणिनमवसरेणैवान्योक्तिसमासोक्तिश्लेषाणां मध्यादेकमुभयं वाऽलंकारं पाठयेत् । तत्र चार्यादिच्छन्दः कुर्यात् ॥

संशयेति। संशयितुरिति। तत्रेति। वर्तमान और सुदूर अतीत के भावी के प्रत्यक्ष के विषय में भी संदेह प्रकट करने के अवसर पर निश्चय के लिये किसी प्राणी को अवसर के अनुरूप अन्योक्ति, समासोक्ति और श्लेष में से एक या दो अलंकारों को पढ़वाये। इसमें अर्या छन्द रखने चाहिये॥

एवं काव्यादित्रयस्य लक्षणान्याख्याय तच्छेषमाह—

साभिप्रायं किंचिद्विरुद्धमिव वस्तु सत्प्रसङ्गेन।
अन्तः कथाश्च कुर्यात्त्रिष्वप्येषु प्रबन्धेषु॥ ३१॥

इस प्रकार काव्य आदि तीन (काव्य, कथा और आख्यायिका) का स्वरूप बताकर उससे बचे हुये का व्याख्यान करते हैं—'प्रसंग के अनुरूप होने पर इन तीनों (काव्य, कथा, आख्यायिका) प्रबन्धों में कुछ विरुद्ध-सी प्रतीत होती हुयी प्रयोजनवती वस्तु और अन्तर्कथाओं का उपन्यास करना चाहिये॥ ३१॥'

साभिप्रायमिति। सुगमं न वरम्। विरुद्धमिव न तु विरुद्धम्। त्रिष्वपीति काव्यकथाख्यायिकासु॥

—साभिप्रायमिति। सुगमं न वरम्। विरुद्ध जो आभासित हो वस्तु वरुद्ध न हो (ऐसी वस्तु एवं अन्तर्कथा का उपन्यास करना चाहिये।) तीनों में अर्थात् काव्य, कथा और आख्यायिका में।

कुर्यादभ्युदयान्तं राज्यभ्रंशादि नायकस्यापि।
अभिदध्यादेषु तथा मोक्षं च मुनिप्रसङ्गेन॥ ३२॥

नायक के भी राजविनाश आदि का, जिसका परिणाम अभ्युदयकारी हो, वर्णन करना चाहिये तथा मुनि आदि के बहाने मोक्ष का भी कथन होना चाहिये॥ ३२॥

सुगमम्॥

सुगम है॥

अथ लघूनां काव्यादीनां लक्षणमाह—

कुर्यात्क्षुद्रे काव्ये खण्डकथायां च नायकं सुखिनम्।
आपद्गतं च भूयो द्विजसेवकसार्थवाहादिम्॥ ३३॥

अब लघु काव्य आदि का स्वरूप बताते हैं—'क्षुद्र काव्य में तथा खण्डकथा में नायक को सुखी बनाना चाहिये तथा ब्राह्मण, सेवक, सार्थवाह, आदि को विपत्तियों में उलझा हुआ चित्रित करना चाहिये॥ ३३॥

अत्र रसं करुणं वा कुर्यादथवा प्रवासशृङ्गारम्।
प्रथमानुरागमथवा पुनरन्ते नायकाभ्युदयम्॥ ३४॥

इनमें करुण अथवा प्रवास (विप्रलम्भ) शृङ्गार अथवा पूर्वानुराग और परिणाम में नायक का अभ्युदय चित्रित करना चाहिये ।। ३४ ।।

सुगमम् ।।

सुगमम् ।।

अथ किमेतल्लक्षणं सर्वेषामपि काव्यादीनां सामान्यं स्यान्नेत्याह--

नैतदनुत्पाद्येषु तु तत्र ह्यभिधीयते यथावृत्तम् ।
अल्पेषु महत्सु च वा तद्विषयो नायमुपदेशः ।। ३५ ।।

क्या यह स्वरूप सभी काव्यों के लिये सामान्य रूप से लागू होगा—कहते हैं नहीं--'अनुत्पाद्य लघु तथा महाकाव्य में यह लक्षण नहीं लागू होगा। उसमें कथावस्तु के ही अनुसार रचना होती है। अतएव यह स्वरूप उस (अनुत्पाद्य) प्रबन्ध के लिये नहीं बताया गया है ।। ३५ ।।

सुगमम् ।।

सुगमम् ।।

अथ काव्यकथाख्यायिकादय इत्यत्रादिग्रहणसंगृहीतं दर्शयितुमाह—

अन्यद्वर्णकमात्रं प्रशस्तिकुलकादिनाटकाद्यन्यत् ।
काव्यं तद्बहुभाषं विचित्रमन्यत्र चाभिहितम् ।। ३६ ।।

अब काव्य, कथा, आख्यायिका के साथ प्रयुक्त आदि पद से संग्रहीत काव्य को दिखलाने के लिये कहते हैं—'वर्णन मात्र के प्रयोजन के लिये प्रशस्ति, कुलक आदि काव्य के उपभेद (उक्त भेदों से) भिन्न हैं। तथा अन्यत्र (नाट्यशास्त्र) में उपदिष्ट अनेक भाषाओं में रचा गया विचित्र नाटक आदि तो (उक्त भेदों से सर्वथा) भिन्न हैं ।। ३६ ।।'

अन्यदिति। सुगमं न वरम्। तत्र यस्यामीश्वरकुलवर्णनं यशोर्थं क्रियते सा प्रशस्तिः। यत्र च पञ्चादीनां चतुर्दशान्तानां श्लोकानां वाक्यार्थः परिसमाप्यते तत्कुलकम्। आदिग्रहणादेकस्मिञ्छन्दसि वाक्यसमाप्तौ मुक्तकम्, द्वयोः संदानितकम्, त्रिषु विशेषकम्, चतुर्षु कलापकम्। तथा मुक्तकानामेव प्रघट्टकोपनिबन्धः पर्याययोगः कोषः। तथा बहूनां छन्दसामेकवाक्यत्वे तद्वाक्यानां च समूहावस्थाने परिकथा। भूयोऽप्याह—नाटकाद्यन्यदिति। अत्र भरताद्यभिहितम्। नाटकादीत्यत्रादिशब्दान्नाटकप्रकरणेहामृगसमवकारभाणव्यायोगडिमवीथीप्रहसनादिसंग्रहः। तद्बहुभाषं च बह्वीभिर्भाषाभिर्निबध्यते। विचित्रं च। नानासंधिसंध्यङ्गाभिनयादियुक्तत्वादिति ।।

अन्यदिति। सुगमं न वरम्। जहाँ स्वामी (राजा आदि) के कुल की प्रशंसा यश के लिये की जाती है उसे प्रशस्ति कहते हैं। जहाँ पाँच से लेकर चौदह श्लोकों तक वाक्य का अर्थ समाप्त होता है उसे कुलक कहते हैं। आदि के ग्रहण का तात्पर्य है—एक छन्द में वाक्य की समाप्ति होने पर मुक्तक, दो में संदानितक, तीन में विशेषक और चार में कलापक होता है। तथा मुक्तकों का ही प्रभूत निबन्धन पर्याय वाचक कोष कहा जाता है। तथा अनेक छन्दों के एक वाक्य होने तथा उन वाक्यों के समूह में रहने पर परिकथा होती है। और बताते हैं—नाटक आदि भिन्न हैं। इनका भरत आदि उपदेश कर चुके हैं। 'नाटकादि' में आदि शब्द से नाटक, प्रकरण, ईहामृग, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी और प्रहसन आदि का ग्रहण होता है। उसकी रचना अनेक भाषाओं को मिलाकर की जाती है। (वह) विचित्र होता है—अर्थात् नाना प्रकार की संधियों, संध्यङ्गों और अभिनय आदि से युक्त होता है ॥

महाकाव्यादिलक्षणमभिधयेदानीं काव्यगुणातिशयविवक्षायां मा कश्चिदसंभवि वोचदिति तन्निषेधार्थमाह—

कुलशैलाम्बुनिधीनां न ब्रूयाल्लङ्घनं मनुष्येण।
आत्मीययैव शक्त्या सप्तद्वीपावनिक्रमणम् ॥ ३७ ॥

महाकाव्य आदि के लक्षण का व्याख्यान करके अब कोई काव्य गुणों के अतिशय की विवक्षा से असंभव का कथन न कर जाय उसके निषेध के लिये कहते हैं—'कुलपर्वत और सागरों के मनुष्य के लाँघने का वर्णन नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार सातों द्वीपों वाली पृथ्वी का अपनी ही शक्ति से (मनुष्य के) भ्रमण करने का वर्णन नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥'

कुलेति। सुगमम् ॥

कुलेति। सुगमम् ॥

ननु भरतहनूमत्प्रभृतीनां सर्वमेतच्छ्रूयते, ततश्च यथा तेषां तथान्यस्यापि भविष्यतीति को दोष इत्याह—

येऽपि तु लङ्घितवन्तो भरतप्राया कुलाचलाम्बुनिधीन्।
तेषां सुरादिमुख्यैः सङ्गादासन्विमानानि ॥ ३८ ॥

भरत, हनुमान आदि का तो यह सब (कुलाचलों का लङ्घन आदि) सुना जाता है। फिर जैसे उन लोगों ने किया उसी प्रकार दूसरे भी करेंगे-इसमें दोष क्या होगा इसे बताते हैं—'भरत आदि ने जो कुलपर्वत और सागरों का लंघन किया उसमें उनके प्रधान देवताओं की सङ्गति के कारण उनके पास विमान थे ॥ ३८ ॥'

यं इति । सुगमं न वरम् । सुरादिमुख्यैः सुरादिप्रधानै । आदिशब्दात्सिद्धविद्याधरकिंनरगन्धर्वादिसंग्रहः ॥

य इति । सुगमं न वरम् । सुर आदि मुख्य हैं जिसमें अर्थात् देवता जिसमें प्रधान हैं । आदि शब्द से सिद्ध, विद्याधर, किन्नर और गन्धर्व का संग्रह होता है ।

ननु च सत्त्वचित्तादिहीनत्वान्मनुष्याणां कथं सुरादिभिः सह सङ्गोऽपीत्याह—

शक्तिश्च न जात्वेषामसुरादिवधेऽधिका सुरादिभ्यः ।
आसीत्ते हि सहाया नीयन्ते स्मामरैः समिति ॥ ३९ ॥

सन्देह होता है कि मनुष्य में तो सत्त्वचित्त आदि होता ही नहीं फिर उनका देवताओं से कैसे साथ हो जाता है—इसे बताते हैं--'राक्षसों का वध करने में देवताओं की अपेक्षा इनके पास अधिक शक्ति कभी नहीं थी किन्तु रण में देवगण उनके सहायक हो जाते थे ॥ ३९ ॥

शक्तिरिति । सुगमं न वरम् । चशब्दो हेतौ ॥

शक्तिरिति । सुगमं न वरम् । च शब्द हेतु अर्थ में आया है ॥

भूयोऽप्याह—

दारिद्र्यव्याधिजराशीतोष्णाद्युद्भवानि दुःखानि ।
बीभत्सं च विदध्यादन्यत्र न भारताद्वर्षात् ॥ ४० ॥

और भी बताते हैं--'दरिद्रता, व्याधि, बुढ़ापा, जाड़े और गर्मी से उत्पन्न दुःख और वीभत्स का भारतवर्ष से बाहर उपन्यास नहीं करना चाहिये ॥४० ॥'

दारिद्र्येति । सुगमं न वरम् । भारतं भरतक्षेत्रम् ॥

दारिद्र्येति । सुगमं न वरम् । भरतक्षेत्र का नाम भारत है ।

अन्यत्र त्विलावृत्तादौ कुतो न विदध्यादित्याह—

वर्षेष्वन्येषु यतो मणिकनकमयी मही हितं सुलभम् ।
विगताधिव्याधिजराद्वन्द्वा लक्षायुषो लोकाः ॥ ४१ ॥

अन्यत्र इलावृत आदि में क्यों नहीं द्रारिद्र्य आदि का कथन करना चाहिये इसे बताते हैं—'अन्य वर्षों में मणियों और सोने से खचित भूमि है, अभीप्सित सुलभ है, तथा मानसिक और शारीरिक पीड़ाओं तथा बुढ़ापा आदि से मुक्त लाखों वर्षों की आयु वाली प्रजा है ॥ ४१ ॥'

वर्षेष्विति । सुगमं न वरम् । द्वन्द्वानि शीतोष्णादीनि ॥

वर्षेष्विति । सुगमं न वरम् । शीत-उष्ण का नाम द्वन्द्व है ।

अथ शास्त्रपरिसमाप्तिमङ्गलार्थं देवताः संकीर्तयन्नाह—

जयति जनमनिष्टादुद्धरन्ती भवानी
जयति निजविभूतिव्याप्तविश्वो मुरारिः ।
जयति च गजवक्त्रः सोऽत्र यस्य प्रसादा-
दुपशमति समस्तो विघ्नवर्गोपसर्गः ॥ ४२ ॥

अब शास्त्र की परिसमाप्ति के मङ्गल के लिये देवताओं की स्तुति करते हुये कहते हैं—'अनिष्ट से लोगों की रक्षा करती हुयी पार्वती विजयिनी (सर्वोत्कृष्ट) हो, अपनी महिमा से विश्व को व्याप्त करने वाले विष्णु विजयी हों तथा जिनकी कृपा से समस्त बाधाओं का जाल नष्ट हो जाता है वे गणेश विजयी हों ॥ ४२॥'

जयतीति । सुगमम् ॥

जयतीति । सुगम है ।

एवं रुद्रटकाव्यालंकृतिटिप्पणकविरचनात्पुण्यम् ।
यद्वापि मया तस्मान्मनः परोपकृतिरति भूयात् ॥

इस प्रकार रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका लिखने से जो मुझे पुण्य मिला उससे (मेरा) मन परोपकार में आसक्त हो ॥

थारापद्रपुरीयगच्छतिलकः पाण्डित्यसीमाभव-
त्सूरिर्भूरिगुणैकमन्दिरमिह श्रीशालिभद्राभिधः ।
तत्पादाम्बुजषट्पदेन नमिना संक्षेपसंप्रेक्षिणः
पुंसो मुग्धधियोऽधिकृत्य रचितं सट्टिप्पणं लब्वदः ॥

थारापद्र नगर के गच्छ (स्थान के) तिलकभूत, विद्वता की सीमा, अनेक गुणों के स्थान श्रीशालिभद्र नाम के यहां एक विद्वान् हैं । उनके चरण कमल के भ्रमररूप नमिसाधु ने संक्षेपतः किसी वस्तु को देखने वाले पुरुष की स्वल्प बुद्धि का आधार लेकर इस संक्षिप्त सुन्दर टीका की रचना की है ॥

अज्ञानाद्यद्वितथं विवृतं किमपीह तन्महामतिभिः ।
संशोधनीयमखिलं रचिताञ्जलिरेष याचेऽहम् ॥

'अज्ञान के कारण जो असार व्याख्यान हो गया हो उसे सुबुद्धिजन सर्वथा शुद्ध कर देंगे' इसके लिये हाथ जोड़कर मैं प्रार्थना करता हूँ ॥

सहस्त्रत्रयमन्यूनं ग्रन्थोऽयं पिण्डितोऽखिलः ।
द्वात्रिंशदक्षरश्लोकप्रमाणेन सुनिश्चितम् ॥
पञ्चविंशतिसंयुक्तैरेकादशसमाशतैः (११२५) ।
विक्रमात्समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥

इति श्रीरुद्रटकृते काव्यालंकारे नमिसाधुविरचितटिप्पणसमेतः
षोडशोऽध्यायः समाप्तः ।

बत्तीस अक्षर के श्लोकों का प्रमाण निश्चित कर पूरे-पूरे तीन हजार ग्रन्थों से यह प्रणीत हुआ । (तथा) विक्रम संवत् ११२५ में इसका समर्थन किया गया ॥

इस प्रकार रुद्रट रचित काव्यालङ्कार में नमिसाधु विरचित टीका के
साथ सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।




चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी